भगवान् महावीर
की
पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी
के उपलक्ष मे

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन
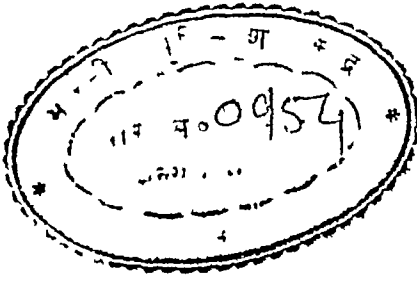
मुनि नथमल

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

सम्पादक मुनि दुलहराज
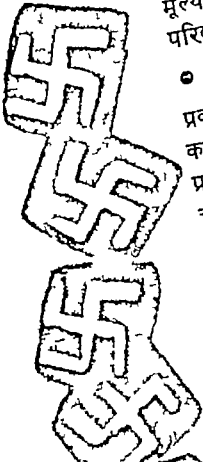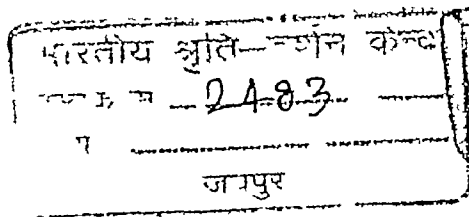
आशीर्वचन

धर्म का आधार है जीवन और दर्शन का आधार है साहित्य। वर्तमान परिस्थितियो के सदर्भ जीवनगत, आत्मगत, व्यक्तिगत और समूहगत हर तथ्य को साहित्य के माध्यम मे अभिव्यक्ति दे रहे हैं, अत धर्म भी साहित्य का विषय बन रहा है। जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है और विश्व-धर्म बनने की योग्यता रखने वाला धर्म है। इस धर्म को अपनी अभिव्यक्ति के लिए साहित्य का परिवेश भी प्राप्त है किन्तु जो है, वह आत्मतोष के लिए पर्याप्त नही है। भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण-शताब्दी इस कार्य के लिए प्रेरणा है। इस अवसर पर प्राचीन जैन साहित्य का व्यवस्थित सपादन और नए मौलिक साहित्य का निर्माण साहित्य-क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण काम है। हमे अपनी सम्पूर्ण निष्ठा से इस दिशा मे समर्पित होकर जैन शासन की सेवा मे अपना योगदान करना चाहिए।

'जैन दर्शन मनन और मीमामा' इसी क्रम की एक शृखला है जिसमे लेखक ने जैन धर्म के समग्र तथ्यो को विस्तार से अभिव्यक्ति दी है। लेखन-कार्य मे लेखक की अपनी आस्था के साथ तद्विषयक विशेष चिन्तन और मनन की अपेक्षा होती है। इसके अभाव मे कोई भी लेखक अपने पाठको को मननीय और मौलिक सामग्री नही दे सकता। प्रस्तुत पुस्तक का सृजन हमारे ही धर्म-सघ के एक साधनाशील मुनि की लेखनी से हुआ है। अध्यवसायी मुनि नथमल जी जितने लेखक हैं, उससे भी अधिक योगाभ्यासी हैं। आत्म-साधना और ज्ञानाराधना के अनुपम योग से साहित्य-क्षेत्र मे अच्छी गति की है और कर रहे हैं। मै चाहता हू मुनि नथमल जी साहित्य के क्षेत्र मे नया कीर्तिमान स्थापित करे और सत्य-निरपेक्ष तथ्य-सकलन करनेवालो के लिए एक आदर्श बनें। जैन धर्म के जिज्ञासु मनीषी इस पुस्तक का मनन कर साहित्यकार के सृजन को सार्थक करेंगे, इसी आशा के साथ।

हिसार
२५ जुलाई, १९७३

—आचार्य तुलसी
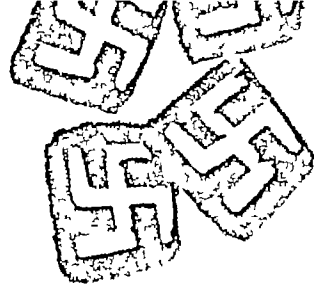
प्रास्ताविकम्

यह विश्व अनेक तत्त्वो की समन्विति है। वेदान्त दर्शन ने अद्वैत की स्थापना की पर द्वैत के बिना विश्व की व्याख्या नही की जा सकी तो उसे माया की परिकल्पना करनी पडी। ब्रह्म को सामने रखकर विश्व के मूलस्रोत की और माया को सामने रखकर उसके विस्तार की व्याख्या की गई। साख्यदर्शन ने द्वैत के आधार पर विश्व की व्याख्या की। उसके अनुसार पुरुष चेतन और प्रकृति अचेतन है। दोनो वास्तविक तत्त्व हैं। विश्व की व्याख्या के ये दो मुख्य कोण हैं—अद्वैत और द्वैत। जो दार्शनिक विश्व के मूलस्रोत की खोज मे चले, वे चलते-चलते चेतन तत्त्व तक पहुचे और उन्होने चेतन तत्त्व को विश्व के मूल-स्रोत के रूप मे प्रतिष्ठित किया। जिन दार्शनिको को विश्व के मूलस्रोत की खोज वास्तविक नही लगी उन्होने उसके परिवर्तनो की खोज की और उन्होने चेतन और अचेतन की स्वतत्र सत्ता की स्थापना की। प्रत्येक दर्शन अपनी-अपनी धारा मे चलता रहा और तर्क के अविरल प्रवाह से उसे विकसित करता रहा।

जैन दर्शन का विश्व को देखने और उसकी व्याख्या करने का दृष्टिकोण दूसरा रहा। उसने अनेकान्त दृष्टि से विश्व को देखा और स्याद्वाद की भाषा मे उसकी व्याख्या की, इसलिए वह न अद्वैतवादी बना और न द्वैतवादी। उसकी धारा स्वतन्त्र रही। फिर भी उसने दोनो कोणो का स्पर्श किया। अनेकान्त दृष्टि अनन्त नयो की समष्टि है। उसके अनुसार कोई भी एक नय पूर्ण सत्य नही है और कोई भी नय असत्य नही है। वे सापेक्ष होकर सत्य होते है और निरपेक्ष होकर असत्य हो जाते हैं। हम सग्रहनय की दृष्टि से देखते हैं तब सम्पूर्ण विश्व अस्तित्व के महास्कध मे अवस्थित होकर एक हो जाता है। इस नय की सीमा मे द्वैत नही होता, चेतन और अचेतन का भेद भी नही होता। द्रव्य और गुण तथा शाश्वत और परिवर्तन का भेद भी नही होता। सर्वत्र अद्वैत ही अद्वैत। यह विश्व को देखने का एक

नय है । उसे देखने के दूसरे भी नय हैं। हम व्यवहारनय से देखते हैं तब विश्व अनेक खण्डो मे दिखाई देता है। इस नय की सीमा मे चेतन भी है, अचेतन भी है। द्रव्य भी है और गुण भी है । शाश्वत भी है और परिवर्तन भी है। सत्य की व्याख्या किसी एक नय से नही हो सकती। वह अनन्तधर्मा है । उसकी व्याख्या अनन्त नयों से ही हो सकती है। हम कुछेक नयो को ही जान पाते हैं, फलत सत्य के कुछेक धर्मों की ही व्याख्या कर पाते हैं। कोई भी शास्त्र सम्पूर्ण सत्य की व्याख्या नही कर पाता और कोई भी व्यक्ति शास्त्रीय आधार पर सम्पूर्ण सत्य को साक्षात् नही जान पाता। यह दर्शनो का अन्तर और मतवादो का भेद हमारे ज्ञान और प्रतिपादन-शक्ति की अपूर्णता के कारण ही चल रहा है। यह भेद सत्य को विभक्त किए हुए है—जितने दर्शन उतने ही सत्य के रूप बन गए हैं। जैन दर्शन का अध्ययन हमे सत्य की दिशा मे आगे ले जाता है और दर्शन के आकाश में छाए हुए कुहासे मे देखने की क्षमता देता है। द्रव्य के अनन्त धर्म हैं। कोई दर्शन किसी एक धर्म को मुख्य मानकर उसका प्रतिपादन करता है तो दूसरा दर्शन किसी दूसरे धर्म को मुख्य मानकर उसका प्रतिपादन करता है। दोनो की पृष्ठभूमि मे एक ही द्रव्य है, किन्तु एकागी प्रतिपादन के कारण वे विरोधी-से प्रतीत होने लग जाते हैं। उनमे प्रतीत होनेवाले विरोध का शमन अनेकान्त दृष्टि से ही किया जा सकता है । इस अर्थ मे अनेकान्त दृष्टि और अहिंसा मे पूर्ण अभिन्नता है। इसीलिए अनेकान्त को आधुनिक विचारक बौद्धिक अहिंसा कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा की व्याख्या लगभग सभी दर्शनों ने की है। जैन दर्शन ने उसकी गहराइयों मे जाने का प्रयत्न किया है, किन्तु इसे हम नई दिशा का उद्घाटन नही कह सकते । बौद्धिक अहिंसा या अनेकान्त नई दिशा का उद्घाटन है, सर्वथा नवीन और मौलिक आयाम है। यह व्यावहारिक और तात्त्विक दोनो क्षेत्रो मे आनेवाली समस्याओ का समाधान है। भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों ने दार्शनिक समस्याओ को सुलझाने के लिए अनेकान्त दृष्टि का समग्र उपयोग किया और वे दार्शनिक सतुलन स्थापित करने मे सफल भी हुए। उन्होंने विभिन्न दर्शनो मे प्रतिभासित होनेवाले विरोध मे समन्वय स्थापित किया और दर्शनो के तुलनात्मक अध्ययन की आधार-शिला का निर्माण किया। वर्तमान चिंतन में समन्वय, तुलनात्मक अध्ययन और सर्व-धर्म-समभाव के अकुर प्रस्फुटित हुए हैं, उनका बीज-वपन अनेकान्त दृष्टि के परिपार्श्व मे हुआ था। यह आश्चर्य का विषय है कि निकट अतीत की कुछ शताब्दियो मे जैन मनीषी भी एकागी आग्रह मे फस गए। अनेकान्त की मर्यादा मे होनेवाला उदार दृष्टिकोण और विशाल मानस इन शताब्दियों मे नही दिखाई देता। व्यवहार के स्तर पर अनेकान्त का प्रयोग बहुत कम हुआ है। राग और द्वेष का मनोभाव तीव्र होता है उस स्थिति मे मानसिक अहिंसा का समाचरण भी नही हो सकता तब बौद्धिक अहिंसा का समाचरण

कैसे हो सकता है।

भारतीय चिंतन की धारा मे दर्शन और धर्म दोनो संयुक्त रहे हैं। हमारा जीवन-व्यवहार धर्म से शासित होता है। धर्म का स्वरूप आचार है। उसे मार्ग-दर्शन दर्शन से प्राप्त होता है। दर्शन के द्वारा तत्त्व प्रतिपादित होते है। धर्म उनकी क्रियान्विति करता है—हेय को छोडता है और उपादेय का अनुशीलन करता है। फिर भी हम इस सत्य को अस्वीकार नही कर सकते कि दर्शन का पक्ष जितना प्रबल होता है, उतना धर्म का नही होता। चिंतन की ऊंचाई को आचार बहुत कम बार छू पाता है। अनेकान्त का दर्शन के क्षेत्र मे जितना उपयोग हुआ उसका दसांश भी व्यवहार के क्षेत्र मे नही हुआ। इसके पीछे दर्शन की एकांगी धारा का भी कुछ प्रभाव है। प्राय सभी दर्शनो ने दर्शन को शाश्वत सत्य की व्यवस्था तक ही सीमित रखा है। परिवर्तनशील व्यवहार की व्याख्या मे दर्शन का नगण्य उपयोग हुआ है। शाश्वत और अशाश्वत दोनो एक ही सत्य के दो पहलू हैं। इन दोनो को विभक्त नही किया जा सकता। उस स्थिति मे दर्शन को केवल शाश्वत की व्याख्या तक सीमित कैसे किया जा सकता है? परिवर्तन, जीवन-व्यवहार और सामयिक समस्याओ की व्याख्या करना भी उसका कार्य है। इस कार्य की उपेक्षा की गई, इसीलिए दर्शन और जीवन-व्यवहार मे सामंजस्य स्थापित नही हो पाया।

भारतीय दर्शन का मुख्य रूप तत्त्व-दर्शन या मोक्ष-दर्शन रहा है इसलिए उसने विश्व की व्याख्या और मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्वो की मीमांसा की है। जीवन के वर्तमान पक्ष की व्याख्या या तो नही की है या अल्पांश मे की है। फलत अर्थ-शास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दर्शनशास्त्र से विच्छिन्न हो गए। व्यापक अर्थ मे ये सभी दर्शन की शाखाए है किन्तु दर्शन को मोक्षदर्शन के अर्थ मे ही रूढ करने के कारण इनका पारस्परिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। दर्शन तत्त्व की व्याख्या करता है किन्तु समाज को बदलता नही है—इस आरोप मे सत्यांश है। मोक्ष-दर्शन मे समाज को बदलने की कल्पना नही है। समाजशास्त्र आदि उससे विच्छिन्न हैं। इसलिए दर्शन का झुकाव समाज-व्यवस्था को बदलने की दिशा मे नही है और नही रहा है। भारतीय दर्शनो के प्रणेता प्राय मुमुक्षु साधक हुए हैं। वे सामाजिक भूमिका से दूर थे। उनका लक्ष्य था मोक्ष और वे मोक्षलक्षी दृष्टि का ही मुख्यत निरूपण करते थे। समाज-व्यवस्था को बदलना सीधा प्राप्त भी नही था। काम और अर्थ, मोक्ष और धर्म—इस पुरुषार्थ चतुष्टयी पर भारतीय मनीषियो ने चिंतन किया है। इनका संतुलन रखने की दिशा भी प्रस्तुत की है। फिर भी उनका झुकाव मोक्ष की ओर रहा। समाज मे गरीबी है, इसका चिन्तन किया है। यह व्यक्ति के अपने किए हुए कर्मो का फल है—इस सूत्र मे उसका हेतु भी बतलाया है। उसे बदला जा सकता है—इस पर्याय की दिशा का उद्घाटन नही

हुआ। इसका कारण रहा कर्मशास्त्र का एकागी दृष्टिकोण। यदि अनेकान्त दृष्टि से कर्मशास्त्र का अध्ययन किया जाता, समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री अनेकान्त दृष्टि से देखते तो व्यवस्था-परिवर्तन के द्वारा गरीबी समाप्त की जा सकती है—यह दृष्टि उन्हे प्राप्त हो जाती। सम्पन्नता या विपन्नता कर्म-हेतुक होती है पर कर्म-हेतुक ही नही होती। किसी भी कार्य की निष्पत्ति एक हेतु से नही होती, हेतु-समवाय से होती है। कर्म का विपाक भी अपने आप नही होता। वस्तु, क्षेत्र, काल, भाव आदि की युति से होता है। समाज-व्यवस्था का भाव (पर्याय) समुचित होता है तो विपन्नता को फलित करनेवाले कर्म का विपाक ही नही होता।

समाज के सामने अनेक समस्याए हैं। सामाजिक विषमता, गरीबी, शस्त्रीकरण, युद्ध, जातीयता, साम्प्रदायिकता—इन समस्याओ के समाधान के लिए चिन्तन और प्रयत्न दोनो चल रहे हैं। पर इनके समाधान की दिशा मे भारतीय दर्शनो का स्वर मुखर नही है। यह दुहाई अनेक बार सुनने को मिलती है—अमुक महापुरुष या अवतार की शिक्षा मानने से समाज की सारी समस्याए सुलझ सकती हैं—यह एकागी चिन्तन प्रतीत होता है। मैं मानता हू समस्याए शाश्वत हैं। पर उनका आकार शाश्वत नही है। वह देश-काल के अनुरूप बदलता रहता है। समस्याओ का बदलता हुआ आकार नया दृष्टिकोण चाहता है। हमारे दार्शनिक नए चोखटे मे पुरानी प्रतिमा को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। फलत समस्या के समाधान की दिशा मे कोई नई प्रेरणा प्राप्त नही होती। अतीत के अनुभव वर्तमान के चिन्तन से अभिषिक्त होकर ही प्राणवान् रह सकते हैं। न जाने क्यो हमने मान लिया कि दर्शन का विकास हो चुका। वर्तमान मे दर्शन के नव-उन्मेष का द्वार बद है।

अनेकान्त कोरा दर्शन नही है, यह साधना है। एकागी आग्रह राग और द्वेष से प्रेरित होता है। राग द्वेष क्षीण करने का प्रयत्न किए विना एकागी आग्रह या पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण से मुक्ति नही पायी जा सकती। जैसे-जैसे राग-द्वेष क्षीण होता है, वैसे-वैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है। जैसे-जैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है, वैसे-वैसे राग-द्वेष क्षीण होता है। जैन-दर्शन ने राग-द्वेष को क्षीण करने के लिए अनेकान्त दृष्टि प्रस्तुत की। एकागी दृष्टि से देखनेवाले दार्शनिक दर्शन का सही उपयोग नही कर पाते। दर्शन सत्य का साक्षात्कार करने के लिए है। राग-द्वेष मे फसा व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार कैसे कर सकता है? सत्य की उपलब्धि के नाम पर जहा राग-द्वेष की वृद्धि होती है वहा दर्शन की दिशा सर्वथा विपरीत हो जाती है। दर्शन सत्य की उपलब्धि के लिए और सत्य शान्ति की उपलब्धि के लिए है। जब शान्ति की उपलब्धि के हेतु भी अशान्ति के हेतु बन जाते हैं तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ज्योतिपुज से तिमिर की रश्मिया

विकीर्ण हो रही है।

धर्म और दर्शन ने मनुष्य को आकर्षित किया है। पर अपनी रागात्मक प्रवृत्ति के कारण वह सत्य से कम आकर्षित हुआ। उसके आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गया सत्य का सस्थान—सम्प्रदाय। सम्प्रदाय ने सत्य पर इतने आवरण डाले कि धर्म की सुरक्षा के लिए अधर्म का अनुसरण मान्य हो गया। अहिंसा की सुरक्षा के लिए हिंसा और सत्य की सुरक्षा के लिए असत्य का आचरण वर्जित नही रहा। धर्म के नाम पर होनेवाले सघर्षों का यही मूल स्रोत है।

जैन धर्म जातिबद्ध या सस्थाबद्ध नही है। वह धर्म-चेतना है। जैन दर्शन ने किसी भी जाति, सम्प्रदाय या वेशभूषा मे रहनेवाले व्यक्ति को मुक्ति का अधिकारी घोषित किया है यदि उसकी धर्म-चेतना जागृत हो गई हो, राग-द्वेष सर्वथा क्षीण हो गया हो। धर्म-चेतना को सम्प्रदाय से मुक्त मानने वाला धर्म आध्यात्मिक धर्म होता है। सत्य को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि और उसे पाने के लिए आध्यात्मिक धर्म—जैन दर्शन की ये ही मौलिक उपलब्धिया हैं। जैन दर्शन को आप इन्ही की छाया मे पढ सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ मे ये ही दो कोण उजागर किए गए है।

भगवान् महावीर ने तत्त्व की स्थापना के लिए तर्क को एक सापेक्ष आलबन के रूप मे स्वीकृति दी है। अपने अभ्युपगम की स्थापना और परकीय अभ्युपगम के निरसन के लिए तर्क का उपयोग करना हो तो उस सीमा मे ही किया जाए, जिससे पर-पक्ष को मानसिक आघात न लगे। अपने विचार की पुष्टि अहिंसा की पुष्टि के लिए है। अहिंसा का खण्डन कर दूसरे के अभ्युपगम का खण्डन करना वास्तव मे अपने अभ्युपगम का ही खण्डन है। इस अहिंसात्मक दृष्टि के कारण जैन दार्शनिक तर्क के तीखे बाण निर्मित करने और छोडने मे प्रवृत्त नही हुए पर अनेकान्त दृष्टि का अभेद्य कवच पहन लेने के कारण वे दूसरो के तीखे तर्क-बाणो से आहत भी नही हुए। आप जैन दर्शन मे तर्क-सत्य की अपेक्षा अनुभव-सत्य को अधिक पाएगे। आग्रही मनुष्य अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए तर्क खोजता है और आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य की अभिव्यक्ति के लिए उसकी खोज करता है। तर्क व्यवहार की भूमिका का उपकरण है। सत्य वास्तविकता की गहराइयो में जाने पर उपलब्ध होता है। जैन दर्शन इस उपलब्धि का अन्यतम ऋजु मार्ग है। वह एक दर्शन नही है, किन्तु दर्शनो का समुच्चय है। अनन्त दृष्टियो के सह-अस्तित्व को मान्यता देने वाला एक दर्शन कैसे हो सकता है? जैन दर्शन के अध्ययन का अर्थ है—सब दर्शनो का अध्ययन और सब दर्शनो के सापेक्ष अध्ययन का अर्थ है जैन दर्शन का अध्ययन। इस उभययोगी दृष्टि से किए जाने वाले अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ प्रस्तुत है।

अहिंसा जैन दर्शन का आधारभूत तत्त्व है। फिर भी उसकी विशद चर्चा इसलिए नही की है कि 'अहिंसा तत्त्व दर्शन' मे मैं उसकी चर्चा विस्तार से कर चुका

हू। जैन योग पर आचार्यश्री तुलसी रचित 'मनोनुशासनम्' की व्याख्या में लिख चुका हू इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ मे उसका विस्तार नही मिलेगा। फिर भी जैन दर्शन की रूपरेखा की जिज्ञासा से थोडा-सा समाधान मिल सकेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रारम्भ वि० स० २००५ मे किया था और यह सम्पन्न हुआ वि० स० २०१० मे। इसका पहला सस्करण 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' के नाम से दो भागो मे वि० स० २०१७ मे 'तेरापथ द्विशताब्दी' के अवसर पर प्रकाशित हुआ। यह उसी का परिष्कृत सस्करण है। आचार्यश्री का मार्गदर्शन मुझे सहज-सुलभ रहा है। मैं इसे अपना जन्मसिद्ध सौभाग्य ही मानता हू। कृतज्ञता-ज्ञापन मे उसकी अनुभूति को व्यक्त कर सकू—यह सम्भव नही लगता। प्रयुक्त ग्रन्थो के उद्धरण लिखने मे मुनिश्री शुभकरण जी और मुनिश्री श्रीचन्दजी का मुझे सहयोग मिला है। मुनिश्री दुलहराजजी का इस कार्य में बहुत बडा सहयोग रहा है। प्रस्तुत सस्करण मे भी उनका बहुत बडा श्रम लगा है। उनके श्रम का मूल्याकन भावात्मक है। साधुवाद देकर उसका मूल्य कम करना मुझे इष्ट नहीं है। इसका 'नामानुक्रम' मुनि श्रीचन्द्र जी ने तथा 'प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची' मुनि राजेन्द्रकुमार जी ने तैयार की है।

भगवान् महावीर का दर्शन उनकी पचीसवी निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर नए परिधान के साथ प्रस्तुत हो रहा है, यह मेरे लिए उल्लास का विषय है।

— मुनि नथमल

कोठारी-भवन
राजगढ (राजस्थान)
२५ जून, १९७३
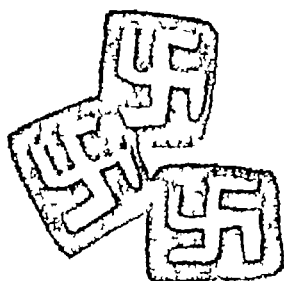
विषय-वीथि

पहला खण्ड परम्परा और कालचक्र

दूसरा खण्ड दर्शन

६ : आत्मवाद

७ कर्मवाद

तीसरा खण्ड आचार-मीमासा

चौथा खण्ड ज्ञान-मीमासा

१ ज्ञान-मीमासा

२ मनोविज्ञान

पाचवा खण्ड प्रमाण-मीमासा

१ जैन-न्याय

४ · परोक्ष प्रमाण

५ . आगम-प्रमाण

परिशिष्ट

१
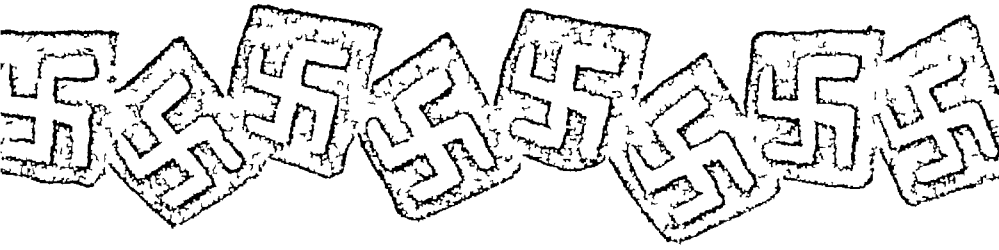
परम्परा और कालचक्र

१

भगवान ऋषभ से पार्श्व तक

शाश्वत प्रश्न और जैन दर्शन

हम जिस जगत् मे जी रहे हैं वह क्या है ? वह कहा है ? वह कब से है ? वह एक-रूपी है या बहुरूपी ? वह किसकी रचना है ? ये प्रश्न अनादिकाल से मनुष्य के मन को आलोडित करते रहे है। मनुष्य इन्ही प्रश्नो का उत्तर पाने के लिए दर्शन की वेदी तक पहुचा है।

दर्शन देखने की पद्धति है। हम वस्तु को दो साधनो से देखते है। पहला साधन है—प्रत्यक्षीकरण या साक्षात्कार और दूसरा साधन है—हेतुवाद।

ध्यान-सिद्ध मनुष्य विश्व को अन्तर्दृष्टि से देखता है। बौद्धिक मनुष्य उसे तार्किक दृष्टि से देखता है। अन्तर्दृष्टि वैयक्तिक साधना से फलित ज्ञान है। इस-लिए उसके अध्ययन की कोई प्रक्रिया नही है। तर्क मनुष्य के ऐन्द्रियिक अनुभवो (साहचर्य नियमो) से फलित ज्ञान है। वह सामूहिक बोध है, इसलिए उसके अध्ययन की प्रक्रिया है। अन्तर्दृष्टि से दृष्ट तत्त्वो का प्रतिपादक शास्त्र दर्शन-शास्त्र कहलाता है।

तार्किक ज्ञान से उपलब्ध तत्त्वो तथा तार्किक प्रक्रिया का प्रतिपादक शास्त्र तर्कशास्त्र कहलाता है।

आज दोनो प्रकार के शास्त्र बहुत एकात्मक हो गए हैं। अत दर्शनशास्त्र शब्द से उन दोनो का बोध होता है।

भगवान् महावीर अन्तर्द्रष्टा थे। उनके उत्तरवर्ती आचार्य तार्किक प्रतिभा के धनी थे। आज का जैन दर्शन उन दोनो के निरूपण का प्रतिफलन है।

जैन दर्शन ने उन शाश्वत प्रश्नो का उत्तर दिया है

१ यह जगत् चेतन और अचेतन द्रव्यो का समवाय है।

२ यह अनत आकाश का मध्यवर्ती आकाश खड है। समग्र आकाश की

तुलना में यह एक विंदु जैसा है ।

३ यह शाश्वत है । इसका आदि-विंदु नहीं है ।

४ यह परिवर्तनशील भी है— प्रतिदिन नए-नए रूपो मे वदलता रहता है ।

५ यह अनादि है, इसलिए किसी महाशक्ति की कृति नही है ।

तत्त्व-मीमासा के प्रसग मे इन प्रश्नो पर विस्तार से चर्चा की जाएगी । इतिहास खड मे केवल इतना ही प्रासगिक है कि हमारा जगत् शाश्वत और अशाश्वत का सामजस्य है ।

भगवान् महावीर ने स्कन्दक सन्यासी से कहा था—"स्कन्दक ! ऐसा कोई क्षण न था, न है और न होगा जिसमें इस जगत् का अस्तित्व न हो ।" यह अस्तित्व की दृष्टि से जगत् की शाश्वतता का प्रतिपादन है ।

भगवान् ने जमालि से कहा था—"जमालि ! इस जगत् मे कालचक्र गतिशील रहता है—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का क्रम चालू रहता है । फलत जगत् का आचलिक स्वरूप वदलता रहता है ।"

यह परिवर्तन की दृष्टि से जगत् की अशाश्वतता का प्रतिपादन है । ऐतिहासिक अध्ययन के लिए जगत् का परिवर्तनशील रूप ही हमारे लिए उपयोगी है ।

कालचक्र

कालचक्र जागतिक ह्रास और विकास के क्रम का प्रतीक है । काल का पहिया नीचे की ओर जाता है तव भौगोलिक परिस्थिति तथा मानवीय सभ्यता और सस्कृति ह्रासोन्मुखी होती है । काल का पहिया जव ऊपर की ओर आता है तव वे विकासोन्मुखी होती हैं ।

काल की इस ह्रासोन्मुखी गति को अवसर्पिणी और विकासोन्मुखी गति को उत्सर्पिणी कहा जाता है ।

अवसर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सहनन, सस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पर्यायो की क्रमश अवनति होती है ।

उत्सर्पिणी में उक्त पर्यायो की क्रमश उन्नति होती है । वह अवनति और उन्नति सामूहिक होती है, वैयक्तिक नही होती ।

अवसर्पिणी की चरम सीमा ही उत्सर्पिणी का प्रारभ है और उत्सर्पिणी का अन्त अवसर्पिणी का जन्म है ।

प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह पर्व होते हैं

१ सुपम-सुपमा

२ सुपमा

३ सुपम-दु पमा

४ दु पम-सुपमा

५ दु पमा ।
६ दु पम-दु पमा
ये छह अवसर्पिणी के पर्व हैं ।
उत्सर्पिणी के छह पर्व इस व्यतिक्रम से होते हैं
१ दु षम-दु षमा
२ दु पमा
३ दु षम-सुषमा
४ सुषम-दु पमा
५ सुषमा
६ सुषम-सुषमा ।

१ सुषम-सुषमा

आज हम अवसर्पिणी के पाचवें पर्व—दु पमा मे जी रहे हैं । हमारे युग का जीवन-क्रम सुषम-सुषमा से शुरू होता है । उस समय भूमि स्निग्ध थी । वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे । मिट्टी की मिठास आज की चीनी से अनन्त गुना अधिक थी । कर्मभूमि थी किन्तु अभी कर्मयुग का प्रवर्तन नही हुआ था । पदार्थ अति स्निग्ध थे । इस युग के मनुष्य तीन दिन के अतर से अरहर की दाल जितनी-सी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते । खाद्य पदार्थ अप्राकृतिक नही थे । विकार बहुत कम थे इसलिए उनका जीवन-काल बहुत लम्बा होता था । वे तीन पल्य तक जीते थे । अकाल-मृत्यु कभी नही होती थी । वातावरण की अत्यन्त अनुकूलता थी । उनका शरीर तीन गाउ ऊचा था । वे स्वभाव से शान्त और सतुष्ट होते थे । यह चार कोटि-कोटि का एकान्त सुखमय पर्व वीत गया ।

२ सुषमा

तीन कोटि-कोटि सागर का दूसरा सुखमय पर्व शुरू हुआ । इसमे भोजन दो दिन के अतर से होने लगा । उसकी मात्रा बेर के फल जितनी हो गई । जीवनकाल दो पल्य का हो गया और शरीर की ऊचाई दो गाउ की रह गई । इनकी कमी का कारण था भूमि और पदार्थों की स्निग्धता की कमी ।

३ सुषम-दु षमा

काल और आगे बढा । तीसरे सुख-दु खमय पर्व मे और कमी आ गई । एक दिन के अतर से भोजन होने लगा । उसकी मात्रा आवला के समान हो गई । जीवन का काल-मान एक पल्य हो गया । शरीर की ऊचाई दो गाउ की हो गई । इस युग की काल-मर्यादा थी एक कोटि-कोटि सागर । इसके अन्तिम चरण मे पदार्थों की

स्निग्धता मे बहुत कमी हुई। सहज नियमन टूटने लगे। तब कृत्रिम व्यवस्था आयी और इसी समय कुलकर-व्यवस्था को जन्म मिला।

यह कर्म-युग के शैशव-काल की कहानी है। समाज-सगठन अभी नही हुआ था। यौगलिक व्यवस्था चल रही थी। एक जोडा ही सब कुछ होता था। न कुल था, न वर्ग और न जाति। समाज और राज्य की बात बहुत दूर थी। जनसख्या कम थी। माता-पिता की मौत से छह माह पहले एक युगल जन्म लेता, वही दम्पति होता। विवाह-सस्था का उदय नही हुआ था। जीवन की आवश्यकता बहुत सीमित थी। न खेती होती थी, न कपडा बनता था और न मकान बनते थे। उनके भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्प-वृक्ष थे। शृगार और आमोद-प्रमोद, विद्या, कला और विज्ञान का कोई नाम नही जानता था। न कोई वाहन था और न कोई यात्री। गाव बसे नहीं थे। न कोई स्वामी था और न सेवक। शासन और शासित भी नहीं थे। न कोई शोषक था और न कोई शोषित। पति-पत्नी या जन्य-जनक के सिवा सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु ही नही थी।

धर्म और उसके प्रचारक भी नही थे। उस समय के लोग सहज धर्म के अधिकारी और शान्त-स्वभाव वाले थे। चुगली, निन्दा, आरोप जैसे मनोभाव जन्मे ही नही थे। हीनता और उत्कर्ष की भावनाए भी उत्पन्न नही हुई थी। लडने-झगडने की मानसिक ग्रन्थिया भी नही थी। वे शस्त्र और शास्त्र दोनों से अनजान थे।

अब्रह्मचर्य सीमित था, मार-काट और हत्या नही होती थी। न सग्रह था, न चोरी और असत्य। वे सदा सहज आनन्द और शान्ति मे लीन रहते थे।

कालचक्र का पहला भाग (अर) बीता। दूसरा और तीसरा भी लगभग बीत गया।

सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। भूमि का रस चीनी से अनन्त गुना मीठा था, वह कम होने लगा। उसके वर्ण, गन्ध और स्पर्श की श्रेष्ठता भी कम हुई।

युगल मनुष्यो के शरीर का परिमाण भी घटता गया। तीन, दो और एक दिन के बाद भोजन करने की परम्परा भी टूटने लगी। कल्प-वृक्षो की शक्ति भी क्षीण हो चली।

यह यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनो की कहानी है।

कुलकर-व्यवस्था

असख्य वर्षो के बाद नये युग का आरम्भ हुआ। यौगलिक व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी। दूसरी कोई व्यवस्था अभी जन्म नही पायी। सक्रान्ति-काल चल रहा था। एक ओर आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम हुए तो दूसरी ओर जनसख्या और जीवन की आवश्यकताए कुछ बढीं। इस स्थिति मे आपसी सघर्ष और लूट-खसोट

होने लगी। परिस्थिति की विवशता ने क्षमा, शान्ति, सौम्य आदि सहज गुणो में परिवर्तन ला दिया। अपराधी मनोवृत्ति का वीज अकुरित होने लगा।

अपराध और अव्यवस्था ने उन्हे एक नयी व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी। उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ। लोग 'कुल' के रूप मे सगठित होकर रहने लगे। उन कुलो का एक मुखिया होता, वह कुलकर कहलाता। उसे दण्ड देने का अधिकार होता। वह सब कुलो की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओ का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियन्त्रण रखता। यह शासन-तन्त्र का ही आदि-रूप था।

मनुष्य प्रकृति से पूरा भला ही नही होता और पूरा बुरा ही नही होता। उस मे भलाई और बुराई दोनो के वीज होते हैं। परिस्थिति का योग पा वे अकुरित हो उठते हैं। देश, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति के योग की सह-स्थिति का नाम है—परिस्थिति। वह व्यक्ति की स्वभावगत वृत्तियो की उत्तेजना का हेतु बनती है। उससे प्रभावित व्यक्ति बुरा या भला बन जाता है।

जीवन की आवश्यकताए कम थी। उसके निर्वाह के साधन सुलभ थे। उस समय मनुष्य को सग्रह करने और दूसरो द्वारा अधिकृत वस्तु को हडपने की बात नही सूझी। इसके वीज उसमे थे, पर उन्हें अकुरित होने का अवसर नही मिला। ज्यो ही जीवन की थोडी आवश्यकताए बढी, उसके निर्वाह के साधन कुछ दुर्लभ हुए कि लोगो मे सग्रह और अपहरण की भावना उभर आयी। जब तक लोग स्वय शासित थे, तब तक बाहर का शासन नही था। जैसे-जैसे स्व-गत शासन टूटता गया, वैसे-वैसे बाहरी शासन बढता गया। यह कार्य-कारणवाद या एक के चले जाने पर दूसरे के विकसित होने की कहानी है।

कुलकर सात हुए हैं, उनके नाम ये हैं

१ विमलवाहन
२ चक्षुष्मान्
३ यशस्वी
४. अभिचन्द्र
५ प्रसेनजित
६ मरुदेव
७ नाभि

राजतन्त्र और दण्डनीति

कुलकर-व्यवस्था मे तीन दण्ड-नीतिया प्रचलित हुई। पहले कुलकर विमल-वाहन के समय मे 'हाकार' नीति का प्रयोग हुआ। उस समय के मनुष्य स्वय अनुशासित और लज्जाशील थे। 'हा! तूने यह क्या किया!' ऐसा कहना गुरुतर

स्पष्ट था।

दूसरे कुलकर चक्षुष्मान् के समय भी यही नीति चली। तीसरे और चौथे—यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के समय मे छोटे अपराध के लिए 'हाकार' और वडे अपराध के लिए 'माकार' (मत करो) नीति का प्रयोग किया गया।

पाचवें, छठे और सातवें—प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि कुलकर के समय मे 'धिक्कार' नीति चली। छोटे अपराध के लिए 'हाकार', मध्यम अपराध के लिए 'माकार' और वड़े अपराध के लिए 'धिक्कार' नीति का प्रयोग किया गया। उस समय के मनुष्य अति-शान्त ऋजु, मर्यादा-प्रिय और स्वय-शासित थे। खेद-प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार—ये मृत्यु-दण्ड से अधिक होते।

अभी नाभि का नेतृत्व चल ही रहा था। युगलों को जो कल्प-वृक्षो से प्रकृति-सिद्ध भोजन मिलता था, वह अपर्याप्त हो गया। जो युगल शान्त और प्रसन्न थे, उनमे क्रोध का उदय होने लगा। वे आपस मे लड़ने-झगड़ने लगे। 'धिक्कार' नीति का उल्लघन होने लगा। जिन युगलो ने क्रोध, लड़ाई जैसी स्थितिया न कभी देखी और न कभी सुनी—वे इन स्थितियों मे घबरा गए। वे मिले और ऋषभकुमार के पास पहुचे और मर्यादा के उल्लघन से उत्पन्न स्थिति का निवेदन किया। ऋषभ ने कहा—"इस स्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए राजा की आवश्यकता है।"

"राजा कौन होता है?" युगलो ने पूछा।

ऋषभ ने राजा का कार्य समझाया। शक्ति के केन्द्रीकरण की कल्पना उन्हे दी। युगलो ने कहा—"हममे आप सर्वाधिक समर्थ हैं। आप ही हमारे राजा वनें।"

ऋषभकुमार वोले—"आप मेरे पिता नाभि के पास जाइये, उनसे राजा की याचना कीजिए। वे आपको राजा देंगे।" वे चले, नाभि को सारी स्थिति से परिचित कराया। नाभि ने ऋषभ को उनका राजा घोषित किया। वे प्रसन्न हो लौट गए।

ऋषभ का राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने राज्य-सचालन के लिए नगर वसाया। वह वहुत विशाल था। उसका नाम रखा विनीता—अयोध्या। ऋषभ प्रथम राजा वने। शेप जनता प्रजा वन गई। वे प्रजा का अपनी सन्तान की भाति पालन करने लगे। गावो और नगरो का निर्माण हुआ। लोग अरण्य-वास से हट भवनवासी वन गए। ऋषभ की क्रान्तिकारी और जन्मजात प्रतिभा से लोग नये युग के निर्माण की ओर चल पड़े। उन्होंने राज्य की समृद्धि के लिए गायो, घोड़ो और हाथियो का सग्रह किया। असाधु लोगो पर शासन और साधु लोगो की सुरक्षा के लिए उन्होंने अपना मन्त्रिमडल वनाया।

चोरी, लूट-खसोट न हो, नागरिक जीवन व्यवस्थित रहे—इसके लिए उन्होंने आरक्षक दल स्थापित किया।

राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए उन्होंने चतुरग सेना और

सेनापतियो की व्यवस्था की ।

साम, दान, भेद और दण्ड-नीति का प्रवर्तन हुआ ।

ऋषभ की दण्ड-व्यवस्था के चार अग थे

१ परिभाषक—थोडे समय के लिए नजरबन्द करना—क्रोधपूर्ण शब्दो मे अपराधी को 'यही बैठ जाओ' का आदेश देना ।

२ मडलिबन्ध—नजरबन्द करना—नियमित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना ।

३. बन्ध—बधन का प्रयोग ।

४ घात—डडे का प्रयोग ।[1]

औषध को व्याधि का प्रतिकार माना जाता है, वैसे ही दण्ड अपराध का प्रतिकार माना जाने लगा । इन नीतियो मे राजतन्त्र जमने लगा और अपराधी चार भागो मे बट गए । आरक्षक वर्ग के सदस्य 'उग्र', मन्त्रि परिषद् के सदस्य 'भोज', परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रान्तीय प्रतिनिधि 'राजन्य' और शेष कर्मचारी 'क्षत्रिय' कहलाए ।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना । यह क्रम राजतन्त्र का अग बन गया । यह युगो तक विकसित होता रहा ।

विवाह-पद्धति का प्रारभ

नाभि अन्तिम कुलकर थे । उनकी पत्नी का नाम था 'मरुदेवा' । उनके पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम रखा गया 'उसभ' या 'ऋषभ' । इनका शैशव बदलते हुए युग का प्रतीक था । युगल के एक साथ जन्म लेने या मरने की सहज-व्यवस्था भी शिथिल हो गई । उन्ही दिनो एक युगल जन्मा । उसके माता-पिता ने उसे ताड के वृक्ष के नीचे सुला दिया । उसका फल बच्चे के सिर पर गिरा और वह मर गया । उस युग की वह पहली अकाल-मृत्यु थी । अब वह बालिका अकेली रह गई । थोडे समय बाद उसके माता-पिता मर गए । उस अकेली बालिका को अन्य युगलो ने आश्चर्य की दृष्टि से देखा । वे उसे कुलकर नाभि के पास ले गए । नाभि ने उसे ऋषभ की पत्नी के रूप मे स्वीकार कर लिया । ऋषभ युवा हो गए । उन्होने अपनी सहोदरी सुमगला के साथ सुनदा को स्वय व्याहा । यही से विवाह-पद्धति का उदय हुआ । इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के अतिरिक्त भी दूसरी कन्याओ से विवाह करने लगे ।

खाद्य-समस्या का समाधान

कुलकर युग मे लोगो की भोजन-सामग्री थी—कन्द, मूल, पत्र, पुष्प और

---

१ आवश्यक निर्युक्ति गाथा—२१७, २१८ ।

फल। बढती हुई जनसख्या के लिए कन्द आदि पर्याप्त नही रहे और वनवासी लोग गृहवासी होने लगे। इससे पूर्व प्राकृतिक वनस्पति प्राप्त थी। अब बोए हुए बीज से अनाज होने लगा।

वे पकाना नही जानते थे और न उनके पास पकाने का कोई साधन था। वे कच्चा अनाज खाते थे। समय बदला। कच्चा अनाज दुष्पाच्य हो गया। लोग ऋषभ के पास पहुचे और अपनी समस्या का समाधान मागा। ऋषभ ने अनाज को हाथो से घिसकर खाने की सलाह दी। लोगो ने वैसा ही किया। कुछ समय बाद वह विधि भी असफल होने लगी। ऋषभ अग्नि की बात जानते थे। किन्तु वह काल एकान्त स्निग्ध था। वैसे काल मे अग्नि उत्पन्न हो नही सकती। एकान्त स्निग्ध और एकान्त रूक्ष—दोनो काल अग्नि की उत्पत्ति के योग्य नही होते।

समय के चरण आगे बढे। काल स्निग्ध-रूक्ष बना, तब वृक्षो की टक्कर से अग्नि उत्पन्न हुई, वह फैली। वन जलने लगे। लोगो ने उस अपूर्व वस्तु को देखा और उसकी सूचना ऋषभ को दी। उन्होने अग्नि का उपयोग और पाक-विद्या का प्रशिक्षण दिया। खाद्य-समस्या का समाधान हो गया।

शिल्पकला और व्यवसाय का प्रशिक्षण

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाए सिखलाई। कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी की लक्षण विद्या का उपदेश दिया। बडी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियो और सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, क्रीडाविधि आदि-आदि विद्याओ का प्रवर्तन कर लोगो को सुव्यवस्थित और सुसस्कृत बना दिया।

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि शिल्पो का जन्म हुआ। अन्नपाक के लिए पात्र-निर्माण आवश्यक हुआ। कृषि, गृह-निर्माण आदि के लिए औजार आवश्यक थे, इसलिए लोहकार शिल्प का आरभ हुआ। सामाजिक जीवन ने वस्त्र-शिल्प और गृह-शिल्प को जन्म दिया।

नख, केश आदि को काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर-कर्म) का प्रवर्तन हुआ। इन पाचो शिल्पो का प्रवर्तन अग्नि की उत्पत्ति के बाद हुआ।

पदार्थों के विकास के साथ-साथ उनके विनिमय की आवश्यकता अनुभूत हुई। उस समय ऋषभ ने व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया।

कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने। कहा जा सकता है—अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रो को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया।

पदार्थ बढे तब परिग्रह मे ममता बढी, सग्रह होने लगा। कौटुम्बिक ममत्व भी बढा। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

सामाजिक परम्पराओ का सूत्रपात

पहले मृतको की दाहक्रिया नही की जाती थी, अब लोग मृतको को जलाने लगे। पहले पारिवारिक ममत्व नही था, अब वह विकसित हो गया। इसलिए मृत्यु के वाद लोग रोने लगे। उसकी स्मृति मे वेदी और स्तूप बनाने की प्रथा भी चल पडी। नाग-पूजा और अन्य कई उत्सव भी लोग मनाने लगे।

इस प्रकार समाज मे कुछ परम्पराओ ने जन्म ले लिया।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन

कर्तव्य-बुद्धि से लोक-व्यवस्था का प्रवर्तन कर ऋषभ राज्य करने लगे। बहुत लम्बे समय तक वे राजा रहे। जीवन के अतिम भाग मे वे राज्य त्यागकर मुनि बने। मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन हुआ। यौगलिक काल मे क्षमा, सन्तोप आदि सहज धर्म ही था। हज़ार वर्ष की साधना के वाद भगवान् ऋषभ को कैवल्य-लाभ हुआ। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना की। मुनि-धर्म के पाच महाव्रत और गृहस्थ-धर्म के बारह-व्रतो का उपदेश दिया। साधु-साध्वियो का सघ बना। श्रावक-श्राविकाए भी बनी।

साम्राज्य-लिप्सा

भगवान् ऋषभ कर्म-युग के पहले राजा थे। अपने सौ पुत्रो को अलग-अलग राज्यो का भार सौंप वे मुनि बन गए। सबसे वडा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहता था। उसने अपने ९८ भाइयो को अपने अधीन करना चाहा। सबके पास दूत भेजे। ९८ भाई मिले। आपस मे परामर्श कर भगवान् ऋषभ के पास पहुचे। सारी स्थिति भगवान् ऋषभ के सामने रखी। दुविधा की भाषा मे पूछा—'भगवन्! क्या करें? बडे भाई से लडना नही चाहते और अपनी स्वतन्त्रता को खोना भी नही चाहते। भाई भरत ललचा गया है। आपके दिये हुए राज्य को वह हमसे वापस लेना चाहता है। हम उससे लडें तो भ्रातृ-युद्ध की गलत परम्परा पड जाएगी। बिना लडे राज्य सौंप दें तो साम्राज्य का रोग बढ जाएगा। परमपिता! इस दुविधा से उबारिए।'

भगवान् ने कहा—'पुत्रो! तुमने ठीक सोचा। लडना भी बुरा है और क्लीव होना भी बुरा है। राज्य दो परो वाला पक्षी है। उसका मजबूत पर युद्ध है। उसकी उडान मे पहले वेग होता है, अन्त मे थकान। वेग मे से चिनगारिया उछलती हैं। उडाने वाले लोग उसमे जल जाते हैं। उडने वाला चलता-चलता थक जाता है। शेष रहती है निराशा और अनुताप।

'पुत्रो! तुम्हारी समझ सही है। युद्ध बुरा है—विजेता के लिए भी और

पराजित के लिए भी। पराजित अपनी सत्ता को गंवाकर पछताता है और विजेता कुछ नही पाकर पछताता है। प्रतिशोध की चिता जलाने वाला उसमे स्वय न जले यह कभी नही होता।

'राज्य रूपी पक्षी का दूसरा पर दुर्बल है। वह है कायरता। मैं तुम्हें कायर वनने की सलाह भी कैसे दे सकता हू ? पुत्रो ! मैं तुम्हे ऐसा राज्य देना चाहता हू, जिसके साथ लडाई और कायरता की कडिया जुडी हुई नही हैं।'

भगवान् की आश्वासन-भरी वाणी सुन वे सारे के सारे खुशी से झूम उठे। आशा-भरी दृष्टि से एकटक भगवान् की ओर देखने लगे। भगवान् की भावना को वे नही पकड सके। भौतिक जगत् की सत्ता और अधिकारो से परे कोई राज्य हो सकता है—यह उनकी कल्पना मे नही समाया। उनकी किसी विचित्र भू-खण्ड को पाने की लालसा तीव्र हो उठी। भगवान् इसीलिए तो भगवान् थे कि उनके पास कुछ भी नही था। उत्सर्ग की चरम रेखा पर पहुचने वाले ही भगवान् वनते हैं। सग्रह के चरम विन्दु पर पहुच कोई भगवान् वना हो—ऐसा एक भी उदाहरण नही है।

भगवान् ने कहा—'सयम का क्षेत्र निर्वाध राज्य है। इसे लो। न तुम्हें कोई अधीन करने आएगा और न वहा युद्ध और कायरता का प्रसग है।'

पुत्रो ने देखा पिता उन्हे राज्य त्यागने की सलाह दे रहे हैं। पूर्व-कल्पना पर पटाक्षेप हो गया। अकल्पित चित्र सामने आया। आखिर वे भी भगवान् के वेटे थे। भगवान् के मार्गदर्शन का सम्मान किया। राज्य को त्याग स्व-राज्य की ओर चल पडे। स्व-राज्य की अपनी विशेषताए हैं। इसे पाने वाला सब कुछ पा जाता है। राज्य की मोहकता तव तक रहती है, जव तक व्यक्ति स्व-राज्य की सीमा मे नहीं चला आता। एक सयम के विना व्यक्ति सव कुछ पाना चाहता है। सयम के आने पर कुछ भी पाए विना सव कुछ पाने की कामना नष्ट हो जाती है।

त्याग शक्तिशाली अस्त्र है। इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही है। भरत का आक्रामक दिल पसीज गया। वह दौडा-दौडा आया। अपनी भूल पर पछतावा हुआ। भाइयो से क्षमा मागी। स्वतन्त्रतापूर्वक अपना-अपना राज्य सम्हालने को कहा। किन्तु वे अव राज्य-लोभी सम्राट् भरत के भाई नही रहे थे। वे अकिंचन जगत् के भाई वन चुके थे। भरत का भातृ-प्रेम अव उन्हें नही ललचा सका। वे उसकी लालची आखो को देख चुके थे। इसलिए उसकी गीली आखो का उन पर कोई असर नही हुआ। भरत हाथ मलते हुए घर लौट गया।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के वाद सहसा नही वुझती। भरत ने एक-एक कर सारे राज्यो को अपने अधीन कर लिया। वाहुवलि को उसने नहीं छुआ। अट्ठानवे भाइयो के राज्य-त्याग को वह अव भी नही भूला था। अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। एकछत्र राज्य का सपना पूरा नहीं हुआ। असयम का जगत्

ही ऐसा है, जहा सब कुछ पाने पर भी व्यक्ति को अकिंचनता की अनुभूति होती रहती है।

युद्ध का पहला चरण

दूत के मुह से भरत का सन्देश सुन बाहुबलि की भृकुटी तन गई। दबा हुआ रोष उभर आया। कापते होठो से कहा—'दूत! भरत अब भी भूखा है? अपने अट्ठानवे सगे भाइयो का राज्य हडपकर भी तृप्त नही बना। हाय! यह कैसी मनोदशा है! साम्राज्यवादी के लिए निषेध जैसा कुछ होता ही नही। मेरा बाहुबल किससे कम है? क्या मैं दूसरे राज्यो को नही हडप सकता? किन्तु यह मानवता का अपमान, शक्ति का दुरुपयोग और व्यवस्था का भग है, मैं ऐसा कार्य नही कर सकता। व्यवस्था के प्रवर्तक हमारे पिता हैं। उनके पुत्रो को उसे तोडने मे लज्जा का अनुभव होना चाहिए। शक्ति का प्राधान्य पशु-जगत् का चिह्न है। मानव-जगत् मे विवेक का प्राधान्य होना चाहिए। शक्ति का सिद्धान्त पनपा तो बच्चो और बूढो का क्या बनेगा? युवक उन्हे चट कर जाएगे। रोगी, दुर्बल और अपग के लिए यहा कोई स्थान नही रहेगा। फिर तो यह सारा विश्व रौद्र बन जाएगा। क्रूरता के साथी हैं—ज्वाला-स्फुलिंग, ताप और सर्वनाश। क्या मेरा भाई अभी-अभी समूचे जगत् को सर्वनाश की ओर ढकेलना चाहता है? आक्रमण एक उन्माद है। आक्रान्ता उससे बेभान हो दूसरो पर टूट पडता है।

'भरत ने ऐसा ही किया। मैं उसे चुप्पी साधे देखता रहा। अब उस उन्माद के रोग का शिकार मैं हू। हिंसा से हिंसा की आग नही बुझती—यह मैं जानता हू। आक्रमण को अभिशाप मानता हू। किन्तु आक्रमणकारी को सहू—यह मेरी तितिक्षा से परे है। तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र की विशेषता है। किन्तु उसकी भी एक सीमा है। मैंने उसे निभाया है। तोडने वाला समझता ही नही तो आखिर जोडने वाला कब तक जोडे?'

भरत की विशाल सेना 'बहली' की सीमा पर पहुच गई। इधर बाहुबलि अपनी छोटी-सी सेना सजा आक्रमण को विफल करने आ गया। भाई-भाई के बीच युद्ध छिड गया। स्वाभिमान और स्वदेश-रक्षा की भावना से भरी हुई बाहुबलि की छोटी-सी सेना ने सम्राट् की विशाल सेना को भागने के लिए विवश कर दिया। सम्राट् की सेना ने फिर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया। दुबारा भी मुह की खानी पडी। लम्बे समय तक आक्रमण और बचाव की लडाइया होती रही। आखिर दोनो भाई सामने आ खडे हुए। तादात्म्य आखो पर छा गया। सकोच के घेरे मे दोनो ने अपने आपको छिपाना चाहा, किन्तु दोनो विवश थे। एक के सामने साम्राज्य के सम्मान का प्रश्न था, दूसरे के सामने स्वाभिमान का। वे विनय और वात्सल्य की मर्यादा को जानते हुए भी रणभूमि मे उतर आए।

दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि पाच प्रकार के युद्ध निर्णीत हुए। उन सब मे सम्राट् पराजित हुआ। विजयी हुआ बाहुबलि। भरत को छोटे भाई से पराजित होना बहुत चुभा। वह आवेग को रोक न सका। मर्यादा तोड बाहुबलि पर चक्र का प्रयोग कर डाला। इस अप्रत्याशित घटना से बाहुबलि का खून उबल गया। प्रेम का स्रोत एक साथ ही सूख गया। बचाव की भावना से विहीन हाथ उठा तो सारे सन्न रह गए। भूमि और आकाश बाहुबलि की विरुदावलियो से गूज उठे। भरत अपने अविचारित प्रयोग से लज्जित हो सिर झुकाए खडा रहा। सारे लोग भरत की भूल को भुला देने की प्रार्थना में लग गए।

एक साथ लाखों कण्ठो से एक ही स्वर गूजा—'महान् पिता के पुत्र भी महान् होते हैं। सम्राट् ने अनुचित किया पर छोटे भाई के हाथ से बडे भाई की हत्या और अधिक अनुचित कार्य होगा। महान् ही क्षमा कर सकता है। क्षमा करने वाला कभी छोटा नही होता। महान् पिता के महान् पुत्र ! हमे क्षमा कीजिए, हमारे सम्राट् को क्षमा कीजिए।' इन लाखो कण्ठो की विनम्र स्वर-लहरियो ने बाहुबलि के शौर्य को मार्गान्तरित कर दिया। बाहुबलि ने अपने-आपको सम्हाला। महान् पिता की स्मृति ने वेग का शमन किया। उठा हुआ हाथ विफल नही लौटता। उसका प्रहार भरत पर नही हुआ। वह अपने सिर पर लगा। सिर के बाल नोच डाले और अपने पिता के पथ की ओर चल पडा।

बाहुबलि के पैर आगे नही बढे। वे पिता की शरण मे चले गए पर उनके पास नही गए। अहकार अब भी बच रहा था। पूर्व-दीक्षित छोटे भाइयो को नमस्कार करने की बात याद आते ही उनके पैर रुक गए। वे एक वर्ष तक ध्यान-मुद्रा मे खडे रहे। विजय और पराजय की रेखाए अनगिनत होती हैं। असतोष पर विजय पाने वाले बाहुबलि अह से पराजित हो गए। उनका त्याग और क्षमा उन्हें आत्म-दर्शन की ओर ले गए। उनके अह ने उन्हे पीछे ढकेल दिया। बहुत लम्बी ध्यान-मुद्रा के उपरान्त भी वे आगे नही बढ सके।

'ये पैर स्तब्ध क्यो हो रहे हैं ? सरिता का प्रवाह रुक क्यो रहा है ?' ये शब्द बाहुबलि के कानो को बीध हृदय को पार कर गए। बाहुबलि ने आखें खोलीं। देखा, ब्राह्मी और सुन्दरी सामने खडी हैं। बहनो की विनम्र-मुद्रा को देख उनकी आखें झुक गईं।

'अवस्था से छोटे-बडे की मान्यता एक व्यवहार है। वह सार्वभौम सत्य नही है। ये मेरे पैर गणित के छोटे से प्रश्न मे उलझ गए। छोटे भाइयो को मैं नमस्कार कैसे करू—इस तुच्छ चिन्तन मे मेरा महान् साध्य विलीन हो गया। अवस्था लौकिक मानदण्ड है। लोकोत्तर जगत् मे छुटपन और बडप्पन के मानदण्ड बदल जाते हैं। वे भाई मुझसे छोटे नही हैं, उनका चरित्र विशाल है। मेरे अह ने मुझे और छोटा बना दिया। अब मुझे अविलम्ब भगवान् के पास चलना चाहिए।'

पैर उठे कि वन्धन टूट पडे। नम्रता के उत्कर्ष में समता का प्रवाह वह चला। वे केवली वन गए। सत्य का साक्षात् ही नही हुआ, वे स्वय सत्य वन गए। शिव अव उनका साध्य नही रहा, वे स्वय शिव वन गए। आनन्द अव उनके लिए प्राप्य नही रहा, वे स्वय आनन्द बन गए।

अनासक्त योग

भरत अव असहाय जैसा हो गया। भाई जैसा शव्द उसके लिए अर्थवान् नही रहा। वह सम्राट् वना रहा किन्तु उसका हृदय अव साम्राज्यवादी नही रहा। पदार्थ मिलते रहे पर आसक्ति नही रही। वह उदासीन-भाव से राज्य-सचालन करने लगा।

भगवान् अयोध्या आए। प्रवचन हुआ। एक प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—'भरत मोक्ष-गामी है।' एक सदस्य भगवान् पर विगड गया और उन पर पुत्र के पक्षपात का आरोप लगाया। भरत ने उसे फासी की सजा दे दी। वह घवरा गया, भरत के पैरो मे गिर पडा और अपराध के लिए क्षमा मागी। भरत ने कहा—'तेल भरा कटोरा लिए सारे नगर मे घूम आओ। तेल की एक वूद नीचे न डालो तो तुम छूट सकते हो। दूसरा कोई विकल्प नही है।'

अभियुक्त ने वैसा ही किया। वडी सावधानी से नगर मे घूम आया और सम्राट् के सामने प्रस्तुत हुआ।

सम्राट् ने पूछा—नगर मे घूम आए ?

'जी, हा।' अभियुक्त ने सफलता के भाव से कहा।

सम्राट्—नगर मे कुछ देखा तुमने ?

अभियुक्त—नही, सम्राट् ! कुछ भी नही देखा।

सम्राट्—कई नाटक देखे होगे ?

अभियुक्त—जी, नही। मौत के सिवा कुछ भी नही देखा।

सम्राट्—कुछ गीत तो सुने होंगे ?

अभियुक्त—सम्राट् की साक्षी से कहता हू, मौत की गुनगुनाहट के सिवा कुछ भी नही सुना।

सम्राट्—मौत का इतना डर ?

अभियुक्त—सम्राट् इसे क्या जाने ? यह मृत्युदण्ड पानेवाला ही समझ सकता है।

सम्राट्—क्या सम्राट् अमर रहेगा ? कभी नही। मौत के मुह से कोई नही वच सकता। तुम एक जीवन की मौत से डर गए। न तुमने नाटक देखे और न गीत सुने। मैं मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हू। यह साम्राज्य मुझे नही लुभा सकता।

सम्राट् की करुणापूर्ण आखो ने अभियुक्त को अभय बना दिया। मृत्युदण्ड उसके लिए केवल शिक्षाप्रद था। सम्राट् की अमरत्व-निष्ठा ने उसे मौत से सदा के लिए उबार लिया।

श्रामण्य की ओर

सम्राट् भरत नहाने को थे। स्नानघर मे गए, अगूठी खोली। अगुली की शोभा घट गई। फिर उसे पहना, शोभा बढ गई। पर-पदार्थ से शोभा बढ़ती है, यह सौन्दर्य कृत्रिम है—इस चिन्तन मे लगे और लगे सहज सौन्दर्य को ढूढने। भावना का प्रवाह आगे बढा। कर्म-मल को धो डाला। क्षणो में ही मुनि बने, वीतराग बने और केवली बने। भावना की शुद्धि ने व्यवहार की सीमा तोड दी। न वेश बदला, न राज-प्रासाद से बाहर निकले, किन्तु इनका आन्तरिक सयम इनसे बाहर निकल गया और वे पिता के पथ पर चल पडे।

ऋषभ के पश्चात्

काल का चौथा चरण दु षम-सुषमा आया। वह बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर तक रहा। इस अवधि मे कर्म-क्षेत्र का पूर्ण विकास हुआ। धर्म बहुत फला-फूला। इस युग मे जैन धर्म के बीस तीर्थंकर हुए। यह सारा दर्शन प्रागैतिहासिक युग का है। इतिहास अनन्त अतीत की चरण-धूलि को भी नहीं छू सका है। वह पाच हजार वर्ष को भी कल्पना की आख से देख पाता है।

सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना

बौद्ध साहित्य का जन्म-काल महात्मा बुद्ध के पहले का नही है। जैन साहित्य का विशाल भाग भगवान् महावीर के पूर्व का नही है। पर थोडा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का भी उसमें मिश्रित है, यह बहुत सम्भव है। भगवान् अरिष्टनेमि की परम्परा का साहित्य उपलब्ध नही है।

वेदो का अस्तित्व पाच हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध साहित्य श्रीकृष्ण के युग का उत्तरवर्ती है। इस साहित्यिक उपलब्धि द्वारा कृष्ण-युग तक का एक रेखाचित्र खीचा जा सकता है। उससे पूर्व की स्थिति सुदूर अतीत मे चली जाती है।

छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आगिरस ऋषि थे[1]।

जैन आगमो के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थंकर

---

१ छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१७।६।

अरिष्टनेमि थे[1]। घोर आगिरस ने श्रीकृष्ण को जो धारणा का उपदेश दिया है, वह जैन परम्परा से भिन्न नही है। 'तू अक्षित-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-सशित—अतिसूक्ष्मप्राण है।' इस त्रयी को सुनकर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओ के प्रति तृष्णाहीन हो गए[2]। जैन दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है[3]। घोर आगिरस ने जो उपदेश दिया, उसका सम्बन्ध आत्मवादी धारणा से है। 'इसीभासिय' मे अगिरिस नामक प्रत्येक-बुद्ध का उल्लेख है। वे भगवान्-अरिष्टनेमि के शासनकाल मे आए थे। इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि घोर आगिरस या तो अरिष्टनेमि के शिष्य या उनके विचारो से प्रभावित कोई सन्यासी रहे होगे?

कृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक सम्बन्ध भी था। अरिष्टनेमि समुद्र-विजय और कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्रविजय और वसुदेव सगे भाई थे। कृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया।[4] अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे[5]। राजीमती को भी दीक्षा के समय मे उन्होने भावुक शब्दो मे आशीर्वाद दिया[6]।

कृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमार ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली[7]।

कृष्ण की आठ पत्निया अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुई[8]। कृष्ण के पुत्र और अनेक पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने[9]। जैन साहित्य मे अरिष्टनेमि और कृष्ण के वार्तालापो, प्रश्नोत्तरो और विविध चर्चाओ के अनेक उल्लेख मिलते हैं[10]।

वेदो मे कृष्ण के देव रूप की चर्चा नही है। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन है[11]। पौराणिक काल मे कृष्ण का रूप-परिवर्तन होता है। वे सर्वशक्तिमान् देव बन जाते है। कृष्ण के यथार्थ-रूप का वर्णन जैन आगमो मे मिलता है[12]। अरिष्टनेमि और उनकी वाणी से वे प्रभावित थे, इसे अस्वीकार

---

१ ज्ञाताधर्मकथा, ५
२ छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१७।६
३. आयारो, १।१।१-४।
४ उत्तरज्झयणाणि, २२।६, ८
५ वही, २२।२५, २६
६ वही, २२।३१
७ अन्तकृत, ३।८
८ वही, ५। १-८
९ वही, १।१, १०, २।१-८, ४।१-१०
१० ज्ञाताधर्मकथा, ५
११ छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१७।६
१२ ज्ञाताधर्मकथा, १६

नही किया जा सकता।

उस समय सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना का आलोक समूचे भारत को आलोकित कर रहा था।

तीर्थंकर पार्श्व

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनका तीर्थ-प्रवर्तन भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ। भगवान् महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। अहिंसा और सत्य की साधना को समाज-व्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है। भगवान् पार्श्व अहिंसक-परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गए थे। इसकी जानकारी हमे 'पुरिसादाणीय'[1]—पुरुषादानीय विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे।

धर्मानन्द कौसम्बी ने भगवान् पार्श्व के बारे में कुछ मान्यताए प्रस्तुत की है

"परीक्षित का राज्य-काल बुद्ध से तीन शताब्दियो के पूर्व नही जा सकता। परीक्षित के बाद जनमेजय गद्दी पर आया और उसने कुरु देश मे महायज्ञ कर वैदिक धर्म का झण्डा फहराया। इसी समय काशी-देश मे पार्श्व एक नई सस्कृति की नीव डाल रहे थे। पार्श्व का जन्म वाराणसी नगर मे अश्वसेन नामक राजा की वामा नामक रानी से हुआ। ऐसी कथा जैन ग्रन्थो मे आयी है। पार्श्व की नई सस्कृति काशी राज्य मे अच्छी तरह टिकी रही होगी, क्योकि बुद्ध को भी अपने पहले शिष्यो को खोजने के लिए वाराणसी ही जाना पडा था।

पार्श्व का धर्म बिलकुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह—इन चार बातो के त्याग करने का वे उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल मे अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

सिनाई पर्वत पर मोजेस को ईश्वर ने जो दस आज्ञाए सुनाई, उनमे हत्या मत करो, इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओ को सुनकर मोजेस और उनके अनुयायी पैलेस्टाइन मे घुसे और वहा खून की नदिया बहाई। न जाने कितने लोगो को क़त्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियो को पकडकर आपस मे बाट लिया। इन बातो को अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाए ? तात्पर्य यह है कि पार्श्व के पहले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्त्व-ज्ञान था ही नही।

---

१ ठाण, ६।७८ आदि-आदि।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीन नियमो के साथ जकड दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियो के आचरण तक ही सीमित थी और जनता के व्यवहार मे जिसका कोई स्थान न था, अब वह इन नियमो के सम्बन्ध से सामाजिक एव व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने सघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के समय जो सघ विद्यमान थे, उन सबो मे जैन साधु और साध्वियो का सघ सबसे बडा था।

पार्श्व के पहले ब्राह्मणो के बडे-बडे समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उसका त्याग करके जगलो मे तपस्या करने वालो के सघ भी थे। तपस्या का एक अग समझकर ही वे अहिंसा धर्म का पालन करते थे पर समाज मे उसका उपदेश नही देते थे। वे लोगो से बहुत कम मिलते-जुलते थे।

बुद्ध के पहले यज्ञ-याग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-याग से ऊबकर जगलो मे जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे—ऐसी बात नही है। पर इन दो प्रकार के दोषो को देखनेवाले तीसरे प्रकार के भी सन्यासी थे और उन लोगो मे पार्श्व मुनि के शिष्यो को पहला स्थान देना चाहिए।"[1]

जैन परम्परा के अनुसार चातुर्याम धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् अजितनाथ और अन्तिम प्रवर्तक भगवान् पार्श्व हैं। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवे तीर्थंकर तक चातुर्याम धर्म का उपदेश चला। केवल भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर ने पाच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया। निर्ग्रन्थ श्रमणो के सघ भगवान् ऋषभ से ही रहे हैं, किन्तु वे वर्तमान इतिहास की परिधि से परे हैं। इतिहास की दृष्टि से कौसम्बीजी की सघबद्धता सम्बन्धी धारणा सही है।

---

१ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म।

२

भगवान् महावीर

ससार जुआ है। उसे खीचने वाले दो बैल हैं—जन्म और मौत। ससार का दूसरा पार्श्व है—मुक्ति। वहा जन्म और मौत दोनो नही। वह अमृत है। वह अमरत्व की साधना का साध्य है। मनुष्य किसी साध्य की पूर्ति के लिए जन्म नही लेता। जन्म लेना ससार की अनिवार्यता है। जन्म लेने वाले मे योग्यता होती है, सस्कारो का सचय होता है। इसलिए वह अपनी योग्यता के अनुकूल अपना साध्य चुन लेता है। जिसका जैसा विवेक, उसका वैसा ही साध्य और वैसी ही साधना—यह एक तथ्य है। इसका अपवाद कोई नही होता। भगवान् महावीर भी इसके अपवाद नही थे।

जन्म और परिवार

दु पम-सुपमा पूरा होने मे ७४ वर्ष ११ महीने साढे सात दिन बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्यरात्रि की वेला थी। उस समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ। यह ई० पूर्व ५९९ की बात है। विदेह में कुण्डपुर नामक एक नगर था। उसके दो भाग थे। उत्तर भाग का नाम क्षत्रिय कुण्डग्राम और दक्षिण भाग का नाम ब्राह्मण कुण्डग्राम था। भगवान् का जन्म क्षत्रिय कुण्डग्राम मे हुआ था।

भगवान् की माता त्रिशला क्षत्रियाणी और पिता सिद्धार्थ थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमणोपासक थे।[1] त्रिशला वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक

---

१ आयारचूला, १५/२५
समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था।

की वहन थी। सिद्धार्थ क्षत्रिय कुण्डग्राम के अधिपति थे।

भगवान् के वडे भाई का नाम नन्दिवर्धन था।[१] उनका विवाह चेटक की पुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ था।[२] भगवान् के काका का नाम सुपार्श्व और वडी वहन का नाम सुदर्शना था।[३]

नाम और गोत्र

भगवान् जव त्रिशला के गर्भ मे आए, तव से सम्पदाए वढी, इसलिए माता-पिता ने उनका नाम वर्धमान रखा।[४]

वे ज्ञात (नाग) नामक क्षत्रिय-कुल मे उत्पन्न हुए, इसलिए कुल के आधार पर उनका नाम नागपुत्र हुआ।[५]

साधना के दीर्घकाल मे उन्होंने अनेक कष्टो का वीर-वृत्ति से सामना किया। अपने लक्ष्य से कभी भी विचलित नही हुए। इसलिए उनका नाम महावीर हुआ।[६] यही नाम सवसे अधिक प्रचलित है।

सिद्धार्थ काश्यप-गोत्रीय क्षत्रिय थे।[७] पिता का गोत्र ही पुत्र का गोत्र होता है। इसलिए महावीर काश्यप-गोत्रीय कहलाए।

यौवन और विवाह

वाल-क्रीडा के वाद अध्ययन का समय आया। तीर्थंकर गर्भ-काल से ही अवधिज्ञानी होते हैं। महावीर भी अवधि-ज्ञानी थे। वे पढने के लिए गए। अध्यापक जो पढाना चाहता था, वह उन्हे ज्ञात था। आखिर अध्यापक ने कहा—आप स्वय सिद्ध हैं। आपको पढने की आवश्यकता नही।

यौवन आया। महावीर का विवाह हुआ। वे सहज विरक्त थे। विवाह करने की उनकी इच्छा नही थी। पर माता-पिता के आग्रह से उन्होने विवाह किया[८]।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे। श्वेताम्वर-साहित्य के अनुसार उनका विवाह क्षत्रिय-कन्या यशोदा के साथ हुआ[९]। उनके

---

१ आयारचूला, १५।२०
२ आवश्यकचूर्णि, पूर्व भाग, पत्र २४५
३ आयारचूला, १५।२०,२१
४ वही, १५।१३
५ देखें—अतीत का अनावरण, पृ० १३१-४३
६ आयारचूला, १५।१६
७ वही, १५।१७
८ वही, १५।१५
९ वही, १५।२२
समणस्स ण भगवओ महावीरस्य भज्जा जसोया कोडिण्णागोत्तेण।

प्रियदर्शना नाम की एक कन्या हुई।[1] उसका विवाह सुदर्शना के पुत्र (अपने भानजे) जमालि के साथ हुआ।[2]

उनके एक शेषवती (दूसरा नाम यशस्वती) नाम की दौहित्री—धेवती हुई।[3]

महाभिनिष्क्रमण

वे जब अट्ठाईस वर्ष के हुए तब उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया[4]। उन्होंने तत्काल श्रमण बनना चाहा पर नन्दिवर्धन के आग्रह से वैसा हो न सका। उन्होंने महावीर से घर मे रहने का आग्रह किया। वे उसे टाल न सके। दो वर्ष तक फिर घर मे रहे। यह जीवन उनका एकान्त-विरक्तिमय बीता। इस समय उन्होंने कच्चा जल पीना छोड दिया, रात्रि-भोजन नही किया और ब्रह्मचारी रहे[5]।

तीस वर्ष की अवस्था मे उनका अभिनिष्क्रमण हुआ। वे अमरत्व की साधना के लिए निकल गए। 'आज से सब पाप-कर्म अकरणीय हैं'—इस प्रतिज्ञा के साथ वे श्रमण बने[6]।

शान्ति उनके जीवन का साध्य था। क्रान्ति था उसका सहचर परिणाम। उन्होंने बारह वर्ष तक शान्त, मौन और दीर्घ तपस्वी जीवन बिताया।

साधना और सिद्धि

'जहा हित है, अहित है ही नही—ऐसा धर्म किसने कहा ? जहा यथार्थवाद है, अर्थवाद है ही नहीं—ऐसा धर्म किसने कहा ?'

यह पूछा—श्रमणो ने, ब्राह्मणो ने, गृहस्थो ने और अन्यान्य दार्शनिको ने जम्बू से और जम्बू ने पूछा—सुधर्मा से। यह प्रश्न अहित से तपे और अर्थवाद से ऊबे हुए लोगों का था।

जम्बू बोले—'गुरुदेव ! मेरी जिज्ञासाए उभरती आ रही हैं। लोग भगवान् महावीर के धर्म को गहरी श्रद्धा से सुन रहे हैं। उनके जीवन के बारे मे बडे

---

१ आयारचूला, १५।२३

२ कल्पसूत्र, १०९

३ आयारचूला, १५।२४

४ महावीर कथा, पृ० ११३

५ आयारो, ९।१।११

अविसाहिए दुवे वासे, सीतोद अभोच्चा णिक्खंते।
एगत्त-गए पिहियच्चे, से अहिन्नाय-दसणे संते॥

६ आयारचूला, १५।३२

सव्व मे अकरणिज्ज पावकम्म।

कुतूहल-भरे प्रश्न पूछ रहे है। उन्होंने मुझमे भी कुतूहल भर दिया है। मैं उनके जीवन का दर्शन चाहता हू। आपने उनको निकटता से देखा है, सुना है, निश्चय किया है, इसलिए मैं आपसे उनके ज्ञान, श्रद्धा और शील के बारे मे कुछ सुनना चाहता हू।'

सुधर्मा बोले—'जम्बू! जिस धर्म से दूसरे लोगो को और मुझे महावीर के जीवन-दर्शन की प्रेरणा मिली है, उसका महावीर के पौद्गलिक जीवन से लगाव नही है।'

आध्यात्मिक जगत् मे ज्ञान, दर्शन और शील की सगति ही जीवन है। भगवान् महावीर अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी, खेदज्ञ और क्षेत्रज्ञ थे—यह है उनके यशस्वी जीवन का दर्शन।

जो दूसरो के खेद को नही जानता, वह अपने खेद को भी नही जानता। जो दूसरो की आत्मा मे विश्वास नही करता, वह अपने आप मे भी विश्वास नही करता।

भगवान् महावीर ने आत्मा को आत्मा से तोला। वे आत्म-तुला के मूर्त-दर्शन थे। उन्होने खेद सहा, किन्तु किसी को खेद दिया नही। इसलिए वे खेदज्ञ थे। उनकी खेदज्ञता से धर्म का अजस्र प्रवाह बहा।

भगवान् महावीर का जीवन घटना-बहुल नही, तपस्या-बहुल है। वे दीर्घ तपस्वी थे। उनका जीवन-दर्शन धर्म का दर्शन है। धर्म उनकी वाणी का प्रवाह नही है। वह उनकी साधना से फूटा है।

उन्होंने देखा—ऊपर, नीचे और बीच मे सब जगह जीव हैं। वे चल भी हैं और अचल भी। वे नित्य भी है और अनित्य भी। आत्मा कभी अनात्मा नही होती, इसलिए वह नित्य है। पर्याय का विवर्त्त चलता रहता है, इसलिए वह अनित्य है। जन्म और मौत उसी के दो पहलू है। दोनो दुःख हैं। दुःख का हेतु विषमता हैं। विषमता का बीज है—राग और द्वेष। भगवान् ने समता धर्म का निरूपण किया। उसका मूल है—वीतराग-भाव।

भगवान् ने सबके लिए एक धर्म कहा—बडो के लिए भी और छोटो के लिए भी।

भगवान् ने क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद आदि सभी वादो को जाना और फिर अपना मार्ग चुना[1]। वे स्वय-सम्बुद्ध थे। भगवान् निर्ग्रन्थ बनते ही अपनी जन्मभूमि से चल पडे। हेमन्त ऋतु थी। भगवान् के पास केवल एक देव-दूष्य वस्त्र था। भगवान् ने नही सोचा कि सर्दी मे मैं यह वस्त्र पहनूगा। वे कष्ट-सहिष्णु थे। तेरह महीनो तक वह वस्त्र भगवान् के पास रहा। फिर उसे

---

१ सूयगडो, ६।२७

छोड भगवान् पूर्ण अचेल हो गए। वे पूर्ण असग्रही थे।

काटने वाले कीडे भगवान् को चार महीने तक काटते रहे। लहू पीते और मास खाते रहे। भगवान् अडोल रहे। वे क्षमा-शूर थे।

भगवान् प्रहर-प्रहर तक किसी लक्ष्य पर आखें टिका ध्यान करते। उस समय गाव के वाल-बच्चे उधर से आ निकलते और भगवान् को देखते ही हल्ला मचाते, चिल्लाते। फिर भी वे स्थिर रहते। वे ध्यान-लीन थे।

भगवान् को प्रतिकूल कष्टों की भाति अनुकूल कष्ट भी सहने पडे। भगवान् जब कभी जनाकीर्ण वस्ती मे ठहरते, उनके सौन्दर्य से ललचा अनेक ललनाए उनका प्रेम चाहती। भगवान् उन्हें साधना की वाधा मान उनसे परहेज करते। वे स्व-प्रवेशी (आत्म-लीन) थे।

साधना के लिए एकान्तवास और मौन—ये आवश्यक हैं। जो पहले अपने को न साधे, वह दूसरो का हित नही साध सकता। स्वय अपूर्ण पूर्णता का मार्ग नही दिखा सकता।

भगवान् गृहस्थो से मिलना-जुलना छोड ध्यान करते, पूछने पर भी नही वोलते। लोग घेरा डालते तो वे दूसरी जगह चले जाते।

कई आदमी भगवान् का अभिवादन करते। फिर भी वे उनसे नहीं वोलते। कई आदमी भगवान् को मारते-पीटते, किन्तु उन्हें भी वे कुछ नही कहते। भगवान् वैसी कठोरचर्या मे रम रहे थे जो सबके लिए सुलभ नही है।

भगवान् असह्य कष्टो को सहते। कठोरतम कष्टो की वे परवाह नही करते। व्यवहार-दृष्टि से उनका जीवन नीरस था। वे नृत्य और गीतो से जरा भी नही ललचाते। दण्ड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि लडाइया देखने को उत्सुक भी नही होते।

सहज आनन्द और आत्मिक चैतन्य जागृत नही होता, तब तक वाहरी उपकरणो के द्वारा आमोद पाने की चेष्टा होती है। जिनके चैतन्य का पर्दा खुल जाता है, सहज सुख का स्रोत फूट पडता है—वे नीरस होते ही नही, वे सदा समरस रहते हैं। वाहरी साधनो के द्वारा अन्तर् के नीरस भाव को सरस वनाने का यत्न करनेवाले भले ही उसका मूल्य न आक सकें।

भगवान् स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राज-कथा मे भाग नही लेते। उन्हे मध्यस्थ भाव से टाल देते। वे सारे कष्ट—अनुकूल और प्रतिकूल, जो साधना के पूर्ण विराम हैं, भगवान् को लक्ष्य-च्युत नही कर सके।

भगवान् ने विजातीय तत्त्वो (पुद्गल-आसक्ति) को न शरण दी और न उनकी शरण ली। वे निरपेक्ष भाव से जीते रहे।

निरपेक्षता का आधार वैराग्य-भावना है। रक्त-द्विष्ट आत्मा के साथ अपेक्षाए जुडी रहती हैं। अपेक्षा का अर्थ है—दुर्वलता। व्यक्ति का सवल और दुर्वल होने का मापदण्ड अपेक्षाओ की न्यूनाधिकता है।

भगवान् श्रमण बनने से दो वर्ष पहले ही अपेक्षाओ को ठुकराने लगे। सजीव पानी पीना छोड दिया, अपना अकेलापन देखने लग गए, क्रोध, मान, माया और लोभ की ज्वाला को शान्त कर डाला। सम्यग्-दर्शन का रूप निखर उठा। पौद्गलिक आस्थाए हिल गई।

भगवान् ने मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और चर जीवो का अस्तित्व जाना। उन्हे सजीव मान उनकी हिंसा से विलग हो गए।

अचर जीव दूसरे जन्म मे चर और चर जीव दूसरे जन्म मे अचर हो सकते हैं। राग-द्वेष से वधे हुए सब जीव सव प्रकार की योनियो मे जन्म लेते रहते हैं।

यह ससार रगभूमि है। इसमे जन्म-मृत्यु का अभिनय होता रहता है। भगवान् ने इस विचित्रता का चिन्तन किया और वे वैराग्य की दृढ भूमिका पर पहुच गए।

भगवान् ने ससार के उपादान को ढूढ निकाला। उसके अनुसार उपाधि—परिग्रह से वधे हुए जीव ही कर्म-बद्ध होते हैं। कर्म ही ससार-भ्रमण का हेतु है। वे कर्मो के स्वरूप को जान उनसे अलग हो गए। भगवान् ने स्वय अहिंसा को जीवन मे उतारा। दूसरो को उसका मार्गदर्शन दिया। वासना को सर्व कर्म-प्रवाह का मूल मान भगवान् ने स्त्री-सग छोडा।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य—ये दोनो साधना के आधारभूत तत्त्व हैं। अहिंसा अवैर साधना है। ब्रह्मचर्य जीवन की पवित्रता है। अवैर भाव के विना आत्म-साम्य की अनुभूति और पवित्रता के बिना विकास का मार्गदर्शन नही हो सकता। इसलिए भगवान् ने उन पर वडी सूक्ष्मदृष्टि से मनन किया।

भगवान् ने देखा—बन्ध कर्म से होता है। उन्होंने पाप को ही नही, उसके मूल को उखाड फेंका।

भगवान् अपने लिए वनाया हुआ भोजन नही लेते। वे शुद्ध भिक्षा के द्वारा अपना जीवन चलाते। आहार का विवेक करना अहिंसा और ब्रह्मचर्य—इन दोनो की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जीव-हिंसा का हेतुभूत आहार जैसे सदोष होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य मे वाधा डालने वाला आहार भी सदोष है। आहार की मीमासा मे अहिंसा-विशुद्धि के बाद ब्रह्मचर्य की विशुद्धि की ओर ध्यान देना सहज प्राप्त होता है। भगवान् आहार-पानी की मात्रा के जानकार थे। रस-गृद्धि से वे किनारा कसते रहे। वे जीमनवार मे नही जाते और दुर्भिक्ष-भोजन भी नही लेते। उन्होंने सरस भोजन का सकल्प तक नही किया। वे सदा अनासक्त और यात्रा-निर्वाह के लिए भोजन करते रहे। भगवान् ने अनासक्ति के लिए शरीर की परिचर्या को भी त्याग रखा था। वे खाज नही खनते। आख को भी साफ नही करते। भगवान् सग-त्याग की दृष्टि से गृहस्थ के पात्र मे खाना नही खाते और न उनके वस्त्र ही पहनते।

भगवान् का दृष्टि-सयम अनुत्तर था। वे चलते समय इधर-उधर नही देखते,

पीछे नही देखते, बुलाने पर भी नही बोलते, सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते।

भगवान् प्रकृति-विजेता थे। वे सर्दी मे नगे वदन घूमते। सर्दी मे डरे बिना हाथो को फैलाकर चलते। भगवान् अप्रतिवद्धविहारी थे, परिव्राजक थे। बीच-बीच में शिल्प-शाला, सूना घर, झोपडी, प्रपा, दूकान, लोहकार-शाला, विश्राम-गृह, आराम-गृह, श्मशान, वृक्ष-मूल आदि स्थानो मे ठहरते। इस प्रकार भगवान् बारह वर्ष और साढे छह मास तक कठोर चर्या का पालन करते हुए आत्म-समाधि मे लीन रहे। भगवान् साधना-काल में समाहित हो गए। अपने आप मे समा गए। भगवान् दिन-रात यतमान रहते। उनका अन्त करण सतत क्रियाशील या आत्मान्वेषी हो गया।

भगवान् अप्रमत्त बन गए। वे भय और दोषकारक प्रवृत्तियो से हट सतत जागरूक बन गए।

ध्यान करने के लिए समाधि (आत्म-लीनता या चित्त-स्वास्थ्य), यतना और जागरूकता—ये सहज अपेक्षित हैं। भगवान् ने आत्मिक वातावरण को ध्यान के अनुकूल बना लिया। बाहरी वातावरण पर विजय पाना व्यक्ति के सामर्थ्य की बात है, उसे बदलना उसके सामर्थ्य से परे भी हो सकता है। आत्मिक वातावरण बदला जा सकता है। भगवान् ने इस सामर्थ्य का पूरा उपयोग किया। भगवान् ने नीद पर भी विजय पा ली। वे दिन-रात का अधिक भाग खडे रहकर ध्यान मे बिताते। विश्राम के लिए थोडे समय लेटते, तब भी नीद नही लेते। जब कभी नीद सताने लगती तो भगवान् फिर खडे होकर ध्यान मे लग जाते। कभी-कभी तो सर्दी की रातो मे घडियो तक बाहर रहकर नीद टालने के लिए ध्यानमग्न हो जाते।

भगवान् ने पूरे साधना-काल मे सिर्फ एक मुहूर्त तक नीद ली। शेष सारा समय ध्यान और आत्म-जागरण मे बीता।

भगवान् तितिक्षा की परीक्षा-भूमि थे। चड-कौशिक साप ने उन्हें काट खाया। और भी साप, नेवले आदि सरीसृप जाति के जन्तु उन्हें सताते। पक्षियो ने उन्हें नोचा।

भगवान् को मौन और शून्यगृह-वास के कारण अनेक कष्ट झेलने पडे। ग्राम-रक्षक, राजपुरुष और दुष्कर्मा व्यक्तियो का कोप-भाजन बनना पडा। उन्होंने कुछ प्रसगो पर भगवान् को सताया, यातना देने का प्रयत्न किया।

भगवान् अवहुवादी थे। वे प्राय मौन रहते। आवश्यकता होने पर भी विशेष नही बोलते। एकान्त स्थान मे उन्हें खडा देख लोग पूछते—'तुम कौन हो ?' तब भगवान् कभी-कभी नही बोलते। भगवान् के मौन से चिढकर वे उन्हें सताते। भगवान् क्षमा-धर्म को स्व-धर्म मानते हुए सब कुछ सह लेते। वे अपनी समाधि (मानसिक सन्तुलन या स्वास्थ्य) को भी नही खोते।

कभी-कभी भगवान् प्रश्नकर्ता को सक्षिप्त-सा उत्तर भी देते। 'मैं भिक्षु हूँ'—

यह कहकर फिर अपने ध्यान मे लीन हो जाते ।

देवो ने भी भगवान् को अछूता नही छोडा । उन्होने भी भगवान् को घोर उपसर्ग दिए । भगवान् ने गन्ध, शब्द और स्पर्श सम्बन्धी अनेक कष्ट सहे ।

सामान्य बात यह है कि कष्ट किसी के लिए भी इष्ट नही होता । स्थिति यह है कि जीवन मे कष्ट आते है, फिर वे प्रिय लगें या न लगें । कुछ व्यक्ति कष्टो को विशुद्धि के लिए वरदान मान उन्हे हस-हस झेल लेते हैं । कुछ व्यक्ति अधीर हो जाते है । अधीर को कष्ट सहन करना पडता है, धीर कष्ट को सहते हैं ।

साधना का मार्ग इससे भी और आगे है । वहा कष्ट निमन्त्रित किये जाते हैं । साधनाशील उन्हे अपने भवन का दृढ स्तम्भ मानते हैं । कष्ट आने पर साधना का भवन गिर न पडे, इस दृष्टि से वह पहले ही उसे कष्टो के खभो पर खडा करता है । जान-बूझकर कष्टो को न्यौता दे, उसे उनके आने पर अरति और न आने पर रति नही हो सकती । अरति और रति—ये दोनो साधना की बाधाए है । भगवान् महावीर इन दोनो को पचा लेते थे । वे मध्यस्थ थे ।

मध्यस्थ वही होता है, जो अरति और रति की ओर न झुके ।

भगवान् तृण-स्पर्श को सहते । तिनको के आसन पर नगे बदन बैठते, लेटते और नगे पैर चलते तब वे चुभते । भगवान् उनकी चुभन से घबराकर वस्त्रधारी नही बने ।

भगवान् ने शीत-स्पर्श सहा । शिशिर मे जब ठण्डी हवाए फुकारें मारती, लोग उनके स्पर्शमात्र से काप उठते , दूसरे साधु पवन-शून्य स्थान की खोज और कपडा पहनने की बात सोचने लग जाते । कुछ तापस धूनी तप सर्दी से बचते, कुछ लोग ठिठुरते हुए किवाड को बन्द कर विश्राम करते । वैसी कडी और असह्य सर्दी मे भी भगवान् शरीर-निरपेक्ष होकर खुले बरामदो और कभी-कभी खुले द्वार वाले स्थानो मे बैठ उसे सहते ।

भगवान् ने आतापनाए ली । सूर्य के सम्मुख होकर ताप सहा । वस्त्र न पहनने के कारण मच्छर और क्षुद्र जन्तु काटते । वे उसे समभाव से सह लेते ।

भगवान् ने साधना की कसौटी चाही । वे वैसे जनपदो मे गए, जहा के लोग निर्ग्रन्थ साधुओ से परिचित नही थे । वहा भगवान् ने स्थान और आसन सम्बन्धी कष्टो को हसते-हसते सहा । वहा के लोग रूक्ष भोजी थे, इसलिए उनमे क्रोध की मात्रा अधिक थी । उसका फल भगवान् को भी सहना पडा । भगवान् वहा के लिए पूर्णतया अपरिचित थे, इसलिए कुत्ते भी उन्हे एक ओर से दूसरी ओर सुविधा-पूर्वक नही जाने देते । बहुत सारे कुत्ते भगवान् को घेर लेते । तब कुछेक व्यक्ति ऐसे थे, जो उनको हटाते । । बहुत से लोग ऐसे थे जो कुत्तो को भगवान् को काटने के लिए प्रेरित करते । वहा जो दूसरे श्रमण थे वे लाठी रखते, फिर भी कुत्तो के उपद्रव से मुक्त नही थे । भगवान् के पास अपने बचाव का कोई साधन नही था,

फिर भी वे शान्तभाव से वहा घूमते रहे।

भगवान् का सयम अनुत्तर था। वे स्वस्थ दशा मे भी अवमौदर्य करते—कम खाते। रोग होने पर भी वे चिकित्सा नहीं करते, औषध नही लेते। वे विरेचन, वमन, तैल-मर्दन, स्नान, दतौन आदि नही करते। उनका पथ इन्द्रिय के काटो से अवाध था। कम खाना और औषध न लेना स्वास्थ्य के लिए हितकर है। भगवान् ने वह स्वास्थ्य के लिए नही किया। वे वही करते जो आत्मा के पक्ष मे होता। उनकी सारी चर्या आत्म-लक्षी थी। अन्न-जल के विना दो दिन, पक्ष, मास, छह मास विताए। उत्कटुक, गोदोहिका आदि आसन किए, ध्यान किया, कषाय को जीता, आसक्ति को जीता, यह सब निरपेक्ष-भाव से किया। भगवान् ने मोह को जीता, इसलिए वे 'जिन' कहलाए। भगवान् की अप्रमत्त साधना सफल हुई।

ग्रीष्म ऋतु का वैशाख महीना था। शुक्ल दशमी का दिन था। छाया पूर्व की ओर ढल चुकी थी। पिछले पहर का समय, विजय मूहूर्त और उत्तरा-फाल्गुनी का योग था। उस वेला मे भगवान् महावीर जभियग्राम नगर के वाहर ऋजु-वालिका नदी के उत्तर किनारे श्यामाक गाथापति की कृषि-भूमि मे व्यावर्त नामक चैत्य के निकट, शालवृक्ष के नीचे 'गोदोहिका' आसन मे वैठे हुए ईशानकोण की ओर मुह कर सूर्य का आताप ले रहे थे।

दो दिन का निर्जल उपवास था। भगवान् शुक्ल ध्यान मे लीन थे। ध्यान का उत्कर्ष वढा। क्षपक श्रेणी ली। भगवान् उत्क्रान्त वन गए। उत्क्रान्ति के कुछ ही क्षणो मे वे आत्म-विकास की आठवी, नवीं और दसवी भूमिका को पार कर गए। वारहवी भूमिका मे पहुचते ही उनके मोह का वन्धन पूर्णत टूट गया। वे वीतराग वन गए। तेरहवी भूमिका का प्रवेशद्वार खुला। वहा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के वन्धन भी पूर्णत टूट गए।

भगवान् अव अनन्त-ज्ञानी, अनन्त-दर्शनी, अनन्त आनन्दमय और अनन्त-वीर्य वन गए।

अव वे सर्व लोक के, सर्व जीवो के, सर्वभाव जानने-देखने लगे। उनका साधना-काल समाप्त हो गया। अव वे सिद्धि-काल की मर्यादा मे पहुच गए,[1] तेरहवें वर्ष के सातवें महीने में केवली वन गए।

धर्म का सघीय प्रयोग

भगवान् ने पहला प्रवचन देव-परिषद् मे किया। देव अति विलासी होते हैं। वे व्रत और सयम स्वीकार नही करते। भगवान् का पहला प्रवचन निष्फल हुआ[2]।

---

१ आयारचूला, १५।३९
२ वही, १५।४१

भगवान् जभियग्राम नगर से विहार कर मध्यम पावापुरी पधारे। वहा सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था। उस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए वहा इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे[1]।

भगवान् की जानकारी पा उनमे पाडित्य का भाव जागा। इन्द्रभूति उठे। भगवान् को पराजित करने के लिए वे अपनी शिष्य-सम्पदा के साथ भगवान् के समवसरण मे आए।

उन्हे जीव के वारे मे सन्देह था। भगवान् ने उनके गूढ प्रश्न को स्वय सामने ला रखा। इन्द्रभूति सहम गए। उन्हे सर्वथा प्रच्छन्न अपने विचार के प्रकाशन पर अचरज हुआ। उनकी अन्तर्-आत्मा भगवान् के चरणो मे झुक गई।

भगवान् ने उनका सन्देह-निवर्तन किया। वे उठे, नमस्कार किया और श्रद्धा-पूर्वक भगवान् के शिष्य वन गए। भगवान् ने उन्हे छह जीव-निकाय, पाच महाव्रत और पचीस भावनाओ का उपदेश दिया[2]।

इन्द्रभूति गौतम गोत्री थे। जैन साहित्य मे इनका सुविश्रुत नाम गौतम है। भगवान् के साथ इनके सवाद और प्रश्नोत्तर इसी नाम से उपलब्ध होते हैं। वे भगवान् के पहले गणधर और ज्येष्ठ शिष्य वने। भगवान् ने उन्हे श्रद्धा का सम्वल और तर्क का वल—दोनो दिए। जिज्ञासा की जागृति के लिए भगवान् ने कहा—
"जो सशय को जानता है, वह ससार को जानता है। जो सशय को नही जानता, वह ससार को नही जानता।[3] "

इसी प्रेरणा के फलस्वरूप उन्हे जव-जव सशय हुआ, कुतूहल हुआ, श्रद्धा हुई, वे झट भगवान् के पास पहुचे और उनका समाधान लिया[4]।

तर्क के साथ श्रद्धा को सन्तुलित करते हुए भगवान् ने कहा—

'गौतम! कई व्यक्ति प्रयाण की वेला मे श्रद्धाशील होते है और अन्त तक श्रद्धाशील ही वने रहते हैं।

'कई प्रयाण की वेला मे श्रद्धाशील होते हैं, किन्तु पीछे अश्रद्धाशील वन जाते हैं।

'कई प्रयाण की वेला मे अश्रद्धाशील होते हैं, किन्तु पीछे श्रद्धाशील वन जाते हैं।

'जिसकी श्रद्धा असम्यक् होती है, उसमे अच्छे या वुरे सभी तत्त्व असम्यक परिणत होते है।

१-२ आयारचूला, १५।४२

३ आयारो, ५।६

ससय परिजाणतो, ससारे परिण्णाते भवति
ससय अपरिजाणतो, ससारे अपरिण्णाते भवति।

४, भगवती, १।१

जिसकी प्रज्ञा सम्यक् होती है, उसमें सम्यक् या असम्यक् सभी तत्त्व सम्यक् परिणत होते हैं[1]।

इसलिए गौतम! तू प्रज्ञाशील बन। जो प्रज्ञाशील है, वही मेधावी है।'

इन्द्रभूति की घटना सुन दूसरे पण्डितों का गर्व गल गया। एक-एक कर वे सब आए और भगवान् के शिष्य बन गए। उन सब के एक-एक सन्देह था—

१ इन्द्रभूति—जीव है या नहीं ?

२. अग्निभूति—कर्म है या नहीं ?

३ वायुभूति—शरीर और जीव एक है या भिन्न ?

४ व्यक्त—पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं ?

५ सुधर्मा—यहा जो जैसा है वह परलोक में भी वैसा होता है या नहीं ?

६. मण्डितपुत्र—बन्ध-मोक्ष है या नहीं ?

७. मौर्यपुत्र—देव हैं या नहीं ?

८. अकम्पित—नरक है या नहीं ?

९ अचलभ्राता—पुण्य ही मात्रा-भेद से सुख-दुःख का कारण बनता है या पाप उससे पृथक् है ?

१० मेतार्य—आत्मा होने पर भी परलोक है या नहीं ?

११ प्रभास—मोक्ष है या नहीं[2] ?

भगवान् उनके प्रच्छन्न सन्देहों को प्रकाश में लाते गए और वे उनका समाधान पा अपने को समर्पित करते गए। इस प्रकार पहले प्रवचन में ही भगवान् की शिष्य-सम्पदा समृद्ध हो गई—चवालीस सौ शिष्य बन गए।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् शिष्यों को गणधर पद पर नियुक्त किया और अब भगवान् का तीर्थ विस्तार पाने लगा। स्त्रियों ने प्रव्रज्या ली। साध्वी-संघ का नेतृत्व चन्दनबाला को सौंपा। आगे चलकर १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्विया हुई।

स्त्रियों को साध्वी होने का अधिकार देना भगवान् महावीर का विशिष्ट मनोबल था। इस समय दूसरे धर्म के आचार्य ऐसा करने में हिचकते थे। आचार्य विनोबा भावे ने इस प्रसंग का बड़े मार्मिक ढंग से स्पर्श किया है। उनके शब्दों में—"महावीर के सम्प्रदाय में—स्त्री-पुरुषों का किसी प्रकार का कोई भेद नही किया गया है। पुरुषों को जितने अधिकार दिये गए हैं, वे सब अधिकार बहनों को दिये गए थे। मैं इन मामूली अधिकारों की बात नही कहता हू, जो इन दिनों चलता है और जिनकी चर्चा आजकल बहुत चलती है। उस समय ऐसे अधिकार प्राप्त करने

---

१ आयारो, ५।६६

२ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १५४६-२०२४

की आवश्यकता भी महसूस नही हुई होगी। परन्तु मैं तो आध्यात्मिक अधिकारो की वात कर रहा हूँ।

पुरुषो को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते हैं, उतने ही स्त्रियो को भी अधिकार हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारो मे महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नही रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यो मे जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणिया थी। वह प्रथा आज तक जैन धर्म मे चली आयी है। आज भी जैन सन्यासिनी होती हैं। जैन धर्म मे यह नियम है कि सन्यासी अकेले नही घूम सकते हैं। दो से कम नही, ऐसा सन्यासी और सन्यासिनियो के लिए नियम है। तदनुसार दो-दो बहनें हिन्दुस्तान मे घूमती हुई देखते हैं। विहार, मारवाड, गुजरात, कोल्हापुर, कर्नाटक और तमिलनाडु की तरफ इस तरह घूमती हुई देखने को मिलती हैं, यह एक वहुत वडी विशेषता माननी चाहिए।

महावीर के पीछे ४० ही साल के वाद गौतम बुद्ध हुए, जिन्होने स्त्रियो को सन्यास देना उचित नही माना। स्त्रियो को सन्यास देने मे धर्म-मर्यादा नही रहेगी, ऐसा अन्दाजा उनको था। लेकिन एक दिन उनका शिष्य आनन्द एक वहन को ले आया और बुद्ध भगवान् के सामने उसे उपस्थित किया और बुद्ध भगवान् से कहा कि "यह वहन आपके उपदेश के लिए सर्वथा पात्र है, ऐसा मैंने देख लिया है। आपका उपदेश अर्थात् सन्यास का उपदेश इसे मिलना चाहिए।" तो बुद्ध भगवान् ने उसे दीक्षा दी और वोले कि—"हे आनन्द, तेरे आग्रह और प्रेम के लिए यह काम मैं कर रहा हू लेकिन इससे अपने सम्प्रदाय के लिए एक वडा खतरा मैंने उठा लिया है।" ऐमा वाक्य बुद्ध भगवान् ने कहा और वैसा परिणाम वाद मे आया भी। वौद्धो के इतिहास मे बुद्ध को जिस खतरे का अन्देशा था, वह पाया जाता है। यद्यपि वौद्ध धर्म का इतिहास पराक्रमशाली है। उसमे दोष होते हुए भी वह देश के लिए अभिमान रखने के लायक है। लेकिन जो डर बुद्ध को था, वह महावीर को नही था, यह देखकर आश्चर्य होता है। महावीर निडर दीख पडते है। इसका मेरे मन पर वहुत असर है। इसीलिए मुझे महावीर की तरफ विशेष आकर्षण है। बुद्ध की महिमा भी वहुत है। सारी दुनिया मे उनकी करुणा की भावना फैल रही है, इसीलिए उनके व्यक्तित्व मे किसी प्रकार की न्यूनता होगी, ऐसा मैं नही मानता हू। महापुरुषो की भिन्न-भिन्न वृत्तिया होती हैं, लेकिन कहना पडेगा कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका छू सकी और महावीर को व्यावहारिक भूमिका छू नही सकी। उन्होने स्त्री-पुरुषो मे तत्त्वत भेद नही रखा। वे इतने दृढप्रतिज्ञ रहे कि मेरे मन मे उनके लिए एक विशेष ही आदर है। इसी मे उनकी महावीरता है।

रामकृष्ण परमहस के सम्प्रदाय मे स्त्री सिर्फ एक ही थी और वह थी श्री शारदा देवी,जो रामकृष्ण परमहस की पत्नी थी और नाममात्र की ही पत्नी थी।

वैसे तो वह उनकी माता ही हो गई थी और सम्प्रदाय के सभी भाइयो के लिए वह मातृ-स्थान मे ही थी। परन्तु उनके सिवा और किसी स्त्री को दीक्षा नहीं दी गई थी।

महावीर स्वामी के वाद २५०० साल हुए, लेकिन हिम्मत नही हो सकती थी कि वहनो को दीक्षा दे। मैंने सुना कि चार साल पहले रामकृष्ण परमहस-मठ में स्त्रियो को दीक्षा दी जाय—ऐसा तय किया गया। स्त्री और पुरुषो का आश्रम अलग रखा जाय, यह अलग वात है। लेकिन अव तक स्त्रियो को दीक्षा ही नही मिलती थी, वह अव मिल रही है। इस पर से अदाज लगता है कि महावीर ने २५०० साल पहले उसे करने मे कितना वडा पराक्रम किया।[1]"

भगवान् ने गृहस्थो को धर्म का उपदेश दिया। उसे स्वीकार करने वाले पुरुष और स्त्रियां, उपासक और उपासिकाए या श्रावक और श्राविकाए कहलाए। भगवान् के आनद आदि दस प्रमुख श्रावक थे। ये वारह व्रती थे। इनकी जीवन-चर्चा का वर्णन करनेवाला एक अग-ग्रन्थ 'उपासक दशा' है। जयन्ती आदि श्राविकाए थी, जिनके प्रौढ तत्त्व-ज्ञान की सूचना भगवतीसूत्र से मिलती है।[2] धर्म-आराधना के लिए भगवान् का तीर्थ सचमुच तीर्थ वन गया। भगवान् ने तीर्थ चतुष्ट्य (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना की, इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए।

सघ-व्यवस्था और सास्कृतिक उन्नयन

सभी तीर्थंकरो की भाषा मे धर्म का मौलिक रूप एक रहा है। धर्म का साध्य मुक्ति है। उसका साधन द्विरूप नही हो सकता। उसमे मात्रा-भेद हो सकता है, किन्तु स्वरूप-भेद नही हो सकता।

धर्म की साधना अकेले मे हो सकती है, पर उसका विकास अकेले मे नही होता। अकेले मे उसका प्रयोजन ही नही होता, वह समुदाय मे होता है। समुदाय मान्यता के वल पर वनते हैं। असमानताओ के उपरान्त भी कोई एक समानता आती है और लोग एक भावना मे जुड जाते हैं।

जैन मनीषियो का चिन्तन साधना के पक्ष मे जितना वैयक्तिक है, उतना ही साधना-सस्थान के पक्ष मे सामुदायिक है। जैन तीर्थंकरों ने धर्म को एक ओर वैयक्तिक कहा, दूसरी ओर तीर्थ का प्रवर्तन किया—श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविकाओ के सघ की स्थापना की।

धर्म वैयक्तिक तत्त्व है। किन्तु धर्म की आराधना करने वालो का समुदाय

---

१ श्रमण, वर्ष ९, अक ९, पृ० ३७-९

२ भगवती, १२।१

बनता है, इसलिए व्यवहार मे वह भी सामुदायिक बन जाता है।

भगवान् ने श्रमण सघ की बहुत ही सुदृढ व्यवस्था की। अनुशासन की दृष्टि से भगवान् का सघ सर्वोपरि था। पाच महाव्रत और अणुव्रत ये मूलगुण थे। इन के अतिरिक्त उत्तर गुणो की व्यवस्था की। विनय, अनुशासन और आत्म-विजय पर अधिक बल दिया। व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण सघ को ग्यारह या नौ भागो मे विभक्त किया। पहले सात गणधर सात गुणो के और आठवे, नवें तथा दसवें, ग्यारहवें क्रमश आठवें और नवे गण के प्रमुख थे।

गणो की सारणा-वारणा और शिक्षा-दीक्षा के लिए सात पद निश्चित किए

१ आचार्य

२ उपाध्याय

३ स्थविर

४ प्रवर्तक

५. गणी

६ गणधर

७ गणावच्छेदक

सूत्र के अर्थ की वाचना देना और गण का सर्वोपरि सचालन का कार्य आचार्य का कार्य था।

सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना उपाध्याय का कार्य था।

श्रमणो को सयम मे स्थिर करना, श्रामण्य से डिगते हुए श्रमणो को पुन स्थिर करना, उनकी कठिनाइयो का निवारण करना स्थविर का कार्य था।

आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धर्म-प्रवृत्तियो तथा सेवा-कार्य मे श्रमणो को नियुक्त करना प्रवर्तक का कार्य था।

श्रमणो के छोटे-छोटे समूहो का नेतृत्व करना गणी का कार्य था।

धर्म-शासन की प्रभावना करना, गण के लिए विहार और उपकरणो की खोज तथा व्यवस्था करने के लिए कुछ साधुओ के साथ सघ के आगे-आगे चलना, गण की सारी व्यवस्था की चिंता करना गणावच्छेदक का कार्य था।[1]

इनकी योग्यता के लिए विशेष मानदण्ड स्थिर किए। इनका निर्वाचन नही होता था। ये आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते थे। किन्तु स्थविरो की सहमति होती थी।

विनय

जैन साहित्य मे चर्या या सामाचारी के लिए 'विनय' शब्द का प्रयोग होता

---

१ स्थानागवृत्ति पत्र, १३८।

है। उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्ययन मे विनय का सूक्ष्म-दृष्टि से निरूपण किया गया है। विनय एक तपस्या है। मन, वाणी और शरीर को सयत करना विनय है, यह सस्कृति है। इसका वाह्य रूप लोकोपचार विनय है। इसे सभ्यता का उन्नयन कहा जा सकता है। इसके सात रूप हैं

१. अभ्यासवर्तिता—अपने वडो के समीप रहने का मनोभाव।

२ परछन्दानुवर्तिता— अपने वडों की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना।

३ कार्य-हेतु—गुरु के द्वारा दिये हुए ज्ञान आदि कार्य के लिए उनका सम्मान करना।

४ कृतप्रतिकर्तृता—कृतज्ञ होना, उपकार के प्रति कुछ करने का मनोभाव रखना।

५ आर्त्त-गवेषणता—आर्त्त व्यक्तियो की गवेषणा करना।

६ देश-कालज्ञता—देश और काल को समझकर कार्य करना।

७ सर्वार्थ-प्रतिलोमता—सव अर्थो मे प्रयोजनो के अनुकूल प्रवृत्ति करना।[1]

सामाचारी

श्रमण-सघ के लिए दस प्रकार की सामाचारी का विधान है[2]

१ आवश्यकी—उपाश्रय से वाहर जाते समय आवश्यकी—आवश्यक कार्य के लिए जाता हू—कहे।

२ नैषेधिकी—कार्य से निवृत्त होकर आए तव नैषेधिकी—मैं निवृत्त हो चुका हू—कहे।

३ आपृच्छा—अपना कार्य करने की अनुमति लेना।

४ प्रतिपृच्छा—दूसरो का कार्य करने की अनुमति लेना।

५ छन्दना—भिक्षा मे लाए आहार के लिए साधर्मिक साधुओं को आमत्रित करना।

६ इच्छाकार—कार्य करने की इच्छा जताना, जैसे—आप चाहें तो मैं आपका कार्य करू ?

७ मिथ्याकार—भूल हो जाने पर स्वय उसकी आलोचना करना।

८ तथाकार—आचार्य के वचनो को स्वीकार करना।

९ अभ्युत्थान—आचार्य आदि गुरुजनो के आने पर खडा होना, सम्मान करना।

१० उपसम्पदा—ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए गुरु के समीप विनीत भाव से

---

१ भगवती, २५।७।८०२

२ उत्तरज्झयणाणि, २६।२७

रहना अथवा दूसरे गणो मे जाना।

जैसे शिष्य का आचार्य के प्रति कर्तव्य होता है, वैसे ही आचार्य का भी शिष्य के प्रति कर्तव्य होता है। आचार्य शिष्य को चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति सिखाकर उऋण होता है

१ आचार्य-विनय
२ श्रुत-विनय
३ विक्षेपणा-विनय
४ दोष-निर्घात-विनय।[1]

आचार-विनय के चार प्रकार है

१ सयम सामाचारी—सयम के आचरण की विधि।
२ तप सामाचारी—तपश्चरण की विधि।
३ गण सामाचारी—गण की व्यवस्था की विधि।
४. एकाकी विहार सामाचारी—एकल विहार की विधि।

श्रुत-विनय के चार प्रकार हैं—

१ सूत्र पढाना।
२ अर्थ पढाना।
३ हितकर विषय पढाना।
४ नि शेष पढाना—विस्तारपूर्वक पढाना।

विक्षेपणा-विनय के चार प्रकार है

१. जिसने धर्म नही देखा, उसे धर्म-मार्ग दिखाकर सम्यक्त्वी बनाना।
२ जिसने धर्म देखा है, उसे साधर्मिक बनाना।
३ धर्म से गिरे हुए को धर्म मे स्थिर करना।
४ धर्म-स्थित व्यक्ति के हित, सुख और मोक्ष के लिए तत्पर रहना।

दोष-निर्घात-विनय के चार प्रकार है

१ कुपित के क्रोध को उपशान्त करना।
२ दुष्ट के दोष को दूर करना।
३ आकाक्षा का छेदन करना।
४. आत्मा को श्रेष्ठ मार्ग मे लगाना।

आचार्य के छह कर्तव्य

सघ की व्यवस्था के लिए आचार्य को निम्नलिखित छह बातो का ध्यान रखना चाहिए

---

१ दशाश्रुतस्कन्ध, चौथी दशा।

१ सूत्रार्थ स्थिरीकरण—सूत्र के विवादग्रस्त अर्थ का निश्चय करना अथवा सूत्र और अर्थ मे चतुर्विध-सघ को स्थिर करना।

२ विनय—सवके साथ नम्रता से व्यवहार करना।

३ गुरु-पूजा—अपने वडे अर्थात् स्थविर साधुओ की भक्ति करना।

४ शैक्ष वहुमान—शिक्षा ग्रहण करने वाले और नवदीक्षित साधुओं का सत्कार करना।

५ दानपति श्रद्धा-वृद्धि—दान देने मे दाता की श्रद्धा वढाना।

६ बुद्धिवलवर्द्धन—अपने शिष्यो की बुद्धि तथा आध्यात्मिक शक्ति को वढाना।

शिष्य के लिए चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति आवश्यक होती है

१ उपकरण-उत्पादनता।

२ महायता।

३ वर्ण-सज्वलनता।

४ भारप्रत्यवरोहणता।

उपकरण-उत्पादन के चार प्रकार है

१ अनुत्पन्न उपकरणो का उत्पादन।

२ पुराने उपकरणो को सरक्षण और सघ-गोपन करना।

३ उपकरण कम हो जाए तो उनका पुनरुद्धार करना।

४ यथाविधि सविभाग करना।

सहायता के चार प्रकार हैं

१ अनुकूल वचन बोलना।

२ काया द्वारा अनुकूल सेवा करना।

३ जैसे सुख मिले वैसे सेवा करना।

४ अकुटिल व्यवहार करना।

वर्ण-सज्वलनता के चार प्रकार हैं

१ यथार्थ गुणो का वर्णन करना।

२ अवर्णवादी को निरुत्तर करना।

३ यथार्थ गुण वर्णन करने वालो को वढावा देना।

४ अपने से वृद्धो की सेवा करना।

भारप्रत्यवरोहणता के चार प्रकार हैं

१. निराधार या परित्यक्त साधुओ को आश्रय देना।

२ नवदीक्षित साधु को आचार-गोचर की विधि सिखाना।

३ साधर्मिक के रुग्ण हो जाने पर उसकी यथाशक्ति सेवा करना।

४ साधर्मिको मे परस्पर कलह उत्पन्न होने पर किसी का पक्ष लिए विना

मध्यस्थ भाव से उसके उपशमन, क्षमायाचना आदि का प्रयत्न करना तथा ये मेरे सार्धमिक किस प्रकार कलह-मुक्त होकर समाधि-सम्पन्न हो, ऐसा चिन्तन करते रहना।[1]

दिनचर्या

अपर रात्र मे उठकर आत्मालोचन व धर्म-जागरिका करना—यह चर्या का पहला अग है। स्वाध्याय, ध्यान आदि के पश्चात् आवश्यक कर्म करना। आवश्यक—अवश्य करणीय कर्म छह हैं

१ सामायिक—समभाव का अभ्याम, उसकी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन।

२ चतुर्विंशस्तव—चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति।

३ वन्दना—आचार्य को दशावर्त्त-वन्दना।

४ प्रतिक्रमण—कृत दोषो की आलोचना।

५ कायोत्सर्ग—काया का स्थिरीकरण।

६ प्रत्याख्यान—त्याग करना।

इस आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर सूर्योदय होते-होते मुनि भाण्ड-उपकरणो का प्रतिलेखन करे, उन्हे देखे। उसके पश्चात् हाथ जोडकर गुरु से पूछे—मैं क्या करू ? आप मुझे आज्ञा दें—मैं किसी की सेवा मे लगू या स्वाध्याय मे ? यह पूछने पर आचार्य सेवा मे लगाए तो अग्लान-भाव से सेवा करे और यदि स्वाध्याय मे लगाए तो स्वाध्याय करे[2]। दिनचर्या के प्रमुख अग हैं—स्वाध्याय और ध्यान। कहा है

'स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ता, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-सपत्त्या, परमात्मा प्रकाशते ॥'

—स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान करे और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय के क्रम से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।

आगमिक काल-विभाग इस प्रकार रहा है—दिन के पहले पहर मे स्वाध्याय करे, दूसरे मे ध्यान, तीसरे मे भिक्षा-चर्या और चौथे मे फिर स्वाध्याय।[3]

रात के पहले पहर मे स्वाध्याय करे, दूसरे मे ध्यान, तीसरे मे नीद ले और चौथे मे फिर स्वाध्याय करे।[4]

पूर्व रात्र मे भी आवश्यक कर्म करे। पहले पहर मे प्रतिलेखन करे, वैसे चौथे पहर मे भी करे, यह मुनि की जागरूकतापूर्ण जीवन-चर्या है।

---

१ प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४१
२ उत्तरज्झयणाणि, २६।८-१०
३. वही, २६।१२
४ वही, २६।१८

श्रावक-संघ

धर्म की आराधना मे जैसे साधु-साध्विया सघ के अग हैं, वैसे श्रावक-श्राविकाए भी हैं। ये चारो मिलकर ही चतुर्विध-सघ को पूर्ण वनाते हैं। भगवान् ने श्रावक-श्राविकाओ को साधु-साध्वियो के माता-पिता तुल्य कहा है।

श्रावक की धार्मिक-चर्या यह है

१ सामायिक के अगो का अनुपालन।

२ दोनो पक्षो में पौषधोपवास।

आवश्यक कर्म जैसे साधु-सघ के लिए हैं, वैसे ही श्रावक-सघ के लिए भी हैं।

श्रावक के छह गुण

देश-विरति चारित्र का पालन करनेवाला श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति श्रावक कहलाता है। इसके छह गुण हैं

१ व्रतो का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान।

व्रतो का अनुष्ठान चार प्रकार से होता है

(क) विनय और वहुमानपूर्वक व्रतो को सुनना।

(ख) व्रतो के भेद और अतिचारो को सागोपाग जानना।

(ग) गुरु के समीप कुछ काल के लिए अथवा सदा के लिए व्रतो को अगीकार करना।

(घ) ग्रहण किए हुए व्रतो को सम्यक् प्रकार पालना।

२ शील (आचार)—इसके छ प्रकार हैं

(क) जहा वहुत से शीलवान् वहुश्रुत सार्धमिक लोग एकत्र हो, उस स्थान को आयतन कहते हैं, वहा आना-जाना रखना।

(ख) विना कार्य दूसरे के घर न जाना।

(ग) चमकीला-भडकीला वेश न रखते हुए सादे वस्त्र पहनना।

(घ) विकार उत्पन्न करने वाले वचन न कहना।

(ङ) जुआ आदि कुव्यसनो का त्याग करना।

(च) मधुर नीति से अर्थात् शान्तिमय मीठे वचनो से कार्य चलाना, कठोर वचन न वोलना।

३ गुणवत्ता—इसके पाच प्रकार हैं

(क) वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा रूप पाच प्रकार का स्वाध्याय करना।

(ख) तप, नियम, वन्दनादि अनुष्ठानो में तत्पर रहना।

(ग) विनयवान् होना।

(घ) दुराग्रह नही करना।

(ङ) जिनवाणी मे रुचि रखना।

४ ऋजु व्यवहार करना—निष्कपट होकर सरल भाव से व्यवहार करना।

५ गुरु-सुश्रूषा।

६ प्रवचन अर्थात् शास्त्रो के ज्ञान मे प्रवीणता।

शिष्टाचार

शिष्टाचार के प्रति जैन आचार्य बडी सूक्ष्मता से ध्यान देते हैं। वे आशातना को सर्वथा परिहार्य मानते हैं। किसी के प्रति अनुचित व्यवहार करना हिंसा है। आशातना हिंसा है। अभिमान भी हिंसा है। नम्रता का अर्थ है कषाय-विजय। अभ्युत्थान, अभिवादन, प्रियनिमन्त्रण, अभिमुखगमन, आसन-प्रदान, पहुचाने के लिए जाना, प्राजलीकरण आदि-आदि शिष्टाचार के अग हैं। इनका विशद वर्णन उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्याय मे है।

श्रावक व्यवहार-दृष्टि से दूसरे श्रावको को भी वन्दना करते थे।[1] धर्म-दृष्टि से उनके लिए वन्दनीय मुनि होते हैं। वन्दना की विधि यह है

'तीन बार दाहिने से बाए ओर प्रदक्षिणा करता हू, स्तवना करता हू, नमस्कार करता हू, सत्कार करता हू और सम्मान करता हू। आप कल्याण रूप हैं, मागलिक है, धर्मदेव हैं और ज्ञानवान् हैं। अत मैं आपकी पर्युपासना करता हू, मस्तक झुकाकर वन्दना करता हू।'[2]

नमस्कार महामन्त्र मे पाच परमात्माओ को नमस्कार किया जाता है

णमो अरहताण

णमो सिद्धाण

णमो आयरियाण

णमो उवज्झायाण

णमो लोए सव्वसाहूण

मैं अर्हत् को नमस्कार करता हू।

मैं सिद्ध को नमस्कार करता हू।

मैं आचार्य को नमस्कार करता हू।

मैं उपाध्याय को नमस्कार करता हू।

---

१ भगवती, १२

२ तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेमि वदामि
नमसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाण
मगल देवय चेइय
पज्जुवासामि मत्थएण वदामि।

मैं लोक के सभी साधुओं को नमस्कार करता हूं।

यह आध्यात्मिक और त्याग-प्रधान संस्कृति का एक संक्षिप्त-सा रूप है। इसका सामाजिक जीवन पर भी प्रतिबिम्ब पड़ा है।

निर्वाण

भगवान् तीस वर्ष की अवस्था मे श्रमण बने। साढ़े बारह वर्ष तक तपस्वी जीवन बिताया। तीस वर्ष तक धर्मोपदेश किया। भगवान् ने काशी, कोशल, पंचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु-जांगल, बाह्लीक, गांधार, सिंधु-सौवीर आदि देशो मे विहार किया।

भगवान् के चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियां बनी। नन्दी के अनुसार भगवान् के चौदह हजार साधु प्रकीर्णकार थे।[1] इससे जान पड़ता है, सर्व साधुओ की संख्या और अधिक थी। १,५९,००० श्रावक और ३, १८,००० श्राविकाए थी। यह व्रती श्रावक-श्राविकाओ की संख्या प्रतीत होती है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालो की संख्या इससे अधिक थी, ऐसा सम्भव है। भगवान् के उपदेश का समाज पर व्यापक प्रभाव हुआ। उनका क्रान्ति-स्वर समाज के जागरण का निमित्त बना। वि० पू० ४७० (ई० पू० ५२७) पावापुर में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ।

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादो और कर्मकाण्डो से संकुल था। बौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय तिरेसठ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान् थे[2]। जैन साहित्य मे तीन सौ तिरेसठ धर्म-मतवादो का उल्लेख मिलता है। यह भेदोपभेद की विस्तृत चर्चा है। संक्षेप मे सारे सम्प्रदाय चार वर्गों मे समाते थे। भगवान् ने उन्हें चार समवसरण कहा है। वे हैं[3]

१ क्रियावाद
२ अक्रियावाद
३ विनयवाद
४ अज्ञानवाद।

क्रियावादी दार्शनिको की धर्मनिष्ठा आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मवाद पर टिकी हुई थी। वे सुकृत और दुष्कृत को एक समान नही मानते थे। सुचीर्ण कर्म

---

१ नन्दी, सूत्र ७९
चोद्दस पइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स।
२ सुत्तनिपात (सभियसुत्त) यानि च तीणि यानि च सट्ठि।
३ सूयगडो, १।१२।१

का फल अच्छा होता है और दुश्चीर्ण कर्म का फल बुरा होता है—इस सिद्धान्त में उनकी आस्था थी।

अक्रियावादी दार्शनिको की नैतिक निष्ठा वर्तमान की उपयोगिता पर टिकी हुई थी। वे आत्मा को पुनर्जन्मानुयायी तत्त्व नही मानते थे, इसलिए उनमे धर्म-निष्ठा नही थी। उनका सिद्धान्त था—'सुकृत और दुष्कृत के फल मे अन्तर नही है। सुचीर्ण कर्म का अच्छा फल नही होता, दुश्चीर्ण कर्म का बुरा फल नही होता। कल्याण और पाप अफल है। पुनर्जन्म नही है। मोक्ष नही है।'

विनयवादी अह-विसर्जन और समपण को सर्वोपरि मूल्य देते थे। उनकी दृष्टि मे अह ही सब दु खो का मूल था।

अज्ञानवादी दु खो का मूल ज्ञान को मानते थे। अज्ञानी मनुष्य जितना सुखी होता है उतना ज्ञानी नही होता। वे अपने सारे ज्ञान का उपयोग ज्ञान के निरसन मे करते थे।

भगवान् महावीर ने चारो वादो की समीक्षा कर क्रियावाद का सिद्धान्त स्वीकार किया।

उनका स्वीकार एकागी दृष्टि से नही था। इसलिए उनके दर्शन को सापेक्ष-क्रियावाद की सज्ञा दी जा सकती है।

कुछ विद्वानो का अभिमत है कि यज्ञ, जातिवाद आदि ब्राह्मण सिद्धान्तो का विरोध करने के लिए महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। किन्तु यह गहराई से आलोचित नही है। महावीर जिस श्रमण-परम्परा मे दीक्षित हुए वह बहुत प्राचीन है। उसका अस्तित्व वेदो की रचना से पूर्ववर्ती है। वेदो मे स्थान-स्थान पर विरोधी विचारधारा का उल्लेख मिलता है। उसका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से ही है।

भगवान् महावीर का परिवार तेईसवें तीर्थकर भगवान् पार्श्व के धर्म का अनुगामी था। इन साक्ष्यो से यह प्रतिध्वनित नही होता कि महावीर ने ब्राह्मण सिद्धान्तो का विरोध करने के लिए जैन धर्म का प्रवर्तन किया।

अहिसा और मुक्ति—ये श्रमण-सस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। महावीर ने स्वय द्वारा व्याख्यात अहिसा की प्राचीन तीर्थंकरो द्वारा व्याख्यात अहिसा के साथ एकता प्रतिपादित की है।

भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नही, किन्तु उन्नायक थे। उन्होंने प्राचीन परम्पराओ को आगे बढाया, अपने समसामायिक विचारो की परीक्षा की और उनके आलोक मे अपने अभिमत जनता को समझाए। उनके विचारो का आलोचनापूर्वक विवेचन सूत्रकृताग मे मिलता है। वहा पचमहाभूतवाद, एकात्म-वाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, षष्ठात्मवाद, नियतिवाद, सृष्टिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, प्रकृतिवाद आदि अनेक विचारो की चर्चा

और उन पर भगवान् का दृष्टिकोण मिलता है।

कोई धर्म पुराना होने से अच्छा होता है और नया होने से अच्छा नही होता, इस मान्यता मे मुझे सत्य की ध्वनि सुनाई नहीं देती, फिर भी इस सत्य पर आवरण नही डाला जा सकता कि श्रमण-परम्परा प्राग्वैदिक है और भारतीय जीवन मे आदिकाल से परिव्याप्त है।

श्रमणो की अनेक धाराए रही हैं। उनमे सबसे प्राचीन धारा भगवान् ऋषभ की और सबसे अर्वाचीन भगवान् बुद्ध की है। और सब मध्यवर्ती हैं।

वैदिक और पौराणिक दोनो साहित्य-विधाओ मे भगवान् ऋषभ श्रमण धर्म के प्रवर्तक के रूप मे उल्लिखित हुए हैं। भगवान् ऋषभ का धर्म विभिन्न युगों मे विभिन्न नामो से अभिहित होता रहा है। आदि मे उसका नाम श्रमण धर्म था। फिर अर्हत् धर्म हुआ। भगवान् महावीर के युग मे उसे निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था। बौद्ध साहित्य मे भगवान् का उल्लेख 'निग्गठ नातपुत्ते' के नाम से हुआ है। उनके निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे वह 'जैन धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल मे श्रमणो के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। उनमे पाच बहुत प्रभावशाली थे

१ निर्ग्रन्थ-महावीर का शासन
२ शाक्य-बुद्ध का शासन
३ आजीवक-मक्खली गोशालक का शासन
४ गैरिक-तापस शासन
५ परिव्राजक-साख्य शासन

बौद्ध-साहित्य मे छह श्रमण-सम्प्रदायो का उल्लेख है

१ अक्रियावाद
२ नियतिवाद
३ अच्छेदवाद
४ अन्योन्यवाद
५ चातुर्याम सवरवाद
६ विक्षेपवाद

इनके आचार्य क्रमश ये हैं

१ पूरण कश्यप
२ मक्खलि गोशाल
३ अजितकेशकबली
४ पकुधकात्यायन
५ निर्ग्रन्थज्ञात पुत्र
६ सजयवेलट्ठिपुत्त

इन छह सघो मे एक संघ का आचार्य पूरण कश्यप था। उसका कहना था कि "किसी ने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, कष्ट सहा या दिया, डरा या दूसरे को डराया, प्राणी की हत्या की, चोरी की, डकैती की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्रीगमन किया, असत्य वचन कहा, फिर भी उसको पाप नही लगता। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस ससार के सब प्राणियो को मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप न लगेगा गगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो कुछ भी पुण्य नही होने का। दान, धर्म, सयम, सत्य-भाषण—इन सबो से पुण्य-प्राप्ति नही होती।" इस पूरण कश्यप के वाद को अक्रियावाद कहते थे।

दूसरे सघ का आचार्य मक्खलि गोशाल था। उसका कहना था—"प्राणी के अपवित्र होने मे न कुछ हेतु है, न कुछ कारण। वे बिना हेतु के और बिना कारण के ही अपवित्र होते हैं। प्राणि की शुद्धि के लिए भी कोई हेतु नही है, कुछ भी कारण नही है। विना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी शुद्ध होते हैं। खुद अपनी या दूसरे की शक्ति से कुछ नही होता। बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम, यह सब कुछ नही है। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं—वे नियति (भाग्य), सगति और स्वभाव के द्वारा परिणत होते हैं—अक्लमन्द और मूर्ख सबो के दु:खो का नाश अस्सी लाख के महाकल्पो के फेर मे होकर जाने के बाद ही होता है।" इस मक्खलि गोशाल के मत को ससार शुद्धिवाद कहते थे। इसी को नियतिवाद भी कह सकते हैं।

तीसरे सघ का प्रमुख अजितकेशकवली था। उसका कहना था कि—"दान, यज्ञ तथा होम, यह सब कुछ नही है, भले-बुरे कर्मों का फल नही मिलता। न इहलोक है, न परलोक। चार भूतो से मिलकर मनुष्य बना है। जब वह मरता है तो उसमे का पृथ्वी धातु पृथ्वी में, आपो धातु पानी मे, तेजो धातु तेज मे तथा वायु धातु वायु मे मिल जाता है और इन्द्रिया सब आकाश मे मिल जाती हैं। मरे हुए मनुष्य को चार आदमी अरथी पर सुलाकर उसका गुणगान करते हुए ले जाते हैं। वहा उसकी अस्थि सफेद हो जाती हैं और आहुति जल जाती है। दान का पागलपन मूर्खों ने उत्पन्न किया है। जो आस्तिकवाद कहते हैं, वे झूठ भाषण करते हैं। व्यर्थ की बड-बड करते हैं। अक्लमन्द और मूर्ख दोनो का ही मृत्यु के बाद उच्छेद हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नही रहता।" अजितकेशकवली के इस मत को उच्छेदवाद कहते है।

चौथे सघ का आचार्य पकुधकात्यायन था। उसका कहना था कि—"सातो पदार्थ न किसी न किए, न करवाए। वे वध्य, कूटस्थ तथा खम्बे के समान अचल हैं। वे हिलते नही, बदलते नही, आपस मे कष्टदायक नही होते और एक-दूसरे को

सुख-दु.ख देने मे असमर्थ हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सुख, दु ख तथा जीव—ये ही सात पदार्थ है। इनमे मारने वाला, मार खाने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला कोई नही। जो तेज शस्त्रो से दूसरे से दूसरे के सिर काटता है वह खून नही करता, सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश (रिक्त स्थान) मे घुसता है, इतना ही।" इस मत को अन्योन्यवाद कहते हैं।

छठे वडे सघ का आचार्य सजयवेलट्ठिपुत्त था। वह कहता था—"परलोक है या नही, यह मैं नही समझता। परलोक है, यह भी नही, परलोक नही है, यह भी नही। अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह भी मैं नही मानता, नहीं मिलता, यह भी मैं नही मानता। वह रहता भी है, नही भी रहता। तथागत मृत्यु के वाद रहता है या रहता नहीं, यह मैं नही समझता। वह रहता है यह भी नही, वह नही रहता, यह भी नही।"[1] इस सजयवेलट्ठिपुत्त के वाद को विक्षेपवाद कहते थे।

महावीर का धर्म और गणतन्त्र

भगवान् महावीर वैशाली-गणतन्त्र के वातावरण मे पले-पुसे थे। वैशाली-गणराज्य के प्रमुख महाराज चेटक भगवान् के मामा थे। भगवान् के पिता सिद्धार्थ उस गणराज्य के एक सदस्य थे। भगवान् के प्रारम्भिक सस्कार अहिंसा की व्याख्या मे प्रतिफलित मिलते हैं।

महावीर का पहला सिद्धान्त था—समानता।

आत्मिक समानता की अनुभूति के विना अहिंसा विफल हो जाती है। गण-राज्य की विफलता का मूल हेतु है—विषमता।

महावीर का दूसरा सिद्धान्त था—आत्म-निर्णय का अधिकार।

हमारे भाग्य का निर्णय किसी दूसरी सत्ता के हाथ मे हो, वह हमारी सार्वभौम सत्ता के प्रतिकूल है—यह उन्होंने वताया। उन्होंने कहा—दु:ख और सुख दोनो तुम्हारी ही सृष्टि हैं। तुम्ही अपने मित्र हो और तुम्ही अपने शत्रु। यह निर्णय तुम्ही को करना है, तुम क्या होना चाहते हो ? जनतन्त्र के लिए यह वहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। जहा व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार नही होता, वहा उसका कर्तृत्व कुठित हो जाता है। नव-निर्माण के लिए पुरुषार्थ और पुरुषार्थ के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार आवश्यक है।

महावीर का तीसरा सिद्धान्त था—आत्मानुशासन।

उन्होंने कहा—दूसरो पर हुकूमत मत करो। हुकूमत करो अपने शरीर पर, अपनी वाणी पर और मन पर। आत्मा पर शासन करो, सयम के द्वारा, तपस्या के

---

१ भारतीय सस्कृति और अहिंसा, पृ० ४५-७

द्वारा। यह अच्छा नही होगा कि कोई व्यक्ति वध और वधन के द्वारा तुम्हारे पर शासन करे।

जनतन्त्र की सफलता आत्मानुशासन पर निर्भर है। वाहरी नियन्त्रण जितना अधिक होता है, उतना ही जनतन्त्र निस्तेज होता है। उसकी तेजस्विता इस वात पर निर्भर है कि देशवासी लोग अधिक से अधिक आत्मानुशासित हो।

महावीर का चौथा सिद्धान्त था—सापेक्षता।

उसका अर्थ है—सबको समान अवसर। विलौना करते समय एक हाथ पीछे जाता है और दूसरा आगे आता है, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे जाता है। इस क्रम से नवनीत निकलता है, स्नेह मिलता है।

चलते समय एक पैर आगे वढता है, दूसरा पीछे, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आ जाता है। इस क्रम से गति होती है, आदमी आगे वढता है।

यह सापेक्षता ही स्याद्‌वाद का रहस्य है। इसी के द्वारा सत्य का ज्ञान और उसका निरूपण होता है। यह सिद्धान्त जनतन्त्र की रीढ है। कुछेक व्यक्ति सत्ता, अधिकार और पद से चिपककर वैठ जाए, दूसरो को अवसर न दें तो असन्तोष की ज्वाला भभक उठती है।

यह सापेक्ष-नीति गुटवन्दी को कम करने मे काफी काम कर सकती है। नीतिया भिन्न होने पर भी यदि सापेक्षता हो तो अवाञ्छनीय अलगाव नही होता।

महावीर ने जो किया, वह मुक्ति के लिए किया। उन्होंने जो कहा, वह मुक्ति के लिए कहा। जनतन्त्र भी तो व्यावहारिक मुक्ति का प्रयोग है। इसलिए महावीर की करनी और कथनी—दोनो मे पथ-दर्शन की क्षमता है।

मनुष्य की ईश्वरीय सत्ता का सगान

भगवान् महावीर का जन्म उस युग मे हुआ जिसमे मनुष्य भाग्य के झूले मे झूल रहा था। भाग्य ईश्वरीय सत्ता का प्रतिनिधि तत्त्व है। जब मनुष्य ईश्वरीय सत्ता का यन्त्र वनकर जीता है तव उसके जीवन-रथ का सारथि भाग्य ही होता है। भगवान् महावीर भाग्यवादी नही थे, इसका सहज फलित यह है कि वे चालू अर्थ मे ईश्वरवादी नही थे। वे गणतन्त्र के सस्कारो मे पले-पुसे थे। वे किसी भी महासत्ता को अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता सौंप देने के पक्ष मे नही थे। उनकी अहिंसा की व्याख्या मे अधिनायकवादी मनोवृत्ति के लिए कोई अवकाश नही था। भगवान् ने कहा—'दूसरो पर शासन करना हिंसा है, इसलिए किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो।' इस दुनिया मे स्वतन्त्रता का अपहरण होता है पर वह ईश्वरीय तत्त्व नही हो सकता।

भगवान् महावीर आत्मवादी थे। वे ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करते थे, किन्तु उसकी मनुष्य से भिन्न सत्ता स्वीकार नही करते थे। मनुष्य ईश्वर की

सृष्टि है और ईश्वर उसका सर्जक है, यह कृति और कर्त्ता का सिद्धान्त उन्हें स्वीकार्य नही था। उनकी स्थापना मे आत्मा की तीन कक्षाए हैं

१ वहिर्-आत्मा
२ अन्तर्-आत्मा
३ परम-आत्मा।

वहिर्-आत्मा

यह पहली कक्षा है। इसमे देह ही सब कुछ होता है। उसमें विराजमान चिन्मय आत्मा का अस्तित्व ज्ञात नही होता।

अन्तर्-आत्मा

यह दूसरी कक्षा है। इस कक्षा मे सत्य उद्घाटित हो जाता है कि जैसे दूध मे नवनीत व्याप्त होता है, वैसे ही देह मे चिन्मय सत्ता व्याप्त है।

परम-आत्मा

यह तीसरी कक्षा है। इसमे चिन्मय सत्ता पर आयी हुई देहरूपी भस्म दूर होने लग जाती है। आत्मा परमात्मा के रूप मे प्रकट हो जाता है।

आत्मा और परमात्मा मानवीय पुरुषार्थ की प्रक्रिया से प्रयुक्त नही है। भगवान् महावीर के दर्शन मे परमात्मा का अस्वीकार नही है, उसकी विश्व-सृजन-सत्ता का अस्वीकार है।

भगवान् महावीर के अनुसार जगत् अनादि-अनन्त है। उसके कर्तृत्व का भार वहन करने के लिए किसी सत्ता को जन्म देने की आवश्यकता नही है। भगवान् महावीर से स्कन्दक सन्यासी ने पूछा—भते! यह जगत् शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान् ने कहा—आयुष्मन्! अस्तित्व (द्रव्यार्थिकनय) की दृष्टि से जगत् शाश्वत है और रूपान्तरण की दृष्टि से वह अशाश्वत है। वह अशाश्वत है इस दृष्टि से उसमे जगत्-कर्तृव्य का अश भी सन्निहित है। महावीर के अनुसार वह जीवो और परमाणुओ के स्वाभाविक सयोग की प्रक्रिया से सम्पादित होता है। इसी सम्पादन को लक्ष्य में रखकर महान् आचार्य हरिभद्र सूरि ने महावीर के दर्शन की ईश्वरवादी दर्शनो से तुलना की है। उन्होंने लिखा है

'पारमैश्वर्ययुक्तत्वात्, आत्मैव मत ईश्वर'।
स च कर्त्तेति निर्दोष, कर्तृवादो व्यवस्थित ॥

—'आत्मा परम ऐश्वर्य-सम्पन्न है। अत वह ईश्वर है। वह कर्त्ता है। इस दृष्टि से महावीर का दर्शन कर्तृवादी है।'

महावीर ने कर्तृत्व का निरसन नही किया। उन्होंने उस कर्तृ-सत्ता का निरसन किया, जिसे समग्र जगत् की निर्माण-वेदिका पर प्रतिष्ठित किया जा रहा था।

भगवान् महावीर ने ईश्वरोपासना के स्थान मे श्रमणोपासना का प्रवर्तन किया। ईश्वर परोक्ष शक्ति है और वह अगम्य है। उसके प्रति जितना आकर्षण हो सकता है, उतना जीवित मनुष्य और गम्य व्यक्तित्व के प्रति नही हो सकता। भगवान् ने मनुष्य को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और यह उद्घोष किया कि ईश्वर कोई कल्पनातीत सत्ता नही है। वह मनुष्य का ही चरम विकास है। जो मनुष्य विकास की उच्च कक्षा तक पहुच जाता है, वह परमात्मा या ईश्वर है।

भगवान् महावीर ने परम आत्मा की पाच कक्षाए निर्धारित की

१. अर्हत्—धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक।
२ सिद्ध—मुक्त आत्मा।
३ आचार्य—धर्म-तीर्थ के सचालक।
४ उपाध्याय—धर्म-ज्ञान के सवाहक।
५. साधु—धर्म के साधक।

इनमे चार कक्षाओ के अधिकारी मनुष्य हैं और एक कक्षा के अधिकारी मुक्त आत्माए हैं। इनमे पहला स्थान मनुष्य का है, दूसरा स्थान मुक्त आत्मा का है। मुक्त आत्मा मनुष्य-मुक्ति का हेतु नही है। उसकी मुक्ति के हेतु अर्हत् हैं। इसलिए महावीर ने प्रथम स्थान उनको दिया।

भगवान् महावीर ने श्रमणो की उपासना के साथ कोई कर्मकाण्ड नही जोडा। उनकी भाषा मे उपासना का अर्थ है—पास बैठना। महावीर के अनुयायी श्रमणो के पास जाते और उनसे धर्म का ज्ञान प्राप्त करते। भगवान् ने श्रमणोपासना को बहुत महत्त्व दिया। उन्होने कहा—'श्रमण की उपासना करने वाला सुनता है, जानता है, देय और उपादेय का विवेक करता है, नए ग्रन्थिपात से बचता है, पुरानी ग्रन्थियो का मोक्ष करता है और मुक्त हो जाता है।'

पूर्वमीमासा के प्रवक्ता मानते थे कि मनुष्य वीतराग नही हो सकता, सर्वज्ञ नही हो सकता। महावीर ने बताया यदि कोई वीतराग हो सकता है तो मनुष्य ही हो सकता है। यदि कोई सर्वज्ञ हो सकता है तो मनुष्य ही हो सकता है।

मीमासक वेदो को अपौरुषेय मानते थे। उनके अनुसार मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए उसका ज्ञान अतिम प्रमाण नही हो सकता। ईश्वर अपने आप मे पूर्ण है, सर्वज्ञ है, इसलिए वह स्वतः प्रमाण है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए उसका स्वत. प्रामाण्य है। मानवीय ज्ञान वेदो से स्फूर्त है, इसलिए उसका परत-प्रामाण्य है।

भगवान् बुद्ध सर्वज्ञता को नही मानते थे, इसलिए उन्होने शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार नही किया। भगवान् महावीर मनुष्य मे सर्वज्ञ होने की क्षमता स्वीकार करते थे, इसलिए उन्होने पौरुषेय शास्त्र के स्वत प्रामाण्य का प्रतिपादन और

अपौरुषेय शब्द-बोध का निरसन किया। महावीर ने कहा—'ईश्वर सर्वज्ञ है पर शरीर के अभाव मे वह प्रतिपादक नही हो सकता। मनुष्य मे सर्वज्ञता और प्रतिपादन—दोनो क्षमताए हो सकती हैं।'

भगवान् महावीर मानवीय समस्या का मूल और उसका समाधान मनुष्य मे ही खोजते थे। एक बार उन्होंने अपने शिष्यो को आमन्त्रित किया और कहा—'आर्यो! बताओ! प्राणी किससे डरते हैं?' प्रश्न बहुत बडा नही था। पर भगवान् ने किस आशय से पूछा है, सब मुनि इस उलझन मे फस गए। आखिर गौतम ने कहा—'भते! यदि आपको कष्ट न हो तो आप ही बताए।' भगवान् ने कहा—'आर्यो! प्राणी दु ख से डरते हैं।'

'आर्यो! बताओ, दु ख की सृष्टि कौन करता है?'

गौतम बोले—'भते! हम आपके मुह से ही सुनना चाहते हैं।'

भगवान् ने कहा—'आर्यो! मनुष्य अपने ही प्रमाद से दु ख की सृष्टि करता है, जैसे मकडी अपने ही जाल मे उलझती है।'

'आर्यो! बताओ, दु ख की मुक्ति कौन करता है?'

गौतम ने कहा—'भते! आप ही कहें।'

भगवान् ने कहा—'आर्यो! मनुष्य अपने ही अप्रमाद से दु ख की मुक्ति करता है।'

महावीर का युग देववाद का युग था। कुछ दार्शनिक देवो को बहुत महत्त्व देते थे। पर महावीर ने मानवीय चेतना को दिव्य चेतना से कभी अभिभूत नही होने दिया। उनका ध्रुव सिद्धान्त था कि मनुष्य सयम कर सकता है, देव नही कर सकता।

इन्द्र ने अपने वैभव का प्रदर्शन कर दशार्णभद्र राजा को पराजित करना चाहा, तब भगवान् ने कहा—'दशार्णभद्र! तुम मनुष्य हो। अपनी शक्ति को जानने वाला मनुष्य देवगण से पराजित नही होता।' दशार्णभद्र राज्य को त्यागकर मुनि बन गए। इन्द्र त्याग के साथ स्पर्धा नही कर सका। उसका सिर राजर्षि के सामने झुक गया।

महावीर जब दीक्षित हुए तब उनकी शिविका को उठाने मे सबसे आगे मनुष्य थे। यह अग्रगामिता का अधिकार मनुष्यो को इसलिए प्राप्त था कि महावीर मनुष्य थे। महावीर ने अपना सारा जीवन इस व्याख्या मे बिताया कि ईश्वरीय सृष्टि का सर्जक मनुष्य है, पर मानवीय सृष्टि का सर्जक ईश्वर नही है।

धर्म की व्यापक चेतना का उद्गान

ढाई हजार वर्ष पूर्व हिन्दुस्तान के क्षितिज मे नई स्थापनाए और नए प्रयोग हो रहे थे। चिन्तन प्रवहमान था। नई-नई धाराए फूट रही थी। एक ओर

कर्मकाण्डो की जटिल प्रक्रियाओ के प्रयोग हो रहे थे। दूसरी ओर आत्मवादी, निर्वाणवादी तथा औपनिषदिक तत्त्वो का श्रवण, मनन और निदिध्यासन चल रहा था। उस युग मे महावीर राज्य-सम्पदा से मुह मोड सत्य की खोज मे निकल पडे। वे साढे बारह वर्ष तक आत्म-सागर की गहराइयो मे डुबकिया लगाते रहे। बारहवें वर्ष के उत्तरार्ध मे उनकी साधना सफलता के शिखर पर पहुच गई। उन्हे अप्रतिपाती आत्म-साक्षात्कार हो गया। उसके आलोक मे उन्होने सत्य की व्याख्या की।

धर्म की व्यापक धारणा

महावीर की धर्म की धारणा बहुत व्यापक थी। उसका कारण उनकी आस्था का अहिंसक परम्परा मे विकसित होना है। वैदिक परम्परा मे धर्म की स्वीकृति एक विशिष्ट वर्ग के लिए थी। उनके सामने महावीर ने श्रमण परम्परा के शाश्वत स्वर को बहुत प्रभावी पद्धति से उच्चारित किया। भगवान् ने लोगो को बताया अहिंसा धर्म उन सबके लिए है

१ जो अहिंसा का आचरण करने के लिए प्रस्तुत है या नही है।

२ जो अहिंसा को जानने के लिए उपस्थित हैं या नही है।

३ जो हिंसा मे निवृत्त हैं या नही हैं।

४ जो जागतिक सयोगो मे आसक्त है या नहीं है।

५ जो परिग्रह मे आसक्त हैं या नही है।

भगवान् ने सब मनुष्यो को अहिंसा के आचरण की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा

१ धर्म की आराधना मे स्त्री-पुरुष का भेद नही हो सकता। फलस्वरूप श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए।

२ धर्म की आराधना मे जाति-पाति का भेद नही हो सकता। फलस्वरूप सभी जातियो के लोग उनके सघ मे प्रव्रजित हुए।

३ धर्म की आराधना मे क्षेत्र का भेद नही हो सकता। वह गाव मे भी की जा सकती है और अरण्य मे भी की जा सकती है। फलस्वरूप उनके साधु अरण्य-वासी कम सख्या मे थे।

४ धर्म की आराधना मे वेश का भेद नही हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है।

५ भगवान् ने अपने श्रमणो से कहा—धर्म का उपदेश जैसे पुण्य को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही पुण्य को दो।

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है।

महावीर तीर्थ के प्रवर्तक थे। तीर्थ एक सम्प्रदाय है किन्तु उन्होंने धर्म को

सम्प्रदाय के साथ बाधा नही। उनकी दृष्टि मे जैन सम्प्रदाय की अपेक्षा जैनत्व प्रधान था। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की आराधना। इनकी आराधना करनेवाला अन्य सम्प्रदाय के वेश मे भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेश मे भी मुक्त हो जाता है। शास्त्रीय शब्दो मे उन्हें क्रमश अन्यलिंग-सिद्ध और गृहलिंग-सिद्ध कहा जाता है।

इस व्यापक और उदार चेतना की परिणति ने ही जैन आचार्यों को यह कहने के लिए प्रेरित किया—

'पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥'

—महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और कपिल आदि के साथ मेरा द्वेष नही है। जिसका वचन युक्तियुक्त है, वही मेरे लिए स्वीकार्य है।

'भव-बीजाकुर-जनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥'

—भव-बीज को अकुरित करनेवाले राग-द्वेष आदि जिसके क्षीण हो चुके हैं, उसे मेरा नमस्कार है। वह ब्रह्मा, विष्णु, हर या जिन कोई भी हो।

'स्वागम रागमात्रेण, द्वेपमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥'

—मैं अपने आगमो को अनुराग मात्र से स्वीकार नही कर रहा हू, और दूसरो के आगमो को द्वेषमात्र से अस्वीकार नही कर रहा हू, किन्तु स्वीकार और अस्वीकार के पीछे मेरी मध्यस्थ-दृष्टि काम कर रही है।

सहज ही प्रश्न होता है—जैन-सस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-सग्रह करने मे अधिक सफल क्यो नही हुई ?

इसके समाधान मे कहा जा सकता है—जैन दर्शन की सूक्ष्म सिद्धान्तवादिता, तपोमार्ग की कठोरता, अहिंसा की सूक्ष्मता और सामाजिक बन्धन का अभाव— ये सारे तत्त्व लोक-सग्रहात्मक पक्ष को अशक्त करते रहे हैं। जैन साधु-सघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव भी उसके विस्तृत न होने का प्रमुख कारण बना है।

तप और ध्यान का समन्वय

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रयोगो का युग था। उस समय हज़ारो श्रमण और हज़ारो वैदिक सन्यासी धर्म के विविध प्रयोगो मे सलग्न थे। कुछ श्रमण और सन्यासी कठोर तपश्चर्या कर रहे थे। कुछ श्रमण और सन्यासी ध्यान की उत्कृष्ट आराधना मे लीन थे। आत्मानुभूति के विभिन्न मार्गों की खोज चल रही थी।

भगवान् बुद्ध छह वर्ष तक कठोर तपश्चर्या करते रहे। उसमे शान्ति नहीं

मिली, तब उन्होने ध्यान-मार्ग अपनाया। उससे उन्हे बोधि-लाभ हुआ। उन्होंने मध्यम प्रतिपदा का प्रतिपादन किया, यह स्वाभाविक ही था।

भगवान् महावीर की दृष्टि हर क्षेत्र मे समन्वय की थी। उन्होने सापेक्षता का जीवन के हर क्षेत्र मे प्रयोग किया था। उन्होंने अपनी साधना मे तपश्चर्या का पूर्ण बहिष्कार भी नही किया और ध्यान को आत्मानुभूति का एकमात्र साधन भी नही माना। उन्होंने तपश्चर्या और ध्यान दोनो को मान्यता दी।

कुछ विद्वानो का मत है कि भगवान् महावीर की साधना-पद्धति बहुत कठोर है। यह सर्वथा निराधार नही है। उनकी साधना-पद्धति मे कठोर-चर्या के अश अवश्य हैं। किन्तु वे अनिवार्य नही हैं।

भगवान् महावीर ने देखा कि सबकी शक्ति और रुचि समान नही होती। कुछ लोगो मे तपस्या की रुचि और क्षमता होती है, किन्तु ध्यान की रुचि और क्षमता नही होती। कुछ लोगो मे ध्यान की रुचि और क्षमता होती है, किन्तु तपस्या की रुचि और क्षमता नही होती। भगवान् महावीर ने अपनी साधना-पद्धति मे दोनो कोटि की रुचि और क्षमता का समावेश किया। ध्यान की कक्षा तपस्या की कक्षा से ऊची है। फिर भी तपस्या साधना के क्षेत्र मे सर्वथा मूल्यहीन नही है। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का वह महत्त्वपूर्ण अग है। भगवान् महावीर दीर्घ तपस्वी कहलाते थे। अनगार तप मे शूर होते हैं—'तवसूरा अणगारा'—यह जैन परम्परा का प्रसिद्ध वाक्य है। भगवान् महावीर ने केवल उपवास को ही तप नही माना। उनकी तप की परिभाषा मे ध्यान भी सम्मिलित है।

भगवान् महावीर ने अज्ञानमय तप का प्रबल विरोध किया और ज्ञानमय तप का समर्थन। अहिंसा-पालन मे बाधा न आए, उतना तप सब साधको के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्ही के लिए है, जिनका दैहिक बल या विराग तीव्र हो। भगवान् महावीर ने धार्मिक जीवन की अनेक कक्षाए प्रतिपादित की। गृहवासी के लिए चार कक्षाए हैं—

१ सुलभ-बोधि—यह प्रथम कक्षा है। इसमे न धर्म का ज्ञान होता है और न अभ्यास ही। केवल उसके प्रति अज्ञात अनुराग होता है। सुलभ-बोधि व्यक्ति निकट भविष्य मे धर्माचरण की योग्यता पा सकता है।

२ सम्यग्-दृष्टि—यह दूसरी कक्षा है। इसमे धर्म का अभ्यास नही होता, किन्तु उसका ज्ञान होता है।

३ अणुव्रती—यह तीसरी कक्षा है। इसमे धर्म का ज्ञान और अभ्यास दोनो होते हैं।

४ प्रतिमाधर—यह चौथी कक्षा है। इसमे धर्म का विशेष अभ्यास होता है। मुनि के लिए निम्न दो कक्षाए हैं

संघवासी मुनि—यह पहली कक्षा है। इसमें अहिंसाचरण की प्रधानता है, तपस्या की प्रधानता नही है।

एकलविहारी मुनि—यह दूसरी कक्षा है। इसमे अहिंसाचरण के साथ साथ तपस्या भी प्रधान होती है।

इन छहो कक्षाओ मे गृहवासी के लिए चौथी और मुनि के लिए छठी कक्षा मे कुछ कठोर साधना का अभ्यास होता है। शेप कक्षाओ की साधना का मार्ग ऋजु है।

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति मे मृदु, मध्य और अधिक तीनो मात्राओ का समन्वय है। मनुष्य भी मद, मध्य और प्राज्ञ तीन कोटि के होते हैं। इन तीनो कोटियो को एक कोटि मे रखकर धर्म की व्याख्या करने की अपेक्षा विभिन्न कोटि के लोगो के लिए विभिन्न दृष्टिकोणो से धर्म की व्याख्या करना अधिक मनोवैज्ञानिक है।

असाम्प्रदायिक धर्म का मन्त्रदान

एक व्यक्ति ने आचार्यश्री से पूछा—क्या भगवान् महावीर जैन थे ? आचार्यश्री ने कहा—नही, वे जैन नही थे। वे जिन थे, उनको मानने वाले जैन होते हैं। वे जैन न होकर भी, दूसरे शब्दो मे अजैन होकर भी, महान् धार्मिक थे। इसका फलित स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति जैन होकर ही धार्मिक हो सकता है, ऐसा अनुबध नही है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध—ये सब नाम धर्म की परम्परा के सूचक हैं। इनकी धर्म के साथ व्याप्ति नही है। इसी सत्य की स्वीकृति का नाम असाम्प्रदायिक दृष्टि है।

साम्प्रदायिकता एक उन्माद-रोग है। उसके आक्रमण का ज्ञान तीन लक्षणो से होता है

१ सम्प्रदाय और मुक्ति का अनुबन्ध—मेरे सम्प्रदाय मे आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नही होगी।

२. प्रशसा और निंदा—अपने सम्प्रदाय की प्रशसा और दूसरे सम्प्रदायो की निंदा।

३ ऐकान्तिक आग्रह—दूसरो के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न न करना।

भगवान् महावीर अहिंसा की गहराई मे पहुच चुके थे। इसलिए उन पर साम्प्रदायिक उन्माद आक्रमण नही कर सका। इसे उलटकर भी कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर पर साम्प्रदायिक उन्माद का आक्रमण नही हुआ, इसलिए वे अहिंसा की गहराई मे जा सके। आत्मौपम्य की दृष्टि को विकसित किए विना जो धर्म के मच पर आता है, उसके सामने धर्म गौण और सम्प्रदाय मुख्य होता है। आत्मौपम्य की दृष्टि को विकसित कर धर्म के मच पर आने वाले व्यक्ति के सामने

धर्म मुख्य और सम्प्रदाय गौण होता है। भगवान् महावीर ने सम्प्रदाय को मान्यता दी पर मुख्यता नही दी। जो लोग सम्प्रदाय को मुख्यता दे रहे थे, उनके दृष्टि-कोण को महावीर ने सारहीन बतलाया।

जो धर्म-नेता अपने उपस्थान मे आने वाले के लिए ही मुक्ति का द्वार खोलते हैं और दूसरो के लिए उसे बन्द रखते हैं, वे महावीर की दृष्टि मे अहिंसक नही हैं। अपनी ही कल्पना के ताने-बाने मे उलझे हुए हैं।

भगवान् महावीर ने मोक्ष का अनुबन्ध किसी सम्प्रदाय के साथ नही माना, किन्तु धर्म के साथ माना। भगवान् 'अश्रुत्वा केवली' के सिद्धान्त की स्थापना कर असाम्प्रदायिक दृष्टि को चरम बिन्दु तक ले गए। 'अश्रुत्वा केवली' उस व्यक्ति का नाम है जिसने कभी धर्म नही सुना, किन्तु अपनी नैसर्गिक निर्मलता के कारण केवली की कक्षा तक पहुच गया। 'अश्रुत्वा केवली' के साथ किसी भी सम्प्रदाय, परम्परा या धर्माराधना की पद्धति का सम्बन्ध नही होता। उस सम्प्रदाय-मुक्त व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी मानकर महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता को मान्यता दे दी।

महावीर ने एक सिद्धान्त की स्थापना और की। उसके अनुसार किसी भी सम्प्रदाय मे प्रव्रजित व्यक्ति मुक्त हो सकता है। इस स्थापना मे सम्प्रदाय के बीच व्यवधान डालने वाली खाइयो को पाटने का प्रयत्न है। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन दे सकता है, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित हो। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन नही दे सकता, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित न हो। मोक्ष को सम्प्रदाय की सीमा से मुक्त कर भगवान् महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता के सिद्धान्त पर दोहरी मोहर लगा दी।

भगवान् महावीर मुनित्व के महान् प्रवर्तक थे। वे मोक्ष की साधना के लिए मुनि-जीवन बिताने को बहुत आवश्यक मानते थे। फिर भी उनकी प्रतिबद्धता का अन्तिम स्पर्श सच्चाई के साथ था, किसी नियम के साथ नही। भगवान् ने 'गृह-लिंग सिद्ध' की स्वीकृति दे क्या मोक्ष-सिद्धि के लिए मुनि-जीवन की एकछत्रता को चुनौती नही दी? घरवासी गृहस्थ भी किसी क्षण मुक्त हो सकता है, इसका अर्थ है कि धर्म की आराधना अमुक प्रकार के वेश या अमुक परम्परा की जीवन-प्रणाली को स्वीकार किए बिना भी हो सकती है। जीवन-व्यापी सत्य जीवन को कभी और कही भी आलोकित कर सकता है। इस सत्य को अनावृत कर भगवान् ने धर्म को आकाश की भाति व्यापक बना दिया। 'प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध' का सिद्धान्त भी साम्प्रदायिक दृष्टि के प्रति मुक्त विद्रोह है। 'प्रत्येक-बुद्ध' किसी सम्प्रदाय से प्रभावित तथा किसी धर्म-परम्परा से प्रतिबद्ध होकर प्रव्रजित नही होते। वे अपने ज्ञान से ही प्रबुद्ध होते हैं। भगवान् ने उनको उतनी ही मान्यता दी, जितनी अपनी

परम्परा मे प्रव्रजित होने वालो को प्राप्त थी।

महावीर की ये चार स्थापनाए—अश्रुत्वा केवली, अन्यलिग-सिद्ध, गृहलिग-सिद्ध और प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध—'मेरे उपस्थान मे आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नही होगी,' इस मिथ्या आश्वासन के सम्मुख खुली चुनौती के रूप मे प्रस्तुत हैं।

जो लोग अपने धर्म की प्रशसा और दूसरो की निंदा करते थे, उनके सामने महावीर ने कटु-सत्य प्रस्तुत किया। भगवान् ने कहा—'जो ऐसा करते हैं, वे धर्म के नाम पर अपने बधन की शृखला को और अधिक सुदृढ बना रहे हैं।'

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भते ! शाश्वत धर्म कौन-सा है ?'

भगवान् ने कहा—'किसी भी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, परिताप मत करो, स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो—यह शाश्वत धर्म है।'

भगवान् महावीर ने कभी नही कहा कि जैन धर्म शाश्वत है। तत्त्व शाश्वत हो सकता है किन्तु नाम और रूप कभी शाश्वत नही होते।

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रभुत्व का युग था। उस समय पचासो धर्म-सम्प्रदाय थे। उनमे कुछ तो बहुत ही प्रभावशाली थे। कुछ शाश्वतवादी थे और कुछ अशाश्वतवादी। शाश्वतवादी अशाश्वतवादी सम्प्रदाय पर प्रहार करते थे और अशाश्वतवादी शाश्वतवादी धारा पर। इस पद्धति को महावीर ने साम्प्रदायिक अभिनिवेश की सज्ञा दी।

महावीर की अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वादी निरूपण-शैली का मुख्य प्रयोजन है—सत्य के प्रति अन्याय करने की मनोवृत्ति का विसर्जन। स्याद्वाद एक अनुरोध है, उन सबसे जो सत्य को एकागी दृष्टि से देखते हैं और आग्रह की भाषा में उसकी व्याख्या करते हैं। महावीर ने स्याद्वाद के माध्यम से शाश्वतवादी तत्त्ववेत्ताओ से अनुरोध किया कि वे अशाश्वतवादी धारा को भी समझने का प्रयत्न करें और अशाश्वतवादी तत्त्ववेत्ताओ से अनुरोध किया कि वे शाश्वतवाद की स्वीकृति का द्वार सदा के लिए बन्द न करें। एकागिता सत्य को मान्य नही है, तब फिर किसी सम्प्रदाय को क्यो मान्य होना चाहिए ? सम्प्रदाय एक सीमा है। उस सीमा की एक सीमित उपयोगिता है। मनुष्य उपयोगिता को ध्यान मे रखकर घर बनाता है—अनन्त को एक सीमा मे बाधकर उसमे रखता है। किन्तु जब वह घर मे अनन्त आकाश का आरोपण कर लेता है तब उसकी उपयोगिता असत्य मे बदल जाती है। धार्मिक जब सम्प्रदाय को ही अतिम सत्य मान लेता है, तब उपयोगिता आग्रह में बदल जाती है। वह निरपेक्ष आग्रह ही साम्प्रदायिकता है। महावीर की अहिंसा इसी इंधन से प्रज्वलित हुई थी।

नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा

भगवान् महावीर का युग क्रियाकाडो का युग था। महाभारत की ध्वस-लीला

का जनमानस पर अभी असर मिटा नही था। जनता त्राण की खोज में भटक रही थी। अनेक दार्शनिक उसे परमात्मा की शरण मे ले जा रहे थे। समर्पण का सिद्धात बल पकड रहा था। श्रमण-परम्परा इसका विरोध कर रही थी। भगवान् पार्श्व के निर्वाण के बाद कोई शक्तिशाली नेता नही रहा, इसलिए उसका स्वर जनता का ध्यान आकृष्ट नही कर पा रहा था। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने उस स्वर को फिर शक्तिशाली बनाया।

भगवान् महावीर ने कहा—'पुरुष ! तेरा त्राण तू ही है। बाहर कहा त्राण ढूढ रहा है ?'

इस आत्मकर्तृत्व की वाणी ने भारतीय जनमानस मे फिर एक बार पुरुषार्थ की लौ प्रज्वलित कर दी। श्रमण परम्परा ने ईश्वर कर्तृत्व को मान्यता नही दी। इसीलिए उसमे उपासना या भक्तिमार्ग का विकास नही हुआ। भगवान् महावीर के धार्मिक निरूपण मे आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्त हैं। उसमे उपासना और भक्ति के सिद्धान्त नही है।

श्रमण-परम्परा प्रारम्भ मे ही व्रतनिष्ठ रही है। माना जाता है—आर्य भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर ई० सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व आए। आर्यो से पहले बसने वाले पूस, भद्र, उर्वश, सुहृत्रू, अनु, कुनाश, शबर, नमुचि, व्रात्य आदि मुख्य थे। उसके सवाहक श्रमण व्रती थे। उनका अनुगामी समाज व्रात्य था।

व्रात्य का मूल व्रत है। वह अपने मे त्राण और प्रकाश खोजने का मार्ग है। वह आत्म-निर्भर और दोनो ओर अपने पुरुपार्थ पर विश्वास करने का मार्ग है। वह अपने सान्निध्य मे रहकर अपनी शक्तियो को जागृत करने और उनसे लाभ उठाने का मार्ग है।

भगवान् महावीर की व्याख्या मे व्रत धार्मिक जीवन की आधारशिला (मूल गुण) है। धर्म का भव्य प्रासाद उसी के आधार पर खडा किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ने मुनि-धर्म के लिए पाच महाव्रतो तथा गृहवासी के लिए पाच अणुव्रतो की व्यवस्था दी।

पाच महाव्रत—

१ अहिंसा
२ सत्य
३ अचौर्य
४ ब्रह्मचर्य
५ अपरिग्रह।

पाच अणुव्रत—

१ एकदेशीय अहिंसा
२ एकदेशीय सत्य

३ एकदेशीय अचौर्य
४ स्वदार-सतोप
५ इच्छा-परिमाण।

व्रतो के विस्तार मे भगवान् ने उस समय के अनैतिक आचरणो की ओर अगुली-निर्देश किया और उन्हे छोडने की घोपणा की।

भगवान् महावीर के अस्तित्वकाल मे उनका धर्म बहुत व्यापक नही बना। उनके श्रावको की सख्या लाखो मे ही सीमित थी।

भगवान् के निर्वाण के बाद उत्तरवर्ती आचार्यों ने उपासना और भक्तिमार्ग को भी स्थान दिया। उस अवधि मे जैन धर्म मे प्रतीको की पूजा-उपासना प्रचलित हुई। मन्त्र-जप का महत्त्व बढा। महावीर की आत्म-केन्द्रित साधना विस्तार-केन्द्रित हो गई। उस युग मे जन-साधारण जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और वह भारत के बहुत बडे भाग मे एक प्रभावी धर्म के रूप मे सामने आ गया।

विहार का क्रान्ति-घोष

भगवान् महावीर ने उसी शाश्वत सत्य का उपदेश दिया, जिसका उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकर दे चुके थे। किन्तु महावीर के समय की परिस्थितियो ने उनकी वाणी को ओजपूर्ण बनाने का अवसर दिया। हिंसा का प्रयोजनपक्ष सदा होता है—कभी मन्द और कभी तीव्र। उस समय हिंसा सैद्धान्तिक पक्ष मे भी स्वीकृत थी। भगवान् ने इस हिंसा के आचरण को दोहरी मूर्खता कहा। उन्होंने कहा—प्रात स्नानादि से मोक्ष नही होता[1]। जो सुबह और शाम जल का स्पर्श करते हुए जल-स्नान से मुक्ति बतलाते हैं, वे अज्ञानी हैं[2]। हेतु से जो मुक्ति बतलाते हैं, वे भी अज्ञानी हैं[3]।

स्नान, हवन आदि से मुक्ति बतलाना अपरीक्षित वचन है। पानी और अग्नि मे जीव हैं। सब जीव सुख चाहते हैं—इसलिए जीवो को दुख देना मोक्ष का मार्ग नही है—यह परीक्षित-वचन है[4]।

जाति की कोई विशेषता नही है[5]। जाति और कुल त्राण नही बनते[6]। जाति-मद का घोर विरोध किया। ब्राह्मणो को अपने गणों के प्रमुख बना उन्होंने जाति-समन्वय का आदर्श उपस्थित किया।

---

१ सूयगडो, १।७।१२।
२ वही, १।७।१३ पाओसिणाणाइसु णत्थि मोक्खो।
३ वही, १।७।१८।
४ वही, १।७।१६।
५ उत्तरज्झयणाणि, १२।३७।
६ सूयगडो, १।१३।११ ण तस्स जाती व कुलं व ताणं।

उन्होंने लोक-भाषा में उपदेश देकर भाषा के उन्माद पर तीव्र प्रहार किया। आचार-धर्म को प्रमुखता दे, उन्होंने विद्या-मद की बुराई की ओर स्पष्ट संकेत किया।[1]

लक्ष्य का विपर्यय समझाते हुए भगवान् ने कहा—"जिस तरह कालकूट विष पीने वाले को मारता है, जिस तरह उल्टा ग्रहण हुआ शस्त्र शस्त्रधारी को ही घातक होता है और जिस तरह विधि से वश नहीं किया हुआ वैताल मन्त्रधारी का ही विनाश करता है, उसी तरह विषय की पूर्ति के लिए ग्रहण किया हुआ धर्म आत्मा के पतन का ही कारण होता है।"[2]

वैषम्य के विरुद्ध आत्म-तुला का मर्म समझाते हुए भगवान् ने कहा—प्रत्येक दर्शन को पहले जानकर मैं प्रश्न करता हूं, हे वादियो! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय? यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियों को, सर्व भूतों को, सर्व जीवों को और सर्व सत्यों को दुःख महा भयंकर, अनिष्ट और अशान्तिकर है[3]। यह सब समझकर किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार भगवान् की वाणी में अहिंसा की समग्रता के साथ-साथ वैषम्य, जातिवाद, भाषावाद और हिंसक मनोभाव के विरुद्ध क्रान्ति का उच्चतम घोष था। उसने समाज की अन्तर-चेतना को नव जागरण का संदेश दिया।

तत्त्व-चर्चा का प्रवाह

भगवान् महावीर की तपःपूत वाणी ने श्रमणों को आकृष्ट किया। भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हो गए[4]। अन्यतीर्थिक सन्यासी भी भगवान् की परिषद् में आने लगे। अम्बड,[5] स्कन्दक, पुद्गल[6] और शिव[7] आदि परिव्राजक भगवान् के पास आए, प्रश्न किए और समाधान पा भगवान् के शिष्य बन गए।

कालोदायी आदि अन्य यूथिकों के प्रसंग भगवान् के तत्त्व-ज्ञान की व्यापक चर्चा पर प्रकाश डालते हैं[8]। भगवान् का तत्त्व-ज्ञान बहुत सूक्ष्म था। वह युग भी

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ६।१०
न चित्ता तायए भासा, कओ विज्जाणुसासणं?
२ वही, २०।४४।
३ आयारो, ४।२५, २६।
४ उत्तरज्झयणाणि, २३, भगवती १।९, ९।३२, सूयगडो २।७।
५ भगवती, २।१।
६ वही, ११।१२।
७ वही, ११।९।
८ वही, ७।१०, १८।८।

धर्म-जिज्ञासुओ से भरा हुआ था। सोमिल ब्राह्मण,[1] तुंगिया नगरी के श्रमणोपासक[2], जयन्ती श्राविका,[3] माकन्दी,[4] रोह, पिंगल[5] आदि श्रमणो के प्रश्न तत्त्व-ज्ञान की बहती धारा के स्वच्छ प्रतीक हैं।

बिम्बसार-श्रेणिक

भगवान् जीवित धर्म थे। उनका सयम अनुत्तर था। वह उनके शिष्यो को भी सयममूर्ति बनाए हुए था। महानिर्ग्रन्थ अनाथ के अनुत्तर सयम को देखकर मगध सम्राट् बिम्बसार—श्रेणिक भगवान् का उपासक बन गया। वह जीवन के पूर्व-काल मे बुद्ध का उपासक था। उसकी पट्टराज्ञी चेलणा महावीर की उपासिका थी। उसने सम्राट् को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किये। सम्राट् ने उसे बौद्ध बनाने के प्रयत्न किये। पर कोई भी किसी ओर नही झुका। सम्राट् ने महानिर्ग्रन्थ अनाथ को ध्यान-लीन देखा। उनके निकट गए। वार्तालाप हुआ। अन्त मे जैन बन गए[6]।

इसके पश्चात् श्रेणिक का जैन प्रवचन के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहा। सम्राट् के पुत्र और महामन्त्री अभयकुमार जैन थे। जैन-परम्परा मे आज भी अभयकुमार की बुद्धि का वरदान मागा जाता है। जैन-साहित्य मे अभयकुमार सम्बन्धी अनेक घटनाओ का उल्लेख मिलता है।

श्रेणिक की तेईस रानिया भगवान् के पास प्रव्रजित हुईं।[7] उसके अनेक पुत्र भगवान् के शिष्य बने[8]। सम्राट् श्रेणिक के अनेक प्रसग आगमो मे उल्लिखित हैं।

चेटक

वैशाली अठारह देशो का गणराज्य था। उसके प्रमुख महाराजा चेटक थे। वे भगवान् महावीर के मामा थे। जैन-श्रावको मे उनका प्रमुख स्थान था। वे बारह व्रती श्रावक थे। उनके सात कन्याए थी। वे जैन के सिवाय किसी दूसरे के साथ अपनी कन्याओ का विवाह नही करते थे।

श्रेणिक ने चेलणा को कूटनीतिक ढग से ब्याहा था। चेटक के सभी जामाता

---

१ भगवती, १८।१०।
२ वही, २।५।
३ वही, १२।१।
४ वही, १८।३।
५ वही, २।१।
६ उत्तरज्झयणाणि, २०।
७ अन्तकृतदशा।
८ ज्ञाताधर्मकथा, १।

प्रारम्भ से ही जैन थे। श्रेणिक पीछे जैन वन गया।

चेटक की पुत्रियो के नाम	चेटक के जामाताओ के नाम	उनकी राजधानी के नाम
प्रभावती	उदायन	सिंधु सौवीर
पद्मावती	दधिवाहन	चम्पा
मृगावती	शतानीक	कौशम्बी
शिवा	चण्डप्रद्योत	अवन्ती
ज्येष्ठा	भगवान् के भाई नन्दिवर्धन	कुण्डग्राम
सुज्येष्ठा	(साध्वी वन गई)	
चेलणा	विम्बसार (श्रेणिक)	मगध

अपने दौहित्र कोणिक के साथ चेटक का भीषण सग्राम हुआ था। सगाम-भूमि मे भी वे अपने व्रतो का पालन करते थे। अनाक्रमणकारी पर प्रहार नही करते थे। एक दिन मे एक वार से अधिक शस्त्र-प्रयोग नही करते थे। इनके गणराज्य मे जैन-धर्म का समुचित प्रसार हुआ। गणराज्य के अठारह सदस्य-नृप नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी भगवान् के निर्वाण के समय वही पौषध किये हुए थे।

राजर्षि

भगवान् के पास आठ राजा दीक्षित हुए—इसका उल्लेख स्थानागसूत्र मे मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१)वीरागक,(२) वीरयशा,(३)सजय, (४) एणेयक, (५) सेय, (६) शिव, (७) उद्रायण, (८) शख—काशीवर्धन। इनमे वीरागक, वीरयशा और सजय—ये प्रसिद्ध हैं। टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसके अतिरिक्त कोई विवरण प्रस्तुत नही किया है। एणेयक श्वेतविका नरेश प्रदेशी का सम्बन्धी कोई राजा था। सेय अमलकत्था नगरी का अधिपति था। शिव हस्तिनापुर का राजा था। उसने सोचा—मैं वैभव से सम्पन्न हू, यह मेरे पूर्वकृत शुभ-कर्मों का फल है। मुझे वर्तमान मे भी शुभ-कर्म करने चाहिए। यह सोच राज्य पुत्र को सौंपा। स्वय दिशाप्रोक्षित तापस वन गया। दो-दो उपवास की तपस्या करता और पारणा मे पेड से गिरे हुए पत्तो को खा लेता, इस प्रकार की चर्या करते हुए उसे विभग अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे उसने सात द्वीप और सात समुद्रो को देखा। यह विश्व सात द्वीप और सात समुद्र प्रमाण है, इसका जनता मे प्रचार किया।

भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम भिक्षा के लिए जा रहे थे। लोगो मे शिव राजर्षि के सिद्धान्त की चर्चा सुनी। वे भिक्षा लेकर लौटे। भगवान् से पूछा—'भगवन् ! द्वीप समुद्र कितने हैं ?' भगवान् ने कहा—'असख्य' हैं। गौतम ने उसे

प्रचारित किया। यह वार्त शिव राजर्षि तक पहुची। वह सदिग्ध हुआ और उसका विभग अवधि-ज्ञान लुप्त हो गया। वह भगवान् के समीप आया, वार्तालाप कर भगवान् का शिष्य वन गया।[1]

उद्रायण सिन्धु सौवीर आदि सोलह जनपदो का अधिपति था। दस मुकुटवद्ध राजा इसके अधीन थे। भगवान् महावीर लम्वी यात्रा कर वहा पधारे। राजा ने भगवान् के पास मुनि-दीक्षा ली।

वाराणसी के राजा शख के वारे मे कोई विवरण नही मिलता। अन्तकृतदशा के अनुसार भगवान् ने राजा अलक को वाराणसी मे प्रव्रज्या दी थी। सम्भव है यह उन्ही का दूसरा नाम है।

उस युग मे शासक-सम्मत धर्म को अधिक महत्त्व मिलता था। इसलिए राजाओ का धर्म के प्रति आकृष्ट होना उल्लेखनीय माना जाता। जैन-धर्म ने समाज को केवल अपना अनुगामी वनाने का यत्न नही किया, वह उसे व्रती वनाने के पक्ष पर भी वल देता रहा। शाश्वत सत्यो की आराधना के साथ-साथ समाज के वर्तमान दोपो से वचने के लिए भी जैन श्रावक प्रयत्नशील रहते थे। चारित्रिक उच्चता के लिए भगवान् महावीर ने जो आचार-सहिता दी, वह समाज मे मानसिक स्वास्थ्य का वातावरण वनाए रखने में क्षम है।

---

१ भगवती, ११।६

३

भगवान् महावीर की उत्तरकालीन परम्परा

उत्तरवर्ती परम्परा

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद गौतमस्वामी बारह वर्ष तक जीवित रहे। वीर सम्वत् बारह मे वे मुक्त हो गए। उनका जीवन-काल इस प्रकार रहा

गृहस्थ	छद्मस्थ	केवली
५० वर्ष	३० वर्ष	१२ वर्ष

दिगम्बर परम्परा का अभिमत है कि भगवान् के प्रथम उत्तराधिकारी गौतम हुए। श्वेताम्बर परम्परा का अभिमत है कि भगवान् के प्रथम उत्तराधिकारी सुधर्मा हुए। ये भगवान् के निर्वाण के बाद बीस वर्ष तक जीवित रहे। उनका जीवन-काल इस प्रकार रहा

गृहस्थ	छद्मस्थ	केवली
५० वर्ष	३० वर्ष	२० वर्ष

इनके उत्तराधिकारी जम्बूस्वामी हुए। उनका जीवन-काल इस प्रकार रहा

गृहस्थ	छद्मस्थ	केवली
१६ वर्ष	२० वर्ष	४४ वर्ष

जम्बूस्वामी के पश्चात् कोई केवली नही हुआ। यहा से श्रुतकेवली—चतुर्दशपूर्वी की परम्परा चली। छह आचार्य श्रुतकेवली हुए

१ प्रभव

२ शय्यम्भव

३ यशोभद्र

४. सम्भूतविजय

५ भद्रबाहु

६ स्थूलभद्र ।

स्थूलभद्र के पश्चात् चार पूर्व नष्ट हो गए। वहा से दसपूर्वी की परम्परा चली। दस आचार्य दसपूर्वी हुए

१ महागिरि

२ सुहस्ती

३ गुणसुन्दर

४ कालकाचार्य

५ स्कन्दिलाचार्य

६ रेवतिमित्र

७ मगु

८ धर्म

९ चन्द्रगुप्त

१० आर्यवज्र।

तीन प्रधान परम्पराए

१ गणधर-वश ।

२ वाचक-वश—विद्याधर-वश ।

३ युग-प्रधान ।

आचार्य सुहस्ती तक के आचार्य गणनायक और वाचनाचार्य दोनो होते थे। वे गण की सार-सम्हाल और गण की शैक्षणिक व्यवस्था—इन दोनो के उत्तरदायित्वो को निभाते थे। आचार्य सुहस्ती के वाद ये कार्य विभक्त हो गए। चारित्र की रक्षा करने वाले 'गणाचार्य' और श्रुतज्ञान की रक्षा करने वाले 'वाचनाचार्य' कहलाए। गणाचार्यो की परम्परा (गणधरवश) अपने-अपने गण के गुरू-शिष्य क्रम से चलती है। वाचनाचार्यो और युग-प्रधानो की परम्परा एक ही गण से सम्बन्धित नही है। जिस किसी भी गण या शाखा मे एक के वाद दूसरे समर्थ वाचनाचार्य हुए हैं,उनका क्रम जोडा गया है।

आचार्य सुहस्ती के वाद भी कुछ आचार्य गणाचार्य और वाचनाचार्य—दोनो हुए हैं। जो आचार्य विशेष लक्षण-सम्पन्न और अपने युग मे सर्वोपरि प्रभावशाली हुए, उन्हे युग-प्रधान माना गया। वे गणाचार्य और वाचनार्य दोनो मे से हुए हैं।

हिमवत की स्थविरावलि के अनुसार वाचक-वश या विद्याधर-वश की परम्परा इस प्रकार है[1]

---

१ देखें—जैन दर्शन का इतिहास, पृ० १८०-९०।

१ आचार्य सुहस्ती
२ आर्य बहुल और बलिसह
३ आचार्य उमा स्वाति
४ आचार्य श्यामाचार्य
५ आचार्य साडिल्य या स्कन्दिल (वि० स० ३७६ से ४१४ तक युग-प्रधान)
६ आचार्य समुद्र
७ आचार्य मगुसूरि
८ आचार्य नन्दिलसूरि
९ आचार्य नागहस्तीसूरि
१० आचार्य रेवतिनक्षत्र
११ आचार्य सिंहसूरि
१२ आचार्य स्कन्दिल (वि० स० ८२६ वाचनाचार्य)
१३ आचार्य हिमवन्त क्षमाश्रमण
१४ आचार्य नागार्जुनसूरि
१५ आचार्य भूतदिन्न
१६ आचार्य लोहित्यसूरि
१७ आचार्य दुष्यगणी
१८ आचार्य देववाचक (देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण)
१९ आचार्य कालिकाचार्य (चतुर्थ)
२० आचार्य सत्यमित्र (अन्तिम पूर्वविद्)[1]

सम्प्रदाय-भेद

विचार का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। विचार व्यक्ति-व्यक्ति की ही उपज होता है, किन्तु मघ मे रूढ होने के वाद मघीय कहलाता है।

तीर्थकर वाणी जैन-सघ के लिए सर्वोपरि प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिए उसमे तर्क की कर्कशता नही है। वह तर्क से वाधित भी नही है। वह सूत्र-रूप है। उमकी व्याख्या मे तर्क का लचीलापन आया है। भाष्यकार और टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नही थे। उन्होंने सूत्र के आशय को परम्परा से समझा। कही समझ मे नही आया, हृदयगम नही हुआ तो अपनी युक्ति और जोड दी। लम्बे समय मे अनेक सम्प्रदाय वन गए। श्वेताम्वर और दिगम्वर जैसे शासन-भेद हुए। भगवान् महावीर के समय मे कुछ श्रमण वस्त्र पहनते, कुछ नही भी पहनते।

---

१ देखें—परिशिष्ट १।

भगवान् स्वय वस्त्र नही पहनते थे। वस्त्र पहनने से मुक्ति होती ही नही या वस्त्र नहीं पहनने से ही मुक्ति होती है, ये दोनो बातें गौण हैं। मुख्य बात है—राग-द्वेष से मुक्ति। जैन-परम्परा का भेद मूल तत्त्वो की अपेक्षा ऊपरी बातो या गौण प्रश्नो पर अधिक टिका हुआ है।

गोशालक जैन-परम्परा से सर्वथा अलग हो गया, इसलिए उसे निह्नव नही माना गया। थोडे से मतभेद को लेकर जो जैन शासन से अलग हुए उन्हें निह्नव माना गया।

बहुरतवाद

जमाली पहला निह्नव था। वह क्षत्रिय-पुत्र और भगवान् महावीर का दामाद था। मा-बाप के अगाध प्यार और अतुल ऐश्वर्य को ठुकरा वह निर्ग्रन्थ बना। भगवान् महावीर ने स्वय उसे प्रव्रजित किया। पाच सौ व्यक्ति उसके साथ थे। मुनि जमाली अब आगे बढने लगा। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे अपने आपको लगा दिया। सामायिक आदि ग्यारह अग पढे। विचित्र तप-कर्म—उपवास, बेला, तेला यावत् अर्द्ध मास और मास की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए, विहार करने लगा।

एक दिन की बात है, ज्ञानी और तपस्वी जमाली भगवान् महावीर के पास आया। वन्दना की, नमस्कार किया और बोला—'भगवन्! मैं आपकी अभ्यनुज्ञा पाकर पाच सौ निर्ग्रन्थो के साथ जनपद विहार करना चाहता हू।' भगवान् ने जमाली की बात सुन ली। उसे आदर नही दिया। मौन रहे। जमाली ने दुबारा और तिबारा अपनी इच्छा को दोहराया। भगवान् पहले की भाति मौन रहे। जमाली उठा। भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया। बहुशाला नामक चैत्य से निकला। अपने साथी पाच सौ निर्ग्रन्थो को ले भगवान् से अलग विहार करने लगा।

श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य मे जमाली ठहरा हुआ था। सयम और तप की साधना चल रही थी। निर्ग्रन्थ-शासन की कठोरचर्या और वैराग्यवृत्ति के कारण वह अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-सूखा, कालातिक्रान्त, प्रमाणातिक्रान्त आहार लेता। उससे जमाली का शरीर रोगातक से घिर गया। विपुल वेदना होने लगी। कटु दुख उदय मे आया। पित्तज्वर से शरीर जलने लगा। घोरतम वेदना से पीडित जमाली ने अपने साधुओ से कहा—'देवानुप्रियो! बिछौना करो।' साधुओ ने विनयावनत हो उसे स्वीकार किया। बिछौना करने लगे। वेदना का वेग बढ रहा था। एक-एक पल भारी हो रहा था। जमाली ने अधीर स्वर से पूछा—'मेरा बिछौना बिछा दिया या बिछा रहे हो?' श्रमणो ने उत्तर दिया—'देवानुप्रिय! आपका बिछौना किया नही, किया जा रहा है।' दूसरी बार फिर पूछा—

'देवानुप्रियो ! बिछौना किया या कर रहे हो ?' श्रमण-निर्ग्रन्थ बोले—'देवानुप्रिय ! आपका बिछौना किया नही, किया जा रहा है।' इस उत्तर ने वेदना से अधीर बने जमाली को चौंका दिया। शारीरिक वेदना की टक्कर से सैद्धान्तिक धारणा हिल उठी। विचारो ने मोड लिया। जमाली सोचने लगा—भगवान् चलमान को चलित, उदीर्यमाण को उदीरित यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहते हैं, वह मिथ्या है। यह सामने दीख रहा है। मेरा बिछौना बिछाया जा रहा है, किन्तु बिछा नही है। इसलिए क्रियमाण अकृत, सस्तीर्यमाण असस्तृत है—किया जा रहा है किन्तु किया नही गया है, बिछाया जा रहा है किन्तु बिछा नही है—का सिद्धान्त सही है। इसके विपरीत भगवान् का 'क्रियमाण कृत' और 'सस्तीर्यमाण सस्कृत' करना शुरू हुआ, वह कर लिया गया, बिछाना शुरू किया, वह बिछा लिया गया—यह सिद्धान्त गलत है। चलमान को चलित, यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण मानना मिथ्या है। चलमान को अचलित यावत् निर्जीर्यमाण को अनिर्जीर्ण मानना सही है। बहुरतवाद—कार्य की पूर्णता होने पर उसे पूर्ण कहना ही यथार्थ है। इस सैद्धान्तिक उथल-पुथल ने जमाली की शरीर-वेदना को निर्वीर्य बना दिया। उसने अपने साधुओ को बुलाया और अपना सारा मानसिक आन्दोलन कह सुनाया। श्रमणो ने आश्चर्य के साथ सुना। जमाली भगवान् के सिद्धान्त को मिथ्या और अपने परिस्थितिजन्य अपरिपक्व विचार को सच बता रहा है। माथे-माथे का विचार अलग-अलग होता है। कुछेक श्रमणो को जमाली का विचार रुचा, मन को भाया, उस पर श्रद्धा जमी। वे जमाली की शरण मे रहे। कुछेक जिन्हे जमाली का विचार नही जचा, उस पर श्रद्धा या प्रतीति नही हुई, वे भगवान् की शरण मे चले गए। थोडा समय बीता। जमाली स्वस्थ हुआ। श्रावस्ती से चला। एक गाव से दूसरे गाव विहार करने लगा। भगवान् उन दिनो चम्पा के पूर्णभद्र-चैत्य मे विराज रहे थे। जमाली वहा आया। भगवान् के पास बैठकर बोला—'देवानुप्रिय ! आपके बहुत सारे शिष्य असर्वज्ञ-दशा मे गुरुकुल से अलग होते है, वैसे मैं नही हुआ हू। मैं सर्वज्ञ, अर्हत्, जिन, केवली होकर आपसे अलग हुआ हू।' जमाली की यह बात सुनकर भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम स्वामी बोले—'जमाली ! सर्वज्ञ का ज्ञान-दर्शन शैल-स्तम्भ और स्तूप मे रुद्ध नही होता। जमाली ! यदि तुम सर्वज्ञ होकर भगवान् से अलग हुए हो तो लोक शाश्वत है या अशाश्वत, जीव शाश्वत है या अशाश्वत—इन दो प्रश्नो का उत्तर दो।' गौतम के प्रश्न सुन वह शकित हो गया। उनका यथार्थ उत्तर नही दे सका। मौन हो गया। भगवान् बोले—'जमाली ! मेरे अनेक छद्मस्थ शिष्य भी मेरी भाति प्रश्नो का उत्तर देने मे समर्थ हैं। किन्तु तुम्हारी भाति अपने आपको सर्वज्ञ कहने मे समर्थ नही हैं।'

'जमाली ! यह लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। लोक कभी नही था, नही है, नही होगा—ऐसा नही है। किन्तु यह था, है और रहेगा। इसलिए

यह शाश्वत है। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी होती है और उत्सर्पिणी के बाद फिर अवसर्पिणी। इस काल-चक्र की दृष्टि से लोक अशाश्वत है। इसी प्रकार जीव भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं। त्रैकालिक सत्ता की दृष्टि से वह शाश्वत है। वह कभी नैरयिक बन जाता है, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य और कभी देव। इस रूपान्तर की दृष्टि से वह अशाश्वत है।' जमाली ने भगवान् की बातें सुनी पर ये अच्छी नही लगी। उन पर श्रद्धा नही हुई। वह उठा, भगवान् से अलग चला गया। मिथ्या-प्ररूपणा करने लगा—झूठी बातें कहने लगा। मिथ्या-अभिनिवेश मे वह आग्रही बन गया। दूसरों को भी आग्रही बनाने का जी भर जाल रचा। बहुतो को झगडाखोर बनाया। इस प्रकार की चर्चा चलती रही। लम्बे समय तक श्रमण-वेश मे साधना की। अन्तकाल मे एक पक्ष की सलेखना की। तीस दिन का अनशन किया। किन्तु मिथ्या-प्ररूपणा या झूठे आग्रह की आलोचना नहीं की, प्रायश्चित नही किया। इसलिए आयु पूरा होने पर वह लान्तक-कल्प (छठे देवलोक) के नीचे किल्विषिक (निम्न श्रेणी का) देव बना।

गौतम ने जाना—जमाली मर गया है। वे उठे। भगवान् के पास आये, वन्दना-नमस्कार कर बोले—'भगवन्! आपका अन्तेवासी कुशिष्य जमाली मर-कर कहा गया है? कहा उत्पन्न हुआ है?' भगवान् बोले—'गौतम! वह किल्विषिक देव बना है।'

गौतम—'भगवन्! किन कर्मों के कारण किल्विषिक देव-योनि मिलती है?'

भगवान्—'गौतम! जो व्यक्ति आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण और सघ के प्रत्यनीक होते हैं, आचाय और उपाध्याय का अपयश बखानते हैं, अवर्ण बोलते हैं और अकीर्ति गाते है, मिथ्या-प्रचार करते हैं, एकान्त-आग्रही होते हैं, लोगो मे पाण्डित्य के मिथ्याभिमान का भाव भरते हैं, वे साधुपन की विराधना कर किल्विषिक देव बनते हैं।'

गौतम—'भगवन्! जमाली अणगार अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-सूखा आहार करता था। वह अरस-जीवी यावत् तुच्छ-जीवी था। वह उपशान्त-जीवी, प्रशान्त-जीवी और विविक्त-जीवी था।'

भगवान्—'हा, गौतम! वह ऐसा था।'

गौतम—'तो फिर भगवन्! वह किल्विषिक देव क्यो बना?'

भगवान्—'गौतम! जमाली अणगार आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक था। उनका अयश बखानता, अवर्ण बोलता और अकीर्ति गाता था। एकान्त-आग्रह का प्रचार करता और लोगो को मिथ्याभिमानी बनाता था। इसलिए वह साधुपन का आराधक नही बना। जीवन की अन्तिम घडियो मे भी उसने मिथ्यास्थान का आलोचन और प्रायश्चित्त नही किया। यही हेतु है, गौतम! वह तपस्वी और वैरागी होते हुए भी किल्विषिक देव बना। सलेखना और अनशन भी

उसे आराधक नही वना सके।'

गौतम—'भगवन्! जमाली देवलोक से लौटकर कहा उत्पन्न होगा?'

भगवान्—'गौतम! जमाली देव, अनेक वार तिर्यच, मनुष्य और देव-गति मे जन्म लेगा। ससार-भ्रमण करेगा। दीर्घकाल के वाद साधुपन ले, कर्म खपा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।'

जीव-प्रादेशिकवाद

दूसरे निह्नव का नाम तिष्यगुप्त है। इनके आचार्य वस्तु चतुर्दशपूर्वी थे। वे तिष्यगुप्त को आत्म-प्रवादपूर्व पढा रहे थे। उसमे भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद आया।

गौतम—'भगवन्! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है?'

भगवान्—'नही।'

गौतम—'भगवन्! क्या दो, तीन यावत् सख्यात प्रदेश से कम जीव के प्रदेशो को जीव कहा जा सकता है?'

भगवान्—'नही। असख्यात प्रदेशमय चैतन्य पदार्थ को ही जीव कहा जा सकता है।'

यह सुन तिष्यगुप्त ने कहा—अन्तिम प्रदेश के विना शेप प्रदेश जीव नही हैं। इसलिए अन्तिम प्रदेश ही जीव है। गुरु के समझाने पर भी अपना आग्रह नही छोडा, तव उन्हें सघ से पृथक् कर दिया। ये जीव-प्रदेश सम्वन्धी आग्रह के कारण जीवप्रादेशिक कहलाए।

अव्यक्तवाद

श्वेतविका नगरी के पौलापाढ चैत्य मे आचार्य आपाढ विहार कर रहे थे। उनके शिष्यो मे योग-साधना का अभ्यास चल रहा था। आचार्य का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। उसने सोचा—शिष्यो का अभ्यास अधूरा रह जाएगा। वे फिर अपने शरीर मे प्रविष्ट हो गए। शिष्यो को इसकी कोई जानकारी नही थी। योगसाधना का क्रम पूरा हुआ। आचार्य देव रूप मे प्रकट हो वोले—'श्रमणो! मैंने असयत होते हुए भी सयतात्माओ से वन्दना कराई, इसलिए मुझे क्षमा करना।' सारी घटना सुना देव अपने स्थान पर चले गए। श्रमणो को सन्देह हो गया कि कौन जाने कौन साधु है और कौन देव! निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। यह अव्यक्त मत कहलाया। आपाढ के कारण यह विचार चला। इसलिए इसके आचार्य आपाढ हैं—ऐसा कुछ आचार्य कहते है पर वास्तव मे इसके प्रवर्तक आपाढ के शिष्य ही होने चाहिए। ये तीसरे निह्नव हुए।

सामुच्छेदिकवाद

अश्वमित्र अपने आचार्य कौण्डिल के पास पूर्व-ज्ञान पढ रहे थे। पहले समय के नारक विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे समय के भी विच्छिन्न हो जायेंगे, इस प्रकार सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे—यह पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था।

उन्होंने एकान्त-समुच्छेद का आग्रह किया। वे सघ से पृथक् कर दिये गए। उनका मत 'सामुच्छेदिकवाद' कहलाया। ये चौथे निह्नव हुए।

द्वैक्रियवाद

गग मुनि आचार्य धनगुप्त के शिष्य थे। वे शरदृऋतु मे अपने आचार्य को वन्दना करने जा रहे थे। मार्ग मे उल्लुका नदी थी। उसे पार करते समय सिर को सूर्य की गरमी और पैरो को नदी की ठडक का अनुभव हो रहा था। मुनि ने सोचा—आगम मे कहा है—एक समय मे दो क्रियाओ की अनुभूति नही होती। किन्तु मुझे एक साथ दो क्रियाओ की अनुभूति हो रही है। गुरु के पास पहुचे और अपना अनुभव सुनाया। गुरु ने कहा—'वास्तव मे एक समय मे एक ही क्रिया की अनुभूति होती है। मन का क्रम बहुत सूक्ष्म है, इसलिए हमे उसकी पृथकता का पता नही चलता।' गुरु की बात उन्हें नही जची। वे सघ से अलग होकर 'द्वैक्रियवाद' का प्रचार करने लगे। ये पाचवें निह्नव हुए।

त्रैराशिकवाद

छठे निह्नव रोहगुप्त (षडुलूक) हुए। वे अन्तरजिका के भूतगृह चैत्य मे ठहरे हुए अपने आचार्य श्रीगुप्त को वन्दन करने जा रहे थे। वहा पोट्टशाल परिव्राजक अपनी विद्याओ के प्रदर्शन से लोगो को अचम्भे मे डाल रहा था और दूसरे सभी धार्मिको को वाद के लिए चुनौती दे रहा था। आचार्य ने रोहगुप्त को उसकी चुनौती स्वीकार करने का आदेश दिया और मयूरी, नकुली, विडाली, व्याघ्री, सिंही आदि अनेक विद्याए भी सिखाई।

रोहगुप्त ने उसकी चुनौती को स्वीकार किया। राज-सभा मे चर्चा का प्रारभ हुआ।

पोट्टशाल ने जीव और अजीव—इन दो राशियो की स्थापना की। रोहगुप्त ने जीव, अजीव और निर्जीव—इन तीनो राशियो की स्थापना कर उसे पराजित कर दिया।

रोहगुप्त ने वृश्चिकी, सर्पी, मूषिकी आदि विद्याए भी विफल कर दीं। उसे पराजित कर रोहगुप्त अपने गुरु के पास आये, सारा घटनाचक्र निवेदित किया।

गुरु ने कहा—राशि दो हैं। तूने तीन राशि की स्थापना की, यह अच्छा नही किया। वापस सभा मे जा, इसका प्रतिवाद कर।' आग्रहवश गुरु की वात स्वीकार नही कर सके। गुरु उन्हे 'कुत्रिकापण' मे ले गए। वहा जीव मागा वह मिल गया, अजीव मागा वह भी मिल गया, तीसरी राशि नही मिली। गुरु राज-सभा मे गए और रोहगुप्त के पराजय की घोषणा की। इस पर भी उनका आग्रह कम नही हुआ। इसलिए उन्हे सघ से अलग कर दिया गया।

अबद्धिकवाद

सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल थे। आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी दुर्वलिका-पुष्यमित्र हुए। एक दिन वे विन्ध्य नामक मुनि को कर्म-प्रवाद का बन्धाधिकार पढा रहे थे। उसमे कर्म के दो रूपो का वर्णन आया। कोई कर्म गीली दीवार पर मिट्टी की भाति आत्मा के साथ चिपक जाता है—एकरूप हो जाता है और कोई कर्म सूखी दीवार पर मिट्टी की भाति आत्मा का स्पर्श कर नीचे गिर जाता है—अलग हो जाता है।

गोष्ठामाहिल ने यह सुना। वे आचार्य से कहने लगे—आत्मा और कर्म यदि एकरूप हो जाए तो फिर वे कभी भी अलग-अलग नही हो सकते। इसलिए यह मानना ही सगत है कि कर्म आत्मा का स्पर्श करते है, उससे एकीभूत नही होते। वास्तव मे वन्ध होता ही नही। आचार्य ने दोनो दशाओ का मर्म वताया पर उन्होंने अपना आग्रह नही छोडा। आखिर उन्हें सघ से पृथक् कर दिया।

जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल के सिवाय शेप निह्नव आ, प्रायश्चित ले फिर मे जैन-परम्परा मे सम्मिलित हो गए। जो सम्मिलित नही हुए उनकी भी अब कोई परम्परा प्रचलित नही है।

यन्त्र देखिये

आचार्य	मत-स्थापन	उत्पत्ति-स्थान	कालमान
जमाली	वहुरतवाद	श्रावस्ती	कैवल्य के १४ वर्ष पश्चात्
तिष्यगुप्त	जीवप्रादेशिक-वाद	ऋपभपुर (राजगृह)	कैवल्य के १६ वर्ष पश्चात्
आषाढ-शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	निर्वाण के ११४ वर्ष पश्चात्
अश्वमित्र	सामुच्छेदिक-वाद	मिथिला	निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात्
गग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात्

रोहगुप्त (षडुलूक)	त्रैराशिकवाद	अन्तरजिका	निर्वाण के ५४४ वर्ष पश्चात्
गोष्ठामाहिल	अबद्धिकवाद	दशपुर	निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात्

स्थानाग मे सात निह्नवों का ही उल्लेख है। जिनभद्र गणी आठवें निह्नव बोटिक का उल्लेख और करते हैं, जो वस्त्र त्यागकर सघ से पृथक् हुए थे।[1]

श्वेताम्बर-दिगम्बर

दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना कब हुई, यह अब भी अनुसधान-सापेक्ष है। परम्परा से इसकी स्थापना वीर निर्वाण की छठी-सातवी शताब्दी मे मानी जाती है। श्वेताम्बर नाम कब पडा—यह भी अन्वेषण का विषय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सापेक्ष शब्द हैं। इनमे से एक का नामकरण होने के बाद ही दूसरे के नामकरण की आवश्यकता हुई।

भगवान् महावीर के सघ मे सचेल और अचेल दोनो प्रकार के श्रमणो का समवाय था। आचाराग १।१।८ मे सचेल और अचेल दोनो प्रकार के श्रमणो का वर्णन है।

सचेल मुनि के लिए वस्त्रैषणा का वर्णन आचाराग २।५ मे है। अचेल मुनि का वर्णन आचाराग १।१।६ मे है। उत्तराध्ययन २।१३ मे अचेल और सचेल दोनो अवस्थाओ का उल्लेख है। आगम-काल मे अचेल मुनि जिनकल्पिक और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे।[2]

भगवान् महावीर के महान् व्यक्तित्व के कारण आचार की द्विविधता का जो समन्वित रूप हुआ, वह जम्बू स्वामी तक उसी रूप मे चला। उनके पश्चात् आचार्य-परम्परा का भेद मिलता है। श्वेताम्बर-पट्टावलि के अनुसार जम्बू के पश्चात् शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूत विजय और भद्रबाहु हुए और दिगम्बर मान्यता के अनुसार नन्दी, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु हुए।

जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनो परम्पराए आचार्यों का भेद स्वीकार करती हैं और भद्रबाहु के समय फिर दोनो एक बन जाती हैं। इस भेद और अभेद से सैद्धान्तिक मतभेद का निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। उस समय सघ एक था, फिर भी गण और शाखाए अनेक थी। आचार्य और चतुर्दशपूर्वी भी अनेक थे। किन्तु प्रभवस्वामी के समय से ही कुछ मतभेद के अकुर फूटने लगे हो, ऐसा प्रतीत होता है।

शय्यम्भव ने दशवैकालिक मे—'वस्त्र रखना परिग्रह नही है'—इस पर जो

---

१ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५५०-२६०२।

२ कल्पसूत्र, ३।२८, ६३।

वल दिया है और ज्ञातपुत्र महावीर ने सयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को परिग्रह नही कहा है—इस वाक्य द्वारा भगवान् के अभिमत को साक्ष्य किया है[1]।

उसमे आन्तरिक मतभेद की सूचना मिलती है। कुछ शताब्दियो के पश्चात् शय्यम्भव का 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' वाक्य परिग्रह की परिभाषा वन गया। उमास्वाति का 'मूर्च्छा-परिग्रह-सूत्र' इसी का उपजीवी है।[2]

जम्बू स्वामी के पश्चात् 'दस वस्तुओ' का लोप माना गया है। उनमे एक जिनकल्पिक अवस्था भी है[3]। यह भी परम्परा-भेद की पुष्टि करता है। भद्रबाहु के समय (वी० नि० १६० के लगभग) पाटलिपुत्र मे जो वाचना हुई, उन दोनो परम्पराओ का मतभेद तीव्र हो गया। इससे पूर्व श्रुत विषयक एकता थी। किन्तु लम्बे दुष्काल मे अनेक श्रुतधर मुनि दिवगत हो गए। भद्रबाहु की अनुपस्थिति मे ग्यारह अगो का सकलन किया गया। वह सव को पूर्ण मान्य नही हुआ। दोनो का मतभेद स्पष्ट हो गया। माथुरी वाचना मे श्रुत का जो रूप स्थिर हुआ, उसका अचेलत्व-समर्थको ने पूर्ण वहिष्कार करदिया। इस प्रकार आचार और श्रुत विषयक मतभेद तीव्र होते-होते वीर-निर्वाण की छठी-सातवी शताब्दी मे एक मूल दो भागो मे विभक्त हो गया।

श्वेताम्बर से दिगम्बर शाखा निकली, यह भी नही कहा जा सकता और दिगम्बर से श्वेताम्बर शाखा का उद्भव हुआ, यह भी नही कहा जा सकता। सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा वताता है। पर सच तो यह है कि साधना की दो शाखाए, समन्वय और सहिष्णुता के विराट् प्रकाण्ड का आश्रय लिए हुए थी, वे उसका निर्वाह नही कर सकी, काल-परिपाक से पृथक् हो गई। अथवा यो कहा जा सकता है कि एक दिन साधना के दो बीजो ने समन्वय के महातरु को अकुरित किया और एक दिन वही महातरु दो भागो मे विभक्त हो गया। किंवदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण ६०९ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते है और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ मे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ।

सचेलत्व और अचेलत्व का आग्रह और समन्वय-दृष्टि

जव तक जैन-शासन पर प्रभावशाली व्यक्तित्व का अनुशासन रहा, तव तक सचेलत्व और अचेलत्व का विवाद उग्र नही बना। कुन्द-कुन्द के समय यह विवाद

---

१ दसवेआलिय, ६।२०-२२।

२ तत्त्वार्थसूत्र, ७।१२।

३ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५९३

गण-परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग उवसमे कप्पे।
संजम-तिय केवलि-सिज्झणाय जवुम्मि वुच्छिन्ना॥

तीव्र हो उठा था[1]। बीच-बीच मे इसके समन्वय के प्रयत्न भी होते रहे हैं। यापनीय सघ श्वेताम्वर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ का समन्वित रूप था। इस सघ के मुनि अचेलत्व आदि की दृष्टि मे दिगम्बर-परम्परा का अनुसरण करते थे और मान्यता की दृष्टि से श्वेताम्बर थे। वे स्त्री-मुक्ति को मानते थे और श्वेताम्वर सम्मत आगम-साहित्य का अध्ययन करते थे।

समन्वय की दृष्टि और भी समय-समय पर प्रस्फुटित होती रही है। कहा गया है

'कोई मुनि दो वस्त्र रखता है, कोई तीन, कोई एक और कोई अचेल रहता है। वे परस्पर एक-दूसरे की अवज्ञा न करें, क्योकि यह सव जिनाज्ञा-सम्मत है। यह आचार-भेद शारीरिक शक्ति और धृति के उत्कर्प और अपकर्प के आधार पर होता है। इसलिए सचेल मुनि अचेल मुनियो की अवज्ञा न करें और अचेल मुनि सचेल मुनियो को अपने से हीन न मानें। जो मुनि महाव्रत धम का पालन करते हैं और उद्यत-विहारी हैं, वे सव जिनाज्ञा में हैं।[2]

चैत्यवास और सविग्न

स्थानागसूत्र मे भगवान् महावीर के नौ गणो का उल्लेख मिलता है। इनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं[1]

१ गोदास-गण	२ उत्तर-वलिस्सह-गण	३ उद्देह-गण
४ चारण-गण	५ उडुपाटित-गण	६ वेशपाटिक-गण
७ कामर्द्धि-गण	८ मानव-गण	९ कोटिक-गण

गोदास भद्रवाहु स्वामी के प्रथम शिष्य थे। उनके नाम से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ। उत्तर-वलिस्सह आर्य महागिरि के शिष्य थे। दूसरे गण का प्रवर्तन इनके द्वारा हुआ।

आर्य सुहस्ती के शिष्य स्थविर रोहण से उद्देह-गण, स्थविर श्री गुप्त से चारण-गण, भद्रयश से उडुपाटित-गण, स्थविर कामर्द्धि से वेशपाटिक-गण और उसका अन्तर कुल कामर्द्धिगण, स्थविर ऋषिगुप्त से मानव-गण और स्थविर

---

१ षट्प्राभृत, पृ० ६७।

२ आचारांगवृत्ति, पत्र

जो वि दुवत्थ तिवत्थो, एगेण अचेलगो व सथरइ।
ण हु ते हीलति पर, सव्वे पि य ते जिणाणाए ॥१॥
जे खलु विसरिसकप्पा, सघयणधिइयादि कारण पप्प।
णऽवमन्नइ ण य हीण, अप्पाण मन्नई तेहिं ॥२॥
सव्वे वि जिणाणाए, जहाविहिं कम्म खवणट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु सम्म अभिजाणइ एवं ॥३॥

१ ठाण, ९।२९।

सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध से कोटिक-गण प्रवर्तित हुए।

आर्य सुहस्ती के समय शिथिलाचार की एक स्फुट रेखा निर्मित हुई थी। वे स्वय सम्राट् सम्प्रति के आचार्य बन कुछ सुविधा के उपभोक्ता बने थे। पर आर्य महागिरि के सकेत से शीघ्र ही सम्हल गए थे। माना जाता है कि उनके सम्हल जाने पर भी एक शिथिल परम्परा चल पडी।

वीर निर्वाण की नवी शताब्दी (८५०) मे चैत्यवास की स्थापना हुई। कुछ शिथिलाचारी मुनि उग्र-विहार छोडकर मन्दिरो के परिपार्श्व मे रहने लगे। वीर निर्वाण की दसवी शताब्दी तक इनका प्रभुत्व नही बढा। देवर्द्धिगणी के दिवगत होते ही इनका सम्प्रदाय शक्तिशाली हो गया। विद्या-बल और राज्य-बल—दोनो के द्वारा इन्होने उग्र-विहारी श्रमणो पर पर्याप्त प्रहार किया। हरिभद्रसूरि ने 'सम्बोध-प्रकरण' मे इनके आचार-विचार का सजीव वर्णन किया है।

अभयदेवसूरि देवर्द्धिगणी के पश्चात् जैन-शासन की वास्तविक परम्परा का लोप मानते हैं।[1]

चैत्यवास से पूर्व गण, कुल और शाखाओ का प्राचुर्य होते हुए भी उनमे पारस्परिक विग्रह या अपने गण का अहकार नही था। वे प्राय अविरोधी थे। अनेक गण होना व्यवस्था-सम्मत था। गणो के नाम विभिन्न कारणो से परिवर्तित होते रहते थे। भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्मा के नाम से गण को सौधर्म गण कहा गया।

समन्तभद्रसूरि ने वनवास स्वीकार किया, इसलिए उसे वनवासी गण कहा गया।

चैत्यवासी शाखा के उद्भव के साथ एक पक्ष सविग्न, विधि-मार्ग या सुविहित मार्ग कहलाया और दूसरा पक्ष चैत्यवासी।

स्थानकवासी

इस सम्प्रदाय का उद्भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष मे हुआ। विक्रम की सोलहवी शताब्दी मे लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। इन्ही लोकाशाह के अनुयायियो मे से स्थानकवासी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। यह थोडे ही समय मे शक्तिशाली बन गया।

तेरापथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्यश्री रुघनाथजी के शिष्य 'सत भीखणजी'

---

१ आगम अष्टोत्तरी, ७१।
देवड्ढिखमासमणजा, परपर भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परपरा बहुहा॥

(आचार्य भिक्षु) ने विक्रम सम्वत् १८१७ में तेरापथ का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और सगठन पर बल दिया। एकसूत्रता के लिए उन्होंने अनेक मर्यादाओ का निर्माण किया। शिष्य-प्रथा को समाप्त कर दिया। थोडे ही समय मे एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापथ प्रसिद्ध हो गया। आचार्य भिक्षु आगम के अनुशीलन द्वारा कुछ नये तत्त्वो को प्रकाश में लाए। सामाजिक भूमिका मे उस समय वे कुछ अपूर्व-से लगे। आध्यात्मिक दृष्टि से वे बहुत ही मूल्यवान हैं। कुछ तथ्य वर्तमान समाज के पथ-दर्शक बन गए हैं।

दिगम्बर-परम्परा मे भी अनेक सघ हो गए। उनके नाम ये हैं

१ मूलसघ। इसके अन्तर्गत सात गण विकसित हुए

देवगण
सेनगण
देशीगण
सूरस्थगण
बलात्कारगण
काणूरगण
निगमान्वय।

२ यापनीयसघ
३ द्राविडसघ
४ काष्ठासघ
५ माथुरसघ।[1]

---

१ विशेष जानकारी के लिए देखें—दक्षिण भारत में जैन धर्म, पृ० १७३ ८२।

४

जैन साहित्य

साहित्य

जैन साहित्य आगम और आगमेतर—इन दो भागो मे बटा हुआ है। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है।

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान् ने अपने आपको देखा और समूचे लोक को देखा। भगवान् ने तीर्थ चतुष्ट्य (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना की। इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए। भगवान् ने बन्ध, बन्ध-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु का स्वरूप बताया।

भगवान् की वाणी आगम बन गई। उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरो ने उसे सूत्र-रूप मे गूथा। आगम के दो विभाग हो गए—सूत्रागम और अर्थागम। भगवान् के प्रकीर्ण उपदेश को अर्थागम और उनके आधार पर की गई सूत्र-रचना को सूत्रागम कहा गया। वे आचार्यों के लिए निधि बन गए। इसलिए उनका नाम गणि-पिटक हुआ। उस गुम्फन के मौलिक भाग बारह हुए। इसलिए उसका दूसरा नाम हुआ द्वादशागी। बारह अग ये हैं—(१) आचार, (२) सूत्रकृत, (३) स्थान, (४) समवाय, (५) भगवती, (६) ज्ञाता-धर्मकथा, (७) उपासक-दशा, (८) अन्तकृतदशा, (९) अनुत्तरोपपातिक-दशा, (१०) प्रश्न-व्याकरण, (११) विपाक, (१२) दृष्टिवाद।

स्थविरो ने इसका पल्लवन किया। आगम-सूत्रो की सख्या हजारों तक पहुच गई।

भगवान् के चौदह हजार शिष्य प्रकरणकार (ग्रन्थकार) थे।[1] उस समय लिखने की परम्परा नही थी। सारा वाङ्मय स्मृति पर आधारित था।

---

१ नदी सूत्र ७९।

दृष्टिवाद के पाच विभाग है

१ परिकर्म

२ सूत्र

३ पूर्वानुयोग

४ पूर्वगत

५ चूलिका ।

पूर्वगत के चौदह विभाग हैं। वे पूर्व कहलाते हैं। उनका परिमाण बहुत ही विशाल है। वे श्रुत या शब्द-ज्ञान के समस्त विषयो के अक्षय-कोष होते हैं। इनकी रचना के बारे में दो विचारधाराए है—पहली के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व ही ज्ञान राशि का यह भाग चला आ रहा था। इसलिए उत्तरवर्ती साहित्य-रचना के समय इसे 'पूर्व' कहा गया।

दूसरी विचारणा के अनुसार द्वादशागी से पूर्व ये रचे गए, इसलिए इन्हें 'पूर्व' कहा गया।[1]

पूर्वो मे सारा श्रुत समा जाता है। किन्तु साधारण बुद्धि वाले उसे पढ नही सकते। उनके लिए द्वादशागी की रचना की गई।[2] आगम-साहित्य मे अध्ययन-परम्परा के तीन क्रम मिलते हैं। कुछ श्रमण चतुर्दशपूर्वी होते थे, कुछ द्वादशागी के विद्वान् और कुछ सामायिक आदि ग्यारह अगो के अध्येता। चतुर्दशपूर्वी श्रमणो का अधिक महत्त्व रहा है। उन्हे श्रुत-केवली कहा गया है।

इनकी भाषा सस्कृत मानी जाती है। इनका विषय गहन और भाषा सहज सुबोध नहीं थी। इसलिए अल्पमति लोगो के लिए द्वादशागी रची गई। कहा भी है

"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणा, नृणा चारित्रकाङ्क्षणाम् ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञै, सिद्धान्त प्राकृते कृत ॥

आचाराग का स्थान पहला है।[3] वह योजना की दृष्टि से है। रचना की दृष्टि से पूर्व का स्थान पहला है।

---

१ स्थानांग १०।१ वत्ति—
सवश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि ।

२ *आवश्यक निर्युक्ति*—
जइवि य भूयावाए सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो ।
निज्जूहणा तहा विहु दुम्मेहे पप्प इत्थी य ॥

३ नंदी, सूत्र ८०

चौदह पूर्व

क्र स	नाम	विपय	पद-परिमाण	वस्तु	चूलिका-वस्तु
१	उत्पाद	द्रव्य और पर्यायो की उत्पत्ति	एक करोड	दस	चार
२	अग्रायणीय	द्रव्य, पदार्थ और जीवो का परिमाण	छियानवे लाख	चौदह	वारह
३	वीर्य-प्रवाद	सकर्म और अकर्म जीवो के वीर्य का वर्णन	सत्तर लाख	आठ	आठ
४	अस्तिनास्ति-प्रवाद	पदार्थ की सत्ता और असत्ता का निरूपण	साठ लाख	अठारह	दस
५	ज्ञान-प्रवाद	ज्ञान का स्वरूप और प्रकार	एक कम एक करोड	वारह	०
६	सत्य-प्रवाद	सत्य का निरूपण	एक करोड छह	दो	०
७	आत्म-प्रवाद	आत्मा और जीव का निरूपण	छब्बीस करोड	सोलह	०
८	कर्म-प्रवाद	कर्म का स्वरूप और प्रकार	एक करोड अस्मी लाख	तीस	०
९	प्रत्याख्यान-प्रवाद	व्रत-आचार, विधि-निपेध	चौरासी लाख	वीस	०
१०	विद्यानुप्रवाद	सिद्धियो और उनके साधनो का निरूपण	एक करोड दस लाख	पन्द्रह	०
११	अवन्ध्य (कल्याण)	शुभाशुभ फल की अवश्यभाविता का निपरूण	छब्बीस करोड	वारह	०
१२	प्राणायुप्रवाद	इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य और प्राण का निरूपण	एक करोड छप्पन लाख	तेरह	०
१३	क्रियाविशाल	शुभाशुभ क्रियाओ का निरूपण	नौ करोड	तीन	०
१४	लोकविन्दुसार	लब्धि का स्वरूप और विस्तार	साढे वारह करोड	पचीस	०

आगमो की भाषा

जैन आगमो की भाषा अर्ध-मागधी है। आगम-साहित्य के अनुसार तीर्थंकर अर्ध-मागधी मे उपदेश देते हैं[1]। इसे उस समय की दिव्य भाषा[2] और इसका प्रयोग करने वाले को भाषार्य कहा है[3]। यह प्राकृत का ही एक रूप है। यह मगध के एक भाग मे बोली जाती है, इसलिए अर्ध-मागधी कहलाती है। इसमे मागधी और दूसरी भाषाओ—अठारह देशी भाषाओ के लक्षण मिश्रित हैं। इसलिए यह अर्ध-मागधी कहलाती है।[4] भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग और जाति के थे। इसलिए जैन-साहित्य की प्राचीन प्राकृत मे देश्य शब्दो की बहुलता है। मागधी और देश्य शब्दो का मिश्रण अर्ध-मागधी कहलाता है। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है, जो सम्भवत सबसे अधिक प्राचीन है। इसे आर्य भी कहा जाता है[5]। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे आर्ष कहा, उसका मूल आगम का ऋषि-भाषित शब्द है[6]।

आगमो का प्रामाण्य और अप्रामाण्य

केवली, अवधि-ज्ञानी, मन पर्यव-ज्ञानी, चतुर्दश-पूर्वधर और दश-पूर्वधर की रचना को आगम कहा जाता है। आगम मे प्रमुख स्थान द्वादशागी या गणि-पिटक का है। वह स्वत प्रमाण है। शेष आगम परत प्रमाण हैं—द्वादशागी के अविरुद्ध हैं, वे प्रमाण हैं, शेष अप्रमाण।

आगम-विभाग

आगम-साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त होता है—

---

१ समवाओ, ३४।१
भगव च ण अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

२ भगवती, ५।४।

३ पन्नवणा, १।६२
भासारिया जे ण अद्धमागहाए भासाए भासति।

४ निशीथचूर्णि
मगदद्धविसयभासाणिवद्ध अद्धमागह अट्ठारसदेसीभासाणिमय वा अद्धमागह।

५ प्राकृत व्याकरण (हेम) ८।१।३।

६ ठाण, ७।४८।१०
सक्कता पागता चेव, दुहा भणितीओ आहिया।
सरमडलमि गिज्जते, पसत्या इसिभासिता॥

अंग-प्रविष्ट और अनग-प्रविष्ट । भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो ने जो साहित्य रचा, वह अग-प्रविष्ट कहलाता है। स्थाविरो ने जो साहित्य रचा, वह अनग-प्रविष्ट कहलाता है। बारह अगो के अतिरिक्त सारा आगम-साहित्य अनग-प्रविष्ट है। गणधरो के प्रश्न पर भगवान् ने त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उपदेश दिया। उसके आधार पर जो आगम-साहित्य रचा गया, वह अग-प्रविष्ट और भगवान् के मुक्त व्याकरण के आधार पर स्थविरो ने जो रचा, वह अनग-प्रविष्ट है।

द्वादशागी का स्वरूप सभी तीर्थंकरो के समक्ष नियत होता है। अनग-प्रविष्ट नियत नही होता[1]। अभी जो एकादश अग उपलब्ध हैं वे सुधर्मा गणधर की वाचना के हैं, इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते है।

अनग-प्रविष्ट आगम-साहित्य की दृष्टि से दो भागो मे बटता है। कुछेक आगम स्थवरो के द्वारा रचित हैं और कुछेक निर्यूढ। जो आगम द्वादशागी या पूर्वों से उद्धृत किए गए, वे निर्यूढ कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचाराग का दूसरा श्रुत-स्कन्ध, निशीथ, व्यवहार, वृहत्कल्प, दशाश्रुत-स्कन्ध—ये निर्यूढ आगम हैं।

दशवैकालिक का निर्यूहण अपने पुत्र मनक की आराधना के लिए आर्य शय्यम्भव ने किया[2]। शेष आगमो के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु है[3]। प्रज्ञापना के कर्त्ता श्यामार्य, अनुयोग-द्वार के आर्य-रक्षित और नन्दी के देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण माने जाते है।

भाषा की दृष्टि से आगमो को दो युगो मे विभक्त किया जा सकता है। ई० पू० ४०० से ई० १०० तक का पहला युग है। इसमे रचित अगो की भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई० १०० से ई० ५०० तक का है। इसमे रचित या निर्यूढ आगमो की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है[4]।

आगम-वाचनाए

वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे (१६० वर्ष पश्चात्) पाटलिपुत्र मे बारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ[5]। उस समय श्रमण-सघ छिन्न-भिन्न-सा हो गया। बहुत

---

१ विशेषावश्यक, भाष्य, गाथा ५५०

गणहरथेरकय वा आएसा मुक्कवागरणतो वा ।
धुवचलविसेसतो वा अगाणगेसु नाणत्त ॥

२ दशवैकालिक भूमिका, पृ० १७ ।

३ वही, पृ० १७।

४ पाइयसद्दमहण्णवो, उपोद्घात, पृ० ३०, ३१।

५ परिशिष्टपर्व, ८।१९३, ९।५५-५८ ।

सारे वहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्गवासी हो गए। आगम ज्ञान की शृखला टूट-सी गई। दुर्भिक्ष मिटा तव सघ मिला। श्रमणो ने ग्यारह अग सकलित किए। वाहरवें अग के ज्ञाता भद्रवाहु स्वामी के सिवाय कोई नही रहा। वे नेपाल मे महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। सघ की प्रार्थना पर उन्होंने वारहवें अग की वाचना देना स्वीकार कर लिया। पन्द्रह सौ साधु गए। उनमे पाच सौ विद्यार्थी थे और हज़ार साधु उनकी परिचर्या मे नियुक्त थे। प्रत्येक विद्यार्थी-साधु के दो-दो साधु परिचारक थे। अध्ययन प्रारम्भ हुआ। लगभग विद्यार्थी साधु थक गए। एकमात्र स्थूलभद्र वच रहे। उन्हे दस-पूर्व की वाचना दी गई। वहनो को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने सिंह का रूप वना लिया। भद्रवाहु ने इसे जान लिया। वाचना बन्द कर दी। फिर वहुत आग्रह करने पर चार पूव दिये पर उनका अर्थ नही वताया। स्थूलभद्र पाठ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत-केवली थे। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु ही थे। स्थूलभद्र के वाद दस पूर्व का ज्ञान ही शेष रहा। वज्रस्वामी अन्तिम दश-पूर्वधर हुए। वज्रस्वामी के उत्तराधिकारी आर्य-रक्षित हुए। वे नौ पूर्व पूर्ण और दसवें पूर्व के २४ यविक जानते थे। आर्य-रक्षित के शिष्य दुर्वलिका पुष्यमित्र ने नौ पूर्वों का अध्ययन किया किन्तु अनभ्यास के कारण वे नवें पूर्व को भूल गए। विस्मृति का यह क्रम आगे वढता गया।

आगम-सकलन का दूसरा प्रत्यन वीर-निर्वाण ८२७ पौर ८४० के वीच हुआ। आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे आगम लिखे गए। यह कार्य मथुरा मे हुआ। इसलिए इसे माथुरी-वाचना कहा जाता है। इसी समय वल्लभी मे आचाय नागार्जुन के नेतृत्व मे आगम सकलित हुए। उसे वल्लभी-वाचना या नागार्जुनीय-वाचना कहा जाता है।

माथुरी-वाचना के अनुयायियो के अनुसार वीर-निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् तथा वल्लभी-वाचना के अनुयायियो के अनुसार वीर-निर्वाण के ९९३ वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणी ने वल्लभी मे फिर से आगमो का व्यवस्थित लेखन किया। इसके पश्चात् फिर कोई सर्वमान्य वाचना नही हुई। वीर की दसवी शताव्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई।[1]

आगम-विच्छेद का क्रम

भद्रवाहु का स्वर्गवास वीर निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। आर्थी-दृष्टि से अन्तिम चार पूर्वो का विच्छेद इसी समय हुआ। दिगम्वर-परम्परा के अनुसार यह वीर-निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ।

---

१ भगवती, २०।८।

शाब्दी-दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व स्थूलभद्र की मृत्यु के समय वीर निर्वाण के २१६ वर्ष पश्चात् विच्छिन्न हुए। इनके वाद दशपूर्वो की परम्परा आर्यवज्र तक चली। उनका स्वर्गवास वीर-निर्वाण के ५७१ (विक्रम सवत् १०१) वर्ष पश्चात् हुआ। उसी समय दसवा पूर्व विच्छिन्न हुआ। नवा पूर्व दुर्वलिका-पुष्यमित्र की मृत्यु के साथ—वीर-निर्वाण ६०४ वर्ष (विक्रम सवत् १६४) मे लुप्त हुआ।

पूर्वज्ञान का विच्छेद वीर-निर्वाण के हजार वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवल-ज्ञान रहा। अन्तिम केवली जम्बू स्वामी हुए। उनके पश्चात् १०० वर्ष तक चौदह पूर्वो का ज्ञान रहा। अन्तिम चतुर्दशपूर्वी भद्रवाहु हुए। उनके पश्चात् १८३ वर्ष तक दशपूर्व रहे। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वी थे। उनके पश्चात् ग्यारह अगो की परम्परा २२० वर्ष तक चली। उनके अन्तिम अध्येता ध्रुवसेन हुए। उनके पश्चात् एक अग (आचाराग) का अध्ययन ११८ वर्ष तक चला। इसके अन्तिम अधिकारी लोहार्य हुए। वीर-निर्वाण ६८३ (विक्रम सवत् २१३) के पश्चात् आगम-साहित्य सर्वथा लुप्त हो गया। उसका क्रम इस प्रकार है[1]

१ केवली

१	गौतम	६२ वर्ष
२	सुधर्मा	
३	जम्बू	

२. श्रुत केवली

१	विष्णु	१०० वर्ष
२	नन्दिमित्र	
३	अपराजित	
४	गोवर्द्धन	
५	भद्रबाहु	

३ दशपूर्वधारी

१	विशाखाचार्य	१८३ वर्ष
२	प्रोष्ठिल	
३	क्षत्रिय	
४	जयसेन	
५	नागसेन	
६	सिद्धार्थ	
७	धृतिसेन	
८	विजय	
९	बुद्धिल	
१०	गगदेव	
११	सुधर्म	

४. एकादशागधारी

१	नक्षत्र	
२	जयपाल	
३	पाडु	२२० वर्ष
४	ध्रुवसेन	
५	कसाचार्य	

५. आचारागधारी

१	सुभद्र	
२	यशोभद्र	११८ वर्ष
३	यशोवाहु	कुल ६८३
४	लोहार्य	

दृष्टिवाद अग के पूर्वगत-ग्रन्थ का कुछ अश ईस्वी प्रारभिक शताब्दी मे श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होने देखा कि यदि वह शेषाश भी लिपिवद्ध नहीं किया जाएगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जाएगा। फलत उन्होंने श्री पुष्पदन्त और श्री भूतवलि सदृश मेधावी ऋषियो को वुलाकर गिरिनार की चन्द्र गुफा मे उसे लिपिवद्ध करा दिया। उन दोनो ऋपिवरो ने उस लिपिवद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पचमी के दिन सर्व सघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुत पचमी' के नाम से प्रसिद्ध है और साहित्योद्धार का प्रेरक कारण वन रहा है।[1]

केवलज्ञान के लोप की मान्यता मे दोनो सम्प्रदाय एकमत हैं। चार पूर्वो का लोप भद्रवाहु के पश्चात् हुआ, इसमे ऐक्य है। केवल काल-दृष्टि से आठ वप का अन्तर है। श्वेताम्वर-मान्यता के अनुसार उनका लोप वीर-निर्माण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ और दिगम्वर-मान्यता के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात्। यहा तक दोनो परम्पराए आस-पास चलती हैं। इसके पश्चात् उनमे दूरी वढती चली जाती है। दसवें पूर्व के लोप की मान्यता मे दोनो मे काल का वडा अन्तर है। श्वेताम्वर-परम्परा के अनुसार दशपूर्वी वीर-निर्वाण से ५८४ वर्ष तक हुए और दिगम्वर-परम्परा के अनुसार २४५ वर्ष तक। श्वेताम्वर एक पूर्व की परम्परा को देवर्द्धिगणी तक ले जाते और आगमो के कुछ मौलिक भाग को अव तक सुरक्षित मानते हैं। दिगम्वर वीर-निर्वाण ६८३ वर्ष पश्चात् आगमो का पूर्ण लोप स्वीकार करते हैं।

आगम का मौलिक रूप

दिगम्वर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष के पश्चात् आगमो का मौलिक स्वरूप लुप्त हो गया।

---

१ धवला टीका, भाग १, भमिका पृ० १३।

श्वेताम्बर-मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बडे परिमाण मे लुप्त हो गया किन्तु पूर्ण नही, अव भी वह शेप है। अगो और उपागो की जो तीन वार सकलना हुई, उसमे मौलिक रूप अवश्य ही वदला है। उत्तरवर्ती घटनाओ और विचारणाओ का समावेश भी हुआ है। स्थानाग मे सात निह्नवो और नव गणो का उल्लेख स्पष्ट प्रमाण है। प्रश्न-व्याकरण का जो विपय-वर्णन है, वह वर्तमान रूप मे उपलब्ध नही है। इस स्थिति के उपरान्त भी अगो का अधिकाश भाग मौलिक है। भाषा और रचना-शैली की दृष्टि से वह प्राचीन है। आचाराग का प्रथम श्रुतस्कन्ध रचना-शैली की दृष्टि से शेप सब अगो से भिन्न है। आज के भाषाशास्त्री उसे ढाई हज़ार वर्ष प्राचीन वतलाते हैं। सूत्रकृताग, स्थानाग और भगवती भी प्राचीन हैं। इसमे कोई सन्देह नही, आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

अनुयोग

अनुयोग का अर्थ है—सूत्र और अर्थ का उचित सम्बन्ध। वे चार हैं

१ चरणकरणानुयोग,

२ धर्मकथानुयोग,

३. गणितानुयोग,

४ द्रव्यानुयोग।

आर्य-वज्र तक अनुयोग के विभाग नही थे। प्रत्येक सूत्र मे चारो अनुयोगो का प्रतिपादन किया जाता था। आर्य-रक्षित ने इस पद्धति मे परिवर्तन किया। इसके निमित्त उनके शिष्य दुर्वलिका पुष्यमित्र वने। आर्य-रक्षित के चार प्रमुख शिष्य थे—दुर्वलिका पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विन्ध्य और गोष्ठामाहिल। विन्ध्य इनमे मेधावी था। उसने आर्य-रक्षित से प्रार्थना की—"प्रभो! मुझे सहपाठ मे अध्ययन-सामग्री वहुत विलम्व से मिलती है। इसलिए शीघ्र मिले, ऐसी व्यवस्था कीजिए।" आर्य-रक्षित ने उसे आलापक देने का भार दुर्वलिका पुष्यमित्र को सौंपा। कुछ दिन तक वे उसे वाचना देते रहे। फिर एक दिन दुर्वलिका पुष्यमित्र ने आर्य-रक्षित से निवेदन किया—"गुरुदेव! इसे वाचना दूगा तो मेरा नवा पूर्व विस्मृत हो जाएगा। अव जो आर्यवर का आदेश हो वही करू।'

आर्य-रक्षित ने सोचा—'दुर्वलिका पुष्यमित्र की यह गति है। अव प्रज्ञा-हानि हो रही है। प्रत्येक सूत्र मे चारो अनुयोगो को धारण करने की क्षमता रखने वाले अव अधिक समय तक नही रह सकेंगे।' चिन्तन के पश्चात् उन्होने आगमो को चार अनुयोगो के रूप मे विभक्त कर दिया[1]।

---

१ आवश्यक कथा, श्लोक १७४

चतुर्ष्वेकैकसूत्रार्थाख्याने स्यात् कोपि न क्षम ।
ततोऽनुयोगाश्चतुर पार्थक्येन व्यधात् प्रभु ॥

आगमो का पहला सस्करण भद्रबाहु के समय मे हुआ था और दूसरा सस्करण आर्य-रक्षित ने (वीर-निर्वाण ५८३-५९७ मे) किया। इस सस्करण मे व्याख्या की दुरूहता मिट गई। चारो अनुयोगो मे आगमो का विभाग इस प्रकार किया

१ चरण-करणानुयोग —कालिक सूत्र
२ धर्मकथानुयोग —उत्तराध्ययन ऋषि-भाषित आदि।
३ गणितानुयोग (कालानुयोग) —सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि
४ द्रव्यानुयोग —दृष्टिवाद

दिगम्बर-परम्परा मे ये चार अनुयोग कुछ रूपान्तर से मिलते हैं। उनके नाम क्रमश ये है

१ प्रथमानुयोग, २ करणानुयोग, ३ चरणानुयोग, ४ द्रव्यानुयोग[1]।

श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगो का विषय क्रमश इस प्रकार है

१ आचार।
२ चरित, दृष्टान्त, कथा आदि।
३ गणित, काल आदि।
४ द्रव्य, तत्त्व आदि।

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगो का विषय क्रमश इस प्रकार है

१ महापुरुषो के जीवन-चरित।
२ लोकालोक विभक्ति, काल, गणित आदि।
३ आचार।
४ द्रव्य, तत्त्व[2]।

दिगम्बर आगमो को लुप्त मानते हैं, इसलिए वे प्रथमानुयोग मे महापुराण और पुराण, करणानुयोग मे त्रिलोक-प्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार, चरणानुयोग मे मूलाचार और द्रव्यानुयोग मे प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि को समाविष्ट करते हैं।

लेखन और प्रतिक्रिया

जैन-साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक है। प्रज्ञापना मे १८ लिपियो का उल्लेख मिलता है[3]। भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपिया सिखाई —ऐसा उल्लेख विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र आदि मे मिलता है। जैन-सूत्र वर्णित ७२ कलाओ मे लेख-कला का पहला स्थान है[4]। भगवान् ऋषभनाथ ने ७२ कलाओ का उपदेश किया तथा असि, मषि और कृषि—ये तीन प्रकार के व्यापार चलाए। इनमे आये हुए लेख-कला

१-२, रत्नकरण्डश्रावकाचार, अधिकार १, पृ० ७१-३।
३ प्रज्ञापना, पद १।
४ समवाओ, ७२।७, प्रश्नव्याकरण ५ आश्रव।

और मषि शब्द लिखने की परम्परा को कर्म-युग के आरम्भ तक ले जाते हैं। नन्दी-सूत्र मे तीन प्रकार का अक्षर-श्रुत बतलाया है। इसमे पहला सज्ञाक्षर है। इसका अर्थ होता है—अक्षर की आकृति—लिपि।

लेख-सामग्री

प्रागैतिहासिक काल मे लिखने की सामग्री कैसी थी, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता[1]। राजप्रश्नीयसूत्र मे पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (कामी), मोरा, गाठ, लिप्यासन (मषिपात्र), छदन (ढक्कन), साकली, मषि और लेखनी—लेख-सामग्री के इन उपकरणो की चर्चा की गई है। प्रज्ञापना मे 'पोत्थारा' शब्द आता है[2] जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक-विज्ञान-आर्य। इसे शिल्पार्य मे गिना गया है। इसी सूत्र मे बताया गया है कि अर्ध-मागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते हैं[3]। भगवतीसूत्र के आरम्भ मे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि मे भी लिखने का इतिहास है। भाव-लिपि के पूर्व वैसे ही द्रव्य-लिपि रहती है, जैसे भाव-श्रुत के पूर्व द्रव्य-श्रुत होता है। द्रव्य-श्रुत श्रूयमाण शब्द और पठ्यमान शब्द दोनो प्रकार का होता है। इससे सिद्ध है कि द्रव्य-लिपि द्रव्य-श्रुत से अतिरिक्त नही, उसी का एक अश है। पाच प्रकार की पुस्तकें बतलाई गई हैं—१ गण्डी, २ कच्छवी, ३ मुष्टि, ४ सपुट फलक, ५ सृपाटिका। हरिभद्रसूरि ने भी दशवैकालिक टीका मे प्राचीन आचार्यों की मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्ही पुस्तको का उल्लेख किया है।[4] निशीथ चूर्णी मे भी इनका उल्लेख है। अनुयोग द्वार का पोत्थकम्म (पुस्तककर्म) शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रबल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड-पत्र अथवा सपुटक-पत्र-सचय और कर्म का अथ उसमे वर्तिका आदि से लिखना किया है। इसी सूत्र मे आये हुए पोत्थकार (पुस्तककार) शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला, किया है। जीवाभिगम (३ प्रति ४ अधि०) के पोत्थार (पुस्तककार) शब्द का यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर की पाठशाला मे पढने-लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआर्क्स ने लिखा है—'भारतवासी लोग कागज बनाते थे।'[5] ईसवी के दूसरे शतक मे ताड-पत्र और चौथे मे भोज-पत्र

---

१ लेख सामग्री के लिए देखें—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४२-५६।

२ प्रज्ञापना, पद १

३ वही, पद १

४ दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २५

५ भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० ४

लिखने के व्यवहार में लाए जाते थे[1]। वर्तमान में उपलब्ध लिखित ग्रन्थों में ई० स० पांचवीं में लिखे हुए पत्र मिलते हैं[2]। इनके आधार पर हम जान सकते हैं कि भारत में लिखने की प्रथा प्राचीनतम है। किन्तु समय-समय पर इसके लिए भिन्न-भिन्न साधनों का उपयोग होता था, इसका दो हजार वर्ष पुराना रूप जानना अति कठिन है। मोटे तौर पर हमें यह मानना होगा कि भारतीय वाङ्मय का अधिक लम्बे समय तक कण्ठस्थ-परम्परा में ही सुरक्षित रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों परम्पराओं के शिष्य उत्तराधिकार के रूप में अपने-अपने आचार्यों द्वारा विधान का अक्षय-कोष पाते थे।

आगम लिखने का इतिहास

जैन दृष्टि के अनुसार श्रुत-आगम की विशाल धन-राशि चौदह पूर्व में सन्निहित है। वे कभी लिखे नहीं गए। किन्तु अमुक-अमुक परिमाण स्याही से उनके लिखे जा सकने की कल्पना अवश्य हुई है। द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद मथुरा में आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में साधु-संघ एकत्र हुआ। आगमों को संकलित कर लिखा गया और आर्य स्कन्दिल ने साधुओं को अनुयोग की वाचना दी। इसलिए उनकी वाचना माथुरी-वाचना कहलाई। इसका समय वीर-निर्वाण ८२७ से ८४० तक माना जाता है। माथुरी वाचना के ठीक समय पर वलभी में नागार्जुन सूरि ने श्रमण-संघ को एकत्र कर आगमों को संकलित किया। नागार्जुन और अन्य श्रमणों को जो आगम और प्रकरण याद थे, वे लिखे गए। संकलित आगमों की वाचना दी गई, यह 'नागार्जुनीय-वाचना' कहलाती है। कारण कि इसमें नागार्जुन की प्रमुखता थी। वीर-निर्वाण ९८० (या ९९३) वर्ष में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने फिर आगमों को पुस्तकारूढ़ किया और संघ के समक्ष उसका वाचन किया। यह कार्य वलभी में सम्पन्न हुआ। पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गए आगमों के अतिरिक्त अन्य प्रकरण-ग्रन्थ भी लिखे गए। दोनों वाचनाओं के सिद्धान्तों का समन्वय किया गया और जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें 'पाठान्तर' आदि वाक्यावली के साथ आगम, टीका, चूर्णि में संगृहीत किया गया।

प्रतिक्रिया

आगमों के लिपिबद्ध होने के उपरान्त भी एक विचारधारा ऐसी रही कि साधु पुस्तक लिख नहीं सकते और अपने साथ रख भी नहीं सकते। पुस्तक लिखने और रखने में दोष बताते हुए लिखा है

१ अक्षर लिखने में कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है, इसलिए पुस्तक

---

१ २ भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० २

लिखना सयम-विराधना का हेतु है।

२ पुस्तको को ग्रामान्तर ले जाते हुए कधे छिल जाते हैं, व्रण हो जाते है।

३ उनके छेदो की ठीक तरह 'पडिलेहना' नही हो सकती।

४ मार्ग मे भार बढ जाता है।

५ वे कुन्थु आदि जीवो के आश्रय होने के कारण अधिकरण है अथवा चोर आदि से चुराए जाने पर अधिकरण हो जाते हैं।

६ तीर्थंकरो ने पुस्तक नामक उपधि रखने की आज्ञा नही दी है।

७ उनके पास मे होते हुए सूत्र-गुणन मे प्रमाद होता है—आदि आदि।

साधु जितनी बार पुस्तको को बाधते है, खोलते है और अक्षर लिखते हैं उन्हे उतने ही चतुर्लघुको का दण्ड आता है और आज्ञा आदि दोष लगते है। आचार्य-श्री भिक्षु के समय भी ऐसी विचारधारा थी। उन्होने इसका खण्डन भी किया है।

अग और उपाग तथा छेद और मूल

दिगम्बर-साहित्य मे आगमो के दो ही विभाग मिलते हैं—अग-प्रविष्ट और अग-बाह्य।

श्वेताम्बर-परम्परा मे भी मूल-विभाग यही रहा। स्थानाग, नन्दी आदि मे यही मिलता है। आगम-विच्छेद काल मे पूर्वों और अगो के निर्यूहण और शेषाश रहे, उन्हे पृथक् सज्ञाए मिली। निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध को छेद-सूत्र कहा गया।

आगम-पुरुष की कल्पना हुई, तब अग-प्रविष्ट को उसके अग-स्थानीय और बारह सूत्रो को उपाग-स्थानीय माना गया। पुरुष के जैसे दो पैर, दो जघाए, दो उरु, दो गात्रार्घ, दो बाहु, ग्रीवा और सिर—ये बारह अग होते हैं, वैसे ही श्रुत-पुरुष के आचार आदि बारह अग हैं। इसलिए ये अग-प्रविष्ट कहलाते हैं।

कान, नाक, आख, जघा, हाथ और पैर—ये उपाग है। श्रुत-पुरुष के भी औपपातिक आदि बारह उपाग हैं।

बारह अगो और उनके उपागो की व्यवस्था इस प्रकार है

अग	उपाग
आचार	औपपातिक
सूत्र	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	सूर्य-प्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

अंग	उपांग
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृतदशा	कल्पिका
अनुत्तरोपपातिक दशा	कल्पावतसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा।

उपाग का प्रयोग उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थभाष्य मे किया है।[1]

अग स्वत और उपाग परत प्रमाण हैं, इसलिए अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि मे यह प्रयोग समुचित है।

'छेद' का प्रयोग उनके भाष्यो मे मिलता है। 'मूल' का प्रयोग सम्भवत सबसे अधिक अर्वाचीन है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दो मूल सूत्र माने जाते हैं। नन्दी और अनुयोगद्वार—ये दो चूलिका सूत्र हैं।

छेद-सूत्र चार हैं

१ व्यवहार

२ बृहत्कल्प

३ निशीथ

४ दशाश्रुतस्कन्ध।

इस प्रकार अग-बाह्य-श्रुत की समय-समय पर विभिन्न रूपो मे योजना हुई है।

आगमो का वर्तमान रूप

द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के पश्चात् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे श्रमण-सघ मिला। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि काल कर चुके थे। साधुओ की सख्या भी कम हो गई थी। श्रुत की अवस्था चिन्तनीय थी। दुर्भिक्ष-जनित कठिनाइयो से प्रासुक भिक्षाजीवी साधुओं की स्थिति बडी विचारणीय थी। श्रुत की विस्मृति हो गई।

देवर्द्धिगणी ने अवशिष्ट सघ को वलभी मे एकत्रित किया। उन्हें जो श्रुत कण्ठस्थ था, वह उनसे सुना। आगमो के आलापक छिन्न-भिन्न, न्यूनाधिक मिले। उन्होने अपनी मति से उनका सकलन किया, सम्पादन किया और पुस्तकारूढ किया।

---

१ तत्त्वार्थभाष्य, टीका, पृ० २३

आगमों का वर्तमान सस्करण देवर्द्धिगणी का है। अगो के कर्त्ता गणधर हैं। अग-वाह्य-श्रुत के कर्त्ता स्थविर हैं। उन सवका सकलन और सम्पादन करनेवाले देवर्द्धिगणी हैं। इसलिए वे आगमो के वर्तमान-रूप के कर्त्ता भी माने जाते है।[1]

आगम का व्याख्यात्मक साहित्य

आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ निर्युक्ति से होता है और वह 'स्तवक' और जोडो तक चलता है।

निर्युक्तिया और निर्युक्तिकार

द्वितीय भद्रवाहु ने दस निर्युक्तिया लिखी

१ आवश्यक-निर्युक्ति
२ दशवैकालिक-निर्युक्ति
३ उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
४ आचाराग-निर्युक्ति
५ सूत्रकृताग-निर्युक्ति
६ दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति
७ वृहत्कल्प-निर्युक्ति
८ व्यवहार-निर्युक्ति
९ सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति
१० ऋषिभाषित-निर्युक्ति

इनका रचनाकाल वीर-निर्वाण की पाचवी-छठी शताब्दी है। वृहत्कल्प की निर्युक्ति भाष्य-मिश्रित अवस्था मे मिलती है। व्यवहार-निर्युक्ति भी भाष्य मे मिली हुई है।

सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित—ये दोनो निर्युक्तिया अनुपलब्ध है। कुछ निर्युक्तिया मूल निर्युक्तियो की पूरक हैं, जैसे

---

१ समाचारीशतक
श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीय-दुर्भिक्षवशाद् वहुतरसाधुव्यापत्तौ वहुश्रुतविच्छित्तौ च जाताया भव्यलोकोपकाराय श्रुतव्यक्तये च श्रीसघाग्रहात् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् वल्लभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या सकलय्य पुस्तकारूढा कृता। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्सकलनान्तर सर्वेषा-मपि आगमाना कर्त्ता श्री देवर्धिगणिक्षमाश्रमण एव जात।

मूल	पूरक
१ आवश्यक-निर्युक्ति	ओघ-निर्युक्ति
२ दशवैकालिक-निर्युक्ति	पिण्ड-निर्युक्ति
३ वृहत्कल्प-निर्युक्ति	पचकल्प-निर्युक्ति
४ आचाराग-निर्युक्ति	निशीथ-निर्युक्ति

इनकी भाषा प्राकृत है। इनमे सक्षिप्त शैली के आधार पर अनेक विषय और पारिभाषिक शब्द प्रतिपादित हैं। ये भाष्य और चूर्णियो के लिए आधारभूत उपादान हैं। ये पद्यबद्ध व्याख्याए हैं।

भाष्य और भाष्यकार

आगमो और निर्युक्तियो के आशय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गए। अब तक दस भाष्य उपलब्ध हुए हैं

१ आवश्यक-भाष्य
२ दशवैकालिक-भाष्य
३ उत्तराध्ययन-भाष्य
४ वृहत्कल्प-भाष्य
५ पचकल्प-भाष्य
६ व्यवहार-भाष्य
७ निशीथ-भाष्य
८ जीतकल्प-भाष्य
९ ओघनिर्युक्ति-भाष्य
१० पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य

इनमे वृहत्कल्प और ओघनिर्युक्ति पर दो-दो भाष्य मिलते हैं—लघुभाष्य और वृहद्‌भाष्य। इनकी भाषा प्राकृत है। ये भी पद्यबद्ध हैं। विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प भाष्य—ये आचार्य जिनभद्रगणी (वि० सातवी शताब्दी) की रचनाए हैं।

वृहत्कल्प-लघुभाष्य और पचकल्प-महाभाष्य—ये सघदासगणी (वि० छठी शताब्दी) की रचनाए हैं।

चूर्णिया और चूर्णिकार

चूर्णिया गद्यात्मक हैं। इनकी भाषा प्राकृत या सस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। निम्न आगम-ग्रन्थो पर चूर्णिया मिलती हैं

१ आवश्यक	२ दशवैकालिक
३ नन्दी	४ अनुयोगद्वार
५ उत्तराध्ययन	६ आचाराग

७	सूत्रकृताग	८	निशीथ
९	व्यवहार	१०	दशाश्रुत-स्कन्ध
११	बृहत्कल्प	१२	जीवाभिगम
१३	भगवती	१४	महा-निशीथ
१५	जीतकल्प	१६	पञ्चकल्प
१७	ओघ-निर्युक्ति		

प्रथम आठ चूर्णियो के कर्त्ता जिनदास महत्तर है। इनका जीवनकाल विक्रम की सातवी शताब्दी है। जीतकल्प-चूर्णी के कर्त्ता सिद्धसेन सूरि हैं। उनका जीवन-काल विक्रम की बारहवी शताब्दी है। बृहत्कल्प चूर्णी प्रलम्ब सूरि की कृति है। शेष चूर्णिकारो के विषय मे अभी जानकारी नही मिल रही है। दशवैकालिक की एक चूर्णि और है। उसके कर्त्ता है—अगस्त्यसिंह मुनि।

टीकाए और टीकाकार

आगमो के पहले सस्कृत-टीकाकार हरिभद्र सूरि है। उन्होने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम पर टीकाए लिखीं।

विक्रम की तीसरी शताब्दी मे उमास्वाति ने जैन-परम्परा मे जो सस्कृत-वाङ्मय का द्वार खोला, वह अब विस्तृत होने लगा। शीलाकसूरि ने आचाराग और सूत्रकृताग पर टीकाए लिखी। शेष नव अगो के टीकाकार है—अभयदेव सूरि। अनुयोगद्वार पर मलधारी हेमचन्द्र की टीका है। नन्दी, प्रज्ञापन, व्यवहार, चन्द्र-प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, आवश्यक, बृहत्कल्प, राजप्रश्नीय आदि के टीकाकार मलयगिरि है।

आगम-साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ न्यायशास्त्र के साहित्य का भी विकास हुआ। वैदिक और बौद्ध न्यायशास्त्रियो ने अपने-अपने तत्त्वो को तर्क की कसौटी पर कसकर जनता के सम्मुख रखने का यत्न किया। तब जैन न्यायशास्त्री भी इस ओर मुडे। विक्रम की पाचवी शताब्दी मे न्याय का जो नया स्रोत बहा, वह बारहवी शताब्दी मे बहुत व्यापक हो गया।

अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे न्यायशास्त्रियो की गति कुछ शिथिल हो गई। आगम के व्याख्याकारो की परम्परा आगे भी चली। विक्रम की अठारहवी शताब्दी मे पार्श्वचन्द्र सूरी तथा स्थानकवासी परम्परा के धर्मसी मुनि ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा मे आगमो पर स्तबक लिखे। विक्रम की उन्नीसवी सदी मे श्रीमद् भिक्षु स्वामी और जयाचार्य आगम के यशस्वी व्याख्याता हुए। श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने आगम के अनेक दुरूह स्थलो पर प्रकीर्ण व्याख्याए लिखी है। जयाचार्य ने आचाराग प्रथम श्रुत-स्कन्ध, ज्ञाता, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन

(२७ अध्ययन) और भगवती सूत्र पर पद्यात्मक व्याख्या लिखी। आचारांग (द्वितीय श्रुत-स्कन्ध) का वार्तिक लिखा।

इस प्रकार जैन-साहित्य आगम, आगम-व्याख्या और न्यायशास्त्र से बहुत ही समृद्ध है। इनके आधार पर ही हम जैन दर्शन के हृदय को छूने का यत्न करेंगे।

परवर्ती प्राकृत-साहित्य

आगम-लोप के पश्चात् दिगम्बर-परम्परा मे जो साहित्य रचा गया, उसमे सर्वोपरि महत्त्व पट्-खण्डागम और कपाय-प्राभृत का है।

पूर्वों और अगो के बचे-खुचे अशो के लुप्त होने का प्रसग आया। तब आचार्य धरसेन (विक्रम दूसरी शताब्दी) ने भूतवलि और पुष्पदन्त नामक दो साधुओ को श्रुताभ्यास कराया। इन दोनो ने षट्-खण्डागम की रचना की। लगभग इसी समय मे आचार्य गुणधर हुए। उन्होंने कपाय-प्राभृत रचा। ये पूर्वों के शेपाश हैं। इसलिए इन्हे पूर्वों से उद्धृत माना जाता है। इन पर प्राचीन कई टीकाए लिखी गई हैं, व उपलब्ध नही हैं। जो टीका वर्तमान मे उपलब्ध है, वह आचार्य वीरसेन की है। इन्होंने विक्रम सम्वत् ८७३ मे पट्-खण्डागम की ७२,००० श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी।

कषाय-पाहुड पर २०,००० श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। वह पूर्ण न हो सकी, बीच मे ही उनका स्वर्गवास हो गया। उसे उन्ही के शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया। उसकी पूर्ति विक्रम सम्वत् ८९४ मे हुई। उसका शेप भाग ४०,००० श्लोक-प्रमाण और लिखा गया। दोनो को मिलाकर इसका प्रमाण ६०,००० श्लोक होता है। इसका नाम जय-धवला है। यह प्राकृत और सस्कृत के सक्रान्ति-काल की रचना है। इसीलिए इसमे दोनो भाषाओ का मिश्रण है।

पट्-खण्ड का अन्तिम भाग महाबध है। इसके रचयिता आचार्य भूतवलि हैं। यह ४१,००० श्लोक-प्रमाण है। इन तीनो ग्रन्थो मे कर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है।

विक्रम की दूसरी शती मे आचार्य कुन्दकुन्द हुए। इन्होंने अध्यात्मवाद का एक नया स्रोत प्रवाहित किया। इनका झुकाव निश्चयनय की ओर अधिक था। प्रवचनसार, समयसार और पचास्तिकाय—ये इनकी प्रमुख रचनाए हैं। इनमे आत्मानुभूति की वाणी आज भी उनके अन्तर्-दर्शन की साक्षी है।

विक्रम की दसवी शताब्दी मे आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती हुए। उन्होंने गोम्मट-सार और लब्धिसार-क्षपणासार—इन दो ग्रन्थो की रचना की। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये प्राकृत-शौरसेनी भापा की रचनाए हैं।

श्वेताम्बर-आचार्यों ने मध्ययुग मे जैन-महाराष्ट्री मे लिखा। विक्रम की तीसरी शती मे शिवशर्म सूरि ने कम्मपयडी, उमास्वाति ने जम्बूद्वीप समास लिखा। विक्रम की छठी शताब्दी मे सघदास क्षमाश्रमण ने वसुदेव हिन्डी नामक

एक कथा-ग्रन्थ लिखा, इसका दूसरा खण्ड धर्मसेनगणी ने लिखा[1]। इसमे वसुदेव के पर्यटन के साथ-साथ अनेक लोक-कथाओ, चरित्रो, विविध वस्त्रो, उत्सवो और विनोद-साधनो का वर्णन किया है। जर्मन विद्वान् आल्सफोर्ड ने इसे बृहत्कथा के समकक्ष माना है।

विक्रम की सातवी शताब्दी मे जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए। विशेषावश्यक भाष्य इनकी प्रसिद्ध कृति है। यह जैनागमो की चर्चाओ का एक महान् कोष है। विशेषणवती, बृहत्-सग्रहणी और बृहत्-क्षेत्र-समास भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

हरिभद्र सूरि विक्रम की आठवी शती के विद्वान् आचार्य है। 'समराइच्च कहा' इनका प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। सस्कृत-युग मे भी प्राकृत-भाषा मे रचना का क्रम चलता रहा है।

मध्यकाल मे निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्रविद्या, स्वप्न-विद्या, शिल्प-शास्त्र, व्याकरण, छन्द, कोश आदि अनेक विषयक ग्रन्थ लिखे गए हैं[2]।

सस्कृत-साहित्य

विशिष्ट व्यक्तियो के अनुभव, उनकी सग्रहात्मक निधि, साहित्य और उसका आधार भाषा—ये तीनो चीजें तत्त्वो की सवाहक होती हैं। सूरज, हवा और अकाश की तरह ये तीनो चीजे सबके लिए समान हैं। यह एक ऐसी भूमिका है, जहा पर साम्प्रदायिक, सामाजिक और जातीय या इसी प्रकार के दूसरे-दूसरे सब भेद मिट जाते हैं।

सस्कृत-साहित्य की समृद्धि के लिए किसने प्रयास किया या किसने न किया—यह विचार कोई महत्त्व नही रखता। वाङ्मय-सरिता सदा अभेद की भूमि मे बहती है। फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक की त्रिपथ-गामिनी विचारधाराए हैं। वे त्रिपथगा (गगा) की तरह लम्बे अर्से तक बही हैं।

प्राचीन वैदिकाचार्यो ने अपने सारभूत अनुभवो को वैदिक सस्कृत मे रखा। जैनो ने अर्ध-मागधी भाषा और बौद्धो ने पालि भाषा के माध्यम मे अपने विचार प्रस्तुत किए। इसके बाद मे इन तीनो धर्मो के उत्तरवर्ती आचार्यो ने जो साहित्य बनाया, वह लौकिक (वर्तमान मे प्रचलित) सस्कृत को पल्लवित करने वाला ही है।

लौकिक सस्कृत मे लिखने के सम्बन्ध मे किसने पहल की और कौन पीछे से लिखने लगा, यह प्रश्न हो सकता है, किन्तु ग्रन्थ किसने कम रचे और किसने अधिक रचे—यह कहना जरा कठिन है।

---

१ पाइअ भाषाओ अने साहित्य, पृ० ६१।
२, वही, पृ० ६५।

सस्कृत और प्राकृत—ये दोनो श्रेष्ठ भाषाए हैं और ऋषियो की भाषाए हैं। इस तरह आगम-प्रणेताओ ने सस्कृत और प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके सस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनो का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

सस्कृत भाषा तार्किको के तीखे तर्क-बाणो के लिए तूणीर बन चुकी। इसलिए इस भाषा का अध्ययन करने वालो के लिए अपने विचारो की सुरक्षा खतरे मे थी। अत सभी दार्शनिक सस्कृत भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे।

जैनाचार्य भी इस दौड मे पीछे नही रहे। वे समय की गति को पहचानने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस ओर चमकी और स्वय इस ओर मुडे। उन्होंने पहले ही चरण मे प्राकृत-भाषा की तरह सस्कृत भाषा पर भी अधिकार जमा लिया।

प्रादेशिक साहित्य

ई० पूर्व पाचवी शताब्दी मे जैन धर्म का अस्तित्व दक्षिण भारत मे था। ई० पूर्व तीसरी शताब्दी मे भद्रबाहु बारह हज़ार मुनियो के साथ दक्षिण भारत मे गए। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। उनके वहा जाने से जैन धर्म बहुत प्रभावी हो गया।

दिगम्बर-आचार्यो का प्रमुख विहार-क्षेत्र दक्षिण बन गया। दक्षिण की भाषाओ मे उन्होंने विपुल साहित्य रचा।

कन्नड भाषा मे जैन कवि पोन्न का शान्तिपुराण, पप का आदिपुराण और भारत आज भी बेजोड माना जाता है। रत्न का गदा-युद्ध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ईसा की दसवी शती से सोलहवीं शती तक जैन महर्षियो ने काव्य, व्याकरण, शब्द-कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयो पर अनेक ग्रन्थ लिखे और कर्णाटक-सस्कृति को पर्याप्त समृद्ध बनाया। दक्षिण भारत की पाच द्राविड-भाषाओ मे से कन्नड एक प्रमुख भाषा है। उसमे जैन-साहित्य और साहित्यकार आज भी अमर हैं[1]। तमिल भी दक्षिण की प्रसिद्ध भाषा है। इसका जैन-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। इसके पाच महाकाव्यो मे से तीन महाकाव्य चिन्तामणि, सिलप्पडिकारम् और वलैतापति—जैन कवियो द्वारा रचित हैं। नन्नोल तमिल का विश्रुत व्याकरण है। कुरल और नालदियार जैसे महान् ग्रन्थ भी जैन महर्षियो की कृति हैं।

गुजराती साहित्य

उत्तर भारत श्वेताम्बर-आचार्यो का विहार-क्षेत्र रहा। उत्तर भारत की भाषाओ मे दिगम्बर-साहित्य प्रचुर है। पर श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह कम

---

१ कर्णाटक कवि चरित्र।

है। आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और सस्कृति से प्रभावित रहा है। आनन्दघनजी, यशोविजयजी आदि अनेक योगियो और महर्पियो ने इस भापा मे अनेक रचनाए प्रस्तुत की।[1]

राजस्थानी साहित्य

राजस्थानी मे जैन-साहित्य विशाल है। इस सहस्राब्दी मे राजस्थान जैनमुनियो का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यति, सविग्न, स्थानकवासी और तेरापथी—सभी ने राजस्थानी मे लिखा है। रास और चरितो की सख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित बहुत ही रोचक है। कवि समयसुन्दरजी की रचनाओ का सग्रह अगरचन्दजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकल ढालो का सकलन किया जाए तो इतिहास को कई दिशाए मिल सकती हैं।

राजस्थानी भापाओ का स्रोत प्राकृत और अपभ्रश हैं। काल-परिवर्तन के साथ-साथ दूसरी भापाओ का भी सम्मिश्रण हुआ है।

राजस्थानी साहित्य तीन शैलियो मे लिखा गया है—१ जैन-शैली, २ चारणी शैली ३ लौकिक शैली। जैन-शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग हैं। इस शैली मे प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमे आगे तक चले आये हैं।

जैनो का सम्बन्ध गुजरात के साथ विशेप रहा है। अत जैन-शैली मे गुजराती का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चारणी शैली के लेखक प्रधानतया चारण और गौण रूप मे अन्यान्य लोग हैं। जैनो, ब्राह्मणो, राजपूतो, भाटो आदि ने भी इस शैली मे रचना की है। इसमे भी प्राचीनता की पुट मिलती है पर वह जैन-शैली से भिन्न प्रकार की है। यद्यपि जैनो की अपभ्रश रचनाओ मे भी, विशेपकर युद्ध-वर्णन मे, उसका मूल देखा जा सकता है। डिंगल वस्तुत अपभ्रश शैली का ही विकसित रूप है।[2]

तेरापथ के आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी-साहित्य मे एक नया स्रोत बहाया। अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियो मे उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा। उनकी सारी रचनाओ का प्रमाण ३८,००० श्लोक के लगभग है। मारवाडी के ठेठ शब्दो मे लिखना और मनोवैज्ञानिक विश्लेपण करना उनकी अपनी विशेपता है। उनकी वाणी का स्रोत क्रान्ति और शान्ति दोनो धाराओ मे बहा है।

नव पदार्थ, विनीत-अविनीत, व्रताव्रत, अनुकम्पा, शील री नववाड आदि उनकी प्रमुख रचनाए हैं।

---

१. देखें—जैन गुर्जर कविओ।

२ साहित्य सन्देश, भाग १६, अक १-२ (भापाविज्ञान विशेपांक), पृ० ७६-८०।

तेरापथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य महाकवि थे। उन्होंने अपने जीवन मे लगभग साढे तीन लाख श्लोक-प्रमाण गद्य-पद्य लिखे।

उनकी लेखनी मे प्रतिभा का चमत्कार था। वे साहित्य और अध्यात्म के क्षेत्र मे अनिरुद्ध गति से चले। उनकी सफलता का स्वत प्रमाण उनकी अमर कृतिया हैं। उनका तत्त्व-ज्ञान प्रौढ था। श्रद्धा, तर्क और व्युत्पत्ति की त्रिवेणी मे आज भी उनका हृदय बोल रहा है। जिन-वाणी पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। विचार-भेद की दुनिया के लिए वे तार्किक थे। साहित्य, सगीत, कला, सस्कृति—ये उनके व्युत्पत्ति-क्षेत्र थे। उनका सर्वतोमुखी व्यक्तित्व उनके युग-पुरुष होने की साक्षी भर रहा है।

हिन्दी साहित्य

हिन्दी का आदि-स्रोत अपभ्रश है। विक्रम की दसवी शताब्दी से जैन विद्वान् इस ओर झुके। तेरहवी शती मे आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण सिद्ध-हेमशब्दानुशासन मे इसका भी व्याकरण लिखा। उसमे उदाहरण-स्थलो मे अनेक उत्कृष्ट कोटि के दोहे उद्‌धृत किए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनो परम्पराओ के मनीषी इसी भाषा मे पुराण, महापुराण, स्तोत्र आदि लिखते ही चले गए। महाकवि स्वयम्भू ने पद्मचरित लिखा। राहुलजी के अनुसार तुलसी रामायण उससे बहुत प्रभावित रहा है। राहुलजी ने स्वयम्भू को विश्व का महाकवि माना है। चतुर्मुखदेव, कवि रइधु, महाकवि पुष्पदन्त के पुराण अपभ्रश मे हैं। योगीन्द्र का योगसार और परमात्मप्रकाश सत-साहित्य के प्रतीक-ग्रन्थ हैं।

हिन्दी के नए-नए रूपो मे जैन-साहित्य अपना योग देता रहा। पिछली चार-पाच शताब्दियो मे वह योग उल्लासवर्धक नही रहा। इस शताब्दी मे फिर जैन-समाज इस ओर जागरूक है—ऐसा प्रतीत हो रहा है।[1]

---

१ देखें—परिशिष्ट २।

५

जैन संस्कृति

व्रत

जैन सस्कृति व्रात्यो की सस्कृति है। व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। उसका अर्थ है—सयम और सवर। वह आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के प्रति अनासक्ति का सूचक है। व्रत का उपजीवी तत्त्व तप है। उसके उद्‌भव का मूल जीवन का समर्पण है।

जैन परम्परा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप मे मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा के पालन मे बाधा न आए, उतना तप सब साधको के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्ही के लिए है—जिनमे आत्मबल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। निर्ग्रन्थ शब्द अपरिग्रह और जैन शब्द कषाय-विजय का प्रतीक है। इस प्रकार जैन-सस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्म-विजय की धाराओ का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगो मे विभिन्न नामो द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

एक शब्द मे जैन-सस्कृति की आत्मा उत्सर्ग है। बाह्य स्थितियो मे जय-पराजय की अनवरत शृखला चलती है। वहा पराजय का अन्त नही होता। उसका पर्यवसान आत्म-विजय मे होता है। यह निर्द्वन्द्व स्थिति है। जैन-विचार-धारा की बहुमूल्य देन सयम है।

सुख का वियोग मत करो, दु ख का सयोग मत करो—सबके प्रति सयम करो। सुख दो और दु ख मिटाओ की भावना मे आत्म-विजय का भाव नही होता। दु ख मिटाने की वृत्ति और शोषण, उत्पीडन तथा अपहरण, साथ-साथ चलते हैं। इधर शोषण और उधर दु ख मिटाने की वृत्ति—यह उच्च सस्कृति नहीं।

सुख का वियोग और दु ख का सयोग मत करो—यह भावना आत्म-विजय

की प्रतीक है। सुख का वियोग किए विना शोषण नहीं होता, अधिकारो का हरण और द्वन्द्व नही होता।

सुख मत लूटो और दु ख मत दो—इस उदात्त-भावना मे आत्म-विजय का स्वर जो है, वह है ही। उसके अतिरिक्त जगत् की नैसर्गिक स्वतन्त्रता का भी महान् निर्देश है।

प्राणिमात्र अपने अधिकारो मे रमणशील और स्वतन्त्र है, यही उनकी सहज *सुख की स्थिति है।*

सामाजिक सुख-सुविधा के लिए इसकी उपेक्षा की जाती है, किन्तु उस उपेक्षा को शाश्वत-सत्य समझना भूल से परे नही होगा।

दस प्रकार का सयम[1], दस प्रकार का सवर[2] और दस प्रकार का विरमण है, वह सब स्वात्मोन्मुखी वृत्ति है या है निवृत्ति या है निवृत्ति-सवलित प्रवृत्ति।

दस आशसा के प्रयोग ससारोन्मुखी वृत्ति है।[3] जैन-सस्कृति मे प्रमुख वस्तु है 'दृष्टिसम्पन्नता'—सम्यक्-दर्शन। ससारोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर और आत्मोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर अवस्थित रहती है तव कोई दुविधा नही होती। अव्यवस्था तव होती है, जव दोनो का मूल्याकन एक ही दृष्टि से किया जाय। ससारोन्मुखी वृत्ति मे मनुष्य अपने लिए मनुष्येतर जीवो के जीवन का अधिकार स्वीकार नही करते। उनके जीवन का कोई मूल्य नही आकते। दु ख मिटाने और सुखी वनाने की वृत्ति व्यावहारिक है, किन्तु क्षुद्र भावना, स्वार्थ और सकुचित वृत्तियो को प्रश्रय देनेवाली है। आरम्भ और परिग्रह—ये व्यक्ति को धर्म मे दूर किये रहते हैं। वडा व्यक्ति अपने हित के लिए छोटे व्यक्ति की, वडा राष्ट्र अपने हित के लिए छोटे राष्ट्र की निर्मम उपेक्षा करते नही सुकचाता।

वडे से भी कोई वडा होता है और छोटे से भी कोई छोटा। वडे द्वारा अपनी उपेक्षा देख छोटा तिलमिलाता है, किन्तु छोटे के प्रति कठोर वनते वह नही सोचता। यहा गतिरोध होता है।

जैन विचारधारा यहा वताती है—दु खनिवर्तन और सुख-दान की प्रवृत्ति को समाज की विवशात्मक अपेक्षा समझो, उसे ध्रुव सत्य मान मत चलो। सुख मत लूटो, दु ख मत दो—इसे विकसित करो। इसका विकास होगा तो दु ख मिटाओ, सुखी वनाओ की भावना अपने आप पूरी होगी। दु खी न वनाने की भावना वढेगी तो दु ख अपने आप मिट जाएगा। सुख न लूटने की भावना दृढ होगी तो

---

१ ठाण, १०।८

२ वही, १०।१०

३ वही, १०।१२४

सुखी वनाने की आवश्यकता ही क्या होगी ?

सक्षेप मे तत्त्व यह है—दु ख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास मत समझो। सयम जीवन का विकास है और असयम ह्रास। असयमी थोडो को व्यावहारिक लाभ पहुचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नही त्याग सकता।

सयमी थोडो का व्यावहारिक हित न साध सके, फिर भी वह सवके प्रति निश्छल, दयालु और शोषण-मुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च सस्कारी वने, इसके लिए उच्च वृत्तिया चाहिए, जैसे

१ आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास वढे।

२ मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री वढे।

३ लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता वढे।

४ क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य वढे।

५ शौच या पवित्रता, जिससे एकता वढे।

६ सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता वढे।

७ माध्यस्थ्य या आग्रहहीनता, जिसमे सत्य-स्वीकार की शक्ति वढे।

किन्तु इन सवको सयम की अपेक्षा है। 'एक ही साधै सव सधै'—सयम की साधना हो तो सव सध जाते है, नही तो नही। जैन विचारधारा इस तथ्य को पूर्णता का मध्य-विन्दु मानकर चलती है। अहिंसा इसी की उपज है, जो 'जैन-विचारणा' की सर्वोपरि देन मानी जाती है।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-सस्कृति की ये दो ऐसी आलोक-रेखाए हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यो को देखने का अवसर मिलता है।

जव जीवन का धर्म—अहिंसा या कष्ट-सहिष्णुता और साध्य—मुक्ति या स्वातन्त्र्य वन जाता है, तव व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नही रुकती। आज की प्रगति की कल्पना के साथ ये दो धाराए और जुड जाए तो साम्य आयेगा—भोगपरक नही, किन्तु त्यागपरक, वृत्ति वढेगी—दानमय नही, किन्तु अग्रहणमय, नियन्त्रण वढेगा—दूसरो का नही, किन्तु अपना।

अहिंसा का विकास सयम के आधार पर हुआ है। जर्मन विद्वान् अलवर्ट स्वीजर ने इस तथ्य का वडी गम्भीरता से प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार "यदि अहिंसा के उपदेश का आधार सचमुच ही करुणा होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि उसमे मारने, कष्ट न देने की ही सीमाए कैसे वध सकी और दूसरो को सहायता प्रदान करने की प्रेरणा से वह कैसे विलग रह सकी है ? यह दलील कि सन्यास की भावना मार्ग मे वाधक वनती है, सत्य का मिथ्या आभास मात्र होगा। थोडी से थोडी करुणा भी इस सकुचित सीमा के प्रति विद्रोह कर देती। परन्तु ऐसा कभी नही हुआ।'

अत अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर ससार से पवित्र रहने की भावना पर आधृत है। यह मूलत कार्य के आचरण से नही अधिकतर पूर्ण वनने के आचरण से सम्बन्धित है। यदि प्राचीन काल का धार्मिक भारतीय जीवित प्राणियो के साथ के सम्पर्क मे अकार्य के सिद्धान्त का दृढतापूर्वक अनुसरण करता था तो वह अपने लाभ के लिए, न कि दूसरे जीवो के प्रति करुणा के भाव से। उसके लिए हिंसा एक ऐसा कार्य था, जो वर्ज्य था।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश मे सभी जीवो के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका आविर्भाव करुणा से नही हुआ है। भारतीय सन्यास में अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।

'अहिंसा स्वतन्त्र न होकर करुणा की भावना की अनुयायी होनी चाहिए। इस प्रकार उसे वास्तविकता से व्यावहारिक विवेचन के क्षेत्र मे पदार्पण करना चाहिए। नैतिकता के प्रति शुद्ध भक्ति उसके अन्तर्गत वर्तमान मुसीवतो का सामना करने की तत्परता से प्रकट होती है।'

'पर फिर कहना पडता है कि भारतीय विचारधारा हिंसा न करना और किसी को क्षति न पहुचाना, ऐसा ही कहती रही है तभी वह शताव्दी गुजर जाने पर भी उस उच्च नैतिक विचार की अच्छी तरह रक्षा कर सकी, जो इसके साथ सम्मिलित है।'

जैन-धर्म मे सर्वप्रथम भारती सन्यास ने आचारगत विशेपता प्राप्त की। जैन-धर्म मूल से ही नही मारने और कष्ट न देने के उपदेश को महत्त्व देता है जव कि उपनिपदो मे इसे मानो प्रसगवश कह दिया गया है। साधारणत यह कैसे सगत हो सकता है कि यज्ञो मे जिनका नियमित कार्य था पशु-हत्या करना, उन व्राह्मणो मे हत्या न करने का विचार उठा होगा ? व्राह्मणो ने अहिंसा का उपदेश जैनो से ग्रहण किया होगा, इस विचार की ओर सकेत करने के पर्याप्त कारण हैं।'

'हत्या न करने और कष्ट न पहुचाने के उपदेश की स्थापना मानव के आध्यात्मिक इतिहास मे महानतम अवसरो मे से एक है। जगत् और जीवन के प्रति अनासक्ति और कार्य-त्याग के सिद्धान्त से प्रारम्भ होकर प्राचीन भारतीय विचारधारा इस महान् खोज तक पहुच जाती है, जहा आचार की कोई सीमा नही। यह सव उस काल मे हुआ जव दूसरे अचलो मे आचार की उतनी अधिक उन्नति नही हो सकी थी। मेरा जहा तक ज्ञान है जैन धर्म मे ही इसकी प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई।'[1]

सामान्य धारणा यह है कि जैन-सस्कृति निराशावाद या पलायनवाद की प्रतीक

---

1 Indian Thought and its Development, pp 79-84

है। किन्तु यह चिन्तन पूर्ण नही है। जैन-सस्कृति का मूल तत्त्ववाद है। कल्पनावाद मे कोरी आशा होती है। तत्त्ववाद मे आशा और निराशा का यथार्थ अकन होता है। ऋग्वेद के गीतो मे वर्तमान भावना आशावादी है। उसका कारण तत्त्व-चितन की अल्पता है। जहा चिन्तन की गहराई है वहा विषाद की छाया पायी जाती है। उषा को सम्बोधित कर कहा गया है कि वह मनुष्य-जीवन को क्षीण करती है।[1] उल्लास और विषाद विश्व के यथार्थ रूप हैं। समाज या वर्तमान के जीवन की भूमिका मे केवल उल्लास की कल्पना होती है। किन्तु जव अनन्त अतीत और भविष्य के गर्भ मे मनुष्य का चिन्तन गतिशील होता है, समाज के कृत्रिम वन्धन से उन्मुक्त हो जव मनुष्य 'व्यक्ति' स्वरूप की ओर दृष्टि डालता है, कोरी कल्पना से प्रसूत आशा के अन्तरिक्ष से उतर वह पदार्थ की भूमि पर चला जाता है, समाज और वर्तमान की वेदी पर खडे लोग कहते है—यह निराशा है, पलायन है। तत्त्व-दर्शन की भूमिका मे से निहारने वाले लोग कहते हैं कि यह वास्तविक आनन्द की ओर प्रयाण है। पूर्व औपनिषदिक विचारधारा के समर्थको को ब्रह्मद्विप् (वेद से घृणा करने वाले) और देवनिन्द (देवताओ की निन्दा करने वाले) कहा गया। भगवान् पार्श्व उसी परम्परा के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका समय हमे उस काल मे ले जाता है जव ब्राह्मण-ग्रन्थो का निर्माण हो रहा था। जिसे पलायनवाद कहा गया उससे उपनिषद्-साहित्य मुक्त नही रहा।

परिग्रह के लिए सामाजिक प्राणी कामनाए करते है। जैन उपासको का कामना-सूत्र है[2]

१ कव मैं अल्प-मूल्य एव वहु-मूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूगा।

२ कव मैं मुण्ड हो, गृहस्थपन छोड साधुव्रत स्वीकार करूगा।

३ कव मैं अपश्चिम-मारणान्तिक-सलेखना यानी अन्तिम अनशन मे शरीर को झोसकर—जुटाकर और भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह अडोल रखकर मृत्यु की अभिलाषा न करता हुआ विचरूगा।

जैनाचार्य धार्मिक विचार मे वहुत ही उदार रहे हैं। उन्होने अपने अनुयायियो को केवल धार्मिक नेतृत्व दिया। उन्हे परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था मे कभी नही वाधा। समाज-व्यवस्था को समाजशास्त्रियो के लिए सुरक्षित छोड दिया।

---

१ ऋग्वेद, २।१।१।१८।१२४

२ ठाण, ३।४९७

कयाणमह अप्प वा वहुय वा परिग्गह परिचइस्सामि।
कयाणमह मुण्डे भवित्ता आगाराओ अणगारिय पव्वइस्सामि।
कयाणमह अपच्छिममारणातियसलेहणाझूसणाझुसिए, भत्तपाण पडियाइक्खओ पाअओए कालमणवकखमाणे विहरिस्सामि।

धार्मिक विचारों के एकत्व की दृष्टि से जैन-समाज है किन्तु सामाजिक बन्धनों की दृष्टि से जैन-समाज का कोई अस्तित्व नहीं है। जैनों की सख्या करोड़ों से लाखों में हो गई, उसका कारण यह हो सकता है और इस सिद्धान्तवादिता के कारण वह धर्म के विशुद्ध रूप की रक्षा भी कर सका है।

जैन-संस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है। भगवान् ने अहिंसा-धर्म का निरूपण उन सबके लिए किया—जो आत्म-उपासना के लिए तत्पर थे या नहीं थे, जो उपासना-मार्ग चुनना चाहते थे या नहीं चाहते थे, जो शस्त्रीकरण से दूर थे या नहीं थे, जो परिग्रह की उपाधि से बंधे थे या नहीं थे, जो पौद्गलिक संयोग में फंसे हुए थे या नहीं थे।

भगवान् ने सबको धार्मिक जीवन बिताने के लिए प्रेरणा दी और कहा

१ धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप श्रमण श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए।[1]

२ धर्म की आराधना में जाति-पांति का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप सभी जातियों के लोग उनके संघ में प्रव्रजित हुए।[2]

३ धर्म की आराधना में क्षेत्र का भेद नहीं हो सकता। वह गांव में भी की जा सकती है और अरण्य में भी की जा सकती है[3]।

४ धर्म की आराधना में वेश का भेद नहीं हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है।[4]

५ भगवान् ने अपने श्रमणों से कहा—धर्म का उपदेश जैसे सम्पन्न को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही सम्पन्न को दो[5]।

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार-दृष्टि में जैनों के सम्प्रदाय हैं। पर उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन-सम्प्रदायों को नहीं, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना। इनकी

---

१ भगवती, २०।८
तित्थं पुण समणा समणीओ सावया सावियाओ य।

२ देखें—उत्तरज्झयणाणि, अध्ययन ११।

३ आयारो, ८।१४
गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह।

४ उत्तरज्झयणाणि, ५।२२
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं।

५ आयारो, २।१७४
जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेश मे भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेश मे भी मुक्त हो जाता है। सहज ही प्रश्न होता है—जैन-सस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-सग्रह करने मे अधिक सफल क्यो नही हुई ?

इसके उत्तर मे पाच कारण प्रस्तुत होते हैं

१ सूक्ष्म सिद्धान्तवादिता,
२ तपोमार्ग की कठोरता,
३ अहिंसा की सूक्ष्मता,
४ सामाजिक बधन का अभाव,
५ साधु-सघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव।

कला

कला विशुद्ध सामाजिक तत्त्व है। उसका धर्म या दर्शन से कोई सम्बन्ध नही है। पर धर्म जब शासन बनता है, उसका अनुगमन करनेवाला समाज बनता है, तब कला भी उसके सहारे पल्लवित होती है।

जैन-परम्परा मे कला शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल मे पुरुषो के लिए बहत्तर और स्त्रियो के लिए चौंसठ कलाओ का निरूपण किया।[1] टीकाकारो ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है। इसमे लेख, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेशभूषा, स्थापत्य, पाक, मनोरजन आदि अनेक परिज्ञानो का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बडी कला है। जीवन के सारस्य की अनुभूति करनेवाले तपस्वियो ने कहा है—'जो व्यक्ति सब कलाओ मे प्रवर धर्म कला को नही जानता, वह बहत्तर कलाओ मे कुशल होते हुए भी अकुशल है।'[2] जैन-धर्म का आत्म-पक्ष धर्म-कला के उन्नयन मे ही सलग्न रहा। बहिरग-पक्ष सामाजिक होता है। समाज-विस्तार के साथ-साथ ललित कला का भी विस्तार हुआ।

चित्रकला

जैन-चित्रकला का श्रीगणेश तत्त्व-प्रकाशन से होता है। गुरु अपने शिष्यो को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व स्थापना के द्वारा समझाते हैं। स्थापना तदाकार और अतदाकार दोनो प्रकार की होती है। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन हैं—तत्त्व-

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २।
२ बावत्तरि कलाकुसला, पडियपुरिसा अपडिया चेव।
सव्व कलाण पवर, धम्मकल जे न याणति॥

प्रकाशन और स्मृति। श्रुत-प्रकाशन-हेतुक स्थापना के आधार पर चित्रकला और स्मृति-हेतुक स्थापना के आधार पर मूर्तिकला का विकास हुआ। ताडपत्र और पत्रों पर ग्रन्थ लिखे गए और उनमें चित्र किए गए। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में हजारों ऐसी प्रतियां लिखी गई, जो कलात्मक चित्राकृतियों के कारण अमूल्य हैं।

ताडपत्रीय या पत्रीय प्रतियों के पुट्ठों, चातुर्मासिक प्रार्थनाओं, कल्याण-मन्दिर, भक्तामर आदि स्तोत्रों के चित्रों को देखे बिना मध्यकालीन चित्रकला का इतिहास अधूरा ही रहता है।

जोगीमारा गिरिगुहा (रामगढ़ की पहाड़ी, सरगुजा) और सित्तन्नवासल (पदुकोट्टै राज्य) के भित्तिचित्र अत्यन्त प्राचीन और सुन्दर हैं।

चित्रकला की विशेष जानकारी के लिए जैन चित्रकल्पद्रुम देखना चाहिए।

लिपि-कला

अक्षर-विन्यास भी एक सुकुमार कला है। जैन साधुओं ने इसे बहुत ही विकसित किया। वे सौन्दर्य और सूक्ष्मता—दोनों दृष्टियों से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है। लेखन-कला में यतियों का कौशल विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

तेरापथ के साधुओं ने भी इस कला में चमत्कार प्रदर्शित किया है। सूक्ष्म लिपि में ये अग्रणी हैं। कई मुनियों ने ग्यारह इंच लम्बे और पांच इंच चौड़े पन्ने में लगभग अस्सी हजार अक्षर लिखे हैं। ऐसे पत्र आज तक अपूर्व माने जाते रहे हैं।

मूर्तिकला और स्थापत्य-कला

कालक्रम से जैन-परम्परा मे प्रतिमा-पूजन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सिद्धान्त की दृष्टि से इसमे दो धाराए हैं। कुछ जैन सम्प्रदाय मूर्ति-पूजा करते हैं और कुछ नही करते। किन्तु कला की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण विषय है।

वर्तमान मे सबसे प्राचीन जैन-मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान मे प्राप्त हुई है। यह मूर्ति मौर्यकाल की मानी जाती है और पटना म्यूजियम मे रखी हुई है। इसकी चमकदार पालिस अभी तक भी ज्यों की त्यों बनी है। लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूजियमो मे भी अनेक जैन-मूर्तिया मौजूद हैं। इनमे से कुछ गुप्त-कालीन हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा मे चौवीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय मे तैयार की गई थी। वास्तव मे मथुरा मे जैन-मूर्तिकला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है। श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा की शुगकालीन कला मुख्यत जैन-सम्प्रदाय

की है ।[1]

खण्डगिरि और उदयगिरि मे ई० पू० १८८—३० तक की शुगकालीन मूर्ति-शिल्प के अद्‌भुत चातुर्य के दर्शन होते हैं। वहा पर इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाए हैं, जिनमे मूर्ति-शिल्प भी है । दक्षिण भारत के अलगामले नामक स्थान मे खुदाई मे जैन-मूर्तिया उपलब्ध हुई है, उनका समय ई० पू० ३०० —२०० के लगभग बताया जाता है। उन मूर्तियो की सौम्याकृति द्राविडकला मे अनुपम मानी जाती है । श्रवणवेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो ससार की अद्‌भुत वस्तुओ मे से है । वह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्‌भुत शान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है । यह विश्व की जैन-मूर्तिकला की अनुपम देन है ।

मौर्य और शुग-काल के पश्चात् भारतीय मूर्तिकला की मुख्य तीन धाराए हैं

१ गाधार-कला—जो उत्तर-पश्चिम मे पनपी ।

२ मथुरा-कला—जो मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रो मे विकसित हुई ।

३ अमरावती की कला—जो कृष्णा नदी के तट पर पल्लवित हुई ।

जैन मूर्तिकला का विकास मथुरा-कला से हुआ ।

जैन स्थापत्य-कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एव जूनागढ की गुफाओ मे मिलते हैं ।

उत्तरवर्ती स्थापत्य की दृष्टि से चित्तौड का कीर्ति-स्तम्भ' आवू के मन्दिर एव रणकपुर के जैन मन्दिरो के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे हैं ।

जैन-पर्व

पर्व अतीत की घटनाओ के प्रतीक होते हैं । जैनो के मुख्य पर्व चार हैं

१ अक्षय तृतीया

२ पर्युषण और दसलक्षण

३ महावीर जयन्ती

४ दीपावली ।

अक्षय तृतीया का सम्वन्ध आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ से है । उन्होंने वैशाख सुदी तृतीया के दिन वारह महीनो की तपस्या का इक्षु-रस से पारणा किया । इसलिए वह इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया कहलाता है ।

पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है । भाद्र वदी १२ या १३ से भाद्र सुदी ४ या ५ तक यह पर्व मनाया जाता है। इसमे तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान आदि आत्म-

---

१ भारतीय मूर्तिकला, पृ० ५६ । '

शोधक प्रवृत्तियो की आराधना की जाती है। इसका अन्तिम दिन सम्वत्सरी कहलाता है। वर्ष भर की भूलो के लिए क्षमा लेना और क्षमा देना इसकी स्वयभूत विशेषता है। यह पर्व मैत्री और उज्ज्वलता का सदेशवाहक है।

दिगम्बर-परम्परा मे भाद्र शुक्ला पचमी से चतुर्दशी तक दसलक्षण पर्व मनाया जाता है। इसमे प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मों मे एक-एक धर्म की आराधना की जाती है, इसलिए इसे दसलक्षण पर्व कहा जाता है।

महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला १३ को भगवान् महावीर के जन्म-दिवस के उपलक्ष मे मनाई जाती है।

दीपावली का सम्वन्ध भगवान् महवीर के निर्वाण से है। कार्तिकी अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ था। उस समय देवो और राजाओ ने प्रकाश किया था। उसी का अनुसरण दीप जलाकर किया जाता है।

दीपावली की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्ण के जो प्रसग हैं वे केवल जनश्रुति पर आधारित हैं, किन्तु इस त्योहार का जो सम्वन्ध जैनियो से है, वह इतिहास-सम्मत है। प्राचीनतम जैन ग्रन्थो मे यह वात स्पष्ट शब्दो मे कही गई है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि तथा अमावस्या के दिन प्रभात के बीच सन्धि-वेला मे भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा इस अवसर पर देवो तथा इन्द्रो ने दीपमालिका सजाई थी।

आचार्य जनसेन ने हरिवशपुराण मे स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि दीपावली का महोत्सव भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति मे मनाया जाता है। दीपावली की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे यही प्राचीनतम प्रमाण है।

जैन धर्म का प्रभाव-क्षेत्र

भगवान् महावीर के युग मे जैन-धर्म भारत के विभिन्न भागो मे फैला। सम्राट् अशोक के पुत्र सम्प्रति ने जैन-धर्म का सन्देश भारत से वाहर भी पहुचाया। उस समय जैन-मुनियों का विहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। श्री विश्वम्भरनाथ पाडे ने अहिंसक-परम्परा की चर्चा करते हुए लिखा है—"ई० सन् की पहली शताब्दी मे और उसके वाद के हजार वर्षों तक जैन-धर्म मध्यपूर्व के देशो मे किसी न किसी रूप मे यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को प्रभावित करता रहा है।" प्रसिद्ध जर्मन इतिहास-लेखक वान क्रेमर के अनुसार मध्यपूर्व मे प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रश है। इतिहास-लेखक जी० एफ० मूर लिखता है कि "हजरत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, श्याम और फिलस्तीन मे जैन-मुनि और वौद्ध-भिक्षु सैकडों की सख्या मे फैले हुए थे।" 'सियाहत नाम ए नासिर' का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तवके पर जैन-धर्म का काफी प्रभाव पडा था। कलन्दर चार नियमो का पालन करते थे—साधुता,

शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।[1]

जैन-धर्म का प्रसार अहिंसा, शान्ति, मैत्री और सयम का प्रसार था। इसलिए उस युग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहा जाता है। पुरातत्त्व-विद्वान् पी० सी० राय चौधरी के अनुसार—"यह धर्म धीरे-धीरे फैला, जिस प्रकार ईसाई-धर्म का प्रचार यूरोप मे धीरे-धीरे हुआ। श्रेणिक, कुणिक, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, खारवेल तथा अन्य राजाओ ने जैन-धर्म को अपनाया। वे शताब्द भारत के हिन्दू-शासन के वैभवपूर्ण युग थे, जिन युगो मे जैन-धर्म-सा महान् धर्म प्रचारित हुआ।"

कभी-कभी एक विचार प्रस्फुटित होता है—जैन-धर्म के अहिंसा सिद्धान्त ने भारत को कायर बना दिया पर यह सत्य से बहुत दूर है। अहिंसक कभी कायर नही होता। यह कायरता और उसके परिणामस्वरूप परतन्त्रता हिंसा के उत्कर्ष से, आपसी वैमनस्य से आयी और तब आयी जब जैन-धर्म के प्रभाव से भारतीय मानस दूर हो रहा था।

भगवान् महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए उनमे दो बाते सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण थी

१ अनाक्रमण—सकल्पी हिंसा का त्याग।

२ इच्छा-परिमाण—परिग्रह का सीमाकरण।

यह लोकतन्त्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी सस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आदित्यनाथ झा ने इस तथ्य को इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया है—"भारतीय जीवन मे प्रज्ञा और चारित्र्य का समन्वय जैन और बौद्धो की विशेष देन है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य-मार्ग परम्परा का अन्धानुसरण नही है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियो से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से सन्तुलित दृष्टिकोण ही सत्य-मार्ग है। इस दृष्टिकोण की प्राप्ति तभी सम्भव है जब मिथ्या विश्वास पूर्णत दूर हो जाय। इस बौद्धिक आधार-शिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक् चारित्र्य को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

जैन-धर्म का आचारशास्त्र भी जनतन्त्रवादी भावनाओ से अनुप्राणित है। जन्मत सभी व्यक्ति समान हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि हो सकता है।

अपरिग्रह सम्बन्धी जैन धारणा भी विशेषत उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन काल के जैन विचारको ने किया था। 'परिमित परिग्रह'—उनका आदर्श वाक्य था। जैन विचारको के अनुसार परिमित-परिग्रह का सिद्धान्त प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य

---

१ विश्ववाणी, इलाहबाद

रूप से आचरणीय था। सम्भवत भारतीय आकाश मे समाजवादी समाज के विचारो का यह प्रथम उद्घोष था।"

प्रत्येक आत्मा मे अनन्त शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक समानता, क्षमा, मैत्री, विचारो का अनाग्रह आदि के बीज जैन-धर्म ने बोये थे। महात्मा गाधी का निमित्त पा, वे केवल भारत के ही नही, विश्व की राजनीति के क्षेत्र मे पल्लवित हो रहे है।

भगवान् महावीर की जन्मभूमि, तपोभूमि और विहारभूमि विहार था। इस लिए महावीरकालीन जैन-धर्म पहले विहार मे पल्लवित हुआ। कालक्रम से वह वगाल, उडीसा, उत्तर भारत, दक्षिण भारत, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रान्त और राजपूताना मे फैला। विक्रम की सहस्राब्दी के पश्चात् शैव, लिंगायत, वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदायो के प्रवल विरोध के कारण जैन-धर्म का प्रभाव सीमित हो गया। अनुयायियो की अल्प सख्या होने पर भी जैन-धर्म का सैद्धान्तिक प्रभाव भारतीय चेतना पर व्याप्त रहा। वीच-वीच मे प्रभावशाली जैनाचार्य उसे उद्‌बुद्ध करते रहे। विक्रम की वारहवी शताब्दी मे गुजरात का वातावरण जैन-धर्म से प्रभावित था।

गूर्जर-नरेश जयसिह और कुमारपाल ने जैन-धर्म को वहुत ही प्रश्रय दिया और कुमारपाल का जीवन जैन-आचार का प्रतीक वन गया था। सम्राट् अकवर भी हीरविजयसूरि से प्रभावित थे। अमेरिकी दार्शनिक विल ड्यूरेन्ट ने लिखा है—"अकवर ने जैनो के कहने पर शिकार छोड दिया था और कुछ नियत तिथियो पर पशु-हत्याए रोक दी थी। जैन-धर्म के प्रभाव से ही अकवर ने अपने द्वारा प्रचारित दीन-इलाही नामक सम्प्रदाय मे मास-भक्षण के निषेध का नियम रखा था।"[१]

जैन मन्त्री, दण्डनायक और अधिकारियो के जीवन-वृत्त वहुत ही विस्तृत हैं। वे विधर्मी राजाओ के लिए भी विश्वासपात्र रहे हैं। उनकी प्रामाणिकता और कर्तव्यनिष्ठा की व्यापक प्रतिष्ठा थी। जैनत्व का अकन पदार्थो से नही, किन्तु चारित्रिक मूल्यो से ही हो सकता है।

जैन धर्म विकास और ह्रास

विश्व की प्रत्येक प्रवृत्ति को उतार-चढाव का सामना करना पडा है। कोई भी प्रवृत्ति केवल उन्नति और अवनति के विन्दु पर अवस्थित नही रहती।

जैन धर्म के विकास के मुख्य हेतु ये हैं

१ मध्य मार्ग—जैन आचार्यों ने गृहस्थ के लिए अणुव्रतो का विधान कर उनकी सामाजिक अपेक्षाओ का द्वार वन्द नही किया।

---

१ Our Oriental Heritage, pp 467-71

२ समन्वय—जैन धर्म मे भिन्न-भिन्न विचारो का सापेक्ष दृष्टि से समन्वय होने के कारण वह विभिन्न विचारधारा के लोगो को अपनी ओर आकृष्ट कर सका।

३ समाहार—जैन धर्म मे जातिवाद की तात्त्विकता मान्य नही थी, इसलिए सभी जाति के लोग उसे अपनाते रहे।

४ परिवर्तन की क्षमता—जैन आचार्यों ने सामाजिक परम्परा को शाश्वत का रूप नही दिया। इसलिए जैन समाज मे देश और काल के अनुसार परिवर्तन का अवकाश रहा। यह जनता के आकर्षण का सबल हेतु रहा।

५ सैद्धान्तिक सहिष्णुता—दूसरे धर्मों के सिद्धान्तो को सहने की क्षमता के कारण जैन धर्म दूसरो की सहानुभूति अर्जित करता रहा।

६ जन भाषा का प्रयोग।

७ अहिंसा का व्यवहार मे प्रयोग।

८ प्रामाणिकता—जैन गृहस्थ अहिंसा-पालन के साथ-साथ कर्तव्य के प्रति वहुत जागरूक थे। वे देश के विकास और रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देते थे।

दक्षिण के जैन समाज ने जीविका (अन्नदान), शिक्षा (ज्ञानदान), चिकित्सा (औषधदान) और अहिंसा (अभयदान) के माध्यम से जैन-धर्म को जन-धर्म का रूप दे दिया था।

९ सशक्त और कुशल आचार्यों का नेतृत्व।

विक्रम की नवी-दसवी शताब्दी मे इन स्थितियो मे परिवर्तन आने लगा। फलत जैन धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया।

ह्रास के मुख्य हेतु—

१ आन्तरिक पवित्रता और शक्ति की कमी, वाह्य कर्मकाडो की प्रचुरता।

२ व्यक्तिवादी मनोवृत्ति—दूसरो की हानि से मुझे क्या ? मैं दूसरो के लिए क्यो कर्म वाधू ? इस प्रकार के एकान्तिक निवृत्तिवादी चिन्तन ने परस्परता के वन्धन मे शिथिलता ला दी।

दक्षिण भारत मे जैन-धर्म के ह्रास के मुख्य तीन कारण हैं

१ जैन जागृति करने वाले प्रभावशाली आचार्यों के कार्य-काल मे वहुत वडा व्यवधान।

२ ऐसे नेतृत्व का अभाव जो राजनीति और धर्मनीति को साथ-साथ लेकर चल सके।

३ अन्य धर्मों के वढते हुए प्रभाव की उपेक्षा और अपने आपको एकान्तत आध्यात्मिक वनाए रखने की प्रवृत्ति।

समासत ये तीन कारण हैं। दक्षिण के मुख्य दो प्रान्तो मे ह्रास के अन्यान्य कारण भी रहे हैं।

१ तमिल प्रान्त मे ह्रास के कारण

१ शैव नायनार और वैष्णव अल्वारो का उदय।

२ उनके द्वारा जातिवाद का वहिष्कार कर अपने धर्म-सघ मे नीची जाति वालो का प्रवेश।

३ राजधर्म को प्रभावित कर राजाओ को अपने मत के प्रति आकृष्ट करना।

४ जैन स्तुतियो का अनुकरण कर शैव स्तुतियो का निर्माण करना।

२ कर्नाटक मे ह्रास के कारण

१ राष्ट्रकूट और गगवशीय राजाओ का अन्त।

२ वीर शैवमत के उदय-काल मे जैन आचार्यों की उपेक्षा और उसके प्रभाव को रोक पाने की अक्षमता।

३ वसवेश्वर द्वारा प्ररूपित 'लिंगायत' धर्म के वढते चरण को रोक न पाना।

४ अनेक राजाओ का शैव-मत मे दीक्षित हो जाना।

विकास और ह्रास कालचक्र के अनिवार्य नियम हैं। इस विपय मे कोई भी वस्तु केवल विकास या ह्रास की रेखा पर अवस्थित नही रहती। आरोह के वाद अवरोह और अवरोह के वाद आरोह चलता रहता है। जैन धर्म के अनुयायी-समाज की सख्या मे ह्रास हुआ है। किन्तु भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सत्यो का ह्रास नही हुआ है। उनके सापेक्षता, सहअस्तित्व, अहिंसा, मानवीय एकता, नि शस्त्रीकरण, स्वतन्त्रता और अपरिग्रह के सिद्धान्त विश्वमानस मे निरन्तर विकसित होने जा रहे हैं।

६

चिन्तन के विकास में जैन आचार्यों का योग

श्रद्धावाद-हेतुवाद

चिंतन की तुलना सरिता के उस प्रवाह से की जा सकती है जिसका उद्गम छोटा होता है और गतिशील होने के साथ-साथ वह विशालकाय होता चला जाता है। भारतीय मानस श्रद्धा-प्रधान रहा है। उसमे तर्क-वीज की अपेक्षा श्रद्धा-वीज अधिक अकुरित हुए हैं। इसीलिए यहा मौलिक चितक अपेक्षाकृत कम हुए हैं। धर्म के क्षेत्र मे कुछ महान् साधक, अवतार या तीर्थंकर हुए हैं। वे हिमालय की भाति अत्यन्त महान् थे। उनकी महानता तक मौलिक चितक भी नही पहुच पाते थे। फलत उनके प्रति चितको का श्रद्धानत होना स्वाभाविक था। साधारण जन तो श्रद्धानत था ही किन्तु साधारण जन की श्रद्धा और चितक की श्रद्धा मे एक अन्तर था। साधारण जन अपने श्रद्धेय की हर वाणी को श्रद्धा से स्वीकार करता था। चितक अपने श्रद्धेय की महान् आध्यात्मिक उपलब्धि के प्रति श्रद्धानत होने पर भी उनके प्रत्येक वचन को श्रद्धा से स्वीकार करने का आग्रह नही करता था। आचार्य सिद्धसेन जैन परम्परा मे मौलिक चितक हुए हैं। उनकी ज्ञान-गरिमा अगाध थी। वे भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त श्रद्धाप्रणत थे, किन्तु साथ-साथ अपने स्वतन्त्र चिंतन का भी उपयोग करते थे। उन्होने अनेक तथ्यो पर अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। उस समय के श्रद्धावादी आचार्यों और मुनियो ने उनके सामने तर्क उपस्थित किया—'जो तथ्य आगम-ग्रन्थो मे प्रतिपादित हैं, उनके प्रतिकूल किसी भी सिद्धान्त की स्थापना कैसे की जा सकती है ?' आचार्य सिद्धसेन ने इस तर्क का सीधा खण्डन भी नही किया और उनके मत का समर्थन भी नही किया। उन्होने स्याद्वाद की शैली से एक नया चिंतन प्रस्तुत किया। उन्होने वताया कि महावीर ने दो प्रकार के तत्त्वो का प्रतिपादन किया है—

१ हेतुगम्य
२ अहेतुगम्य

अहेतुगम्य तत्त्व चिंतन और तर्क की सीमा से परे होते हैं। उन्हें समझने के लिए तर्क का उपयोग नहीं हो सकता। ये श्रद्धा के विषय हैं। हम अतीन्द्रिय-तत्त्व और अतीन्द्रिय-ज्ञान को स्वीकार करते है। तर्क इन्द्रिय ज्ञान की परिधि मे होता है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते ! जैसे हम श्वास लेते हैं, वैसे ही क्या पृथ्वीकाय के जीव भी श्वास लेते है ? भगवान् ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया। इन्द्रिय के द्वारा यह गम्य नही है, इसलिए यह तर्क का विषय भी नही है। किन्तु महावीर ने क्या ऐसे तत्त्वो का प्रतिपादन नहीं किया जो इन्द्रियगम्य है और जिनकी व्याख्या तर्क के द्वारा की जा सकती है ? आचार्य सिद्धसेन ने यह चिंतन प्रस्तुत किया कि जो व्यक्ति अहेतुगम्य तत्त्वो का आगम-प्रामाण्य के द्वारा और हेतुगम्य तत्त्वो का तर्क-प्रामाण्य के द्वारा प्रतिपादन करता है, वह आगम के हृदय को यथार्थ समझता है और उनका यथार्थ प्रतिपादन करता है। जो व्यक्ति हेतुगम्य और अहेतुगम्य दोनो तत्त्वों को केवल आगम-प्रामाण्य से समझने का प्रयत्न और प्रतिपादन करता है, उसने आगम के यथार्थ को नही समझा और उनके प्रतिपादन की यथार्थ पद्धति भी उसे प्राप्त नही है।[1]

इस विचार का बीज-वपन निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने किया था। उनका युग तर्कशास्त्र के विकास का प्रारम्भिक युग था। इसलिए उन्होंने आगम और दृष्टान्त—इन दो शब्दो का प्रयोग किया था—आगमगम्य तत्त्व आगम के द्वारा और दृष्टान्तगम्य तत्त्व दृष्टान्त के द्वारा जानने चाहिए।[2] आचार्य सिद्धसेन तर्कशास्त्र के विकास-कर्ताओ मे अग्रणी थे। इसलिए उन्होंने दृष्टान्त के स्थान पर हेतुवाद का प्रयोग किया।

आगम युग मे तर्क के लिए कोई अवकाश नही था। सत्य का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति जो बात कहे उसके प्रति तर्क कैसे हो सकता था ? जब सत्य के साक्षात् द्रष्टा नही रहे तब तर्क का विकास होने लगा। तार्किक विद्वान् प्रत्येक तत्त्व को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। उसी स्थिति मे यह विचार प्रस्फुटित हुआ कि सब कुछ तर्क का विषय नहीं है। महर्षि मनु ने इसी संदर्भ मे लिखा था—पुराण, मानव धर्म, अंगयुक्तवेद और आयुर्वेद—ये आज्ञासिद्ध हैं। ये हेतु के द्वारा

—

१ सन्मति ४५

जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ, आगमे य आगमिओ।
स ससमयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥

२ आवश्यकनिर्युक्ति ६।७

आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो।
दिट्ठंतिय दिट्ठंता, कहणविहि विराहणा इयरा।

परीक्षणीय नही हैं।[1] शास्त्र की अपरीक्षणीयता का बौद्ध आचार्यों ने सशक्त प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा—आपके शास्त्रो मे कुछ चिंतनीय है, इसीलिए आप उन पर विचार करने से कतराते हैं। यदि सोना निर्दोष है तो फिर उसकी परीक्षा से डर क्यों ? उन्होने बुद्ध के मुख से कहलाया—जैसे समझदार मनुष्य कसौटी, छेद और ताप के द्वारा परीक्षा कर स्वर्ण को लेता है, भिक्षुओ ! तुम वैसे ही कसौटी, छेद और ताप के द्वारा परीक्षा कर मेरे वचन को स्वीकार करो। मैं कहता हू, इसलिए उसे स्वीकार मत करो—

१ अस्ति वक्तव्यता काचित्, तेनेद न विचार्यते ।
निर्दोष काचन चेत् स्यात्, परीक्षाया विभेति किम् ?

२ निकपच्छेदतापेभ्य , सुवर्णमिव पण्डितै ।
परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्य, मद्वचो न तु गौरवात् ।

जैन आचार्यों ने इन दोनो अतिवादो से बचकर अपना चिंतन स्थिर किया। उन्होंने सूक्ष्म तत्त्व को आज्ञासिद्ध और स्थूल तत्त्व को परीक्षासिद्ध बतलाया।

आचार्य सिद्धसेन ने स्वतत्र चिंतन और हेतुवाद का जो मूल्याकन किया, वह सबको मान्य नही हुआ। फलत जैन परम्परा मे दो धाराए निर्मित हो गईं—

१ सिद्धान्तवादी
२ तर्कवादी

सिद्धान्तवादी आगमिक प्रतिपादन को शब्दश और अक्षरश स्वीकार करते थे। तर्कवादी आगम के हेतुगम्य तत्त्वो की तार्किक समीक्षा भी करते थे और उनके साथ नया चिंतन भी जोडते थे। सिद्धान्तवादियो ने अपनी सारी शक्ति आगमिक वचनो के समर्थन मे लगाई, जबकि तार्किक विद्वानो की शक्ति अपने समसामयिक दार्शनिको के तर्कों को समझने और उनकी जैन-पद्धति से मीमासा करने मे लगी। उन्होंने दूसरे दर्शनो से कुछ लिया और उन्हे कुछ देने का प्रयत्न भी किया। यह समाहार की वृत्ति सत्य को अनेकान्तदृष्टि से देखने पर ही प्राप्त हो सकती थी। आचार्य सिद्धसेन ने सत्य को व्यापक दृष्टि से देखा तभी उन्हे यह दिखाई दिया कि विश्व के किसी भी दर्शन मे जो सुप्रतिपादित है, वह महावीर के वचन का ही विन्दु है।[2] वे महावीर को एक व्यक्ति के रूप मे नही देखते हैं। उनके लिए महावीर

---

१ मनुस्मृति
पुराण मानवो धर्म , सांगो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभि ॥

२ द्वात्रिंशिका १।३०
सुनिश्चित न परतत्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति या काश्चन सूक्तसपद ।
तवैव ता पूर्वमहार्णवोत्थिता, जगत्प्रमाण जिनवाक्यविप्रुप ॥

एक आत्मा है। आत्मा ही परम सत्य है। जहा कही भी सत्य के कण दिखाई देते है, वे सब आत्मा की ज्योति के ही स्फुलिंग है। आचार्य हेमचन्द्र ने आचार्य सिद्धसेन के अभिमत को सहज भाषा मे प्रस्तुत किया है—जिस किसी समय मे, जिस किसी रूप मे और जिस किसी नाम से जिस किसी रूप मे आप प्रकट हो, यदि आप वीतराग है तो आप मेरे लिए एक ही है। मैं वीतराग के प्रति प्रणत हू, देश-काल तथा नाम और रूप के प्रति प्रणत नही हू।[1]

यथार्थवाद

जैन धर्म यथार्थवादी है। यथार्थवाद मे सत्य का स्वीकार श्रद्धा से नहीं होता। न व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और न सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा। दोनो की परीक्षा की जाती है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस वास्तविकता को बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे उजागर किया है। उन्होने लिखा है—'भगवन्! श्रद्धा से आपके प्रति हमारा पक्षपात नही है। अन्य दार्शनिकों के प्रति द्वेष के कारण हमारी अरुचि नही है। हमने आप्तत्व की परीक्षा की है। उस परीक्षा मे आप खरे उतरते हैं। इसीलिए हमने आपका अनुगमन किया है।'[2]

आचार्य हरिभद्र ने इस सत्य को निरपेक्ष शब्दो मे अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं—'महावीर के प्रति मेरा कोई पक्षपात नही है और कपिल आदि दार्शनिकों के प्रति मेरा कोई द्वेष नही है। मैं इस विचार का व्यक्ति हू कि जिसका विचार युक्तियुक्त हो, उसका अनुगमन करना चाहिए।'[3]

इस स्पष्ट विचार का आधार यथार्थवाद है। पौराणिक काल मे अपने इष्टदेव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने की होड-सी लग गई थी। फलत जितने भी महापुरुष हुए उनका मानवीय रूप दैवी चमत्कारो से आवृत हो गया। यह स्थिति यथार्थवाद के अनुकूल नही थी। आचार्य समन्तभद्र ने इस पर तीव्र प्रहार किया। उन्होंने इन चमत्कारो को महानता का मानदण्ड मानने से अपनी असहमति प्रकट की। उन्होंने महावीर को चमत्कारो के आवरण से निकालकर यथार्थवाद के आलोक

---

१ अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका ३१
यत्र तत्र समये यथा तथा, योसि सोस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुष स चेद् भवान्, एक एव भगवान्! नमोस्तु ते॥

२ अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका २९
न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचि परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिता स्म॥

३ लोकतत्व-निर्णय
पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह॥

में देखने का प्रयत्न किया। उनका प्रसिद्ध श्लोक है—

देवागमनभोयान-चामरादिविभूतय ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥[1]

'भगवन् ! देवताओ का आना, आकाश-विहार, छत्र-चामर आदि विभूतिया ऐन्द्रजालिक व्यक्तियो के भी हो सकती है। आपके पास देवता आते थे। आप छत्र, चामर आदि अनेक यौगिक विभूतियो से सम्पन्न थे। इसलिए महान् नही। आप इसलिए महान हैं कि आपने सत्य को अनावृत किया था।'

आचार्य हेमचन्द्र ने भी चिन्तन की इसी धारा को विकसित किया। उन्होने कहा—'आपके चरण कमल मे इन्द्र लुठते थे, इस बात का दूसरे दार्शनिक खण्डन कर सकते है या अपने इष्टदेव को भी इन्द्रपूजित कह सकते हैं, किन्तु आपने जो यथार्थवाद का निरूपण किया, उसका वे निराकरण कैसे करेंगे ?'[2]

प्राचीनता और नवीनता

पुरानी और नई पीढी का सघर्प वहुत पुराना है। पुराने व्यक्ति और पुरानी कृति को मान्यता प्राप्त होती है। नए व्यक्ति और नई कृति को मान्यता प्राप्त करनी होती है। मनुष्य स्वभाव से इतना उदार नही है कि वह सहज ही किसी को मान्यता दे दे। नई पीढी मे मान्यता प्राप्त करने की छटपटाहट होती है और पुरानी पीढी का अपना अह होता है, अपना मानदण्ड होता है, इसलिए वह नई पीढी को नए मानदण्डो के आधार पर मान्यता देने मे सकुचाती है। यह सघर्ष साहित्य, आयुर्वेद और धर्म—सभी क्षेत्रो मे रहा है। 'पुराना होने मात्र से सव कुछ अच्छा नही होता —महाकवि कालिदास का यह स्वर दो पीढियो के सघर्प से उत्पन्न स्वर है। उनके काव्य और नाटक के प्रति पुराने विद्वानो ने उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया तव उन्हे यह कहने के लिए वाध्य होना पडा—'पुराना होने मात्र से कोई काव्य प्रकृष्ट नही होता, और नया होने मात्र से कोई काव्य निकृष्ट नही होता। साधुचेता पुरुष परीक्षा के बाद ही किसी काव्य को प्रकृष्ट या निकृष्ट वतलाते हैं और जो मूढ होता है, वह विना सोचे-समझे पुराणता का गीत गाता रहता है।'[3]

---

१ आप्तमीमासा १

२ अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका १२

क्षिप्येत वान्यै सदृशीक्रियेत वा, तवाङ्घ्रिपीठे लुठन सुरेशितु ।
इद यथावस्थित वस्तुदेशन, परै कथकारमपाकरिष्यते ॥

३ अग्निमालविका

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि ।

आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय का निर्माण किया। आयुर्वेद के धुरंधर आचार्यों ने उसे मान्य नही किया। वाग्भट्ट को भी पुरानी पीढी के तिरस्कार का पात्र बनना पडा। उसी मन स्थिति मे उन्होने यह लिखा—'वायु की शान्ति के लिए तेल, पित्त की शान्ति के लिए घी और श्लेष्म की शान्ति के लिए मधु पथ्य है। यह बात चाहे ब्रह्मा कहे, या ब्रह्मा का पुत्र, इसमे वक्ता का क्या अन्तर आएगा? वक्ता के कारण द्रव्य की शक्ति मे कोई अन्तर नही आता, इसलिए आप मात्सर्य को छोड मध्यस्थ दृष्टि का अवलबन लें।'[1]

प्राचीनता और नवीनता के प्रश्न पर महाकवि कालिदास और वाग्भट्ट का चिन्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इस विषय मे आचार्य सिद्धसेन की लेखनी ने जो चमत्कार दिखाया है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य मे दुर्लभ है। उनका चिन्तन है कि कोई व्यक्ति नया नही है और कोई पुराना नही है। जिसे हम पुराना मानते हैं, एक दिन वह भी नया था और जिसे हम नया मानते हैं, वह भी एक दिन पुराना हो जाएगा। आज जो जीवित है, वह मरने के बाद नई पीढी के लिए पुरानो की सूची मे आ जाता है। पुराणता अवस्थित नही है, इसलिए पुरातन व्यक्ति की कही हुई बात पर भी बिना परीक्षा किए कौन विश्वास करेगा?'[2]

आचार्य सिद्धसेन ने भगवान् महावीर की अभय की भावना को आत्मसात् कर लिया था। वे सत्य के प्रकाशन मे सकुचाते नही थे। मुक्त-समीक्षा और प्राचीनता की युक्तिसगत आलोचना के कारण उनका विरोध बढ रहा था। वे इस स्थिति से परिचित थे, किन्तु स्वतन्त्रचेता व्यक्ति इस प्रकार की स्थिति से घबराता नही। उनका अभय स्वर इस भाषा मे प्रस्फुटित हुआ—

'पुराने पुरुषो ने जो व्यवस्था निश्चित की है, क्या वह चिन्तन करने पर उसी रूप मे सिद्ध होगी? नही भी हो सकती है। उस स्थिति मे मृत पुरखो की जमी हुई प्रतिष्ठा के कारण उस असिद्ध व्यवस्था का समर्थन करने के लिए मेरा जन्म नही हुआ है। इस व्यवहार से यदि मेरे विद्वेषी बढते हैं तो भले ही बढें।'[3]

---

१ अष्टागहृदय, उत्तरस्थान, अध्याय ४०, श्लोक ८६-८७
वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्य, तैल सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण।
एतद् ब्रह्मा भापतां ब्रह्मजो वा का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्तिशक्ति।
अभिधातृवशात् किं वा, द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते।
अतो मत्सरमुत्सृज्य, माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम्।

२ द्वात्रिंशिका ६।५
जनोयमन्यस्य मृत पुरातन, पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु क, पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्।

३ द्वात्रिंशिका ६।२
पुरातनैर्या नियता व्यवस्थिति स्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तु मृतरूढगौरवा'दहन्न जात प्रथयन्तु विद्विष।

'व्यवस्थाएं या मर्यादाए अनेक प्रकार की हैं और वे परस्पर-विरोधी भी हैं। उनका शीघ्र ही निर्णय कैसे किया जा सकता है ? फिर भी यह मर्यादा है, यह नही है, इस प्रकार का एकपक्षीय निर्णय करना पुरातन के प्रेम से जड बने हुए व्यक्ति के लिए ही उचित हो सकता है, किसी परीक्षक के लिए नही।'[1]

'पुरातन-प्रेम के कारण आलसी बना हुआ व्यक्ति जैसे-जैसे यथार्थ का निश्चय नही कर पाता, वैसे-वैसे वह निश्चय किए हुए व्यक्ति की भाति प्रसन्न होता है। वह कहता है हमारे पूर्वज ज्ञानी थे। उन्होने जो कुछ कहा, वह मिथ्या कैसे हो सकता है। मैं मदमति हू। उसका आशय नही समझ सकता, यह मेरी अल्पता है। किन्तु गुरुजनो की कही हुई बात अन्यथा नही हो सकती। ऐसा निश्चय करनेवाला व्यक्ति आत्म-नाश की ओर दौडता है।'[2]

'शास्त्रकार हमारे जैसे ही मनुष्य थे। उन्होने मनुष्यो के लिए ही मनुष्यो के व्यवहार और आचार निश्चित किए हैं। जो लोग परीक्षा करने में आलसी हैं, वे ही यह कह सकते हैं कि उनकी थाह नही पायी जा सकती, उनका पार नही पाया जा सकता। किन्तु परीक्षक व्यक्ति उन्हे अगाध मानकर कैसे स्वीकार करेगा ? वह परीक्षापूर्वक ही उन्हे स्वीकार कर सकता है।'[3]

'एक शास्त्र असम्बद्ध और अस्तव्यस्त रचा हुआ होता है, फिर भी यह पुरातन पुरुषो के द्वारा रचित है, यह कहकर उसकी प्रशसा करते हैं। आज का बना हुआ शास्त्र सबद्ध और सगत है फिर भी नवीन होने के कारण उसे नही पढते। यह मात्र स्मृति का मोह है, परीक्षा का विवेक नही है।'[4]

अल्पवया शिशु की बात युक्तियुक्त हो सकती है और पुराने पुरुषो की कही हुई बात दोषपूर्ण हो सकती है, इसलिए हमे परीक्षक बनना चाहिए। नवीनता की उपेक्षा और प्राचीनता का मोह हमारे लिए उचित नही है। यह विक्रम की पाचवी शती का चिन्तन आज के वैज्ञानिक युग मे और अधिक मूल्यवान् बन गया है।

---

१ द्वात्रिंशिका ६।४

वहुप्रकारा स्थितय परस्पर, विरोधयुक्ता कथमाशु निश्चय ।
विशेपसिद्धावियमेव नेति वा, पुरातनप्रेमजडस्य युज्यते ।

२ द्वात्रिंशिका ६।६

विनिश्चय नैति यदा यथाऽलसस्तथा तथा निश्चितवत् प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ।

३ द्वात्रिंशिका ६।७

मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणै र्मनुष्यहेतोर्नियतानि तै स्वयम् ।
अलब्धपाराण्यलसेसु कर्णवानगाधपाराणि कथ ग्रहीष्यति ?

४ द्वात्रिंशिका ६।८

यदेव किंचिद् विषमप्रकल्पित, पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताऽप्यद्य मनुष्यवाक्कृति र्न पठ्यते यत् स्मृतिमोह एव स ।

काल-हेतुक अवरोध और उनके फलित

भारतीय चिन्तन का यह व्यापक रूप रहा है कि पुरातन काल सत्युग था, वर्तमान युग कलिकाल है। इसमे प्रकृष्टता निकृष्टता की ओर चली जाती है। इस चिन्तन के आधार पर भारतीय जनता का विश्वास दृढ हो गया है कि प्राचीन काल मे जो अच्छाइया, क्षमताए और विशेपताए थी, वे इस कलिकाल मे समाप्त हो चुकी हैं और रही-सही समाप्त होती जा रही हैं। इस चिन्तनधारा ने एक विचित्र प्रकार की हीन भावना उत्पन्न कर दी। लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व कुछ जैन मुनि यह मानने लगे थे कि वर्तमान मे धर्म नही है, व्रत नही है और चरित्र विच्छिन्न हो गया है। वर्तमान में जो जैन शासन चल रहा है, वह ज्ञान और दर्शन के आधार पर चल रहा है। किन्तु आज कोई साधु नही है। प्राचीन काल मे शरीर का सहनन उत्तम होता था, आज वैसा नही रहा। उत्तम सहनन वाले ध्यान के अधिकारी थे, अब कोई ध्यान का अधिकारी नही है। ध्यान विच्छिन्न हो गया। प्राचीन काल मे जिनकल्प मुनि विशिष्ट साधना करते थे। अब जिनकल्प साधना का भी विच्छेद हो गया। विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञान और विशिष्ट यौगिक लब्धिया भी विच्छिन्न हो गई।[1] चिन्तन की इस धारा ने विकास का द्वार अवरुद्ध कर दिया। मुनिजन यह मानकर चलने लगे कि इस दुपमाकाल मे विशिष्ट साधना और विशिष्ट उपलब्धि नही हो सकती। इस धारणा का प्रभाव भी हुआ। साधना के पथ मे अभिनव उन्मेप लाने की मनोवृत्ति शिथिल हो गई। जब यह मान लिया जाता है कि आज विशिष्टता उपलब्ध नही हो सकती फिर उसके लिए प्रयत्न करने की स्फुरणा भी नही रहती। कुछ मनीषी मुनियो का ध्यान इस हीनभावना की मनोवृत्ति और उसके फलितो पर गया। उन्होंने इसका प्रतिवाद किया। भाष्यकार सघदासगणी ने कहा—'जो मुनि यह कहते हैं कि वर्तमान मे साधुत्व नही है, उन्हे श्रमण सघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए।' आचार्य रामसेन ने इसका सशक्त समर्थन किया कि वर्तमान मे ध्यान हो सकता है। उसका विच्छेद नही हुआ है।[2]

कुछ विच्छित्तियो के बारे मे किसी आचार्य ने कुछ नही कहा। यह बहुत ही विमर्शनीय है। विच्छेदो की चर्चा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ के आचार्यों ने की है। तुलनात्मक दृष्टि से श्वेताम्बर आचार्यों ने अधिक की है। दिगम्बर परम्परा मे ध्यान, कायोत्सर्ग और प्रतिमा के अभ्यास की परम्परा दीर्घ काल तक चली। दिगम्बर आचार्यों ने योग-विषयक अनेक ग्रथ रचे। श्वेताम्बर परम्परा मे ध्यान का अभ्यास सुदूर अतीत मे ही कम हो गया था। श्वेताम्बर आचार्यों मे जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय

---

१ व्यवहार भाष्य, १०।६९९,७००

२ तत्त्वानुशासन

यशोविजयजी आदि कुछेक विद्वान् ही योग ग्रन्थो के निर्माता हुए हैं। आचार्यश्री तुलसी ने योग पर 'मनोनुशासन' नाम का ग्रन्थ लिखा। उसके निर्माण की अवधि मे उन्होने कहा—'यौगिक उपलब्धियो के विच्छेद की बात साधक के मन मे पहले से ही न बिठाई जाती तो आज तक जैन परम्परा मे अधिक विकास हुआ होता।'

साधना करने वाले सब व्यक्तियो का अध्यवसाय समान नही होता। उनकी क्षमता भी समान नही होती। गति मे भी तारतम्य होता है। किन्तु लक्ष्य समान होता है। कौन कितना आगे बढ सके, यह उस पर निर्भर है। पहले ही हम उसे अवरोध पट्ट दिखा दें कि तुम इससे आगे नही जा सकते तो उसके चरण प्रारम्भ मे ही ठिठक जाते है। आचार्य हेमचन्द्र ने कलिकाल के निमित्त से निर्मित किए गए अवरोधो को तोडने के लिए महत्त्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया। उन्होंने लिखा कि—'सुषमाकाल मे साधक लम्बी तपस्या के बाद फल प्राप्त करते थे। यह कलिकाल ही ऐसा है, जिसमे साधक अल्पकालीन तपस्या से ही फल प्राप्त कर लेता है। फिर कलिकाल क्या बुरा है ? हमे कृतयुग से क्या प्रयोजन ?'[1]

'प्रभो! सुषमा (कृतयुग) की अपेक्षा दुषमा (कलिकाल) मे तुम्हारी कृपा अधिक फलवती होती है। कल्पतरु मेरु की अपेक्षा मरुभूमि मे अधिक श्लाघनीय होता है।'[2]

'कल्याण-सिद्धि के लिए यह कलिकाल कसौटी है। अग्नि के बिना अगर की गध प्रस्फुटित नही होती।'[3]

"मैं युग-युग तक ससार मे भ्रमण कर चुका किन्तु तुम्हारा दर्शन नही मिला। मैं इस कलिकाल को नमस्कार करता हू जिसमे तुम्हारे दर्शन मिले।"[4]

'लोग कहते हैं कि कलिकाल मे लोग बहुत उच्छृखल और दुष्ट होते है। क्या कृतयुग मे ऐसे लोग नही थे ? यह सच है कि उस युग मे भी ऐसे लोग थे। फिर

---

१ वीतरागस्तव ९।१
यत्राल्पेनापि कालेन, त्वद्भक्तेः फलमाप्यते ।
कलिकाल स एकोऽस्तु, कृतं कृतयुगादिभि ।

२ वही ९।२
सुषमातो दु षमायां, कृपा फलवती तव ।
मेरुतो मरुभूमौ हि, श्लाघ्या कल्पतरो स्थिति ।

३ वही ९।३
कल्याणसिद्ध्यै साधीयान्, कलिरेव कषोपल ।
विनाग्नि गन्धमहिमा, काकतुण्डस्य नैधते ॥

४ वही ९।७
युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनविनाकृत ।
नमोऽस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ।

हम कलिकाल पर व्यर्थ ही क्यों कुपित होते हैं ?"[1]

कुछ-कुछ आचार्यों ने कालहेतुक अवरोधों को समाप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे सुस्थिर हो चुके थे। उनका उन्मूलन नहीं किया जा सका।

अध्यात्म के उन्मेष

भगवान् महावीर का दर्शन आत्मा का दर्शन है। उसके आदि, मध्य और अंत में सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। उसकी गहराइयों में जाने का प्रयत्न अध्यात्म है। इस विन्दु को आचार्य कुंदकुंद ने सर्वाधिक विकसित किया। वे जैन परम्परा में अध्यात्म के मुख्य प्रवक्ता थे। भगवान् महावीर ने मोक्ष के चार मार्ग वतलाए—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इनकी व्याख्या अनेक आचार्यों ने की। वे सब व्याख्याए व्यवहारनय पर आश्रित हैं। व्यवहारनय स्थूल और वुद्धिगम्य दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। निश्चयनय का दृष्टिकोण सूक्ष्म और आत्मगम्य है। अध्यात्म का प्रवक्ता निश्चयनय का आलम्वन लेकर चलता है। आचार्य कुंदकुंद की अनेक व्याख्याए और स्थापनाए निश्चयनय पर अवलंवित हैं। उन्होंने निश्चयनय के आधार पर कहा—'आत्मा को जानना ही सम्यक् ज्ञान है, उसे देखना ही सम्यक् दर्शन है और उसमे रमण करना ही सम्यक् चारित्र है।'[2]

उन्होंने व्यवहारनय का अस्वीकार नही किया और सामाजिक जीवन मे उसका अस्वीकार किया भी नही जा सकता। तत्त्व के गहन पर्यायो तक हर आदमी नही पहुच सकता। उसकी पहुच तत्त्व के कुछेक स्थूल पर्यायो तक होती है। उसे वास्तविक सत्य तक ले जाने के लिए स्थूल सत्य का आलम्वन लेना आवश्यक होता है। आचार्य कुंदकुंद ने इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया। एक व्यक्ति सीमान्त के प्रदेश मे गया। उसे एक आदमी मिला। उसने आगन्तुक को नमस्कार किया। आगन्तुक ने उसे स्वस्ति कहकर आशीर्वाद दिया। सीमान्तवासी उसे समझ नही सका। आगन्तुक ने सीमान्त प्रदेश की भाषा मे आशीर्वाद दिया, तव वह वहुत प्रसन्न हुआ और उसने स्वस्ति का अर्थ भी जान लिया। जैसे सीमान्तवासी को सीमान्त की भाषा के विना समझाना शक्य नही है, वैसे ही व्यवहारदृष्टि वाले व्यक्ति को व्यवहारनय के माध्यम के विना वास्तविक सत्य समझाना शक्य नही है।[3]

---

१ वीतरागस्तव ६।४
युगान्तरेपि चेन्नाथ ! भवन्त्युच्छृंखला खला ।
वृथैव तर्हि कुप्याम , कलये वामकेलये ।

२ समयसार १६
दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्च ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि, अप्पाण चेव णिच्छयदो ।

३ समयसार ८ जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा दु गाहेदु ।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसणमसक्क ।

व्यवहार की भूमिका पर जीनेवाले धार्मिक लोग स्वर्ग के प्रलोभन और नर्क के भय से ही धर्म की बात सोचते हैं। उनकी दृष्टि पुण्य और पाप तक पहुचती है। परमार्थदर्शी की दृष्टि मे आत्मा ही सब कुछ है। आत्मा की भूमिका मे पुण्य का कोई महत्त्व नही है। व्यवहारदृष्टि के लोग कहते हैं कि अशुभ कर्म कुशील हैं और शुभकर्म सुशील हैं। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द का तर्क है कि शुभ कर्म ससार मे प्रवेश कराता है, फिर वह सुशील कैसे ?[1] जैसे लोहे की बेडी मनुष्य को बाधती है, वैसे ही सोने की बेडी भी बाधती है। अशुभ और शुभ दोनो ही कर्म जीव को बाधते हैं, मुमुक्षु व्यक्ति के लिए दोनो ही वाछनीय नही हैं।[2] परमार्थ दृष्टि (निश्चयनय) से शून्य व्यक्ति ससार और मोक्ष के हेतुओ को नही जानते। इसी लिए वे अज्ञानवश पुण्य की इच्छा करते हैं।[3]

विक्रम की सातवी शताब्दी मे भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने पुण्य और पाप को इसी कोण से देखा। उन्होने सुख-दु ख की मीमासा करते हुए लिखा—'पुण्य का फल दु खी ही है क्योकि वह कर्म का उदय ही है। जैसे कर्म का उदय होने के कारण पाप का फल दु ख होता है।'[4]

विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी मे आचार्य भिक्षु ने पुण्य और पाप की निश्चय-नय से मीमासा की। उन्होने लिखा—पुण्य वाछनीय नही है। उसकी इच्छा करने से ही पाप का वध होता है।

जैसे-जैसे न्यायशास्त्र या तर्कशास्त्र का विकास होता गया, वैसे-वैसे साम्प्रदायिक अभिनिवेश और वाद-विवाद वढता गया। महर्षि गौतम ने जल्प, वितण्डा, छल और जाति को तत्त्व रूप मे स्वीकृति दी। उसका प्रयोग प्राय सभी तार्किक करने लगे। जैन आचार्यों के सामने लोकैषणा और लोकसग्रह का प्रश्न गौण था, अहिंसा का प्रश्न मुख्य। वे तर्क के क्षेत्र मे प्रवेश करके भी अहिंसा को नही छोड सकते थे। उन्होने तर्क पर अध्यात्म के अकुश को रखना सदा पसन्द किया। आचार्य सिद्धसेन महान् तार्किक थे। उन्होने जैन परम्परा को तार्किक दृष्टि से समृद्ध किया था। फिर भी विवाद और वितण्डा उन्हें काम्य नही थे। उन्होंने लिखा—'दो गाव से आनेवाले और एक मास-पिण्ड मे लुब्ध होकर परस्पर लडनेवाले कुत्तो मे भी मैत्री हो सकती है किन्तु वाद-विवाद करनेवाले दो भाइयो मे मैत्री नही हो

---

१ समयसार १५२	कम्ममसुह कुसील सुहकम्म चावि जाण सुहसील। कह त होदि सुसील ज ससार पवेसेदि।
२ वही, १५३	सोवण्णियह्मि णियल वधदि कालायस च जह पुरिस। वधदि एव जीव सुहमसुह वा कद कम्म।
३ वही, १६१	परमट्ठवाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छति। ससारगमणहेदु विमोक्खहेदु अयाणता।

जाएगी।"[1] हरिभद्र के इस मत पर उनका यह श्लोक साक्ष्य है। वह वाद में विश्वास नहीं किन्तु इसके पीछे एक सिद्धान्त है। अहिंसा या अध्यात्म के सिद्धान्त से हिंसात्मक मनोभावना इसी भाषा में बोलता और सोचता। उन्होंने प्रचलित मार्ग की स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—'मोक्ष किसी दूसरी दिशा में है और हमारे कुतर्कवादी किसी दूसरी दिशा में जा रहे हैं। किसी भी मुनि ने वाक्-युद्ध को शिव का उपाय नहीं बतलाया है।'[2] सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक आदि आचार्यों ने अनेकान्त के बीज को विकसित किया तब तो हरिभद्रसूरि ने समाधि-योग का बीज विकसित किया। महर्षि पतंजलि के योगदर्शन की प्रसिद्धि के बाद पतंजलि दर्शन की साधना-पद्धति योग के नाम से प्रसिद्ध हो गई। जैन धर्म की साधना-पद्धति का नाम मोक्षमार्ग था। हरिभद्रसूरि ने मोक्षमार्ग का योग के रूप में प्रस्तुत किया। इस विषय में योगविंशिका, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। उन्होंने योग की परिभाषा की—'धर्म की समग्र प्रवृत्ति, मोक्ष के साथ योग कराती है, इसलिए वह योग है।'[3] इसमें महर्षि पतंजलि की 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोध', गीता की 'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्'—इन सब परिभाषाओं का समन्वय है। हरिभद्रसूरि महान् तार्किक प्रतिभा-सम्पन्न थे। फिर भी उनका मत यह था कि प्रेक्षावान् मनुष्यों को तत्त्वसिद्धि के लिए अध्यात्म-योग का ही सहारा लेना चाहिए। वाद-ग्रन्थ उसके लिए पर्याप्त नहीं है।[4]

आत्मा का अनुभव उन व्यक्तियों को होता है जो ध्यान की गहराई में उतरते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं। साधारण जन अनुगमन करता है। अनुगमन करने वालों में न अपना अनुभव होता है और न किसी सत्य का साक्षात्कार। इसलिए वे अपनी अनुभूति से नहीं चलते। वे दूसरों की अनुभूति को मानकर चलते हैं। धर्म के क्षेत्र में ऐसे लोगों की बहुलता होती है तब अध्यात्म की ज्योति वाद-विवाद की राख से ढंक जाती है। जैन आचार्यों ने समन्वय की धारा को प्रवाहित

---

१ द्वात्रिंशिका ८।१
ग्रामान्तरोपगतयो - रेकामिषसंगजातमत्सरयोः।
स्यात् सख्यमपि शुनोः भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात्॥

२ द्वात्रिंशिका ८।७
अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि, न जगाद मुनिः शिवोपायम्॥

३ योगविंशिका १
मोक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।

४ योगबिन्दु ६५
अतोऽत्रैव महान् यत्नः, तत् तत्त्वप्रसिद्धये।
प्रेक्षावता सदा कार्यो, वादग्रन्थास्त्वकारणम्॥

कर अध्यात्म की ज्योति को प्रज्ज्वलित रखने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। अनेकान्त की दृष्टि और स्याद्वाद की भाषा उन्हे प्राप्त थी। उन्होंने उसका उपयोग कर जनता को बताया कि अध्यात्म सबका एक है। यह दिखाई देनेवाला भेद निरूपण का है। जितने निरूपण के प्रकार हैं, उतने ही नय हैं। नय सापेक्ष होते हैं। आप एक नय को दूसरे नय से निरपेक्ष कर देखते हैं तब दोनो नयो मे विरोध प्रतिभासित होता है । दो नयो को समन्वित कर देखते हैं तब वे दोनो एक-दूसरे के पूरक रूप मे दिखाई देते हैं। वस्तु-जगत् मे कोई असगति नही है। यह असगति एकागी दृष्टिकोण मे उत्पन्न होती है। आचार्य अकलक ने चैतन्य और अचैतन्य का समन्वय किया। उनके मतानुसार इनमे असामजस्य नही है। ये दोनो धर्म एक साथ रहते हैं। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से आत्मा चेतन है। प्रमेयत्व आदि धर्मों की दृष्टि से वह अचेतन भी है आत्मा केवल चैतन्य धर्म की दृष्टि से ही चेतन है। वह एक-धर्मा नही है, किन्तु अनन्त-धर्मा है। शेष धर्म अचेतन हैं। इसलिए वह चेतनाचेतनात्मक है।[1]

सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलक, हरिभद्रसूरी देवनदी, हेमचन्द्र, यशोविजयजी आदि मनीपियो ने सब दर्शन का समन्वय कर अध्यात्म का निर्विवाद दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होने जैन-शास्त्रो मे चर्चित विषयो की साख्य, बौद्ध आदि दर्शनो से तुलना की और उनमे चर्चित विषयो की जैन दर्शन से तुलना की। आचार्य सिद्धसेन ने दर्शनो का अनेकान्त दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद यह मत प्रकट किया कि जिन दर्शनो को मिथ्या माना जा रहा है, वे एकागी दृष्टि से देखने पर मिथ्या हैं। सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो मिथ्या प्रतिभासित होने वाले सारे दर्शन समन्वित होकर एक सम्यक् दर्शन का निर्माण कर देते हैं। जैन दर्शन सापेक्ष-वादी दर्शन है। इस आधार पर उन्होंने एक परिभाषा निर्मित की—मिथ्यादर्शनो का समूह ही जैन दर्शन है। इस उक्ति को सामने रखकर कुछ आधुनिक विद्वानो ने यह धारणा प्रसारित की है कि जैन दर्शन का मौलिक देय कुछ भी नही है। उसने दूसरे दर्शनो से उधार लेकर अपने दर्शन को प्रतिष्ठित किया है। यह सच है कि जैन आचार्यों ने दूसरे दर्शनो के उपयोगी तत्त्वो को स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह नही होता कि उसका कोई मौलिक आधार नही है। पडोसी दर्शन एक-दूसरे के विचारो को ग्रहण करते ही हैं। जैन आचार्यों ने अनेकान्तवादी होने के कारण दूसरे दर्शनो के दृष्टिकोण को मुक्तभाव से अपनाया। इससे उनके दर्शन की आधारहीनता प्रकट नही होती, उनकी समन्वय-भावना ही प्रकट होती है।

---

१ स्वरूपसम्बोधन ३
प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैं, अचिदात्मा चिदात्मक ।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माद्, चेतनाचेतनात्मक ॥

हरिभद्रसूरी ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' मे परस्पर-विरोधी प्रतिभासित होने वाले दार्शनिक तत्त्वो का अद्‌भुत समन्वय किया है। उनका वह ग्रन्थ समन्वय-ग्रन्थो मे अद्वितीय है। उनका निश्चित सिद्धान्त था कि अध्यात्मचेता विद्वान् के लिए कोई भी सिद्धान्त अपना या पराया नही होता। जो सिद्धान्त प्रत्यक्ष और अनुमान से अवाधित होता है, वही उसका अपना सिद्धान्त होता है। यह दृष्टिकोण अध्यात्म के क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण उन्मेष है।

व्यवहार जगत् नाम और रूप से आक्रान्त होता है। अध्यात्म मे गुण की ही प्रतिष्ठा होती है। आचार्य हेमचन्द्र ने सोमनाथ के मदिर मे शिवलिग के समक्ष चितन की मुक्तधारा प्रवाहित की। उससे उनके प्रतिस्पर्धी भी नतमस्तक हो गए। उन्होंने कहा—'भववीज के अकुर को पैदा करने वाले राग और द्वेष क्षीण हो चुके हैं, उस वीतराग आत्मा को मैं नमस्कार करता हू, फिर उसका नाम ब्रह्मा, विष्णु, महादेव या जिन कुछ भी हो।'[1]

वीतरागता और अनेकान्त ये दोनो अध्यात्म के प्रकाशस्तम्भ हैं। वीतरागता आत्मा का शुद्ध रूप है। उसकी अनुभूति का क्षण ही आत्मोपलब्धि का क्षण है। अनेकान्त सत्य के साक्षात्कार का सशक्त माध्यम है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सपूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहा—'सव प्रतिपक्ष मेरे साक्षी हैं। मैं उनके समक्ष यह उदार घोपणा करता हू कि वीतराग से अधिक कोई देव नही है और अनेकान्त के अतिरिक्त कोई नय नही है।'[2]

अध्यात्म के कल्पवृक्ष की शाखाए तीन हैं—सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र। ज्ञान और दर्शन का समन्वित रूप दर्शन है। चारित्र धर्म है। दर्शन और धर्म—ये दोनो शाखाए अध्यात्म से अविच्छिन्न रहती हैं तव सत्य को अभिव्यक्ति मिलती है और वर्तमान जीवन मे प्रकाश की रश्मिया फूटती हैं। जब दर्शन और धर्म अध्यात्म से विच्छिन्न हो जाते हैं तव सत्य आवृत हो जाता है और वर्तमान अधकार से भर जाता है। पौराणिक काल में धर्म की धारणाए वदल गईं। उसका मुख्य रूप पारलौकिक हो गया। वह वर्तमान से कटकर भविष्य से जुड गया। जनमानस में यह धारणा स्थिर हो गई कि धर्म से परलोक सुधरता है, स्वर्ग मिलता हैं, मोक्ष मिलता है। इस धारणा ने जनता को धर्म की वार्तमानिक उपलब्धियो से वचित कर भविष्य के सुनहले स्वप्नो के जगत् मे प्रतिष्ठित

---

१ महादेवस्तोत्र
भववीजांकुरजनना, रागाद्याक्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

२ अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका २८
इमा समक्ष प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोपामवघोपणां ब्रुवे।
न वीतरागात् परमस्ति दैवत, न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थिति॥

लिए वे धर्म की शरण मे आते हैं। धर्म का मौलिक रूप है—इन्द्रिय का सयम, मन का सयम, समता का अभ्यास, विशुद्ध आचरण और अर्जित सस्कारो को क्षीण करने के लिए ज्ञानपूर्ण तप। यह मार्ग दुर्गम प्रतीत होता है। जनता को सरल मार्ग चाहिए। धर्म के प्रवक्ताओ मे जैसे-जैसे लोकैषणा का भाव प्रबल हुआ, वैसे-वैसे उन्होने धर्म को सरलता की दिशा मे ले जाने का प्रयत्न किया। फलत आचार धर्म या सयम-धर्म का स्थान उपासना धर्म ने ले लिया। यह सरल होने के कारण जन साधारण को अपनी ओर अधिक आकृष्ट कर सका। भगवान् की भक्ति, नाम का जप और पूजा करने मे पारलौकिक जीवन को उत्कर्ष का आश्वासन है और आचार-शुद्धि, व्यवहार-शुद्धि तथा इन्द्रिय-सयम के लिए किया जानेवाला तीव्र अध्यवसाय और पुरुषार्थ भी अपेक्षित नही है। धर्म की इस धारणा ने धार्मिको की सख्या मे बाढ ला दी किन्तु धर्मचेतना को सीमित कर दिया। आज यह प्रश्न पूछा जाता है कि इतने धर्मो के होने पर भी मनुष्य इतना अशान्त क्यो ? इतना क्रूर क्यो ? इतना अनैतिक क्यो ? उपासना-प्रधान धर्म के पास इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही है। सयमप्रधान धर्म इन प्रश्नो का उत्तर दे सकता था, किन्तु वह वर्तमान मे धर्म के सिहासन पर आसीन नही है। आचार्य हेमचन्द्र ने धर्म की इसी स्थिति पर चिंतन किया और उन्होंने अनुभव की भाषा मे लिखा—'वीतराग! तुम्हारी पूजा करने की अपेक्षा तुम्हारे आदेशो का पालन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। तुम्हारे आदेशो का पालन करनेवाला सत्य को प्राप्त होता है और उनका पालन नही करनेवाला भटक जाता है। प्रश्न उपस्थित हुआ, वीतराग का आदेश क्या है ? आचार्य ने उत्तर दिया, उनका आदेश है सवर—मन का सवरण, वाणी का सवरण, काया का सवरण और श्वास का सवरण।'[1]

धर्म की इस धारा के विकास से धार्मिको की सख्या सीमित हो सकती है किंतु धर्मचेतना को व्यापक होने की स्फूर्ति मिलेगी। यह रूपान्तर धर्म को अध्यात्म के कल्पवृक्ष से विच्छिन्न नही होने देगा और उसके सामने प्रस्तुत प्रश्नो का सक्रिय समाधान दे सकेगा।

धर्म का सूत्र

आत्मा से आत्मा को देखो—यह धर्म का सूत्र है। राजनीति का सूत्र इससे भिन्न होता है। उसका सूत्र है—दूसरो को देखो। जो आत्मा को देखता है, आत्मा

---

१ वीतरागस्तव, १९।४,५ वीतराग! सपर्यातस्तवाज्ञापालन परम्।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च।
आकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचरा।
आश्रव सर्वथा हेय, उपादेयश्च सवर।

की आवाज सुनता है और आत्मा की वाणी बोलता है वह धार्मिक होता है। इसी लिए उमास्वाति ने धार्मिक को दूसरो की दृष्टि से अन्ध, वधिर और मूक कहा है।[1] उपाध्याय यशोविजयजी ने इस चिन्तन को मार्मिक ढग से विकसित किया। उन्होने लिखा—'जो साधक आत्मा की प्रवृत्ति मे जागरूक और पर-प्रवृत्तियो के लिए अध, मूक और वधिर है, वही समत्व को प्राप्त कर सकता है।[2]' गाधीजी के तीन वदरो के सदर्भ को इन प्राचीन उक्तियो मे खोजा जा सकता है।

समता की अनुभूति का उत्स आत्म-दर्शन है। उसका आचरण आत्मदर्शी मे ही प्रस्फुटित होता है। आचार्य सोमदेव समता के आचरण को सव आचरणो मे श्रेष्ठ बतलाते है।[3] उन्होंने राजनैतिक और सामाजिक जीवन मे भी समता के आचरण को प्रतिष्ठित करने की बात कही। किन्तु उसको व्यावहारिक रूप नही मिला।

धर्म सम्प्रदाओ मे विभक्त हो चुका था। फलत सामाजिक स्तर पर होनेवाला विकास साम्प्रदायिक स्तर पर हो नही सका। हर सम्प्रदाय अपनी सम्मत विधियो को समाज मे लागू करना चाहता था। शैव सम्प्रदाय के उत्कर्ष-काल मे जैनो और वौद्धो को शैव पद्धतियो को अपनाने के लिए वाध्य किया गया। वौद्धो ने इस स्थिति को मान्य नही किया। वहुत सारे जैनो ने भी उसे मान्यता नही दी। कुछ जैन मुनि मध्यम मार्ग के पक्ष मे थे। उन्होने समझौतावादी मनोवृत्ति अपनायी और नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उस चिन्तन के पीछे तीन दृष्टिया परिलक्षित होती है—

१ समन्वय की मनोवृत्ति।

२ सामाजिक मूल्यो की परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त।

३ शैवो के वढते हुए प्रभाव की स्थिति मे जैन परम्परा को वनाए रखना।

जैन धर्म मे दीक्षित व्यक्ति को समन्वय का सस्कार सहज ही मिलता है। समन्वयवादी विरोध मे भी अविरोध खोजता है। अनेकान्त के अनुसार सर्वथा विरोध होता ही नही, इसलिए विरोध मे भी अविरोध का स्रोत उपलब्ध हो जाता है।

भगवान् महावीर ने जीवन के शाश्वत मूल्यो की व्याख्या की। उन्होंने सामाजिक मूल्यो को परिवर्तनशील बताया। इसीलिए जैन धर्म मे सामाजिक व्यवस्था का कोई विधान नही है। सामाजिक व्यवस्थाए भिन्न-भिन्न होती है। किसी भी समाज-व्यवस्था को मानने वाला व्यक्ति धर्म को स्वीकार कर सकता है। उस स्थिति मे समाज-व्यवस्था और धर्म को एक सूत्र मे नही पिरोया जा सकता। कुछ

---

१ प्रशमरतिप्रकरण २३५ स्वगुणाभ्यासरतमते, परवृत्तान्तान्धमूकवधिरस्य।
मदमदनमोहमत्सररोषविषादैरधृष्यस्य।

२ अध्यात्मोपनिषद् ४।२ आत्मप्रवृत्तावतिजागरूक, परप्रवृत्तौ वधिरान्धमूक।
सदा चिदानदपदोपभोगी, लोकोत्तर साम्यमुपैति योगी।

३ नीतिवाक्यामृत १।५ सर्वं सत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परममाचरणम्।

सम्प्रदाय धर्म को जाति का रूप दे रहे थे। यह संगठन के लिए उचित हो सकता है। किन्तु धर्म के लिए इसकी श्रेष्ठता नही साधी जा सकती। जो धर्म जाति के रूप मे सगठित है, उसमे साम्प्रदायिकता, कट्टरता और आग्रह अधिक है, धर्म कम। धर्म आत्मा की पवित्र अनुभूति है, उसे व्यवस्था के स्तर पर विकसित नही किया जा सकता।

सोमदेवसूरि ने समन्वय की भाषा मे कहा —'गृहस्थ के लिए दो धर्म होते हैं लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रित है और पारलौकिक धर्म आगमाश्रित।[1] जैनो के लिए वह समग्र लौकिक व्यवस्था प्रमाण है, जिसे मान्य करने पर सम्यक्त्व की हानि और व्रत दूषित न हो।[2]

इस समन्वय की धारा के दो फलित हुए—

१ सामाजिक सामजस्य।

२ सैद्धातिक शैथिल्य।

शैव-सम्मत समाज-व्यवस्था को मान लेने पर सामाजिक एकता का अनुभव हुआ। उस स्थिति मे जैनो पर होनेवाले प्रहार कम हो गए। उन्हें अपनी परपरा को व्यवस्थित रखने का अवसर मिल गया। साथ-साथ कुछ मूल्य भी चुकाना पडा। जैन मुनि अब तक जातिवाद पर निरन्तर प्रहार कर रहे थे किन्तु वैदिक समाज-व्यवस्था के साथ जुड जाने पर वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था को भी धीमे-धीमे मान्यता देनी पडी।' जैन परम्परा के हाथ से एक बडा क्रान्तिसूत्र छूट गया—कल तक वे जिसका खण्डन करते थे, आज उसका समर्थन करने लग गए।

साधन-शुद्धि

आध्यात्मिक जगत् का साध्य है—आत्मा की पवित्रता और उसका साधन भी वही है। आत्मा की अपवित्रता कभी भी आत्मिक पवित्रता का साधन नही बन सकती। पहले क्षण का साधन दूसरे क्षण मे साध्य बन जाता है और वही उस के अगले चरण का साधन बन जाता है। पहले क्षण का जो साध्य है, वह अगले क्षण के लिए साधन है। पवित्रता ही साध्य है और वही साधन।

साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो सैद्धान्तिक रूप दिया, वह उनसे पहले नही मिलता। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए, इस विचार को उनकी भाषा मे जो अभिव्यक्ति मिली, वह उनसे पहले

---

१ यशस्तिलक द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना, लौकिक पारलौकिक।
लोकाश्रयो भवेदाद्य, पर स्यादागमाश्रय।

२ वही सव एव हि जैनानां, प्रमाण लौकिको विधि।
यत्र सम्यक्त्वहानि न, यत्र न व्रतदूषणम्।

नही मिली। साध्य और साधन की शुद्धि का सिद्धान्त अब राजनीतिक चर्चा मे भी उतर आया है।

आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था—शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नही हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नही हो सकता। मोक्ष साध्य है और उसका साधन है सयम। वह सयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति लड्डुओ के लिए तपस्या करते हैं, वे कभी भी धर्मी नही हैं और इस उद्देश्य से तपस्या करने वालो को जो लड्डू खिलाते हैं, वे भी धर्मी नही हैं।

जो साधन अच्छे नही होते वे साध्य का ही अन्त कर देते है—इसका उदाहरण आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया है। देव, गुरु और धर्म की उपासना धार्मिक का साध्य है। उपासना का साधन है अहिसा। किन्तु जो व्यक्ति हिसा के द्वारा उनकी उपासना करता है, वह उपासना के मार्ग से भटक जाता है। जो हिसा के द्वारा धर्म करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि वह है जो धर्म के लिए हिसा नही करता।

लोहू से लिपटा हुआ पीताम्बर लोहू से साफ नही होता। इसी प्रकार हिसा से हिसा का शोधन नही होता।

वर्तमान राजनीति मे दो प्रकार की विचारधाराए है—साम्यवादी और इतर साम्यवादी। जनता का जीवन-स्तर ऊचा करना दोनो का लक्ष्य है पर पद्धतिया दोनो की भिन्न हैं।

साम्यवादी विचारधारा यह है—लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन की शुद्धि का विचार आवश्यक नही है। लक्ष्य यदि अच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए बुरे साधनो का प्रयोग भी आवश्यक हो तो वह करना चाहिए। एक बार थोडा अनिष्ट होता है और आगे इष्ट अधिक होता है। गाधीवादी विचार यह है कि जितना महत्त्व लक्ष्य का है उतना ही साधन का। लक्ष्य की पूर्ति येनकेन-प्रकारेण नही, किन्तु उचित साधनो के द्वारा ही करनी चाहिए।

आचार्य भिक्षु के समय मे भी साधन-शुद्धि के विचार को महत्त्व न देनेवाली मान्यता थी। उसके अनुयायी कहते थे—प्रयोजनवश धर्म के लिए भी हिसा का अवलबन लिया जा सकता है। एक बार थोडी हिसा होती है, किन्तु आगे उससे बहुत धर्म होता है।

आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नही दी। उन्होने कहा—बाद मे धर्म या पाप होगा, इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नही बनता। कार्य की कसौटी वर्तमान ही है।

जिसके मन मे दया का भाव उठा, उसके लिए दया का साधन है उपदेश। और जिसके मन मे दया का भाव उत्पन्न करना है उसके लिए दया का साधन है हृदय-परिवर्तन। आत्मवादी का साध्य है मोक्ष—आत्मा का पूर्ण विकास। उसके

साधन हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। अज्ञानी को ज्ञानी, मिथ्यादृष्टि को सम्यक्दृष्टि और असयमी को सयमी वनाना साध्य के अनुकूल है।

यह साध्य और साधन की सगति है। इनकी विसगति तव होती है जव या तो साध्य अनात्मिक होता है या साधन।

हृदय-परिवर्तन

मनुष्य की प्रवृत्ति के निमित्त तीन हैं—शक्ति, प्रभाव और सहजवृत्ति। सत्ता से शक्ति, सम्बन्ध से प्रभाव और हृदय-परिवर्तन से सहजवृत्ति का उदय होता है। शक्ति राज्य सस्था का आधार है। प्रभाव समाज-सस्था या भौतिक जीवन का आधार है। सहजवृत्ति हृदय की पवित्रता का आधार है। शक्ति से प्रेरित हो मनुष्य को कार्य करना पडता है। प्रभाव से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य मुझे करना चाहिए। सहजवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य करना मेरा धर्म है। सव लोग अहिंसक या मोक्षार्थी हो जाए यह कल्पना ठीक है पर सवको अहिंसक या मोक्षार्थी वना देंगे, यह शक्ति का सूत्र है। हमे यह मानने मे कोई आपत्ति नही होगी कि शक्ति के धागे मे सवको एक साथ वाधने की क्षमता है। पर उससे व्यक्ति के स्वतन्त्र मनोभाव का विकास नही होता। वह व्यक्ति-व्यक्ति की चारित्रिक अयोग्यता का निदर्शन है। आपसी सवधो से प्रभावित होकर जो अहिंसक वनता है, वह अहिंसा की उपासना नही करता। वह सम्बन्धो को वनाए रखने की प्रक्रिया है। प्रभाव मनुष्यो को वाधता है पर वह मानसिक अनुभूति की स्थूल रेखा है, इसलिए उसमे स्थायित्व नही होता।

मोहाणुओ तथा पदार्थों से प्रभावित व्यक्ति जो कार्य करते हैं उनके लिए हम अहिंसा की कल्पना ही नही कर सकते। शक्ति के दवाव और वाहरी प्रभाव से रिक्त मानस मे जो आत्मौपम्य का भाव जागता है, वह हृदय-परिवर्तन है। हृदय वही होता है, उसकी वृत्ति वदलती है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन कहा जाता है। शक्ति और प्रभाव से दवकर जो हिंसा से वच जाता है, वह हिंसा का प्रयोग भले न हो, किन्तु वह हृदय की पवित्रता नही है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन नही कहा जा सकता।

अहिंसा का आचरण वही कर सकता है जिसका हृदय वदल जाए। अहिंसा का आचरण किया जा सकता है किन्तु कराया नही जा सकता। अहिंसक वही हो सकता है जो अपने को वाहरी वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रख सके। वाहरी वातावरण से हमारा तात्पर्य शक्ति, मोहाणु और पदार्थ से है। इनमें से किसी एक से भी प्रभावित आत्मा हिंसा से नही वच सकती।

आक्रमण के प्रति आक्रमण और शक्ति-प्रयोग के प्रति शक्ति-प्रयोग कर हम हिंसा के प्रयोगात्मक रूप को टालने मे सफल हो सकें, यह सभव है पर वैसा

कर हम हृदय को पवित्र कर सकें या करा सकें यह सभव नही है। आचार्य भिक्षु ने कहा—शक्ति के प्रयोग से जीवन की सुरक्षा की जा सकती है, पर वह अहिंसा नही है।

अहिंसा का अकन जीवन या मरण से नही होता, उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है।

नैतिकता

भगवान् महावीर ने गृहस्थ के लिए जो आचार-सहिता निर्धारित की उसमे नैतिकता का मुख्य स्थान है। गृहस्थ सामाजिक प्राणी है। वह समाज मे जीता है। उसका व्यवहार समाज को प्रभावित करता है। अध्यात्म वैयक्तिक है। उसका व्यवहार में पडनेवाला प्रतिबिंब वैयक्तिक नही होता, वह सामाजिक हो जाता है। धार्मिक व्यक्ति अपने अन्त करण मे आध्यात्मिक रहे और व्यवहार मे पूरा अधार्मिक, यह द्वैध अध्यात्म का लक्षण नही है। अध्यात्म आन्तरिक वस्तु है। उसे हम नही देख सकते। उसका दर्शन व्यवहार के माध्यम से होता है। जिस व्यक्ति का व्यवहार शुद्ध, निश्छल और करुणापूर्ण होता है, वह व्यक्ति आध्यात्मिक है। उसका व्यवहार अध्यात्म को बाह्य जगत् मे प्रतिबिंबित कर देता है। किन्तु जैसे-जैसे धर्म के क्षेत्र मे वहिर्मुखीभाव वढता गया, वैसे-वैसे धार्मिक का व्यक्तित्व विरूप वनता गया—एक रूप धर्म की उपासना के समय का और दूसरा रूप सामाजिक व्यवहार के समय का। एक ही व्यक्ति उपासना के समय वीतराग की प्रतिमूर्ति वन जाता है और दूकान या कार्यालय मे क्रूर वन जाता है। आचार्यश्री तुलसी ने धर्म के क्षेत्र मे पनप रही इस द्विरूपता पर चिंतन कर धर्मक्रान्ति की आवाज़ उठाई। उसकी क्रियान्विति के लिए अणुव्रत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसकी पृष्ठभूमि मे उनका चिंतन शाश्वत होने के साथ-साथ बहुत ही युगीन है। अनैतिकता का मूल हेतु वैषम्य है। साम्य की स्थिति का निर्माण किए विना नैतिकता को विकसित नही किया जा सकता।

सर्वधर्म-समभाव और शास्त्रज्ञ

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय धर्म के भिन्न-भिन्न स्वर उच्चारित कर रहे थे। धार्मिक जनता वहुत असमजस मे थी। किस स्वर मे धर्म का स्पर्श है और किसमे नही, यह निर्णय वहुत कठिन हो रहा था। प्रत्येक स्वर की पुष्टि के लिए पुराने शास्त्रो के साक्ष्य दिए जा रहे थे। उनके समर्थन मे नए शास्त्र और नए भाष्य लिखे जा रहे थे। इस शास्त्राकीर्ण धर्म मे जनता का प्रवेश नही हो रहा था। उस स्थिति मे स्याद्वाद के अनुचिंतक मनीषियो ने धर्म और शास्त्र के विषय मे नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उपाध्याय यशोविजयजी ने शास्त्रज्ञ की पहचान के लिए

तीन मानदण्ड प्रस्तुत किए—

१ अनेकान्त।

२ मध्यस्थभाव।

३ उपशम—कषाय की शान्ति।

'जो व्यक्ति मोक्ष को दृष्टि मे रखते हुए अनेकान्त चक्षु से सब दर्शनो की तुल्यता को देखता है, वही शास्त्रज्ञ है।'[1]

मनुष्य मे झुकाव की मनोवृत्ति होती है। वह अपने अनुकूल चिंतन और तर्क के प्रति झुक जाता है। झुकाव का कारण राग और द्वेष है। जिसमे राग-द्वेष के उपशमन की साधना नही होती, वह मध्यस्थ या तटस्थ नही हो सकता। मध्यस्थ भाव को प्राप्त किए बिना कोई भी व्यक्ति शास्त्रज्ञ नही हो सकता। उपाध्यायजी ने बताया—'माध्यस्थ भाव से युक्त एक पद का ज्ञान भी प्रमाण है। माध्यस्थ्य शून्य शास्त्र-कोटि भी व्यर्थ है।'[2] उनकी भाषा मे मध्यस्थ भाव ही शास्त्र का अर्थ है। वह मध्यस्थ भाव से ही सही रूप मे जाना जाता है।'[3]

शास्त्रज्ञ लोग धर्मवाद के स्थान पर विवाद को महत्त्व दे रहे थे। उनको लक्ष्य कर कहा गया—

शमार्थं सर्वशास्त्राणि, विहितानि मनीषिभि ।
स एव सर्वशास्त्रज्ञ, यस्य शान्त सदा मन ॥

'मनीषियो ने शास्त्रो का निर्माण शान्ति के लिए किया। सब शास्त्रो को जाननेवाला वही है जिसका मन शान्त है।'

धर्म के नाम पर अशान्ति को उभारने वाला शास्त्रज्ञ नही हो सकता। जो स्वय अशान्त है वह भी शास्त्रज्ञ नही हो सकता।

शास्त्रीय आग्रह करने वाले चिंतन के विकास मे विश्वास नही करते। किन्तु वास्तविकता यह है कि विचार का बीज उर्वर मस्तिष्क मे विकसित होता रहता है। मैंने विचार-बीज के विकास का सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है। व्यापक सदर्भ मे इसके शत-शत पल्लवन देखे जा सकते हैं।

---

१ अध्यात्मोपनिषद् १।७
तेन स्याद्वादमालम्ब्य, सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षोद्देशाद् विशेषेण, य पश्यति स शास्त्रवित् ॥

२ अध्यात्मोपनिषद् १।७३
माध्यस्थ्यसहित ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटि वृथैवान्या, तथा चोक्त महात्मना ॥

३ अध्यात्मोपनिषद् १।७१
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो, येन तच्चारु सिध्यति।
स एव धर्मवाद स्या-दन्यद् बालिशवल्गनम् ॥

२

दर्शन

१

दर्शन

दर्शन की परिभापा

यह ससार अनादि-अनन्त है। इसमे सयोग-वियोगजन्य सुख-दु ख की अविरल धारा वह रही है। उसमे गोता मारते-मारते जब प्राणी थक जाता है, तब वह शाश्वत आनन्द की शोध मे निकलता है। वहा जो हेय और उपादेय की मीमासा होती है, वही दर्शन बन जाता है[1]।

दर्शन का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि। सबसे प्रमुख तत्त्व आत्मा है। "जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।"[2]

अस्तित्व की दृष्टि से सब तत्त्व समान हैं किन्तु मूल्य की दृष्टि से आत्मा सब से अधिक मूल्यवान् तत्त्व है। मूल्य का निर्णय आत्मा पर ही निर्भर है[3]। वस्तु का अस्तित्व स्वयजात होता है किन्तु उसका मूल्य चेतना से सम्बद्ध हुए विना नही होता। 'गुलाब का फूल लाल है'—कोई जाने या न जाने किन्तु 'गुलाब का फूल मन हरने वाला है'—यह विना जाने नही होता। वह तब तक मनहर नही, जब तक किसी आत्मा को वैसा न लगे। 'दूध सफेद है'—इसके लिए चेतना से सम्बन्ध होना आवश्यक नही, किन्तु 'वह उपयोगी है'—यह मूल्य विपयक निर्णय चेतना से सम्बन्ध स्थापित हुए विना नही होता। तात्पर्य यह है कि मनोहारी, उपयोगी, प्रिय-अप्रिय आदि मूल्याकन पर निर्भर है। आत्मा द्वारा अज्ञात वस्तु-

---

१ आचरागवृत्ति, १।१, उपोद्घात
इह हि रागद्वेपमोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि ससारिजन्तुना शारीरमानसाऽनेकातिकटुकदु खोपनिपातपीडितेन तदपनयनाय हेयोपादेयपरिज्ञाने यत्नोविधेय। स च न विशिष्टविवेक मृते।

२ बृहदारण्यक उपनिपद्, २।४।६
आत्मनि विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति

३ वही, २।४।५
न सर्वस्य कामाय प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति

वृत अस्तित्व के जगत् मे रहते हैं। उनका अस्तित्व-निर्णय और मूल्य-निर्णय—ये दोनो आत्मा द्वारा ज्ञान होने पर होते हैं। 'वस्तु का अस्तित्व है'—इसमे चेतना की कोई अपेक्षा नही किन्तु वस्तु जब ज्ञेय बनती है, तब चेतना द्वारा उसके अस्तित्व का निर्णय होता है। यह चेतना का साथ वस्तु के सम्बन्ध की पहली कोटि है। दूसरी कोटि मे उसका मूल्याकन होता है, तब वह हेय या उपादेय बनती है। उक्त विवेचन के अनुसार दर्शन के दो कार्य हैं

१ वस्तुवृत्त विषयक निर्णय।

२ मूल्य विषयक निणय।

ज्ञेय, हेय और उपादेय—इस त्रिपुटी से इसी तत्त्व का निर्देशन मिलता है[1]। यही तत्त्व 'ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा'—इस बुद्धिद्वय से मिलता है[2]। जैन दर्शन मे यथार्थज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। कारण यही है कि वस्तुवृत्त के निर्णय (प्रिय वस्तु के स्वीकार और अप्रिय वस्तु के अस्वीकार) मे वही क्षम है।

एक विचार आ रहा है—दर्शन को यदि उपयोगी बनना हो तो उसे वस्तु-वृत्तो को खोजने की अपेक्षा उनके प्रयोजन अथवा मूल्य को खोजना चाहिए।

भारतीय दर्शन इन दोनो शाखाओ को छूता रहा है। उसने जैसे अस्तित्व-विषयक समस्या पर विचार किया है, वैसे ही अस्तित्व से सम्बन्ध रखने वाली मूल्यो की समस्या पर भी विचार किया है। ज्ञेय, हेय और उपादेय का ज्ञान उसी का फल है।

मूल्य-निर्णय की दृष्टिया

मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टिया हैं

१ सैद्धान्तिक या बौद्धिक।

२ व्यावहारिक या नैतिक।

३ आध्यात्मिक, धार्मिक या पारमार्थिक।

वस्तुमात्र ज्ञेय है और अस्तित्व की दृष्टि से ज्ञेयमात्र सत्य है। सत्य का मूल्य सैद्धान्तिक होता है। यह आत्मानुभूति से परे नही होता। आत्म-विकास शिव है,

---

१ ठाण, ३। वृत्ति—
सेण भन्ते ! सवणे किं फले ? णाण फले। सेण भते णाणे किं फले ? विण्णाणफले।
ज्ञानम्—श्रुतज्ञानम्, विज्ञानम्—अर्थानां हेयोपादेयत्वविनिश्चय।

२ आचारांगवृत्ति, १।१।१।१
सा च द्विधा—ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च। तत्र ज्ञपरिज्ञया सावद्यव्यापारेण बन्धो भवति—इत्येव भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। प्रत्याख्यान-परिज्ञया च सावद्ययोगाबन्धहेतव प्रत्याख्येया, इत्येवरूपा चेति।

यह आध्यात्मिक मूल्य है। पौद्गलिक साजसज्जा सौन्दर्य है, यह व्यावहारिक मूल्य है। एक व्यक्ति सुन्दर नही होता किन्तु आत्म-विकास होने के कारण वह शिव होता है। जो शिव नही होता, वह सुन्दर हो सकता है। मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टिया स्थूल नियम है। व्यापक दृष्टि से व्यक्तियो की जितनी अपेक्षाए होती है, उतनी ही मूल्याकन की दृष्टिया हैं। कहा भी है—

'न रम्य नारम्य प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि,
प्रियत्व वस्तूना भवति च खलु ग्राहकवशात्।'

—प्रियत्व और अप्रियत्व ग्राहक की इच्छा के अधीन हैं, वस्तु मे नही। निश्चय-दृष्टि से न कोई वस्तु इष्ट है और न कोई अनिष्ट।

'तानेवार्थान् द्विषत, तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्ट, न विद्यते किंचिदिष्ट वा।'[1]

—एक व्यक्ति एक समय जिस वस्तु से द्वेष करता है, वही दूसरे समय उसी मे लीन हो जाता है, इसलिए इष्ट-अनिष्ट किसे माना जाए ?

व्यवहार की दृष्टि मे भोग-विलास जीवन का मूल्य है। अध्यात्म की दृष्टि मे गीत-गान विलाप मात्र है, नाटक विडम्बनाए हैं, आभूषण भार हैं और काम-भोग दु ख।[2]

सौन्दर्य की कल्पना दृश्य-वस्तु मे होती है। वह वर्ण, गध, रस और स्पर्श—इस चतुष्टय से सम्पन्न होती है। वर्णादि चतुष्ट्य किसी मे शुभ परिणमनवाला होता है और किसी मे अशुभ परिणमनवाला। इसलिए सौन्दर्य-असौन्दर्य, अच्छाई-बुराई, प्रियता-अप्रियता, उपादेयता-हेयता आदि के निर्णय मे वस्तु की योग्यता निमित्त बनती है। वस्तु के शुभ-अशुभ परमाणु मन के परमाणुओ को प्रभावित करते हैं। जिस व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक परमाणुओ के साथ वस्तु के परमाणुओ का साम्य होता है, वह व्यक्ति उस वस्तु के प्रति आकृष्ट हो जाता है। दोनो का वैषम्य हो तो आकर्षण नही बनता। यह साम्य और वैषम्य देश, काल और परिस्थिति आदि के समवाय पर निर्भर है। एक देश, काल और परिस्थिति मे जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु हेय होती है, वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति मे उपादेय बन जाती है। यह व्यावहारिक दृष्टि है। परमार्थ-दृष्टि मे आत्मा ही सुन्दर है, वही अच्छी, प्रिय और उपादेय है। आत्म-व्यतिरिक्त सब वस्तु हेय हैं। इसलिए फलितार्थ होता है—'दर्शन स्वात्मनिश्चिति'—अपनी आत्मा का जो

---

१ प्रशमरति प्रकरण, ५२।
२ उत्तरज्झयणाणि, १३।१६
सव्व विलविय गीय, सव्व नट्ट विडविय।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

निश्चय है, वही दर्शन है।

मूल्य के प्रत्येक निर्णय मे आत्मा की सन्तुष्टि या असन्तुष्टि अन्तर्निहित होती है। अशुद्ध दशा मे आत्मा का सन्तोष या असन्तोष भी अशुद्ध होता है। इसलिए इस दशा मे होनेवाला मूल्याकन नितान्त बौद्धिक या नितान्त व्यावहारिक होता है। वह शिवत्व के अनुकूल नही होता। शिवत्व के साधन तीन हैं—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र। यह श्रद्धा, ज्ञान और आचार की त्रिवेणी ही शिवत्व के अनुकूल है। यह आत्मा की परिक्रमा किये चलती है—

'दर्शन आत्मा का निश्चय है।
बोध आत्मा का ज्ञान है।
चारित्र आत्मा मे स्थिति या रमण है।'[1]
यही तत्त्व आचार्य शकर के शब्दो मे मिलता है[2]।

यह आध्यात्मिक रत्नत्रयी है। इसी के आधार पर जैन दर्शन कहता है—आस्रव हेय है और सवर उपादेय। बौद्ध दर्शन के अनुसार दु ख हेय है और मार्ग उपादेय। वेदान्त के अनुसार अविद्या हेय है और विद्या उपादेय। इसी प्रकार सभी दर्शन हेय और उपादेय की सूची लिए हुए चलते हैं।

हेय और उपादेय की जो अनुभूति है, वह दर्शन है। अगम्य को गम्य बनानेवाली विचार-पद्धति भी दर्शन है। इस परिभाषा के अनुसार महापुरुषो (आप्तजनो) की विचार-पद्धति भी दर्शन है। तत्त्व उपलब्धि की दृष्टि से दर्शन एक है। विचार-पद्धतियो की दृष्टि मे वे (दर्शन) अनेक हैं।

दर्शन की प्रणाली

दर्शन की प्रणाली युक्ति पर आधारित होती है। दर्शन तत्त्व के गुणो से सम्बन्ध रखता है, इसीलिए उसे तत्त्व का विज्ञान कहना चाहिए। युक्ति विचार का विज्ञान है। तत्त्व पर विचार करने के लिए युक्ति या तर्क का सहारा अपेक्षित होता है। दर्शन के क्षेत्र मे तार्किक प्रणाली के द्वारा पदार्थ, आत्मा, अनात्मा, गति, स्थिति, समय, अवकाश, पुद्गल, जीवन, मस्तिष्क, जगत्, ईश्वर आदि तथ्यो की व्याख्या, आलोचना, स्पष्टीकरण या परीक्षा की जाती है। इसीलिए एकागी दृष्टि से दर्शन की अनेक परिभाषाए मिलती हैं

---

१ पचास्तिकाय, १७०।
दर्शन निश्चय पुसि, बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योग शिवाश्रय ॥

२ शांकर भाष्य, १।१।१
ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थ
नि शेषससारबीज, अविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

१ जीवन की बौद्धिक मीमासा दर्शन है।

२ जीवन की आलोचना दर्शन है।

इनमे पूर्णता नही किन्तु अपूर्णता मे भी सत्याण आवश्य है।

आस्तिक दर्शन की भित्ति—आत्मवाद

"अनेक व्यक्ति यह नही जानते कि मैं कहा से आया हू ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नही ? मैं कौन हू ? यहा से फिर कहा जाऊगा ?"[1]

इस जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता है। धर्म दर्शन की मूल-भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नही तो नही। यही से आत्म-तत्त्व आस्तिको का आत्मवाद बन जाता है। वाद की स्थापना के लिए दर्शन और उसकी सच्चाई के लिए धर्म का विस्तार होता है।

अज्ञानी क्या करेगा जब कि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नही होता इसलिए पहले सत्य को जानो और बाद मे उसे जीवन मे उतारो।

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक की तरह केवल सत्य का ज्ञान ही नही चाहता, वह चाहता है मोक्ष। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—"जिससे मैं अमृत नही बनती, उसे लेकर क्या करू ? जो अमृतत्त्व का साधन हो वही मुझे बताओ।"[2] कमलावती इक्षुकार को सावधान करती है—"हे नरदेव ! धर्म के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु त्राण नही है।"[3] मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधन-भूत अध्यात्म-ज्ञान की याचना करती है और कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व बताती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा मे प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद अध्यात्मवाद बन जाता है। यही स्वर उपनिषद् के ऋषियो की वाणी मे से निकला—"आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है।"[4] तत्त्व यही है कि दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष मे।

---

१ आयारो, १।२
एवमेगेसि णो णात भवति—
अत्थि मे आया उववाइए,
णत्थि मे आया उववाइए,
के अह आसी ?
के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

२ येनाह नामृता स्या कि तेन कुर्याम्।
यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।

३ उत्तरज्झयणाणि, १४।४०
एक्को हु धम्मो नरदेवताण, न विज्जए अन्नमिहेह किंचि।

४ बृहदारण्यक उपनिषद्, २।४।५
आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य।

सत्य का ज्ञान उसका शरीर है और सत्य का आचरण उसकी आत्मा।

दर्शन

धर्म-मूलक दर्शन का विचार चार प्रश्नो पर चलता है

१ वन्ध

१ वन्ध-हेतु (आस्रव)

३ मोक्ष

४ मोक्ष-हेतु (सवर-निर्जरा)

सक्षेप मे तत्त्व दो हैं—आस्रव और सवर। इसीलिए काल-क्रम के प्रवाह मे वार-वार यह वाणी मुखरित हुई है

'आस्रवो भवहेतु स्यात् मवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपञ्चनम्॥'[1]

यही तत्त्व वेदान्त मे अविद्या और विद्या शब्द के द्वारा कहा गया है

'अविद्या वन्धहेतु स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति वध्यते जन्तु, न ममेति विमुच्यते॥'

वौद्ध दर्शन के चार आर्य-सत्य और क्या हैं? यही तो हैं

१ दु ख—हेय।

२ समुदय—हेयहेतु।

३ मार्ग—हानोपाय या मोक्ष-उपाय।

४ निरोध—हान या मोक्ष।

यही तत्त्व हमे पातञ्जल-योगसूत्र और व्यास-भाष्य मे मिलता है।[2] योग-दर्शन भी यही कहता है—विवेकी के लिए यह सयोग दु ख है और दु ख हेय है।[3] त्रिविध दु ख के थपेडो से थका हुआ मनुष्य उसके नाश के लिए जिज्ञासु वनता है[4]।

'नृणामेकोगम्यस्त्वमसि खलु नानापथजुषाम्'—गम्य एक है, उसके मार्ग अनेक। सत्य एक है, शोध-पद्धतिया अनेक। सत्य की शोध और सत्य का आचरण धर्म है। सत्य-शोध की सस्थाए, सम्प्रदाय या समाज हैं। वे धर्म नही हैं। सम्प्रदाय

---

१ वीतराग स्तोत्र, १९।६।

२ व्यास भाष्य, २।१५
यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूहम्—रोगो, रोगहेतु आरोग्य, भैषज्यम् इति, एवमिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूहम्-तद्यथा—ससार ससार-हेतु, मोक्षो, मोक्षोपाय इति।

३ योगसूत्र, २।१५।१६
दु खमेव सर्वं विवेकिन हेय दु खमनागतम्।

४ साख्यकारिका, १
दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

अनेक बन गए पर सत्य अनेक नही बना। सत्य शुद्ध, नित्य और शाश्वत होता हे। साधन के रूप मे वह है अहिंसा और साध्य के रूप मे वह है मोक्ष।

दु ख से सुख की ओर

मोक्ष और क्या है ? दु ख से सुख की ओर प्रस्थान और दु ख से मुक्ति। निर्जरा—आत्म-शुद्धि सुख है। पाप-कर्म दु ख है[1]। भगवान् महावीर की दृष्टि पाप के फल पर नही, पाप की जड पर प्रहार करती है। वे कहते हैं—'मूल का छेद करो। काम-भोग क्षण मात्र सुख है, वहुत काल तक दुख देने वाले हैं। यह ससार मोक्ष के विपक्ष है इसलिए ये सुख नही हैं।' 'दुख सबको अप्रिय है। ससार दु खमय है।' जन्म दुख है, बुढापा दु ख है और मृत्यु दु ख है। आत्म-विकास की जो पूर्ण दशा है, वहा न जन्म है, न मृत्यु है, न रोग है और न जरा।

मोक्ष

दर्शन का विचार जहा से चलता है और जहा रुकता है—आगे-पीछे वही आता है—वन्ध और मोक्ष। मोक्ष-दर्शन के विचार की यही मर्यादा है। और जो विचार होता है वह इनके परिवार के रूप मे होता है। भगवान् महावीर ने दो प्रकार की प्रज्ञा वताई—'ज्ञ' और 'प्रत्याख्यान'—जानना और छोडना। ज्ञेय सव पदार्थ हैं। आत्मा के साथ जो विजातीय सम्वन्ध है, वह हेय है। उपादेय हेय से भिन्न कुछ भी नही है। आत्मा का अपना रूप सत्-चित् और आनन्दघन है। हेय नही छूटता तव तक वह छोडने-लेने की उलझन मे फसा रहता है। हेय छूटते ही यह अपने रूप मे आ जाता है। फिर वाहर से न कुछ लेता है और न कुछ लेने की उसे अपेक्षा होती है।

शरीर छूट जाता है। शरीर के धर्म छूट जाते हैं। शरीर के मुख्य धर्म चार हैं

१ आहार
२ श्वास-उच्छ्वास
३ वाणी
४ चिन्तन।

ये रहते हैं तव ससार चलता है। ससार मे विचारो और सम्पर्कों का ताता जुडा रहता है। इसीलिए जीवन अनेक रस-वाही वन जाता है।

---

१ भगवती, ७।८

जे निज्जिण्णे से सुहे, पावे कम्मे जेय कडे जेय कज्जइ कज्जिस्सइ-सव्वे से दुक्खे।

सत्य की परिभाषा

प्रश्न है कि सत्य क्या है ? जैन आगम कहते हैं—'वही सत्य है जो जिन (आप्त और वीतराग) ने कहा है।'[1] वैदिक सिद्धान्त मे भी यही लिखा है—'आत्मा जैसे गूढ तत्त्व का क्षीणदोपयति (वीतराग) ही साक्षात्कार करते हैं।'[2] उनकी वाणी अध्यात्मवादी के लिए प्रमाण है। क्योकि वीतराग अन्यथाभापी नही होते। जैसे कहा है—'असत्य वोलने के मूल कारण तीन हैं—राग, द्वेप और मोह। जो व्यक्ति क्षीणदोप है—दोपत्रयी से मुक्त हो चुका, वह फिर कभी असत्य नही वोलता।'

वीतराग अन्यथाभापी नही होते—यह हमारे प्रतिपाद्य का दूसरा पहलू है। इससे पहले उन्हे पदार्थ-समूह का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान उसी को होता है जो निरावरण हो। निरावरण यानी यथार्थद्रष्टा। वीतराग-वाक्य यानी यथार्थवक्तृत्व। ये दो प्रतिज्ञाए हमारी सत्यमूलक धारणा की समानान्तर रेखाए हैं। इन्ही के आधार पर हमने आप्त के उपदेश को आगम-सिद्धान्त माना है।[3] फलितार्थ यह हुआ कि यथार्थज्ञाता एव यथार्थवक्ता से हमे जो कुछ मिला वही सत्य है।

स्वतन्त्र विचारको का खयाल है कि दार्शनिक परम्परा के आधार पर ही भारत मे अन्धविश्वास जन्मा। प्रत्येक मनुष्य के पाम बुद्धि है, तर्क है, अनुभव है, फिर वह क्यो ऐसा स्वीकार करे कि यह अमुक व्यक्ति या अमुक शास्त्र की वाणी है, इसलिए सत्य ही है। वह क्यो न अपनी ज्ञान-शक्ति का लाभ उठाए। महात्मा वुद्ध ने अपने शिष्यो से कहा—'किसी ग्रन्थ को स्वत प्रमाण न मानना, अन्यथा वुद्धि और अनुभव की प्रामाणिकता जाती रहेगी।' इस उलझन को पार करने के लिए हमे दर्शन-विकास के इतिहास पर विहगम दृष्टि डालनी होगी।

दर्शन की उत्पत्ति

वैदिको का दर्शन-युग उपनिपद्काल से शुरू होता है। आधुनिक अन्वेषको के मतानुसार लगभग चार हज़ार वष पूर्व उपनिपदो का निर्माण होने लग गया था। लोकमान्य तिलक ने मैत्र्युपनिपद् का रचनाकाल ईसा से पूर्व १८८० से

---

१ भगवती
तमेव सच्च निस्सक ज जिणेहि पवेइय।

२ मुण्डक उपनिपद्, ३।५
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येप आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्त शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, य पश्यन्ति यतय क्षीणदोपा ॥

३ प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार ४।४
अभिधेय वस्तु यथावस्थित यो जानाति यथाज्ञानञ्चाभिधत्ते स आप्त ।

१६८० के वीच माना है। बौद्धो का दार्शनिक युग ईसा से पूर्व पाचवी शताब्दी मे शुरू होता है। जैनो के उपलब्ध दर्शन का युग भी यही है, यदि हम भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा को इससे न जोडें। यहा यह वता देना अनावश्यक न होगा कि हमने जिस दार्शनिक युग का उल्लेख किया है, उसका दर्शन की उत्पत्ति से सम्वन्ध है। वस्तुवृत्त्या वह निर्दिष्टकाल आगम प्रणयनकाल है। किन्तु दर्शन की उत्पत्ति आगमो से हुई है, इस पर थोडा आगे चलकर कुछ विशद रूप मे वताया जाएगा। इसलिए प्रस्तुत विषय मे उस युग को दार्शनिक युग की सज्ञा दी गई है। दार्शनिक ग्रन्थो की रचना तथा पुष्ट प्रामाणिक परम्पराओ के अनुसार तो वैदिक, जैन और बौद्ध प्राय सभी का दर्शन-युग लगभग विक्रम की पहली शताब्दी या उससे एक शती पूर्व प्रारम्भ होता है। उससे पहले का युग आगम-युग ठहरता है। उसमे ऋषि उपदेश देते गए और वे उनके उपदेश 'आगम' वनते गए। अपने प्रवर्तक ऋषि को सत्य-द्रष्टा कहकर उनके अनुयायियो द्वारा उनका समर्थन किया जाता रहा। ऋषि अपनी स्वतन्त्र वाणी मे वोलते हैं—"मैं यो कहता हू।"[1] दार्शनिक युग मे यह वदल गया। दार्शनिक वोलता है— "इसलिए यह यो है।" आगम-युग श्रद्धा-प्रधान था और दर्शन-युग परीक्षा-प्रधान। आगम-युग मे परीक्षा की और दर्शन-युग मे श्रद्धा की अत्यन्त उपेक्षा नही हुई। हो भी नही सकती। इस वात की सूचना के लिए ही यहा श्रद्धा और परीक्षा के आगे प्रधान शव्द का प्रयोग किया गया है। आगम मे प्रमाण के लिए पर्याप्त स्थान सुरक्षित है। जहा हमे आज्ञारुचि एव सक्षेपरुचि का दर्शन होता है, वहा विस्ताररुचि भी उपलब्ध होती है। इन रुचियो के अध्ययन मे हम इस निष्कर्ष पर पहुच सकते हैं कि दर्शन-युग या आगम-युग अमुक-अमुक समय नही किन्तु व्यक्तियो की योग्यता है। दार्शनिक युग अर्थात् विस्तार-रुचि की योग्यतावाला व्यक्ति, आगम-युग अर्थात् आज्ञारुचि या सक्षेपरुचिवाला व्यक्ति। प्रकारान्तर से देखें तो दार्शनिक युग यानी विस्तार-रुचि, आगमिक युग यानी आज्ञारुचि। दर्शन के हेतु वतलाते हुए वैदिक ग्रन्थकारो ने लिखा है—"श्रौत वाक्य सुनना, युक्ति द्वारा उनका मनन करना, मनन के वाद सतत-चिन्तन करना—ये सव दर्शन के हेतु है।"[2] विस्तार-रुचि की व्याख्या मे जैन सूत्र कहते हैं—"द्रव्यो के सव पर्याय प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि प्रमाण और नैगम आदि नय (समीक्षक दृष्टियो) से जो जानता है, वह विस्तार-रुचि है।"[3] इसलिए

१ आयारो, १।११८, ४।१ आदि-आदि—
से वेमि।

२ श्रोतव्य श्रुतिवाक्येभ्य, मन्तव्यश्चोपपत्तिभि ।
मत्वा च सतत ध्येय, एते दर्शनहेतव ॥

३ उत्तरज्झयणाणि २८।२४.
दव्वाणसव्वभावो, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धो।
सव्वाहि नयविहिहि, वित्थाररुइत्ति नायव्वो ॥

यह व्याप्ति वन सकती है कि आगम मे दर्शन है और दर्शन मे आगम। तात्पर्य की दृष्टि से देखें तो अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए आज भी आगम-युग है और विशद-वुद्धि व्यक्ति के लिए पहले भी दर्शन-युग था। किन्तु एकान्तत यो मान लेना भी सगत नही होता। चाहे कितना ही अल्पवुद्धि व्यक्ति हो, कुछ न कुछ तो उसमे परीक्षा का भाव होगा ही। दूसरी ओर विशद-वुद्धि के लिए भी श्रद्धा आवश्यक होगी ही। इसीलिए आचार्यों ने वताया है कि आगम और प्रमाण, दूसरे शब्दो मे श्रद्धा और युक्ति—इन दोनो के समन्वय से ही दृष्टि मे पूर्णता आती है, अन्यथा सत्यदर्शन की दृष्टि अधूरी ही रहेगी।

विश्व मे दो प्रकार के पदार्थ हैं—इन्द्रिय विपय और अतीन्द्रिय विषय। ऐन्द्रियिक पदार्थों को जानने के लिए युक्ति और अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने के लिए आगम—ये दोनो मिल हमारी सत्योन्मुख-दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं।"[1] यहा हमे अतीन्द्रिय को अहेतुगम्य पदार्थ के अर्थ मे लेना होगा, अन्यथा विपय की सगति नही होती, क्योकि युक्ति के द्वारा भी वहुत सारे अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं। सिर्फ अहेतुगम्य पदार्थ ही ऐसे हैं, जहा कि युक्ति कोई काम नही करती। हमारी दृष्टि के दो अगो का आकार भावो की द्विविधता है। ज्ञेयत्व की अपेक्षा पदार्थ दो भागो मे विभक्त होते है—हेतुगम्य और अहेतुगम्य। जीव का अस्तित्व हेतुगम्य है—स्वसवेदन-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से उसकी सिद्धि होती है। रूप को देखकर रस का अनुमान, सघन वादलो को देखकर वर्पा का अनुमान होता है, यह हेतुगम्य है। पृथ्वीकायिक जीव श्वास लेते हैं, यह अहेतुगम्य है। अभव्य जीव मोक्ष नही जाते किन्तु क्यो नही जाते, इसका युक्ति के द्वारा कोई कारण नही वताया जा सकता। सामान्य युक्ति मे भी कहा जाता है—'स्वभावे तार्किका भग्ना'—स्वभाव के सामने कोई प्रश्न नही होता। अग्नि जलती है, आकाश नही, यहा तर्क के लिए स्थान नही है।

आगम और तर्क का जो पृथक्-पृथक् क्षेत्र वतलाया है, उसको मानकर चले विना हमे सत्य का दर्शन नही हो सकता। वैदिक साहित्य में भी सम्पूर्ण दृष्टि के लिए उपदेश और तर्कपूर्ण मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता वतलायी है[2]। जहा श्रद्धा या तर्क का अतिरजन होता है, वहा ऐकान्तिकता आ जाती है। उससे अभिनिवेश, आग्रह या मिथ्यात्व पनपता है। इसीलिए आचार्यो ने वताया है कि

---

१ आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्ण दृष्टिकारणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सदभावप्रतिपत्तये॥

२ शुक्ररहस्य, ३।१३
श्रवण तु गुरो पूर्वं, मनन तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्, पूर्णवोधस्य कारणम॥

"जो हेतुवाद के पक्ष मे हेतु का प्रयोग करता है, आगम के पक्ष मे आगमिक है, वही स्वसिद्धान्त का जानकार है। जो इससे विपरीत चलता है, वह सिद्धान्त का विराधकहै।

आगम—तर्क की कसौटी पर

यदि कोई एक ही द्रष्टा ऋषि या एक ही प्रकार के आगम होते तो आगमो को तर्क की कसौटी पर चढने की घडी न आती। किन्तु अनेक मतवाद हैं, अनेक ऋषि। किसकी बात मानें, किसकी नही, यह प्रश्न लोगो के सामने आया। धार्मिक मतवादो के इस पारस्परिक सघर्ष मे दर्शन का विकास हुआ।

भगवान् महावीर के समय मे ३६३ मतवादो का उल्लेख मिलता है। बाद मे उनकी शाखा-प्रशाखाओ का विस्तार होता गया। स्थिति ऐसी बनी कि आगम की साक्षी से अपने सिद्धान्तो की सचाई बनाये रखना कठिन हो गया। तब प्राय सभी प्रमुख मतवादो ने अपने तत्त्वो को व्यवस्थित करने के लिए युक्ति का सहारा लिया। 'विज्ञानमय आत्मा का श्रद्धा ही सिर है'[1]—यह सूत्र 'वेदवाणी की प्रकृति बुद्धिपूर्वक है' इससे जुड गया[2]। 'जो द्विज धर्म के मूल श्रुति और स्मृति का तर्कशास्त्र के सहारे अपमान करता है वह नास्तिक और वेदनिन्दक है। साधुजनो को उसे समाज से निकाल देना चाहिए[3]।' इसका स्थान गौण होता चला गया और 'जो तर्क से वेदार्थ का अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही" इसका स्थान प्रमुख हो चला। आगमो की सत्यता का भाग्य तर्क के हाथ मे आ गया। चारो ओर 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध'—यह उक्ति गूजने लगी। वही धर्म सत्य माना जाने लगा, जो कष, छेद और ताप सह सके। परीक्षा के सामने अमुक व्यक्ति या अमुक व्यक्ति की वाणी का आधार नही रहा, वहा व्यक्ति के आगे युक्ति की उपाधि लगानी पडी—'युक्तिमद् वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह ।'

भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध या महर्षि व्यास की वाणी है, इसलिए सत्य है या इसलिए मानो, यह बात गौण हो गई। 'हमारा सिद्धान्त युक्तियुक्त है, इसलिए सत्य है'—इसका प्राधान्य हो गया।

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद्
तस्य श्रद्धैव शिर ।

२ वैशेषिक दर्शन
बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे ।

३ मनुस्मृति, २।११
योऽवमन्येत मूले, हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो, नास्तिको वेदनिन्दक ।।

तर्क का दुरुपयोग

ज्यों-ज्यों धार्मिकों में मत-विस्तार की भावना बढ़ती गई, त्यों-त्यों तर्क का क्षेत्र व्यापक बनता चला गया। न्यायसूत्रकार ने वाद, जल्प और वितण्डा को तत्त्व बताया[1]। वाद को तो प्रायः सभी दर्शनों में स्थान मिला[2]। जय-पराजय की व्यवस्था भी मान्य हुई, भले ही उसके उद्देश्य में कुछ अन्तर रहा हो। आचार्य और शिष्य के बीच होनेवाली तत्त्वचर्चा के क्षेत्र में वाद फिर भी विशुद्ध रहा। किन्तु जहां दो विरोधी मतानुयायियों में चर्चा होती, वहां वाद अधमवाद से भी अधिक विकृत बन जाता। मण्डन मिश्र और शंकराचार्य के बीच हुए वाद का वर्णन इसका ज्वलन्त प्रमाण है[3]। आचार्य सिद्धसेन ने महान् तार्किक होते हुए भी शुष्कवाद के विषय में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "श्रेयस् और वाद की दिशाएं भिन्न हैं।"[4]

भारत में पारस्परिक विरोध बढ़ने में शुष्क तर्कवाद का प्रमुख हाथ है। 'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्'—युधिष्ठिर के ये उद्गार तर्क की अस्थिरता और मतवादों की बहुलता से उत्पन्न हुई जटिलता के सूचक हैं। मध्यस्थवृत्तिवाले आचार्य जहां तर्क की उपयोगिता मानते थे, वहां शुष्क तर्कवाद के विरोधी भी थे।[5]

प्रस्तुत विषय का उपसंहार करने से पूर्व हमें उन पर दृष्टि डालनी होगी,

---

१ न्यायसूत्र, १।१
प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा
हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः।

२ धर्मवादाष्टक,
विषयो धर्मवादस्य, तत्तत्तन्त्रव्यपेक्षया।
प्रस्तुतार्थोपयोग्येव, धर्मसाधनलक्षणः।

३ शंकर दिग्विजय।

४ वादद्वात्रिंशिका, ७
अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम्॥

५ योगदृष्टि समुच्चय, १४३-१४५
यत्नानुमितोऽप्यर्थः, कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते॥
ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः॥
न चैतदेवं यत्तस्मात्, शुष्कतर्कग्रहो महान्।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः॥

जो सत्य के दो रूप हमे इस विवरण से मिलते हैं—

१ आगम को प्रमाण माननेवालो के मतानुसार जो सर्वज्ञ ने कहा है वह तथा जो मर्वज्ञकथित और युक्ति द्वारा समर्थित है वह सत्य है।

२ आगम को प्रमाण न माननेवालो के मतानुसार जो तर्कसिद्ध है वही सत्य है।

किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित, अतीन्द्रिय तथा स्वभावसिद्ध पदार्थों की जानकारी के लिए युक्ति कहा तक कार्य कर सकती है, यह श्रद्धा को सर्वथा अस्वीकार करनेवालो के लिए चिन्तनीय है। हम तर्क की ऐकान्तिकता को दूर कर दें तो वह सत्य-सधानात्मक प्रवृत्ति के लिए दिव्य-चक्षु है। धर्म-दर्शन आत्म-शुद्धि और तत्त्व-व्यवस्था के लिए ह, आत्मवचना या दूसरो को जाल मे फसाने के लिए नही, इसलिए दर्शन का क्षेत्र सत्य का अन्वेषण होना चाहिए। भगवान् महावीर के शब्दो मे 'सत्य ही लोक मे सारभूत है'[1]। उपनिषद्कार के शब्दो मे 'सत्य ही ब्रह्मविद्या का अधिष्ठान और परम लक्ष्य है।'[2] 'आत्महितेच्छु पुरुष असत्य चाहे वह कही हो, को छोड, सत्य को ग्रहण करे।'[3] कवि भोजयति की यह माध्यस्थ्यपूर्ण उक्ति प्रत्येक तार्किक के लिए मननीय है।

दर्शन का मूल

तार्किक विचार-पद्धति, तत्त्वज्ञान, विचारप्रयोजकज्ञान अथवा परीक्षा-विधि का नाम दर्शन है। उसका मूल उद्गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है। जिस वस्तु या सिद्धान्त को लेकर यौक्तिक विचार किया जाए, वह (विचार) दर्शन वन जाता है—जैसे राजनीति-दर्शन, समाज-दर्शन, आत्म-दर्शन, धर्म-दर्शन आदि-आदि।

यह सामान्य स्थिति या आधुनिक स्थिति है। पुरानी परिभाषा इतनी व्यापक नही है। ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दर्शन शब्द का प्रयोग सवसे पहले 'आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाले विचार' के अर्थ मे हुआ है। दर्शन यानी वह तत्त्व-ज्ञान जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि का विचार करे।

---

१ प्रश्नव्याकरण, २
मच्च लोगम्मि सारभूय।

२ केन उपनिषद् (चतुर्थ खण्ड ८)
सत्यमायतनम्।

३ द्रव्यानुयोग तर्कणा
एकाप्यनाद्याखिलतत्त्वरूपा, जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कं।
तत्राप्यसत्य त्यज सत्यमङ्गीकुरु स्वय स्वीयहिताभिलापिन्।

आगे चलकर वृहस्पति के लोकायत मत और अजितकेश-कम्वली के उच्छेद-वाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद जैसी नास्तिक विचारधाराए सामने आयी। तब दर्शन का अर्थ कुछ व्यापक हो गया। वह सिर्फ आत्मा से ही सम्बद्ध नही रहा। व्यापक सन्दर्भ मे दर्शन की परिभाषा हुई—

दर्शन अर्थात् विश्व की मीमासा, अस्तित्व या नास्तित्व का विचार अथवा सत्य-शोध का साधन।

पाश्चात्य दार्शनिको की, विशेषत कार्ल मार्क्स की, विचारधारा के आविर्भाव ने दर्शन का क्षेत्र और अधिक व्यापक बना दिया। जैसा कि मार्क्स ने कहा है—"दार्शनिको ने जगत् को समझने की चेष्टा की है, प्रश्न यह है कि उसका परिवर्तन कैसे किया जाए।" मार्क्स-दर्शन विश्व और समाज दोनो के तत्त्वो का विचार करता है। वह विश्व को समझने की अपेक्षा समाज को बदलने मे दर्शन की अधिक सफलता मानता है। आस्तिको ने समाज पर कुछ भी विचार नही किया, यह तो नही, किन्तु धर्म-कर्म की भूमिका मे हटकर उन्होंने समाज को नही तोला। उन्होंने अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा नही की, फिर भी उनका अन्तिम लक्ष्य नि श्रेयस रहा।

कहा भी है—

'यदाभ्युदयिकञ्चैव, नैश्रेयसिकमेव च।
सुख साधयितु मार्गं, दर्शयेत् तद् हि दर्शनम्॥'

नास्तिक धर्म-कर्म पर तो नही रुके, किन्तु फिर भी उन्हें समाज-परिवर्तन की बात नही सूझी। उनका पक्ष प्राय खण्डनात्मक ही रहा। मार्क्स ने समाज को बदलने के लिए ही समाज को देखा। आस्तिको का दर्शन समाज से आगे चलता है। उसका लक्ष्य है शरीरमुक्ति—पूर्ण स्वतन्त्रता—मोक्ष।

नास्तिको का दर्शन ऐहिक सुख-सुविधाओ के उपभोग मे कोई खामी न रहे, इसलिए आत्मा का उच्छेद साधकर रुक जाता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का लक्ष्य है—समाज की वर्तमान अवस्था का सुधार। अब हम देखते हैं कि दर्शन शब्द जिस अर्थ मे चला, अब उसमे नही रहा।

हरिभद्र सूरि ने वैकल्पिक दशा मे चार्वाक मत को छह दर्शनो मे स्थान दिया है[1]। मार्क्स-दर्शन भी आज लब्धप्रतिष्ठ है, इसलिए इसको दर्शन न मानने का आग्रह करना सत्य से आखें मूदने जैसा है।

दर्शन की धाराए

दर्शनो की विविधता या विविध-विषयता के कारण 'दर्शन' का प्रयोग एकमात्र

---

१ समाजवाद।

आत्मविचार सम्बन्धी नही रहा। इसलिए अच्छा है कि विषय की सूचना के लिए उसके साथ मुख्यतया स्वविषयक विशेषण रहे। आत्मा को मूल मानकर चलने वाले दर्शन का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय धर्म है। इसलिए आत्ममूलक दर्शन की 'धर्म-दर्शन' सज्ञा रखकर चलें तो विषय के प्रतिपादन मे बहुत सुविधा होगी।

धर्म-दर्शन का उत्स आप्तवाणी (आगम) है। ठीक भी है। आधार-शून्य विचार-पद्धति किसका विचार करे ? सामने कोई तत्त्व नही तब किसकी परीक्षा करे ? प्रत्येक दर्शन अपने मान्य तत्त्वो की व्याख्या से शुरू होता है। साख्य या जैन दर्शन, नैयायिक या वैशेषिक दर्शन, किसी को भी ले सब मे स्वाभिमत तत्त्वो की ही परीक्षा है। उन्होने अमुक-अमुक सख्याबद्ध तत्त्व क्यो माने, इसका उत्तर देना दर्शन का विषय नही, क्योकि वह सत्यद्रष्टा तपस्वियो के साक्षात्-दर्शन का परिणाम है। माने हुए तत्त्व सत्य हैं या नही, उनकी सख्या सगत है या नही, यह बताना दर्शन का काम है। दार्शनिको ने ठीक यही किया है। इसीलिए यह नि सकोच कहा जा सकता है कि दर्शन का मूल आधार आगम है। वैदिक निरुक्तकार इस तथ्य को एक घटना के रूप मे व्यक्त करते है। ऋषियो के उत्क्रमण करने पर मनुष्यो ने देवताओ से पूछा—"अब हमारा ऋषि कौन होगा ? तब देवताओ ने उन्हे तर्क नामक ऋषि प्रदान किया।[2] सक्षेप मे सार इतना ही है कि ऋषियो के समय मे आगम का प्राधान्य रहा। उनके अभाव मे उन्ही की वाणी के आधार पर दर्शनशास्त्र का विकास हुआ।

जैन दर्शन की आस्तिकता

जैन दर्शन परम अस्तिवादी है। इसका प्रमाण है—अस्तिवाद के चार अगो की स्वीकृति। उसके चार विश्वास हैं—'आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रिया वाद।'[3] भगवान् महावीर ने कहा—"लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नही है, ऐसी सज्ञा मत रखो। किन्तु ये सब हैं, ऐसी सज्ञा रखो।"[4]

श्रद्धा और युक्ति का समन्वय

यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन श्रद्धालु के लिए जितना आप्तवचन है, उतना ही एक

---

१ पट्खडागम, पृ० ७८-९।
२ निरुक्त २।१२
मनुष्या वा ऋषिपूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषि भवतीति। तेभ्य एव तर्क-ऋषि प्रायच्छन्।
३ आयारो, १।५
—से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई।
४ सूयगडो, २।५।१२-१६।

बुद्धिवादी के लिए युक्तिवचन। इसीलिए आगम-साहित्य मे अनेक स्थानो पर इसे 'नैयायिक' (न्याय-सगत) कहा गया है[1]। जैन साहित्य मे मुनि-वाणी को— 'नियोगपर्यनुयोगानर्हम्' (मुनेर्वच) नही कहा जाता। उसके लिए कसौटी भी मान्य है। भगवान् महावीर ने जहा श्रद्धावान् को 'मेधावी' कहा है, वहा 'मतिमन्! देख, विचार'[2]—इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने-समझने का अवसर भी दिया है। यह सकेत उत्तरवर्त्ती आचार्यो की वाणी मे यो पुनरावर्तित हुआ—'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्य, मद्वचो न तु गौरवात्।'

मोक्ष-दर्शन

'एय पासगस्स दसण'—यह द्रष्टा का दर्शन है।

सही अर्थ मे जैन दर्शन कोई वादविवाद लेकर नही चलता। वह आत्ममुक्ति का मार्ग है, अपने आपकी खोज और अपने आपको पाने का रास्ता है[3]। इसका मूल मत्र है—'सत्य की एषणा करो,'[4] 'सत्य को ग्रहण करो,'[5] 'सत्य मे धैर्य रखो,'[6] 'सत्य ही लोक मे सारभूत है'[7]।

जैन दर्शन का आरम्भ

यूनानी दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से हुआ माना जाता है। यूनानी दार्शनिक अफलातू प्लेटो का प्रसिद्ध वाक्य है—"दर्शन का उद्भव आश्चर्य से होता है।" पश्चिमी दर्शन का उद्गम सशय से हुआ—ऐसी मान्यता है। भारतीय दर्शन का स्रोत है—दु ख की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा[8]।

---

१ सूयगडो, २।७

२ आयारो, ३।१२, ३।८०
मझम पास सड्ढी आणाए मेहावी।

३ सूयगडो २।७, उत्तरज्झयणाणि २८।२,३।

४ उत्तरज्झयणाणि ६।२
अप्पणा सच्चमेसिज्जा।

५ आयारो, ३।६५
पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि।

६ वही, ३।४०
सच्चम्मि धिइ कुव्वहा।

७ प्रश्नव्याकरण २ सवरद्वार
सच्च लोगम्मि सारभूय।

८ (क) साख्यकारिका १
दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

जैन दर्शन इसका अपवाद नहीं है। 'यह संसार अध्रुव और दु:खबहुल है। वह कौन-सा कर्म है, जिसे स्वीकार कर मैं दुर्गति से बचूं, दु:ख-परम्परा से मुक्ति पा सकूं।'[1] इस चिन्तन का फल है—आत्मवाद। "आत्मा की अचेतन प्रभावित दशा ही दु:ख है।"[2] 'आत्मा की शुद्ध दशा ही सुख है।'[3]

कर्मवाद इसी शोध का परिणाम है। "सुचीर्ण का फल सत् होता है और दुश्चीर्ण कर्म का फल असत्।"[4]

'आत्मा पर नियन्त्रण कर, यही दु:ख-मुक्ति का उपाय है।'[5]

इस दु:ख-निवृत्ति के उपाय ने क्रियावाद को जन्म दिया। इनकी शोध के साथ-साथ दूसरे अनेक तत्त्वों का विकास हुआ।

आश्चर्य और संशय भी दर्शन-विकास के निमित्त बनते हैं। जैन सूत्रों में भगवान् महावीर और उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम के प्रश्नोत्तर प्रचुर मात्रा में हैं। गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे, उनके कई कारण बताए हैं। उनमें दो कारण ये हैं—संशय और कुतूहल। गौतम को जब संशय और कुतूहल[6] हुआ तब वे भगवान् महावीर के पास आए और उनसे समाधान मांगा। भगवान् महावीर महावीर ने उनके प्रश्नों को समाहित किया। ये प्रश्नोत्तर जैन तत्त्वज्ञान की अमूल्य निधि हैं।

(ख) योगसूत्र २।१५-१६

दु:खमेव सर्वं विवेकिन, हेय दु:खमनागतम्।

(ग) बुद्धचरित

महात्मा बुद्ध ने कपिलवस्तु राजधानी से बाहर निकलकर प्रतिज्ञा की—"जननमरणपारदृष्टपार न पुनरह कपिलाह्वय प्रवेष्टा।"

१ उत्तरज्झयणाणि ८।१

अधुवे असासयम्मि ससारम्मि दुक्खपउराये।

किं नाम होज्जत कम्मय जेणाह दुग्गइ न गच्छेज्जा॥

२ भगवती ७।८

पावकम्मे जेय कडे, जेय कज्जइ, जेय कज्जिस्सइ सव्वे से दुक्खे।

३ वही, ७।८

जे निज्जिण्णे से सुहे।

४ (क) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ६

सुचिण्णकम्मा सुचिण्णफला, दुचिण्णकम्मा दुचिण्णफला।

(ख) बृहदारण्यक उपनिषद् ३।२।१३.

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा, पाप पापेनेति।

५ आयारो, ३।६४

पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एव दुक्खापमोक्खसि।

६. भगवती १।१

जाय ससए, जाय कोउहल्ले।

जैन दर्शन का ध्येय

जैन दर्शन का ध्येय है—आध्यात्मिक अनुभव। आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ स्वतन्त्र आत्मा का एकत्व में मिल जाना नहीं, किन्तु अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अनुभव करना है।

प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है और प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्तिसम्पन्न है। आत्मा और परमात्मा, ये सर्वथा भिन्न सत्तात्मक तत्त्व नहीं है। अशुद्ध दशा मे जो आत्मा होती है, वही शुद्ध दशा मे परमात्मा बन जाती है। अशुद्ध दशा मे आत्मा के ज्ञान और शक्ति जो आवृत होते हैं, वे शुद्ध दशा मे पूर्ण विकसित हो जाते है।

'सत्य की शोध' यह भी जैन दर्शन का ध्येय है किन्तु केवल सत्य की शोध ही नही है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही सत्य सत्य है, जो आत्मा को अशुद्ध या अनुन्नत दशा से शुद्ध या उन्नत दशा मे परिवर्तित करने के लिए उपयुक्त होता है। मार्क्स ने जो कहा—"दार्शनिकों ने जगत् को विविध प्रकार से समझने का प्रयत्न किया है किन्तु उसे बदलने का नही" यह सर्वांग सुन्दर नही है। परिवर्तन के प्रति दो दृष्टि-बिन्दु हैं—बाह्य और आन्तरिक। भारतीय दर्शन आन्तरिक परिवर्तन को मुख्य मानकर चले हैं। उनका अभिमत यह रहा है कि आध्यात्मिक परिवर्तन होने पर बाहरी परिवर्तन अपने आप हो जाता है। अभ्युदय उनका साध्य नही, वह केवल जीवन-निर्वाह का साधन मात्र रहा है। मार्क्स जैसे व्यक्ति, जो केवल बाहरी परिवर्तन को ही साध्य मानकर चले, का परिवर्तन सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है। जैन दृष्टि के अनुसार बाहरी परिवर्तन से क्वचित् आन्तरिक परिवर्तन सुलभ हो सकता है किन्तु उससे आत्म-मुक्ति का द्वार नही खुलता, इसलिए वह मोक्ष के लिए मूल्यवान् नही है।

पलायनवाद

कुछ पश्चिमी विचारकों ने भारतीय दर्शन पर यह आरोप लगाया है कि वह पलायनवादी है। कुछ वैदिक विद्वानों ने श्रमण दर्शन (जैन और बौद्ध) को इस आरोप से समारोपित किया है कि वह पलायनवादी है। मैं इस असमजस मे हू कि इस आरोप को अस्वीकार करू या स्वीकार? आरोप लगानेवालो का अपना दृष्टिकोण है और वह निराधार नही है। जीवन की तुला के दो पलडे हैं। पश्चिमी विचारकों ने वर्तमान के पलडे को अधिक मूल्य दिया है, इसलिए भविष्य के पलडे को अधिक मूल्य देनेवाले भारतीय दर्शन उनकी दृष्टि मे पलायनवादी हैं। वैदिक विद्वानो ने गृहस्थाश्रम को अधिक मूल्य दिया है, इसलिए सन्यास को अधिक महत्त्व देनेवाले श्रमण दर्शन उनकी दृष्टि मे पलायनवादी हैं।

पलायन के दो कोण है—निराशा और उत्कर्ष की उपलब्धि का प्रयत्न। भारतीय दर्शन निराशावादी नही है। वर्तमान जीवन के प्रति उसमे उत्कट आस्था है। इसके साक्षी है वे वैदिक सूक्त, जिनमे वर्तमान कामना की वेदी पर बैठा हुआ दर्शन उंगलियो से समृद्धि को बटोर रहा है। वैदिक ऋषि के लिए संसार असार नही है। उसके मन मे चिरायु होने की कामना है। वह गाता है—'जीवेम शरद शतम्'—हम सौ वर्ष तक जीए। वह जीवन को मंगलमय जीना चाहता है, इसलिए उसकी कामना है—"शृणुयाम शरद शतं, प्रब्रवाम शरद शतं, अदीना स्याम शरद शतम्'—हम जीवन के अन्तिम क्षण तक सुनते रहे, बोलते रहे और पराक्रम की शिखा को प्रदीप्त करते रहे। उसकी सफलता की प्रार्थना का स्वर बहुत विराट है। वह कहता है—"मह्य नमन्ता प्रदिशश्चतस्र'—मेरे लिए सभी दिशाए झुक जाए। उसकी भाषा असीम है। वह अल्प मे तोष का अनुभव नही करता। उसका स्वर आशातीत है—"इषन्निषाण, अमु म इषाण सर्व लोक इषाण'—मेरे लिए यदि कोई कामना करते हो तो यही करो कि यह समूचा लोक मेरे वश मे आ जाए, यह समूचा लोक मुझे मिल जाए।

वैदिक दर्शन के आशावादी मंच पर मैं श्रमण दर्शन को प्रस्तुत नही करूगा, क्योंकि उसमे कामना का स्वर मुखर नही है। उसका स्वर देशातीत और कालातीत अस्तित्व को अनावृत करने की दिशा मे मुखर है। वह जीवन के प्रति निराश नही है, किन्तु जीवन-विकास की अंतिम रेखा तक पहुचने के लिए समर्पित है। उसका अंतिम लक्ष्य है—मोक्ष। उसका अंतिम लक्ष्य है—निर्वाण।

मोक्ष जीवन की वह अवस्था है, जहा सब बन्धन निर्बंध हो जाते है—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौतिक और धार्मिक सब बन्धनो से मुक्ति, पूर्ण स्वतन्त्रता।

निर्वाण जीवन की वह अवस्था है, जहा दैहिक, वाचिक और मानसिक सब दोष निःशेष हो जाते है। जहा समग्र कामनाओ और क्लेशो की शान्ति, निरपेक्ष शान्ति प्राप्त होती है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने के लिए उठा हुआ पग निराशावादी नही हो सकता। द्वितीय महायुद्ध के मध्य मित्रराष्ट्रो की सेना पीछे हटती जा रही थी। इसको वे निराशा और पराजय मान रहे थे। रणनीतिज्ञ उसे अपनी रणनीति बता रहे थे। विजय के क्षणो ने इसी बात की पुष्टि की कि वह उनकी रणनीति थी।

के सामने उन्मुक्त विद्रोह है।

श्रमण दार्शनिक गाता है—"जीवन की आशंसा मत करो, मृत्यु की आशंसा मत करो। वह जीवन आशंसनीय नहीं है, जो भौतिकता से आक्रान्त और इन्द्रिय उच्छृङ्खलता से संवलित है।"

वह मृत्यु अभिलषणीय नहीं है, जो निराशा से अभिभूत और जीवन-निर्वाह की अक्षमता से संकुल है।'

'तुम वैसा जीवन जीओ, जिसमें चेतना का प्रतिबिम्ब और स्वतन्त्रता की प्रतिध्वनि हो। तुम वैसी मृत्यु से मरो, जिसकी खिड़की से जीवन की सफलता झांक रही हो और जिसे नैसर्गिक प्रसन्नता आप्लावित कर रही हो।'

२

विश्व-दर्शन

विश्व और दर्शन

प्रत्येक क्रिया के पीछे कर्ता का कर्तव्य होता है। यह तर्कशास्त्र का सामान्य नियम है कि कर्ता के विना कोई क्रिया नही हो सकती। व्याकरणशास्त्र के अनुसार सब कारको मे पहला कारक कर्ता होता है। कर्म, साधन आदि कारक उसके होने पर ही होते हैं, उसके अभाव मे नही होते। व्याकरणाचार्यों ने इसी प्रधानता के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना की—कर्ता स्वतन्त्र होता है और कर्म आदि कारक उसके अधीन होते हैं।

कर्ता, क्रिया और उसका परिणाम यह एक घटनाक्रम है। कुछ घटनाओ मे ये तीनो हमारे सामने होते हैं। इसलिए वहा कर्तृत्व का प्रश्न उपस्थित नही होता। वे घटनाए हमारे सामने कर्तृत्व का प्रयत्न उपस्थित करती हैं, जहा परिणाम हमारे सामने होता है, किन्तु उसका कर्ता हमारे सामने नही होता। इसका उदाहरण हमारा विश्व है, जिसमे हम रहते हैं और जिसे निरन्तर अपनी आखो मे तैरता-डूबता देखते है। यह विशाल भूखण्ड किसके कुशल और सशक्त हाथो की कृति है ? ये उत्तुग शिखर वाले पर्वत किसके हाथो द्वारा निष्पन्न हुए हैं ? यह आकाश किसके कौशल का परिचय दे रहा है ? ये असख्य नीहारिकाए किसके कर्तृत्व का गीता गा रही हैं ? इस चमकते हुए सूर्य और शान्ति बरसाते हुए चाद का आदि कौन है ? ये भूखण्ड को आवेष्टित किए हुए समुद्र किसकी सृष्टि हैं ? प्रकृति के कण-कण के भाग्यविधाता इस मनुष्य का भाग्यविधाता कौन है ? ये प्रश्न शाश्वत प्रश्न हैं। ये आदिकाल मे ही मनुष्य के मन मे कुतूहल उत्पन्न किए हुए हैं। उन्ही का समाधान पाने के लिए मनुष्य ने दर्शन की रेखाए खीची हैं।

क्या हमने इन प्रश्नो का समाधान पा लिया ? क्या हमारे दर्शन इन प्रश्नो का उत्तर देने मे सक्षम हैं ? इस प्रश्न का उत्तर हा मे नही मिल रहा है। इस विषय मे इतना ही कहा जा सकता है कि हमने आलोच्य प्रश्नो का उत्तर पाने का प्रयत्न

किया है। हमारे दर्शन इस दिशा मे आगे बढे है। किन्तु वह समाधान अंतिम है, वह समाधान सार्वजनिक है, यह कहना कठिन है।

विश्व का वर्गीकरण

अरस्तू ने विश्व का वर्गीकरण दस पदार्थों मे किया। वे ये हैं

(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) परिमाण, (४) सम्बन्ध, (५) दिशा, (६) काल, (७) आसन, (८) स्थिति, (९) कर्म, (१०) परिणाम।

वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छह तत्त्वो मे विश्व का वर्गीकरण करते हैं।

जैन-दृष्टि से विश्व छह द्रव्यो मे वर्गीकृत है। ये द्रव्य हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। काल के सिवाय शेष पाच द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय का अर्थ है—प्रदेश-समूह—अवयव-समुदाय। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा, परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय-समूह अस्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के प्रदेशो का विघटन नही होता। इसलिए वे अविभागी द्रव्य हैं। ये अवयवी इस दृष्टि से हैं कि इनके परमाणु-तुल्य खण्डो की कल्पना की जाए तो वे असख्य होते हैं। पुद्गल विभागी द्रव्य हैं। उसका शुद्ध रूप परमाणु है। वह अविभागी है। परमाणुओ मे सयोजन-वियोजन स्वभाव होता है। अत उनके स्कन्ध बनते हैं और उनका विघटन होता है। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नही होता। इसी दृष्टि से पुद्गल द्रव्य विभागी हैं। वह धर्म द्रव्यो की तरह एक व्यक्ति नही, किन्तु अनन्त व्यक्तिक है। जिस स्कन्ध मे जितने परमाणु मिले हुए होते हैं, वह स्कन्ध उतने प्रदेशो का होता है। द्व्यणुक स्कन्ध द्विप्रदेशी यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध अनन्तप्रदेशी होता है। जीव भी अनन्त व्यक्ति है। किन्तु प्रत्येक जीव असख्य-प्रदेशी है। काल न प्रदेश है और न परमाणु। वह औपचारिक द्रव्य है। प्रदेश नही, इसलिए उसके अस्तिकाय होने का प्रश्न ही नही उठता। काल वास्तविक वस्तु नही तब द्रव्य क्यो ? इसका समाधान यह है कि वह द्रव्य की भाति उपयोगी है—व्यवहार प्रवर्तक है, इसलिए उसे द्रव्य की कोटि मे रखा गया है। वह दो प्रकार का है—नैश्चयिक और व्यावहारिक। पाच अस्तिकाय का जो वर्तमान-रूप परिणमन है, वह नैश्चयिक है, ज्योतिष की गति के आधार पर होने वाला व्यावहारिक। अथवा वर्तमान का एक समय नैश्चयिक और भूत, भविष्य व्यावहारिक। बीता हुआ समय चला जाता है और आनेवाला समय उत्पन्न नही होता, इसलिए ये दोनो अविद्यमान होने के कारण व्यावहारिक या औपचारिक हैं। क्षण, मुहूर्त्त, दिन-रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि सब भेद व्यावहारिक काल के होते हैं। दिग् स्वतन्त्र पदार्थ नही है। आकाश के काल्पनिक खण्ड का नाम दिग् है।

द्रव्य

भूत और भविष्य का सकलन करनेवाला (जोडनेवाला) वर्तमान है। वर्तमान के बिना भूत और भविष्य का कोई मूल्य नही रहता। इसका अर्थ यह है कि हम जिस वस्तु का जब कभी एक बार अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब हमे यह मानना पडता है कि वह वस्तु उससे पहले भी थी और बाद मे भी रहेगी। वह एक ही अवस्था मे रहती आयी है या रहेगी—ऐसा नही होता, किन्तु उसका अस्तित्व कभी नही मिटता, यह निश्चित है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे परिवर्तित होते हुए भी उसके मौलिक रूप और शक्ति का नाश नही होता।

दार्शनिक परिभाषा मे द्रव्य वही है जिसमे गुण और पर्याय होते हैं। द्रव्य-शब्द की उत्पत्ति करते हुए कहा है—'अद्रुवत्, द्रवति, द्रोष्यति, तास्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्'—जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा, वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है—अवस्थाओ का उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि अवस्थाए उसी मे उत्पन्न एव नष्ट होती हैं जो ध्रुव रहता है। क्योकि ध्रौव्य के बिना पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओ का सम्बन्ध नही रह सकता। द्रव्य की ये दो परिभाषाए की जा सकती हैं—

१ पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओ मे जो व्याप्त रहता है, वह द्रव्य है।

२ जो सत् है वह द्रव्य है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इस त्रयात्मक स्थिति का नाम सत् है। द्रव्य मे परिणमन होता है—उत्पाद और व्यय होता है, फिर भी उसकी स्वरूप-हानि नही होती। द्रव्य के प्रत्येक अश मे प्रति समय जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण नही होता। परिवर्तन मे कुछ समानता मिलती है और कुछ असमानता। पूर्व-परिणाम और उत्तर-परिणाम मे जो समानता है वही द्रव्य है। उस रूप मे द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट। वह अनुस्यूत रूप वस्तु की प्रत्येक अवस्था मे प्रभावित रहता है, जैसे माला के प्रत्येक मोती मे धागा अनुस्यूत रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन मे जो असमानता होती है, वह पर्याय है। उस रूप मे द्रव्य उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इस प्रकार द्रव्य प्रति समय उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर भी रहता है। द्रव्य रूप से वस्तु स्थिर रहती है और पर्याय रूप से उत्पन्न और नष्ट होती है। इससे यह फलित होता है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य, किन्तु परिणामी-नित्य है।

परिणामी नित्यत्ववाद

परिणाम की व्याख्या करते हुए पूर्वाचार्यों ने लिखा है

"परिणामो ह्यर्थान्तरगमन न च सर्वथा व्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाश , परिणामस्तद्विदामिष्ट ॥ १ ॥
सत्पर्यायेण विनाश , प्रादुर्भावोऽसत्ता च पर्ययत ।
द्रव्याणा परिणाम , प्रोक्त खलु पर्यवनयस्य ?" ॥ २ ॥

जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ मे चला जाता है—एक वस्तु से दूसरी वस्तु के रूप मे परिवर्तित हो जाता है, उसका नाम परिणाम है । यह परिणाम द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से होता है । सर्वथा व्यवस्थित रहना या सर्वथा नष्ट हो जाना परिणाम का स्वरूप नही है । वर्तमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता है, वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से होनेवाला परिणाम है । द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है । इसलिए उसकी दृष्टि से सत् पर्याय की अपेक्षा जिसका कथचित् रूपान्तर होता है, किन्तु जो सवथा नष्ट नही होता, वह परिणाम है । पर्यायार्थिक नय का विपय पर्याय है । इसलिए उसकी दृष्टि से जो सत् पर्याय से नष्ट और असत् पर्याय से उत्पन्न होता है, वह परिणाम है । दोनो दृष्टियो का समन्वय करने से द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक वन जाता है, जिसको हम दूसरे शब्दो मे परिणामी-नित्य या कथचित्-नित्य कहते हैं ।

आगम की भापा मे जो गुण का आश्रय और अनन्त गुणो का अखण्ड पिण्ड है वही द्रव्य है । इनमे पहली परिभापा स्वरूपात्मक है और दूसरी अवस्थात्मक । दोनो मे समन्वय का तात्पर्य है—द्रव्य को परिणामी-नित्य स्थापित करना ।

द्रव्य मे दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी—गुण और क्रमभावी—पर्याय । वौद्ध सत् द्रव्य को एकान्त अनित्य (निरन्वय क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश स्वभाव) मानते हैं, उस स्थिति मे वेदान्ती सत्पदार्थ-ब्रह्म को एकान्त नित्य । पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्यसत्तावाद । जैन-दर्शन इन दोनो का समन्वय कर 'परिणामी नित्यत्ववाद' स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी । इस परिवर्तन मे भी उसका अस्तित्व नही मिटता । उत्पाद और विनाश के वीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमे सजातीयता—'यह वही है' का अनुभव नही हो सकता । यदि द्रव्य निर्विकार ही हो तो विश्व की विविधता सगत नही हो सकती । इसलिए 'परिणामी नित्यत्व' जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के 'द्रव्याक्षरत्ववाद' से की जा सकती है ।

द्रव्याक्षरत्ववाद का स्थापन सन् १७८९ मे Lawoisier नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने किया था । सक्षेप मे इस सिद्धान्त का आशय यह है कि इस अनन्त विश्व मे द्रव्य का परिणाम सदा समान रहता है, उसमे कोई न्यूनाधिकता नही होती । न किसी वर्तमान द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है । साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश होना समझा जाना है, वह उसका

रूपान्तर मे परिणाम मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे साधारणत नाश हो गया कहा जाता है। परन्तु वस्तुत वह नष्ट नही होता, वायुमण्डल के ऑक्सीजन अश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप मे परिवर्तित होता है। यू ही शक्कर या नमक पानी मे घुलकर नष्ट नही होते, किन्तु ठोस से वे सिर्फ द्रव रूप मे परिणत होते है। इसी प्रकार जहा कही कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती प्रतीत होती है वह भी वस्तुत किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तर मात्र है। घर मे अव्यवस्थित रूप से पडी रहने वाली कडाही मे जग लग जाता है, यह क्या है ? यहा भी जग नामक कोई नया द्रव्य उत्पन्न नही हुआ अपितु धातु की ऊपरी सतह, जल और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के सयोग से लोहे के ऑक्सी-हाइड्रेट के रूप मे परिणत हो गई। भौतिकवाद पदार्थों के गुणात्मक अन्तर को परिमाणात्मक अन्तर मे बदल देता है। शक्ति परिमाण मे परिवर्तन नही, गुण की अपेक्षा परिवर्तनशील है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नही होता, सिर्फ ये एक-दूसरे मे परिवर्तित होते हैं। जैन दर्शन मे मातृपदिका का सिद्धान्त भी यही है।[1]

उत्पादध्रुवविनाशै , परिणाम क्षणे-क्षणे।
द्रव्याणामविरोधश्च, प्रत्यक्षादिह दृश्यते ॥[2]

उत्पाद, ध्रुव और व्यय—द्रव्यो का यह त्रिविध लक्षण परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है—इन शब्दो मे और "जिसे द्रव्य का नाश हो जाना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तर मे परिणमन मात्र है" इन दोनो मे कोई अन्तर नही है। वस्तु-दृष्टया ससार मे जितने द्रव्य हैं, उतने ही थे और उतने ही रहेंगे। उनमे से न कोई घटता है और न कोई बढता है। अपनी-अपनी सत्ता की परिधि मे सब द्रव्य जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहते हैं। आत्मा की भी सापेक्ष मृत्यु होती है। तन्तुओ से पट या ध से दही—ये सापेक्ष उत्पन्न होते हैं। जन्म और मृत्यु दोनो सापेक्ष हैं—(१) ध्रुव द्रव्य की, (२) पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओ के सूचक हैं। सूक्ष्म-दृष्ट्या पहला क्षण सापेक्ष-उत्पाद और दूसरा क्षण सापेक्ष-नाश का हेतु है। स्थूल-दृष्ट्या स्थूल पर्याय का पहला क्षण जन्म और अन्तिम क्षण मृत्यु के व्यपदेश का हेतु है।

पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामी नित्य, इस प्रकार साख्य भी नित्या-नित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु आत्मा आदि को नित्य मानते है तथा घट, पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से ये भी परिणामी नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य-मात्र को परिणामी

---

१ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को मातृपदिका कहते हैं।
२ द्रव्यानुयोग तर्कणा, ९।२

नित्य नही मानते। महर्षि पतजलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने 'परिणामी-नित्यत्ववाद' को एक स्पष्ट सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार नही किया, फिर भी उन्होंने इसका प्रकारान्तर से पूण समर्थन किया है।[1]

धर्म और अधर्म

जैन साहित्य मे जहा धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ प्रवृत्तियो के अर्थ मे होता है, वहा दो द्रव्यो—धम—गतितत्व, अधर्म—स्थितितत्त्व के अर्थ मे भी होता है। दाशनिक जगत् मे जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी इनकी स्थिति नही मानी है। वैज्ञानिको मे सब से पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of motion) को स्वोकार किया है। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलवट आइस्टीन ने भी गति तत्त्व की स्थापना करते हुए कहा है—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के वाहर नही जा सकती। लोक के वाहर उस शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति मे सहायक होताहै।" वैज्ञानिको द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गति-तत्त्व का ही दूसरा नाम है।[2]

---

१ (क) पातञ्जल योग

द्रव्य नित्यमाकृतिरनित्या। सुवण कदाचिदाकृत्या युक्त पिण्डो भवति, पिण्डाकृति-मुपमृद्य रुचका क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटका क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिका क्रियन्ते। पुनरावृत्त सुवणपिण्ड। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्य पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

(ख) मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ६१९

वधमानकभगे च रुचक क्रियते यदा।
तदापूर्वार्थिन शोक प्राप्तिश्चाप्युत्तरार्थिन ॥१॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य, तस्मादस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥२॥
न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य, तेन सामान्यनित्यता ॥३॥

२ Hollywood R and T Instruction Lesson No 2

WHAT IS ETHER ?

I am qute sure that you have heard of ETHER before now, but please do not confuse it with the liquid Ether used by surgeons, to render a paitent unconscious for an operation If you should ask me just what the Ether is, that is, the ether that conveys electromagnetic-waves I would answer that I can not accurately describe it Neither can anyone else,

जहा वैज्ञानिक अध्यापक छात्रो को इसका अर्थ समझाते हैं, वहा ऐसा लगता है, मानो कोई जैन गुरु शिष्यो के सामने धर्म-द्रव्य की व्याख्या कर रहा हो। हवा से रिक्त नालिका मे शब्द की गति होने मे यह अभौतिक ईथर ही सहायक बनता है। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया कि जितने भी चल भाव हैं—सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन मात्र हैं, वे सब धर्म की सहायता से प्रवृत्त

The best that anyone could do would be to say that Ether is an invisible body and that through it electromagnetic-waves can be propagated

But let us see from a practical standpoint the nature of the thing called 'ETHER' We are all quite familiar with the existence of solids, liquids and gases Now, suppose that inside a glass-vassel there are no solids, liquids or gases, that all of these things have been removed including the air as well

If I were to ask you to describe the condition that now exists within the glass-vassel, you would promptly reply that nothing exists within it, that a 'Vaccum' has been created But I shall have to correct you, and explain that within this vessel there does exist 'ETHER' nothing else

So, we may say that Ether is a 'something that is not a solid, nor liquid, nor gaseous, nor anything else which can be observed by us physically Therefore, we say that an absolute 'Vaccum' or a void does not exist any where, for we know that an absolute vaccum can not be created for Ether can not be removed

Well, you might say, if we don't know what Ether is, how do we know it exists ?

We get our knowledge of Ether from experiments, by observing results and deducing facts For example, if within the glass-vessel, mentioned above, we place a bell and cause it to ring, no sound of anykind reaches our ears Therefore, we deduce that in the absence of air, sound does not exist

होते हैं। गति शब्द केवल साकेतिक है[1]। गति और स्थिति दोनो सापेक्ष हैं। एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है।

धर्म-अधर्म की तार्किक मीमासा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनपयुक्त नही होगा। वह इस प्रकार है

	द्रव्य से	क्षेत्र से	काल से	भाव से	गुण से
धर्म	एक और व्यापक	लोक प्रमाण	अनादि-अनन्त	अमूर्त	गति सहायक
अधर्म	,,	,,	,,	,,	स्थिति सहायक

धर्म-अधर्म की यौक्तिक अपेक्षा

धर्म और अधर्म को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टिया हैं—गतिस्थितिनिमित्तक द्रव्य और लोक-अलोक की विभाजक शक्ति। प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त—इन दो कारणो की आवश्यकता

---

and thus, that sound must be due to vibration in the air

Now let us place a radio transmitter inside the enclosure that is void of air We find that radio-signal's are sent out exactly the same as when the transmitter was exposed to the air So we are right in deducing that elctromagnetic-waves, or Radio waves, do not depend upon air for their propagation that they are propagated through or by means of 'Something' which remained inside the glass enclosure after the air had been exhausted This 'something' has been named 'ETHER '

We believe that Ether exists throughout all space of the universe, in the most remote region of the stars, and at the same time within the earth, and in the seemingly impossible small space which exists beetwen the atoms of all matter That is to say, Ether is everywhere, and that electromagnetic wave can be prorpagated everywhere

१ भगवती, १३।४।४८१

होती है। विश्व मे जीव और पुद्गल दो द्रव्य गतिशील हैं। गति के उपादान कारण तो वे दोनो स्वय हैं। निमित्त कारण किसे माने ? यह प्रश्न सामने आता है, तब हमे ऐसे द्रव्यो की आवश्यकता होती है, जो गति एव स्थिति मे सहायक बन सकें। हवा स्वय गतिशील है, तो पृथ्वी, पानी आदि सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त नही है। गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक मे होती है, इसलिए हमे ऐसी शक्तियो की अपेक्षा है, जो स्वय गतिशून्य और सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हो, अलोक मे न हो।[1] इस यौक्तिक आधार पर हमे धर्म-अधर्म की आवश्यकता का सहज बोध होता है।

लोक-अलोक की व्यवस्था पर दृष्टि डाले, तब भी इसके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। आचार्य मलयगिरि ने इसका अस्तित्व सिद्ध करते हुए लिखा है—"इनके बिना लोक-अलोक की व्यवस्था नही होती।"[2]

लोक है इसमे कोई सन्देह नही, क्योकि यह इन्द्रिय-गोचर है। अलोक इन्द्रियातीत है, इसलिए उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न उठता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर अलोक की अस्तिता अपने आप मान ली जाती है। तर्कशास्त्र का नियम है कि "जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान् और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है, जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है, वह अलोक है।"[3]

जिसमे जीव आदि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है और जहा केवल आकाश ही आकाश होता है, वह अलोक है। अलोक मे जीव, पुद्गल नही होते। इसका कारण वहा धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव है। इसलिए ये (धर्म-अधर्म) लोक, अलोक के विभाजक बनते हैं। "आकाश लोक और अलोक दोनो मे तुल्य है,"[4] इसी

---

१ प्रज्ञापना, पद १, वृत्ति
धर्माधर्मविभुत्वात्, सवत्र च जीवपुद्गलविचारात् ।
नालोक क्श्चित् स्यान्न च सम्मतमेतदर्थाणाम् ।।१ ।।
तस्माद् धर्माधर्मौ, अवगाढौ व्याप्य लोकख सर्वम् ।
एव हि परिच्छिन्न, सिद्ध्यति लोकस्तद् विभुत्वात् ।।२ ।।

२ वही,
लोकालोकव्यवस्थानुपपत्ते ।

३ न्यायावतार ।
यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेय स स सविपक्ष । यथा घटोऽघट विपक्षक । यश्च लोकस्य विपक्ष सोऽलोक ।

४ लोकप्रकाश, २२८
अलोकाभ्रन्तु भावार्धैर्भावै पञ्चभिरुज्झितम् ।
अनेनैव विशेषेण लोकाभ्रात् पृथगीरितम् ।

५ तम्हा धम्मा धम्मा, लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता ।
इयरहागासे तुल्ले, लोगालोगेत्ति को भेओ ।।

लिए धम और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या रहे।"

गौतम ने पूछा—"भगवन्! गति-सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवो को क्या लाभ होता है?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! गति का सहारा नही होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरगे कैसे फैलती? आख कैसे खुलती? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता?—यह विश्व अचल ही होता। जो चल है, उन सबका आलम्बन गति-सहायक तत्त्व ही है[1]।"

गौतम—"भगवन्! स्थिति-सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवो को क्या लाभ होता है?"

भगवान्—"गौतम! स्थिति का सहारा नही होता तो खडा कौन रहता? कौन बैठता? सोना कैसे होता? कौन मन को एकाग्र करता? मौन कौन करता? कौन निस्पन्द बनता? निमेष कैसे होता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है उन सबका आलम्बन स्थिति-सहायक तत्त्व ही है[2]।"

सिद्धसेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को आवश्यक नही मानते। वे इन्हे द्रव्य के पर्याय-मात्र मानते हैं।[3]

आकाश और दिक्

धम और अधर्म का अस्तित्व जैन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन द्वारा स्वीकृत नही है। आकाश और दिक के बारे मे भी अनेक विचार प्रचलित हैं। कुछ दार्शनिक आकाश और दिक् को पृथक् द्रव्य मानते हैं। कुछ दिक् को आकाश से पृथक् नही मानते।

कणाद ने दिक् को नौ द्रव्यो मे से एक माना है।[4]

न्याय और वैशेषिक जिसका गुण शब्द है उसे आकाश और जो बाह्य जगत् को देशस्थ करता है उसे दिक् मानते हैं। न्यायकारिकावली के अनुसार दूरत्व और सामीप्य तथा क्षेत्रीय परत्व और अपरत्व की बुद्धि का जो हेतु है वह दिक् है। वह एक और नित्य है। उपाधि-भेद मे उसके पूर्व, पश्चिम आदि विभाग होते हैं[5]।

---

१ भगवती १३।४

२ वही, १३।४

३ निश्चयद्वात्रिंशिका, २४
प्रयोगविस्रसाकर्म, तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्त किं धर्माधर्मयो फलम्॥

४ वैशेषिक, सूत्र २।२।१०

५ न्यायकारिकावली, ४६, ४७
दूरान्तिकादिधीर्हेतुरेका नित्यादिगुच्यते।
उपाधिभेदादेकापि, प्राच्यादि व्यपदेशभाक्।

कणाद सूत्र (२।२।१३) के अनुसार इनका भेद कार्य-विशेष से होता है। यदि वह शब्द की निष्पत्ति का कारण बनता है तो आकाश कहलाता है और यदि वह बाह्य-जगत् के अर्थो के देशस्थ होने का कारण बनता है तो दिक् कहलाता है।

अभिधम्म के अनुसार आकाश एक धातु है। आकाश-धातु का कार्य रूप-परिच्छेद (ऊर्ध्व, अध और तिर्यक् रूपो का विभाग) करना है।

जैन दर्शन के अनुसार आकाश स्वतन्त्र द्रव्य है। दिक् उसी का काल्पनिक विभाग है। आकाश का गुण शब्द नही है। शब्द-पुद्गलो के सघात और भेद का कार्य है। आकाश का गुण अवगाहन है, वह स्वय अनालम्ब है, शेष सब द्रव्यो का आलम्बन है। स्वरूप की दृष्टि से सभी द्रव्य स्व-प्रतिष्ठ हैं किन्तु क्षेत्र या आयतन की दृष्टि से वे आकाश-प्रतिष्ठ होते हैं। इसीलिए उसे सब द्रव्यो का भाजन कहते है।[1]

गौतम ने पूछा—"भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवो और अजीवो को क्या लाभ होता है?"

भगवान् ने कहा—गौतम! आकाश नही होता तो—ये जीव कहा होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहा व्याप्त होते? काल कहा बरतता? पुद्गल का रगमच कहा बनता? यह विश्व निराधार ही होता[2]।

द्रव्य-दृष्टि—आकाश अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य है।

क्षेत्र-दृष्टि—आकाश अनन्त विस्तार वाला है—लोक-अलोकमय है।

काल-दृष्टि—आकाश अनादि-अनन्त है।

भाव-दृष्टि—आकाश अमूर्त है।

आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है, वह दिक कहलाता है।

दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति तिर्यक् लोक से होती है।

दिशा का प्रारम्भ आकाश के दो प्रदेशो से शुरू होता है और उनमे दो-दो प्रदेशो की वृद्धि होते-होते वे असख्य प्रदेशात्मक बन जाती हैं। अनुदिशा केवल एक-देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अध दिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशो से होता है, फिर उनमे वृद्धि नही होती[3]। यह दिशा का आगमिक स्वरूप है।

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्व और जिस ओर सूर्यास्त होता है, वह पश्चिम तथा दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बाए हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। इन्हे ताप-दिशा कहा जाता है[4]।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २८।९

२ भगवती, १३।४

३ आचारांग निर्युक्ति, ४२, ४४

४ वही, ४७, ४८

निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुह किये होता है वह पूर्व, उसके पृष्ठ भाग पश्चिम, दोनो पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हे प्रज्ञापक-दिशा कहा जाता है।[1]

काल

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्त्या वह जीव और अजीव की पर्याय है। जहा इसके जीव-अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है, वहा इसे द्रव्य भी कहा गया है। ये दोनो कथन विरोधी नही किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि मे काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि मे वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है—'उपकारक द्रव्यम्।' वर्तना आदि काल के उपकार हैं। इन्ही के कारण यह द्रव्य माना जाता है। पदार्थो की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकादिरूप काल जीव-अजीव से भिन्न नही है, उन्ही की पर्याय है।

दिगम्बर आचार्य काल को अणुरूप मानते हैं[2]। वैदिक दर्शनो मे भी काल के सम्बन्ध मे—नैश्चियक और व्यावहारिक दोनो पक्ष मिलते हैं। नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं[3]। योग, साख्य आदि दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य नही मानते।[4]

कालवाद का आधार

श्वेताम्बर-परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर-परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग पाच हैं—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व[5]। न्याय-दर्शन के अनुसार परत्व और अपरत्व आदि काल के लिंग है[6]। वैशेषिक—पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र को काल के लिंग मानते हैं।[7]

---

१ आचाराग निर्युक्ति, ५१
२ द्रव्यसग्रह, २२
३ (क) न्यायकारिकावली, ४५
जन्याना जनक कालो जगतामाश्रयो मत ।
(ख) वैशेषिकदर्शन, २।२।६-१०
४ साख्यकौमुदी, ३३
५ तत्त्वार्थसूत्र, ५।२२
६ न्यायकारिका, ४६
परापरत्वधिर्हेतु क्षणादि स्यादुपाधित ।
७ वैशेषिकसूत्र, २।२।६

एक-एक समय मे उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ काल के सदा होते हैं। यही कालाणु के अस्तित्व का हेतु है।[1]

विज्ञान की दृष्टि मे आकाश और काल

आइन्स्टीन के अनुसार—आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नही है। ये द्रव्य या पदार्थ के धर्म मात्र हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व पहले तीन दिशाओ—लम्बाई, चौडाई और गहराई या ऊचाई मे माना जाता था। आइन्स्टीन ने वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओ मे माना।

वस्तु का रेखागणित (ऊचाई, लम्बाई, चौडाई) मे प्रसार आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार काल है। काल और आकाश दो भिन्न तथ्य नही हैं।

ज्यो-ज्यो काल वीतता है त्यो-त्यो वह लम्बा होता जा रहा है। काल आकाश-सापेक्ष है। काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश (विश्व के आयतन) का भी प्रसार हो रहा है। इस प्रकार काल और आकाश दोनो वस्तु-धर्म हैं।[2]

अस्तिकाय और काल

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पाच अस्तिकाय हैं। ये तिर्यक्-प्रचय-स्कन्ध रूप मे हैं, इसलिए उन्हे अस्तिकाय कहा जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव एक स्कन्ध है। इनके देश या प्रदेश ये विभाग काल्पनिक हैं। ये अविभागी है। पुद्गल विभागी हैं। उसके स्कन्ध और परमाणु—ये दो मुख्य विभाग हैं। परमाणु उसका अविभाज्य भाग है। दो परमाणु मिलते हैं—द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। जितने परमाणु मिलते हैं उतने प्रदेशो का स्कन्ध बन जाता है। प्रदेश का अर्थ है पदार्थ के परमाणु जितना अवयव या भाग। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के स्कन्धो के परमाणु जितने विभाग किये जाए तो आकाश के अनन्त और शेष तीनो के असख्य होते हैं। इसलिए आकाश को अनन्त-प्रदेशी और शेष तीनो को असख्यप्रदेशी कहा है। देश बुद्धि-कल्पित होता है, उसका कोई निश्चित परिमाण नही बताया जा सकता।

---

१ प्रवचनसारोद्धार, गाथा १४३ ·

एगम्हि सति समये, स भव ठिइणास सण्णिदा अट्ठा।

समयस्स सव्वकाल, एसहि कालाणुसब्भावो।

२ मानव की कहानी, पृ० १२२५ का सक्षेप।

अस्तिकाय के स्कन्ध, देश और प्रदेश इस प्रकार हैं

	स्कन्ध	देश	प्रदेश
धर्म	एक	अनियत	असंख्य
अधर्म	एक	अनियत	असंख्य
आकाश	एक	अनियत	अनन्त
पुद्गल	अनन्त (द्विप्रदेशी यावत् अनन्त-प्रदेशी)	अनियत	दो यावत् अनन्त परमाणु
एक जीव	एक	अनियत	असंख्य

काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका स्कन्ध नहीं बनता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक्-प्रचय (तिरछा फैलाव) नहीं होता। काल का स्कन्ध या तिर्यक्-प्रचय नहीं होता, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। कालशक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेशवाला है। इसलिए इसके तिर्यक्-प्रचय नहीं होता। धर्म आदि पांचों द्रव्य के तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र की अपेक्षा से होता है। और ऊर्ध्व-प्रचय काल की अपेक्षा से होता है। उनके प्रदेश समूह होता है, इसलिए वे फैलते हैं और काल के निमित्त से उनमें पौर्वापर्य या क्रमानुगत प्रसार होता है। समयों का प्रचय जो है वही काल द्रव्य का ऊर्ध्व-प्रचय है। काल स्वयं समय रूप है। उसकी परिणति किसी दूसरे निमित्त की अपेक्षा से नहीं होती। केवल ऊर्ध्व-प्रचय वाला द्रव्य अस्तिकाय नहीं होता।

काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—प्रमाण-काल, यथायुनिर्वृत्ति-काल, मरण-काल और अद्धा-काल।[1]

काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण-काल कहा जाता है।

जीवन और मृत्यु भी काल-सापेक्ष हैं, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुनिर्वृत्ति-काल और उसके अन्त को मरण-काल कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखनेवाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान-रूप अद्धा-काल ही है। शेष तीनों इसी के विशिष्ट रूप हैं। अद्धा-

१ ठाण, ४।१३४

काल व्यावहारिक है। वह मनुष्य-लोक मे ही होता है, इसलिए मनुष्य-लोक को 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। निश्चय-काल जीव-अजीव का पर्याय है, वह लोक-अलोक व्यापी है। उसके विभाग नही होते। समय से लेकर पुद्गल-परावर्त तक के जितने विभाग हैं, वे सब अद्धा-काल के है।[1] इसका सर्वसूक्ष्म भाग समय कहलाता है। यह अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमलपत्र-भेद और वस्त्र-विदारण के द्वारा की जाती है।

(क) एक-दूसरे से सटे हुए कमल के सौ पत्तो को कोई बलवान् व्यक्ति सूई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पत्ते साथ ही छिद गए, किन्तु यह होता नही। जिस समय पहला पत्ता छिदा उस समय दूसरा नही। इसी प्रकार सब का छेदन क्रमश होता है।

(ख) एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र या साडी को इतनी शीघ्रता से फाड डालता है कि दर्शक को ऐसा लगता है मानो सारा वस्त्र एक साथ फाड डाला, किन्तु ऐसा होता नही। वस्त्र अनेक तन्तुओ से बनता है। जब तक ऊपर के तन्तु नही फटते तब तक नीचे के तन्तु नही फट सकते। अत यह निश्चित है कि वस्त्र फटने मे काल-भेद होता है।

तात्पर्य यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओ से बनता है। प्रत्येक तन्तु मे अनेक रूए होते हैं। उनमे भी ऊपर का रूआ पहले छिदता है, तब कही उसके नीचे का रूआ छिदता है। अनन्त परमाणुओ के मिलन का नाम सघात है। अनन्त सघातो का एक समुदय और अनन्त समुदयो की एक समिति होती है। ऐसी अनन्त समितियो के सगठन से तन्तु के ऊपर का एक रूआ बनता है। इन सबका छेदन क्रमश होता है। तन्तु के पहले रूए के छेदन मे जितना समय लगता है उसका अत्यन्त सूक्ष्म अश यानी असख्यातवा भाग (हिस्सा) समय कहलाता है।

अविभाज्य काल —एक समय

असख्य समय —एक आवलिका

२५६ आवलिका —एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आयु)

२२२३ $\frac{१२२९}{३७७३}$ आवलिका —एक उच्छ्वास-नि श्वास

४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका या
साधिक १७ क्षुल्लक भव
या एक श्वासोच्छ्वास } —एक प्राण

---

1 भगवती, ११।११

७ प्राण	—एक स्तोक
७ स्तोक	—एक लव
३८½ लव	—एक घड़ी (२४ मिनट)
७७ लव	—दो घड़ी। अथवा,
	—६५५३६ क्षुल्लक भव। या,
	—१६७७७२१६ आवलिका अथवा
	—३७७३ प्राण अथवा
	—एक मुहूर्त (४८ मिनट)
३० मुहूर्त	—एक दिन-रात (अहोरात्रि)
१५ दिन	—एक पक्ष
२ पक्ष	—एक मास
२ मास	—एक ऋतु
३ ऋतु	—एक अयन
२ अयन	—एक साल
५ साल	—एक युग
७० क्रोडाक्रोड ५६ लाख क्रोड वर्ष	—एक पूर्व
असंख्य वर्ष	—एक पल्योपम[1]
१० क्रोडाक्रोड पल्योपम	—एक सागर
२० क्रोडाक्रोड सागर	—एक काल-चक्र
अनन्त काल-चक्र	—एक पुद्गल परावर्तन

इन सारे विभागों को संक्षेप में अतीत, प्रत्युत्पन्न-वर्तमान और अनागत कहा जाता है।

पुद्गल

विज्ञान जिसको मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन-दर्शन में पुद्गल संज्ञा दी है। बौद्ध-दर्शन में पुद्गल शब्द आलय-विज्ञान—चेतना-सन्तति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन-शास्त्रों में भी

---

१ पल्योपम—संख्या से ऊपर का काल—असंख्यात काल, उपमा काल—एक चार कोश का लम्बा-चौड़ा और गहरा कुआं है, उसमें नवजात यौगलिक शिशु के केशों को, जो मनुष्य के केश के २४०१ हिस्से जितने सूक्ष्म हैं, ससमय खण्ड कर ठूंस-ठूंस करके भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक केश खण्ड निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआं खाली हो, उतने काल को एक पल्य कहते हैं।

अभेदोपचार से पुद्गल युक्त आत्मा को पुद्गल कहा है।[1] किन्तु मुख्यतया पुद्गल का अर्थ है मूर्तिक द्रव्य। छह द्रव्यो मे काल को छोडकर शेप पाच द्रव्य अस्तिकाय है, अवयवी हैं, फिर भी इन सबकी स्थिति एक-सी नही। जीव, धर्म, अधम और आकाश—ये चार अविभागी हैं। इनमे सयोग और विभाग नही होता। इनके अवयव परमाणु द्वारा कल्पित किये जाते हैं। कल्पना करो—यदि इन चारो के परमाणु जितने-जितने खण्ड करें तो जीव, धर्म, अधर्म के असख्य और आकाश के अनन्त खण्ड होते है। पुद्गल अखड द्रव्य नही है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे वडा रूप है विश्वव्यापी अचित महास्कन्ध।[2] इसी-लिए उसको पूरण-गलन-धर्मा कहा है। छोटा-वडा, सूक्ष्म-स्थूल, हल्का-भारी, लम्बा-चौडा, वन्ध-भेद, आकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया इनको पौद्गलिक मानना जैन-तत्त्व-ज्ञान की सूक्ष्म-दृष्टि का परिचायक है।

तत्त्व-सख्या मे परमाणु की स्वतन्त्र गणना नही है। वह पुद्गल का ही एक विभाग है। पुद्गल के दो प्रकार वतलाए हैं

१ परमाणु-पुद्गल।

२ नो परमाणु-पुद्गल-द्वयणुक आदि स्कन्ध।

पुद्गल के विपय मे जैन-तत्त्ववेत्ताओ ने जो विवेचना और विश्लेषणा दी है, उसमे उनकी मौलिकता सहज सिद्ध है।

यद्यपि कई पश्चिमी विद्वानो का खयाल है कि भारत मे परमाणुवाद यूनान से आया, किन्तु यह सही नही। यूनान मे परमाणुवाद का जन्मदाता डिमोक्रिट्स हुआ है। उसके परमाणुवाद मे जैनो का परमाणुवाद वहुताश मे भिन्न है, मौलिकता की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार परमाणु चेतन का प्रतिपक्षी है, जवकि डिमोक्रिट्स के मतानुसार आत्म सूक्ष्मा परमाणुओ का ही विकार है।

कई भारतीय विद्वान् परमाणुवाद को कणाद ऋषि की उपज मानते हैं। किन्तु तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो वैशेपिको का परमाणुवाद जैन-परमाणुवाद से पहले का नही है और न जैनो की तरह वैशेषिको ने उसके विभिन्न पहलुओ पर वैज्ञानिक प्रकाश ही डाला है। विद्वानो ने माना है कि भारतवर्ष मे परमाणुवाद के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय जैन दर्शन को मिलना चाहिए।[3] उपनिषद् मे अणु शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अणोरणीयान् महतो महीयान्', किन्तु परमाणु-

---

१ भगवती, ८।१०।२६१
जीवेण ! पोग्गली, पोग्गले ? जीवे पोग्गलीवि पोग्गलेवि।

२ अचित्त महास्कन्ध—केवली समुद्घात के पाचवें समय मे आत्मा से छूटे हुए जो पुद्गल समूचे लोक मे व्याप्त होते हैं, उनको अचित्त-महास्कन्ध कहते हैं।

३ दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० १२६

वाद नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं पायी जाती। वैशेषिकों का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नहीं है।

ई० पू० के जैन-सूत्रों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में परमाणु के स्वरूप और कार्य का सूक्ष्मतम अन्वेषण परमाणुवाद के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

परमाणु का स्वरूप

जैन-परिभाषा के अनुसार अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है।[1] आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी को परमाणु के उपलक्षणों में सन्देह हो सकता है, कारण कि विज्ञान के सूक्ष्म यन्त्रों में परमाणु की अविभाज्यता सुरक्षित नहीं है।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो उसे परम + अणु नहीं कहा जा सकता। विज्ञान-सम्मत परमाणु टूटता है, उसे भी हम अस्वीकार नहीं करते। इस समस्या के बीच हमें जैन-सूत्र-अनुयोगद्वार में वर्णित परमाणु-द्विविधता का सहज स्मरण हो आता है[2]

१ सूक्ष्म परमाणु।

२ व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्म परमाणु का स्वरूप वही है, जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदय से बनता है।[3] वस्तु-वृत्त्या वह स्वयं परमाणु-पिंड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोडा नहीं जा सकता। उसकी परिणति सूक्ष्म होती है, इसलिए व्यवहारत उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन-दृष्टि को भी स्वीकार्य है।

पुद्गल के गुण

पुद्गल के बीस गुण हैं

स्पर्श—शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु, और कर्कश।

रस—आम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त।

गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

---

१ भगवती, ५।७

२ अनुयोगद्वार (प्रमाणद्वार)
परमाणु दुविहे पन्नते, तंजहा—सुहुमेय ववहारियेय।

३ वही,
अणताण सुहुमपरमाणुपोग्गलाण समुदयसमिति समागयेण ववहारिए परमाणुपोग्गले निप्फज्जति।

यद्यपि सस्थान—परिमडल, वृत्त, त्र्यश, चतुरश आदि पुद्‌गल मे ही होता है, फिर भी वह उसका गुण नही है।[1]

सूक्ष्म परमाणु द्रव्य-रूप मे निरवयव और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय-दृष्टि से वैसा नही है। उसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते है।[2] एक परमाणु मे एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, इन युगलो मे से एक-एक) होते है। पर्याय की दृष्टि से एक गुण वाला परमाणु अनन्त गुण वाला हो जाता है और अनन्त गुण वाला परमाणु एक गुण वाला। एक परमाणु मे वर्ण से वर्णान्तर, गन्ध से गन्धान्तर, रस मे रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर होना जैन-दृष्टि-सम्मत है।

एक गुण वाला पुद्‌गल यदि उसी रूप मे रहे तो जघन्यत एक समय और उत्कृष्टत असख्य काल तक रह सकता है।[3] द्विगुण से लेकर अनन्त गुण तक के परमाणु पुद्‌गलो के लिए यही नियम है। बाद मे उनमे परिवर्तन अवश्य होता है। यह वर्ण विषयक नियम गन्ध, रस और स्पर्श पर भी लागू होता है।

परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नही होता, फिर भी अमूर्त नही है, वह रूपी है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह देखा जाता है। परमाणु मूर्त होते हुए भी दृष्टिगोचर नही होता, इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता।

केवल-ज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त दोनो प्रकार के पदार्थ है। इसलिए केवली (सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय-द्रष्टा) तो परमाणु को जानते ही हैं, अकेवली यानी छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी (जिसका आवरण-विलय अपूर्ण है) परमाणु को जान भी सकता है, और नही भी। अवधिज्ञानी (रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाला योगी) उसे जान सकता है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति उसे नही जान सकता।[4]

परमाणु-समुदय—स्कन्ध और पारमाणविक जगत्

यह दृश्य जगत्—पौद्‌गलिक जगत् परमाणु-सघटित है। परमाणुओ से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धो से स्थूल पदार्थ। पुद्‌गल मे सघातक और विघातक—ये दोनो

---

१ भगवती, २५।३

२ ठाण, ४।१३५ चउविहे पोग्गलपरिणामे पन्नते, तजहा—वण्णपरिणामे, गधपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे।

३ भगवती, ५।७

४, वही, १८।८

शक्तिया हैं। पुद्गल शब्द मे ही 'पूरण और गलन' इन दोनो का मेल है।[1] परमाण के मेल से स्कन्ध बनता है और एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। यह गलन और मिलन की प्रक्रिया स्वाभाविक भी होती है और प्राणी के प्रयोग से भी। कारण कि पुद्गल की अवस्थाए सादि-सान्त होती हैं, अनादि-अनन्त नही। पुद्गल मे अगर वियोजक शक्ति नही होती तो सब अणुओ का एक पिण्ड बन जाता और यदि सयोजक शक्ति नही होती तो एक-एक अणु अलग-अलग रहकर कुछ नही कर पाते। प्राणी-जगत् के प्रति परमाणु का जितना भी कार्य है, वह सब परमाणुसमुदयजन्य है और साफ कहा जाए तो अनन्त परमाणु-स्कन्ध ही प्राणीजगत् के लिए उपयोगी हैं।

स्कन्ध-भेद की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण

दो परमाणु-पुद्गल के मेल से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के भेद से दो परमाणु हो जाते हैं।

तीन परमाणु मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके अलगाव मे दो विकल्प हो सकते हैं—तीन परमाणु अथवा एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

चार परमाणु के समुदय से चतु प्रदेशी स्कन्ध बनता है और उसके भेद के चार विकल्प होते हैं

१ एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध।
२ दो द्विप्रदेशी स्कन्ध।
३ दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।
४ चारो पृथक्-पृथक् परमाणु।

पुदगल मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।[2] द्रव्यार्थतया शाश्वत है और पर्यायरूप मे अशाश्वत। परमाणु-पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा अचरम है। यानी परमाणु सघात रूप मे परिणत होकर भी पुन परमाणु बन जाता है। इसलिए द्रव्यत्व की दृष्टि से चरम नही है। क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चरम भी होता है और अचरम भी।[3]

---

१ ठाण, २।२२१-२२५
दोहि ठाणेहि पोग्गला साहन्नति, सयवा पोग्गला साहन्नति, परेण वा पोग्गला साहन्नति, एव भिज्जति, परिसडति, परिवडति विद्धसति।
२ भगवती १४।४
३ वही, १४।४

पुद्‌गल की द्विविधा परिणत

पुद्‌गल की परिणति दो प्रकार की होती है

१. सूक्ष्म,

२ वादर।

अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी जव तक सूक्ष्म परिणति मे रहता है, तव तक इन्द्रिय-ग्राह्य नही वनता और सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतु स्पर्शी होते हैं। उत्तरवर्ती चार स्पर्श वादर परिणाम वाले चार स्कन्धो मे ही होते हैं। गुरु-लघु और मृदु-कठिन—ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शो के सापेक्ष सयोग से वनते हैं। रूक्ष स्पर्श की वहुलता से लघु स्पर्श होता है और स्निग्ध की वहुलता से गुरु। शीत और स्निग्ध स्पर्श की वहुलता से मृदु स्पर्श और उष्ण तथा रूक्ष की वहुलता से कर्कश स्पर्श वनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की निवृत्ति के साथ-साथ जहा स्थूल परिणति होती है, वहा चार स्पर्श भी वढ जाते हैं।

पुद्‌गल के प्रकार

पुद्‌गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है[1]

१ स्कन्ध—परमाणु-प्रचय।

२ स्कन्ध-देश—स्कन्ध का कल्पित विभाग।

३ स्कन्ध-प्रदेश—स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अश।

४ परमाणु—स्कन्ध से पृथक् निरश-तत्त्व।

प्रदेश और परमाणु मे सिर्फ स्कन्ध से पृथग्भाव और अपृथग्भाव का अन्तर है।

पुद्‌गल कव से और कव तक ?

प्रवाह की अपेक्षा स्कन्ध और परमाणु अनादि-अपर्यवसित है। कारण कि इनकी सन्तति अनादिकाल से चली आ रही है और चलती रहेगी। स्थिति की अपेक्षा यह सादि-सपर्यवसान भी है। जैसे—परमाणुओ से स्कन्ध वनता है और स्कन्ध-भेद से परमाणु वन जाते है।

परमाणु परमाणु के रूप मे, स्कन्ध-स्कन्ध के रूप मे रहे तो कम-से कम एक समय और अधिक से अधिक असख्यात काल तक रह सकते है।[2] वाद मे तो उन्हे

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ३६।१०

२ भगवती, ५।८

बदलना ही पडता है। यह इनकी काल-सापेक्ष स्थिति है। क्षेत्र-सापेक्ष स्थिति—परमाणु अथवा स्कन्ध के एक क्षेत्र मे रहने की स्थिति भी यही है।

परमाणु के स्कन्धरूप मे परिणत होकर फिर परमाणु बनने मे जघन्यत एक समय और उत्कृष्टत असख्य काल लगता है।[1] और द्व्यणुकादि स्कन्धो के परमाणुरूप मे अथवा द्व्यणुकादि स्कन्धरूप मे परिणत होकर फिर मूल रूप मे आने मे जघन्यत एक समय और उत्कृष्टत अनन्त काल लगता है।

एक परमाणु अथवा स्कन्ध जिस आकाश-प्रदेश मे थे और किसी कारणवश वहा से चल पडे, फिर उसी आकाश-प्रदेश मे उत्कृष्टत अनन्त काल के बाद और जघन्यत एक समय के बाद ही आ पाते हैं।[2] परमाणु आकाश के एक प्रदेश मे ही रहते हैं। स्कन्ध के लिए यह नियम नही है। वे एक, दो, सख्यात, असख्यात प्रदेशो मे रह सकते हैं। यावत् समूचे लोकाकाश तक भी फैल जाते हैं ? समूचे लोक मे फैल जानेवाला स्कन्ध 'अचित्त महास्कन्ध' कहलाता है।

पुद्गल का अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व

स्कन्ध—द्रव्य की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी होते हैं।[3] जिस स्कन्ध मे जितने परमाणु होते हैं, वह तत्परिमाणप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है।

क्षेत्र की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी भी होते है और अप्रदेशी भी। जो एक आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह अप्रदेशी और जो दो आदि आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह सप्रदेशी।

काल की अपेक्षा जो स्कन्ध एक समय की स्थिति वाला होता है, वह अप्रदेशी और जो इससे अधिक स्थिति वाला होता है, वह सप्रदेशी।

भाव की अपेक्षा एक गुण वाला स्कन्ध अप्रदेशी और अधिक गुणवाला सप्रदेशी होता है।

परमाणु

द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा परमाणु अप्रदेशी होते हैं। काल की अपेक्षा एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

---

१ भगवती, ५।८
२ वही, ५।८
३ वही, ५।८

परिणमन के तीन हेतु

परिणमन की अपेक्षा पुदगल तीन प्रकार के होते हैं[1] :

१ वैस्रसिक
२ प्रायोगिक।
३ मिश्र।

स्वभावत जिनका परिणमन होता है वे वैस्रसिक, जीव के प्रयोग से शरीरादि रूप मे परिणत पुद्गल प्रायोगिक और जीव के द्वारा मुक्त होने पर भी जिनका जीव के प्रयोग से हुआ परिणमन नही छूटता अथवा जीव के प्रयत्न और स्वभाव दोनो के सयोग से जो बनते हैं, वे मिश्र कहलाते हैं, जैसे—

१ प्रायोगिक परिणाम—जीवच्छरीर।
२ मिश्र परिणाम—मृत शरीर।
३ वैस्रसिक परिणाम—उल्कापात।

इनका रूपान्तर असख्य काल के बाद अवश्य ही होता है।

पुद्गल द्रव्य मे एक ग्रहण नाम का गुण होता है। पुद्गल के सिवाय अन्य पदार्थो मे किसी दूसरे पदार्थ मे जा मिलने की शक्ति नही है। पुद्गल का आपस मे मिलन होता है वह तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त जीव के द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्गल स्वय जाकर जीव से नही चिपटता, किन्तु वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ सलग्न होता है। जीव-सम्बद्ध पुद्गल का जीव पर बहुविध असर होता है, जिसका औदारिक आदि वर्गणा के रूप मे आगे उल्लेख किया जाएगा।

प्राणी और पुद्गल का सम्बन्ध

प्राणी के उपयोग मे जितने पदार्थ आते है, वे सब पौद्गलिक ही होते है, किन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वे सब जीव-शरीर मे प्रयुक्त हुए होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, साग-सब्जी और त्रस कायिक जीवो के शरीर या शरीरमुक्त पुद्गल हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो स्थूल स्कन्ध वे ही है, जो विस्रसा-परिणाम से औदारिक आदि वर्गणा के रूप मे सम्बद्ध होकर प्राणियो के स्थूल शरीर के रूप मे परिणत अथवा उससे मुक्त होते हैं। वैशेषिको की तरह जैन-दर्शन मे पृथ्वी, पानी आदि के परमाणु पृथक् लक्षण वाले नही है। इन सबमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये सभी गुण रहते है।

१ [illegible], ८।१

पुद्गल की गति

परमाणु स्वय गतिशील है। वह एक क्षण मे लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, जो असख्य योजन की दूरी पर है, चला जाता है। गति-परिणाम उसका स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नही, मात्र सहायक है। गति का उपादान परमाणु स्वय है। धर्मास्तिकाय तो उसका निमित्तमात्र है।[1]

परमाणु सैज (सकम्प) भी होता है[2] और अनेज (अकम्प) भी। कदाचित् वह चचल होता है, कदाचित् नही। उसमे न तो निरन्तर कम्प-भाव रहता है और न निरन्तर अकम्प-भाव भी।

द्व्यणु-स्कन्ध मे कदाचित् कम्पन, कदाचित् अकम्पन होता है। वे द्व्यश होते हैं, इसलिए उनमे देश-कम्प और देश-अकम्प ऐसी स्थिति भी होती है।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध मे कम्प-अकम्प की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है। सिर्फ देश-कम्प के एकवचन और द्विवचन सम्बन्धी विकल्पो का भेद होता है। जैसे एक देश मे कम्प होता है, देश मे कम्प नही होता। देश मे कम्प होता है, देशो (दो) मे कम्प नही होता। देशो (दो) मे कम्प होता है, देश मे कम्प नहीं होता।

चतुःप्रदेशी स्कन्ध मे देश मे कम्प, देश मे अकम्प, देश मे कम्प और देशो (दो) मे अकम्प, देशो (दो) मे अकम्प और देश मे अकम्प, देश मे कम्प और देशो मे अकम्प होता है।

पाच प्रदेश यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध की भी यही स्थिति है।

पुद्गल के आकार-प्रकार

परमाणु-पुद्गल अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश होते हैं।

द्विप्रदेशी स्कन्ध सार्द्ध, अमध्य और सप्रदेश होते हैं।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्द्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं।

समसख्यक परमाणु-स्कन्धो की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है और विषम-सख्यक परमाणु स्कन्धो की स्थिति त्रिप्रदेशी स्कन्ध की तरह।

पुद्गल द्रव्य की चार प्रकार की स्थिति बतलाई गई है[4]

१ द्रव्य-स्थानायु

---

१ भगवती, १६।८
२ वही, ५।७
३ वही, ५।७
४ वही, ५।७

२ क्षेत्र-स्थानायु

३ अवगाहन-स्थानायु

४ भाव-स्थानायु

१ परमाणु परमाणुरूप मे और स्कन्ध स्कन्धरूप मे अवस्थित है, वह द्रव्य-स्थानायु है।

२ जिस आकाश-प्रदेश मे परमाणु या स्कन्ध अवस्थित रहते हैं, उसका नाम है क्षेत्र-स्थानायु।

३ परमाणु और स्कन्ध का नियत परिमाण मे जो अवगाहन होता है, वह है अवगाहन-स्थानायु।

क्षेत्र और अवगाहन मे इतना अन्तर है कि क्षेत्र का सम्बन्ध आकाश प्रदेशो मे है। वह परमाणु और स्कन्ध द्वारा अवगाढ होता है तथा अवगाहन का सम्बन्ध पुद्गल द्रव्य से है। उनका अमुक परिमाण-क्षेत्र मे प्रसरण होता है।

४ परमाणु और स्कन्ध के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की परिणति को भाव-स्थानायु कहा जाता है।

परमाणुओ का श्रेणी-विभाग

परमाणुओ की आठ मुख्य वर्गणाए हैं

१ औदारिक वर्गणा—स्थूल पुद्गल—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवो के शरीर-निर्माण योग्य पुद्गल-समूह।

२ वैक्रिय वर्गणा—छोटा-बडा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि विविध क्रियाए करने मे समर्थ शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।

३ आहारक वर्गणा—योग-शक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।

४ तैजस वर्गणा—विद्युत्-परमाणु-समूह।

५ कार्मण वर्गणा—जीवो की सत्-असत् क्रिया के प्रतिफल मे बननेवाला पुद्गल-समूह।

६ श्वासोच्छ्वास वर्गणा—आन-प्राण के योग्य पुद्गल-समूह।

७ वचन वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह।

८ मन वर्गणा—चिन्तन मे सहायक बननेवाला पुद्गल-समूह।

इन वर्गणाओ के अवयव क्रमश सूक्ष्म और अति-प्रचय वाले होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ का दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप मे परिवर्तन होता है।

वर्गणा का वर्गणान्तर के रूप मे परिवर्तन होना भी जैन-दृष्टि-सम्मत है।

पहली चार वर्गणाए अष्टस्पर्शी—स्थूल स्कन्ध हैं। वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन—ये तीन वर्गणाए चतुस्पर्शी—सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इनमे केवल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं।

गुरु, लघु, मृदु, कठिन—ये चार स्पर्श नही होते। श्वासोच्छ्वास वर्गणा चतु-स्पर्शी और अष्टस्पर्शी दोनो प्रकार की होती हैं।[1]

परमाणु-स्कन्ध की अवस्था

परमाणु स्कन्ध रूप मे परिणत होते हैं, तब उनकी दस अवस्थाएं (कार्य) उपलब्ध होती हैं[2]

१ शब्द
२ बन्ध
३ सौक्ष्म्य
४ स्थौल्य
५ सस्थान
६ भेद
७ तम
८ छाया
९ आतप
१० उद्योत

ये पौद्गलिक कार्य तीन प्रकार के होते हैं

१ प्रायोगिक—जीव के प्रयोग से होनेवाले।
२ मिश्र—जीव के प्रयत्न और स्वभाव—दोनो के सयोग से होनेवाले।
३ वैस्रसिक—जीव के स्वभाव से होनेवाले।

शब्द

जैन दार्शनिको ने शब्द को केवल पौद्गलिक कहकर ही विश्राम नही लिया किन्तु उसकी उत्पत्ति, शीघ्रगति, लोक-व्यापित्व, स्थायित्व आदि विभिन्न पहलुओ पर पूरा प्रकाश डाला है।[3] तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टा का शब्द असख्य योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओ में प्रतिध्वनित होता है[4]। यह विवेचन उस समय का है जबकि 'रेडियो', 'वायरलेस' आदि का अनुसन्धान नही हुआ था। हमारा शब्द क्षणमात्र मे लोकव्यापी बन जाता है, यह सिद्धान्त भी आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था।

---

१ भगवती, २।१
२ उत्तरज्झयणाणि, २८।१२
३ देखें—प्रज्ञापना, पद ११।
४ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

शब्द पुद्गल-स्कन्धो के सघात और भेद से उत्पन्न होता है। उसके भाषा-शब्द (अक्षर-सहित और अक्षर-रहित), नो-भाषा-शब्द (आतोद्य शब्द और नो-आतोद्य शब्द) आदि अनेक भेद है।

वक्ता बोलने के पूर्व भाषा-परमाणुओ को ग्रहण करता है, भाषा के रूप मे उनका परिणमन करता है और अन्त मे उनका उत्सर्जन करता है। उत्सर्जन के द्वारा बाहर निकले हुए भाषा-पुद्गल आकाश मे फैलते हैं। वक्ता का प्रयत्न अगर मद है तो वे पुद्गल अभिन्न रहकर 'जल-तरग-न्याय' से असख्य योजन तक फैलकर शक्तिहीन हो जाते हैं। और यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो वे भिन्न होकर दूसरे असख्य स्कन्धो को ग्रहण करते-करते अति सूक्ष्म काल मे लोकान्त तक चले जाते हैं।

हम जो सुनते है वह वक्ता का मूल शब्द नही सुन पाते। वक्ता का शब्द श्रेणियो—आकाश-प्रदेश की पक्तियो मे फैलता है। ये श्रेणिया वक्ता के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊची और नीची—छहो दिशाओ मे हैं।

हम शब्द की सम-श्रेणी मे होते हैं तो मिश्र शब्द सुनते हैं अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द-द्रव्यो और उनके द्वारा वासित शब्द-द्रव्यो को सुनते हैं।

यदि हम विश्रेणी (विदिशा) मे होते हैं तो केवल वासित शब्द ही सुन पाते हैं।[1]

बन्ध

अवयवो का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप मे परिणमन होता है, उसे बन्ध कहा जाता है। सयोग मे केवल अन्तर-रहित अवस्थान होता है किन्तु बन्ध मे एकत्व होता है।

वन्ध के दो प्रकार हैं

१ वैस्रसिक—स्वभाव-जन्य वन्ध।

२ प्रायोगिक—प्रयोग-जन्य वन्ध।

वैस्रसिक वन्ध सादि और अनादि—दोनो प्रकार का होता है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो का वन्ध अनादि है। सादि वन्ध केवल पुद्गलो का होता है। द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते हैं वह सादि वन्ध है। उसकी प्रक्रिया यह है

स्कन्ध केवल परमाणुओ के सयोग से नही बनता। चिकने और रूखे परमाणुओ का परस्पर एकत्व होता है तब स्कन्ध बनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओ का स्निग्धत्व और रूक्षत्व है।

विशेष नियम यह है

१ जघन्य अश वाले चिकने और रूखे परमाणु मिलकर स्कन्ध नही बना

---

१ प्रज्ञापना, पद ११।

सकते।

२ समान अश वाले परमाणु, यदि वे सदृश हो—केवल चिकने हो या केवल रूखे हो—मिलकर स्कन्ध नही वना सकते।

३ स्निग्धता या रूक्षता दो अश या तीन अश आदि अधिक हो तो सदृश परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण कर सकते हैं।

इस प्रक्रिया मे श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा मे कुछ मतभेद है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार—

१ जघन्य अश वाले परमाणु का अजघन्य अश वाले परमाणु के साथ वन्ध होता है।

२ सदृश परमाणुओ मे तीन-चार आदि अश अधिक होने पर भी स्कन्ध होना माना जाता है।

३ दो अश आदि अधिक हो तो वन्ध होता है—यह सदृश परमाणुओ के लिए ही है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार

१ एक जघन्य अश वाले परमाणु का दूसरे अजघन्य अश वाले परमाणु के साथ बन्ध नही होता।

२ सदृश परमाणुओ मे केवल दो अश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है।

३ दो अश अधिक होने का विधान सदृश-सदृश की तरह असदृश-असदृश परमाणुओं के लिए भी है[२]।

श्वेताम्बर-ग्रन्थ तत्त्वार्थ भाषानुसारिणी टीका के अनुसार

अश	सदृश	विसदृश
१ जघन्य जघन्य	नही	नही
२ जघन्य ऐकाधिक	नही	है
३ जघन्य द्वयाधिक	है	है
४ जघन्य त्र्यादि अधिक	है	है
५ जघन्येतर समजघन्येतर	नही	नही
६ जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नही	है
७ जघन्येतर द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर अधिक जघन्येतर	है	है

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५।३४, ३५

२ वही, ५।३५

दिगम्बर-ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के अनुसार

अश	सदृश	विसदृश
१ जघन्य जघन्य	नही	नही
२ जघन्य एकाधिक	नही	नही
३ जघन्य द्वयाधिक	नही	नही
४ जघन्य त्र्यादि अधिक	नही	नही
५ जघन्येतर समजघन्येतर	नही	नही
६. जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नही	नही
७ जघन्येतर द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नही	नही

वन्ध-काल मे अधिक अश वाले परमाणु हीन-अश वाले परमाणुओ को अपने रूप मे परिणत कर लेते हैं। पाच अश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अश वाला स्निग्ध परमाणु पाच अश वाला हो जाता है। इसी प्रकार पाच अश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अश वाला रूखा परमाणु स्निग्ध हो जाता है। जिस प्रकार स्निग्धत्व हीनाश रूक्षत्व को अपने मे मिला लेता है उसी प्रकार रूक्षत्व भी हीनाश स्निग्ध को अपने मे मिला लेता है। कभी-कभी परिस्थितिवश स्निग्ध परमाणु समाश-रूक्ष परमाणुओ को और रूक्ष परमाणु समाश-स्निग्ध परमाणुओ को भी अपने-अपने रूप मे परिणत कर लेते हैं।[1]

दिगम्बर-परम्परा को यह समाश-परिणति मान्य नही है।[2]

सूक्ष्मता और स्थूलता

परमाणु सूक्ष्म हैं और अचित्त-महास्कन्ध स्थूल हैं। इनके मध्यवर्त्ती सौक्ष्म्य और स्थौल्य आपेक्षिक है—एक स्थूल वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को सूक्ष्म और एक सूक्ष्म वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को स्थूल कहा जाता है।

दिगम्बर आचार्य स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार पर पुद्गल को छह भागो मे विभक्त करते हैं

१ वादर-वादर—पत्थर आदि जो विभक्त होकर स्वय न जुडे।
२ वादर—प्रवाही पदार्थ जो विभक्त होकर स्वय मिल जाए।
३ सूक्ष्म-वादर—धूम आदि जो स्थूल भासित होने पर भी अविभाज्य है।
४ वादर-सूक्ष्म—रस आदि जो सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रिय-गम्य हैं।
५ सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा आदि जो इन्द्रियातीत हैं।

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५।३६
२ वही, ५।३६।

६ सूक्ष्म-सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा से भी अत्यन्त सूक्ष्म-स्कन्ध।

छाया

यह अपारदर्शक और पारदर्शक—दोनो प्रकार की होती है।

आतप

यह उष्ण प्रकाश का ताप-किरण है। यह स्वय ठडा होता है किन्तु इसकी प्रभा गरम होती है।

उद्योत

यह शीत प्रकाश का ताप-किरण है। यह स्वय ठडा होता है और इसकी प्रभा भी ठडी होती है।

अग्नि आतप से भिन्न है। यह स्वय गरम होती है और इसकी प्रभा भी गरम होती है।

प्रतिविम्ब

गौतम ने पूछा—भगवन्! काच मे देखनेवाला व्यक्ति क्या काच को देखता है? अपने शरीर को देखता है? अथवा अपने प्रतिविम्ब को देखता है? वह क्या देखता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! काच मे देखने वाला व्यक्ति काच को नहीं देखता—वह स्पष्ट है। अपने शरीर को भी नही देखता—वह उसमे नही है। वह अपने शरीर का प्रतिविम्ब देखता है[1]।

प्रतिबिम्ब-प्रक्रिया और उसका दर्शन

पौद्गलिक वस्तुए दो प्रकार की होती हैं—सूक्ष्म और स्थूल। इन्द्रिय-गोचर होनेवाली सभी वस्तुए स्थूल होती हैं। स्थूल वस्तुए चयापचय धर्मक (घट-बढ जानेवाली) होती हैं। इनमे से रश्मिया निकलती हैं—वस्तु आकार के अनुरूप छाया-पुद्गल निकलते हैं और वे भास्कर या अभास्कर वस्तुओ मे प्रतिविम्बित हो जाते हैं। अभास्कर वस्तु मे पडनेवाली छाया दिन मे श्याम और रात को काली होती है। भास्कर वस्तुओ मे पडनेवाली छाया वस्तु के वर्णानुरूप होती है।[2] आदर्श

---

१ प्रज्ञापना, पद १५

२ वही, पद १५, वृत्ति—

भासा उ दिवा छाया, अभासुरगतानिसितु कालाभा।
साचेव भासुरगया, सदेहवन्ना मुणेयव्वो॥
जे आदरिस तत्तो, देहावयवा हवंति संकता।
तेसिं तत्थुवलद्धी पगासयोगा न इयरेसिं॥

मे जो शरीर के अवयव सक्रान्त होते हैं वे प्रकाश के द्वारा वहा दृष्टिगत होते है। इसलिए आदर्शद्रष्टा व्यक्ति आदर्श मे न आदर्श देखता है, न अपना शरीर किन्तु अपना प्रतिबिम्ब देखता है।

प्राणी-जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—ये छह जीव की मुख्य क्रियाए हैं। इन्ही के द्वारा प्राणी की चेतना का स्थूल बोध होता है। प्राणी का आहार, शरीर, इन्द्रिया, श्वासोच्छ्वास और भाषा—ये सब पौद्गलिक हैं।

मानसिक चिन्तन भी पुद्गल-सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन के पूर्व क्षण मे मन-वर्गणा के स्कन्धो को ग्रहण करता है। उनकी चिन्तन के अनुकूल आकृतिया बन जाती हैं। एक चिन्तन से दूसरे चिन्तन मे सक्रान्त होते समय पहली-पहली आकृतिया बाहर निकलती रहती है और नई-नई आकृतिया बन जाती है। वे मुक्त आकृतिया आकाश-मण्डल मे फैल जाती हैं। कई थोडे काल बाद परिवर्तित हो जाती हैं और कई असख्य काल तक परिवर्तित नही भी होती। इन मन-वर्गणा के स्कन्धो का प्राणी के शरीर पर भी अनुकूल एव प्रतिकूल परिणाम होता है। विचारो की दृढता से विचित्र काम करने का सिद्धान्त इन्ही का उपजीवी है।

यह समूचा दृश्य ससार पौद्गलिक ही है। जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाए पुद्गल-निमित्तक होती हैं। तात्पर्य-दृष्टि से देखा जाए तो यह जगत् जीव और परमाणुओ के विभिन्न सयोगो का प्रतिबिम्ब (परिणाम) है। जैन-सूत्रो मे परमाणु और जीव-परमाणु की सयोगकृत दशाओ का अति प्रचुर वर्णन है। भगवती, प्रज्ञापना और स्थानाग आदि इसके आकर-ग्रन्थ हैं। 'परमाणु-पर्ट्त्रिशिका' आदि परमाणुविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थो का निर्माण जैन-तत्त्वज्ञो की परमाणुविषयक स्वतन्त्र अन्वेषणा का मूर्त रूप है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओ के विचित्र वर्णन इनमे भरे पडे हैं। भारतीय वैज्ञानिक जगत् के लिए यह गौरव की बात है।

एक अद्रव्य—नेक द्रव्य

समानजातीय द्रव्यो की दृष्टि से सब द्रव्यो की स्थिति एक नही है। छह द्रव्यो मे धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक-द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से एक है। इनके समानजातीय द्रव्य नही हैं। एक-द्रव्य द्रव्य व्यापक होते हैं। धर्म-अधर्म समूचे लोक मे व्याप्त है। आकाश लोक-अलोक दोनो मे व्याप्त है। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनेक-द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से अनन्त हैं।

पुद्गल द्रव्य साख्य-सम्मत प्रकृति की तरह एक या व्यापक नही किन्तु अनन्त हैं, अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध हैं।[1] जीवात्मा भी एक और व्यापक नही,

१ साख्यकौमुदी, १—अजामेकाम्।

अनन्त है। काल के भी समय अनन्त हैं।[1] इस प्रकार हम देखते है कि जैन दर्शन मे द्रव्यो की सख्या के दो ही विकल्प हैं—एक या अनन्त।[2] कई ग्रन्यकारो ने काल के असख्य परमाणु माने हैं पर वह युक्त नही। यदि उन कालाणुओं को स्वतन्त्र द्रव्य मानें तव तो द्रव्यसख्या मे विरोध आता है और यदि उन्हें एक समुदय के रूप मे मानें तो अस्तिकाय की सख्या मे विरोध आता है। इसलिए कालाणु असख्य हैं और वे समूचे लोकाकाश मे फैले हुए हैं, यह बात किसी भी प्रकार सिद्ध नही होती।

सादृश्य-वैसदृश्य

विशेप गुण की अपेक्षा पाचो द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव विसदृश हैं। सामान्य गुण की अपेक्षा वे सदृश भी हैं। व्यापक गुण की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश सदृश हैं। अमूर्तत्व की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और जीव सदृश हैं। अचैतन्य की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सदृश हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व और अगुरु-लघुत्व की अपेक्षा सभी द्रव्य सदृश हैं।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र, ५।४० सोऽनन्तसमय।

२ उत्तरज्झयणाणि, २८।८

धम्म अहम्म आगासं, दव्व एक्केक्कमाहियं।
अणताणि य दव्वाणि, कालो पोग्गल जन्तवो।

३

लोकवाद

विश्व के आदि-विन्दु की जिज्ञासा

श्रमण भगवान् महावीर के 'आर्यरोह' नाम का शिष्य था। वह प्रकृति से भद्र, मृदु, विनीत और उपशान्त था। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत पतले हो चुके थे। वह मृदु-मार्दव सम्पन्न अनगार भगवान् के पास रहता, ध्यान, सयम और तपस्या से आत्मा को भावित किए हुए विहार करता। एक दिन की वात है वह भगवान् के पास आया, वन्दना की, नमस्कार किया, पर्युपासना करते हुए वोला—

"भन्ते ! पहले लोक हुआ और फिर अलोक ? अथवा पहले अलोक हुआ और फिर लोक ?"

भगवान्—रोह ! लोक और अलोक—ये दोनो पहले से है और पीछे रहेगे—अनादिकाल से है और अनन्त काल तक रहेगे। दोनो शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमे पौर्वापर्य (पहले-पीछे का क्रम) नही है।

रोह—भन्ते ! पहले अजीव हुए और फिर जीव ? अथवा पहले जीव हुए और फिर अजीव ?

भगवान्—रोह ! लोक-अलोक की भांति ये भी शाश्वत है, इनमे भी पौर्वापर्य नही है।

रोह—(१) भन्ते ! पहले भव्य हुए और फिर अभव्य ? अथवा पहले अभव्य हुए और फिर भव्य ?

२ भन्ते ! पहले सिद्धि (मुक्ति) हुई और फिर असिद्धि (ससार) ? अथवा पहले असिद्धि और फिर सिद्धि ?

३ भन्ते ! पहले सिद्ध (मुक्त) हुए और फिर असिद्ध (ससारी) ? अथवा पहले असिद्ध हुए और फिर सिद्ध ?

भगवान्—रोह ! ये सभी शाश्वत भाव हैं।

रोह—भन्ते ! पहले मुर्गी हुई और फिर अंडा हुआ ? अथवा पहले अंडा हुआ और फिर मुर्गी ?

भगवान्—अंडा किससे पैदा हुआ ?

रोह—भन्ते ! मुर्गी से।

भगवान्—रोह ! मुर्गी किससे पैदा हुई ?

रोह—भन्ते ! अण्डे से।

भगवान्—इस प्रकार अण्डा और मुर्गी पहले भी है और पीछे भी है। दोनों शाश्वत भाव हैं। इनमें क्रम नहीं है।[1]

लोक-अलोक

जहां हम रह रहे हैं वह क्या है ? यह जिज्ञासा सहज ही हो आती है। उत्तर होता है—लोक है। लोक अलोक के बिना नहीं होता, इसलिए अलोक भी है। अलोक से हमारा कोई लगाव नहीं। वह सिर्फ आकाश ही आकाश है।[2] इसके अतिरिक्त वहां कुछ भी नहीं है। हमारी क्रिया की अभिव्यक्ति, गति, स्थिति और परिणति पदार्थ-सापेक्ष है। ये वहीं होती है, जहां आकाश के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छहों द्रव्य की सहस्थिति है, वह लोक है।[3] पंचास्तिकायों का जो सहावस्थान है वह लोक है।[4] संक्षेप में जीव और अजीव की सहस्थिति है, वह लोक है।[5]

लोक-अलोक का विभाजक-तत्त्व

लोक-अलोक का स्वरूप समझने के बाद हमें उनके विभाजक-तत्त्व की समीक्षा करनी होगी। उनका विभाग शाश्वत है। इसलिए विभाजक-तत्त्व भी शाश्वत होना चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वतिक वस्तु का विभाजन नहीं होता। शाश्वतिक पदार्थ इन छहों द्रव्यों के अतिरिक्त और है नहीं। आकाश स्वयं विभाज्यमान है, इसलिए वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता। काल परिणमन का हेतु है। उसमें आकाश को दिग्रूप करने की क्षमता नहीं। व्यावहारिक काल मनुष्य-लोक के सिवाय अन्य लोकों में नहीं होता। नैश्चयिक काल लोक-अलोक—दोनों में मिलता है। काल वास्तविक तत्त्व नहीं है। व्यावहारिक काल सूर्य और चन्द्र

---

१ भगवती, १।६

२ जैन सिद्धान्त दीपिका, १।१३

३ वही, १।८

४ भगवती, १३।४

५ उत्तरज्झयणाणि, ३६।२

की गतिक्रिया से होनेवाला समय-विभाग है। नैश्चयिक काल जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। जीव और पुद्गल गतिशील और मध्यम परिणाम वाले तत्त्व हैं। लोक-अलोक की सीमा-निर्धारण के लिए कोई स्थिर और व्यापक तत्त्व होना चाहिए। इसलिए ये भी उसके लिए योग्य नही वनते। अव दो द्रव्य शेष रह जाते हैं—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये दोनो स्थिर और व्यापक हैं। वस ये ही अखड आकाश को दो भागो मे बाटते हैं। यही लोक की प्राकृतिक सीमा है। ये दो द्रव्य जिस आकाश-खण्ड मे व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। ये अपनी गति, स्थिति के द्वारा सीमा-निर्धारण के उपयुक्त वनते हैं। ये जहा तक हैं वही तक जीव और पुद्गल की गति, स्थिति होती है। उससे आगे उन्हे गति, स्थिति का सहाय्य नही मिलता, इसलिए वे अलोक मे नही जा सकते। गति के विना स्थिति का प्रश्न ही क्या ? इससे उनकी नियामकता और अधिक पुष्ट हो जाती है।

लोक-अलोक का परिमाण

धर्म और अधर्म ससीम हैं—चौदह रज्जू परिमाण परिमित हैं। इसलिए लोक भी सीमित है। लोकाकाश असख्यप्रदेशी है। अलोक अनन्त—असीम है। इसलिए अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। भौतिक विज्ञान के उद्भट पडित अलवर्ट आइन्स्टीन ने लोक-अलोक का जो स्वरूप माना है, वह जैन-दृष्टि से पूर्ण सामजस्य रखता है। उन्होंने लिखा है कि—"लोक परिमित है। लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के वाहर नही जा सकती। लोक के वाहर उस शक्ति का (द्रव्य का) अभाव है, जो गति मे सहायक होता है।

स्कन्धक सन्यासी के प्रश्नो का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि क्षेत्र—लोक सान्त है (सीमित है)। धर्मास्तिकाय, जो गति मे सहायक होता है, वह लोक-प्रमाण है। इसीलिए लोक के वाहर कोई भी पदार्थ नही जा सकता।

लोक-अलोक का सस्थान

लोक सुप्रतिष्ठक आकारवाला है। तीन शरावो मे से एक शराव ओधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर ओधा रखने से जो आकार वनता है, उसे सुप्रतिष्ठक सस्थान या त्रिशरावसपुटसस्थान कहा जाता है।

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य मे सकरा और ऊपर-ऊपर मृदगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशरावसपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार वीच मे पोलवाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है। उसका कोई विभाग नही होता है। लोकाकाश तीन भागो मे विभक्त है—ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और

मध्य लोक।[1] लोक चौदह रज्जू लम्बा है। उसमे ऊचा लोक सात रज्जू से कुछ कम है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात रज्जू से अधिक है।

जिस प्रकार एक ही आकाश धर्म-अधर्म के द्वारा लोक और अलोक—इन दो भागो मे बटता है, ठीक वैसे ही इनके द्वारा लोकाकाश के तीन विभाग और प्रत्येक विभाग की भिन्न आकृतिया बनती हैं।[2] धर्म और अधर्म कही विस्तृत है और कही सकुचित। वे नीचे की ओर विस्तृत रूप से व्याप्त हैं अत अधोलोक का आकार ओधे किये हुए शराव जैसा बनता है। मध्यलोक मे वे कृश रूप मे हैं, इसलिए उसका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान हो जाता है। ऊपर की ओर वे फिर कुछ-कुछ विस्तृत होते चले गए है, इसलिए ऊर्ध्व लोक का आकार ऊर्ध्व-मुख मृदग जैसा होता है। अलोकाकाश मे दूसरा कोई द्रव्य नही, इसलिए उसकी कोई आकृति नही बनती। लोकाकाश की अधिक से अधिक मोटाई सात रज्जू की है। लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक।[3] द्रव्य-लोक पचास्तिकायमय एक है, इसलिए वह सात है।[4] लोक की परिधि असख्य योजन कोडाकोडी की है, इसलिए क्षेत्रलोक भी सात हैं।[5]

सापेक्षवाद के आविष्कर्ता प्रो० आइन्स्टीन ने लोक का व्यास एक करोड अस्सी लाख प्रकाशवर्ष माना है। "एक प्रकाशवर्ष उस दूरी को कहते हैं जो प्रकाश की किरण १,८६,००० मील प्रति सेकण्ड से हिसाब से एक वर्ष मे तय करती है।"

भगवान् महावीर ने देवताओ की 'शीघ्रगति'[6] की कल्पना से लोक की मोटाई को समझाया है। जैसे—छह देवता लोक का अन्त लेने के लिए शीघ्र गति से छहो दिशाओ (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊची और नीची) मे चले। ठीक उसी समय एक सेठ के घर मे एक हजार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्मा उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके बाद हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए।

---

१ भगवती, ११।१०

२ वही, ११।६

३ वही ११।१०

४ वही, २।१

५ वही, २।१

६ एक देवता मेरु पर्वत की चूलिका पर खडा है—एक लाख योजन की ऊचाई में खडा है। नीचे चारो दिशाओ मे चार दिक् कुमारिकाए हाथ मे बलिपिण्ड लेकर बहिर्मुखी रहकर उस बलिपिण्ड को एक साथ फेंकती हैं। उस समय वह देवता दौडता है। चारों बलिपिण्डो को जमीन पर गिरने से पहले हाथ में ले लेता है। इस गति का नाम 'शीघ्रगति' है।

इस प्रकार सात पीढिया बीत गई। उनके नाम, गोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अन्त तक नही पहुचे। हा, वे चलते-चलते अधिक भाग पार कर गए। बाकी रहा वह भाग कम है— वे चले उसका असख्यातवा भाग बाकी रहा है। जितना भाग चलना बाकी रहा है उससे असख्यात् गुणा भाग पार कर चुके हैं। यह लोक इतना बडा है। काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है। ऐसा कोई काल नही, जिसमे लोक का अस्तित्व न हो।[1]

लोक पहले था, वर्तमान मे है और भविष्य मे सदा रहेगा—इसलिए काल-लोक अनन्त है। लोक मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की पर्याए अनन्त हैं तथा बादर-स्कन्धो की गुरु-लघु पर्याए, सूक्ष्म स्कन्धो और अमूर्त द्रव्यो की अगुरु-लघु पर्याए अनन्त हैं। इसलिए भाव-लोक अनन्त है।

लोक-अलोक का पौर्वापर्य

आर्य रोह ने पूछा—भगवन्! पहले लोक और फिर अलोक बना? अथवा पहले अलोक और फिर लोक बना?

भगवान् ने कहा—रोह! ये दोनो शाश्वत हैं। इनमे पहले-पीछे का क्रम नही है।[2]

लोक-स्थिति

गौतम ने पूछा—भते! लोक-स्थिति कितने प्रकार की है?

भगवान् ने कहा—गौतम! लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं

१ वायु आकाश पर टिकी हुई है।
२ समुद्र वायु पर टिका हुआ है।
३ पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है।
४ त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर टिके हुए हैं।
५ अजीव जीव के आश्रित हैं।
६ सकर्म-जीव कर्म के आश्रित हैं।
७ अजीव जीवो द्वारा सगृहीत है।
८ जीव कर्म-सगृहीत हैं।[3]

आकाश, पवन, जल और पृथ्वी—ये विश्व के आधारभूत अग हैं। विश्व की व्यवस्था इन्ही के आधार-आधेय भाव से बनी हुई है। ससारी जीव और अजीव

---

१ भगवती, २।१ कालतो लोए अणते, भावतो लोए अणते।
२ भगवती, १।६
३ वही, १।६

(पुद्गल) मे आधार-आधेय भाव और सग्राह्य-सग्राहक भाव—ये दोनों हैं। जीव आधार है और शरीर उसका आधेय। कर्म ससारी जीव का आधार है और ससारी जीव उसका आधेय।

जीव अजीव (भाषा-वर्गणा, मन-वर्गणा और शरीर-वर्गणा) का सग्राहक है। कर्म ससारी जीव का सग्राहक है। तात्पर्य यह है—कर्म से बधा हुआ जीव ही सशरीर होता है। वही चलता, फिरता, बोलता और सोचता है।

अचेतन जगत् से चेतन जगत् की जो विलक्षणताएं हैं, वे जीव और पुद्गल के सयोग से होती है। जितना भी वैभाविक परिवर्तन या दृश्य रूपान्तर है, वह सब इन्ही की सयोग-दशा का परिणाम है। जीव और पुद्गल के सिवाय दूसरे द्रव्यों का आपस मे सग्राह्य-सग्राहक भाव नही है।

लोक-स्थिति मे जीव और पुद्गल का सग्राह्य-सग्राहक भाव माना गया है। यह परिवर्तन है। परिवर्तन का अर्थ है—उत्पाद और विनाश।

प्रस्तुत विषय की चर्चा उपनिषद् मे भी मिलती है

गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—याज्ञवल्क्य! यह विश्व जल मे ओत-प्रोत है, परन्तु जल किसमे ओत-प्रोत है?

—वायु मे, गार्गी?

—वायु किसमे ओत-प्रोत है?

—अन्तरिक्ष मे, अन्तरिक्ष गन्धर्व-लोक मे, गन्धर्व-लोक आदित्य लोक मे, आदित्य लोक चन्द्र-लोक मे, चन्द्र-लोक नक्षत्र-लोक मे, नक्षत्र-लोक देव-लोक मे, देव-लोक इन्द्र-लोक मे, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक मे और प्रजापति-लोक ब्रह्म-लोक मे ओत-प्रोत है।

—ब्रह्म-लोक किसमे ओत-प्रोत है याज्ञवल्क्य?

—यह अति-प्रश्न है, गार्गी! तू यह प्रश्न मत कर अन्यथा तेरा सिर कटकर गिर पडेगा।[1]

सृष्टिवाद

सापेक्षदृष्टि के अनुसार विश्व अनादि-अनन्त और सादि-सान्त है, द्रव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त है, पर्याय की अपेक्षा सादि-सान्त। लोक मे दो द्रव्य हैं—चेतन और अचेतन। दोनो अनादि हैं, शाश्वत हैं। इनका पौर्वापर्य (अनुक्रम-आनुपूर्वी) सम्बन्ध नही है। पहले जीव और बाद मे अजीव अथवा पहले अजीव और बाद मे जीव—ऐसा सम्बन्ध नही होता। अण्डा मुर्गी से पैदा होता है और मुर्गी अण्डे से पैदा होती है। बीज वृक्ष से पैदा होता है और वृक्ष बीज से पैदा होता

---

1 बृहदारण्यक उपनिषद् ३।६।१

है—ये प्रथम भी हैं और पश्चात् भी, अनुक्रम सम्बन्ध से रहित शाश्वतभाव हैं। इनका प्राथम्य और पाश्चात्य भाव नही निकाला जा सकता। यह ध्रुव अश की चर्चा है। परिणमन की दृष्टि से जगत् परिवर्तनशील है। परिवर्तन स्वाभाविक भी होता है और वैभाविक भी। स्वाभाविक परिवर्तन सब पदार्थों मे प्रतिक्षण होता है। वैभाविक परिवर्तन कर्मबद्ध जीव और पुद्गल-स्कन्धो मे ही होता है। हमारा दृश्य जगत् वही है।

विश्व के बारे मे दर्शन की दो मुख्य धाराए है—अद्वैतवाद और द्वैतवाद। अद्वैतवादी दार्शनिक चेतन और अचेतन का स्वतन्त्र अस्तित्व नही मानते। वे अचेतन या चेतन मे से किसी एक के अस्तित्व को ही वास्तिवक मानते है।

सृष्टि के विषय मे अद्वैतवाद की तीन मुख्य शाखाए हैं

१ जडाद्वैतवाद

२ चैतन्याद्वैतवाद

३ जड-चैतन्याद्वैतवाद

जडाद्वैतवाद के अनुसार चेतन तत्त्व की उत्पत्ति अचेतन तत्त्व से हुई है। अनात्मवादी चार्वाक और क्रम-विकासवादी वैज्ञानिक इसी अभिमत के समर्थक हैं।

चैतन्याद्वैत के अनुसार सृष्टि का आदि-कारण ब्रह्म है। वैदिक ऋषि कहता है—

"असत्, अभाव, शून्य मे निरस्त समस्त समाज औपधिक नाम-रूप-रहित अप्रत्यक्ष ब्रह्म मे ही सत्भाव या प्रत्यक्ष माया का प्रपच प्रतिष्ठित है। इसी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष माया के प्रपच मे सारी सृष्टि (भव्य) के उपादान-भूत पृथिव्यादि पच महाभूत निहित है, इसी से उत्पन्न होते हैं। वे ही पाचो महाभूत समस्त कार्यों मे विद्यमान रहते हैं। समस्त सृष्टि उन्ही महाभूतो मे—पीपल के बीज मे पीपल के वृक्ष की तरह वर्तमान रहती है।"[1]

'ब्रह्म तीनो लोको से अतीत है।' उसने सोचा—'किस प्रकार मैं इन लोगो मे पैठू ?' तब वह नाम और रूप से इन लोगो मे पैठा।[2]

जडचैतन्याद्वैत के अनुसार जगत् की उत्पत्ति चेतन और अचेतन—इन दोनो गुणो मे मिश्रित पदार्थ से हुई है।

जडाद्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद—ये दोनो 'कारण के अनुरूप कार्य होता

---

१ अथर्ववेद, १७।१।२६
असति सत् प्रतिष्ठितम्—सति भूत प्रतिष्ठितम्।
भूत ह भव्य आहित, भव्य भूते प्रतिष्ठितम्।

२ शतपथ ब्राह्मण, ११।१।२।३
तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद रूपेण चैव नाम्ना च।

है'—इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। पहले में जड़ से चैतन्य, दूसरे में चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति मान्य है।

द्वैतवादी दर्शन जड़ और चैतन्य दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र मानते हैं। इनके अनुसार जड़ से चैतन्य या चैतन्य से जड़ उत्पन्न नहीं होता। कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होने के तथ्य को ये स्वीकार करते हैं। इस अभिमत के अनुसार जड़ और चैतन्य के संयोग का नाम सृष्टि है।

नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक दर्शन सृष्टि-पक्ष में आरम्भवादी हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा परमाणुओं को संयुक्त करता है, उनके संयोग का आरम्भ होने पर ही सृष्टि होती है इसलिए यह 'आरम्भवाद' कहलाता है।

सांख्य और योग परिणामवादी हैं। उनके अनुसार सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति के क्षुब्ध किये जाने पर त्रिगुण का विकास होता है। उससे ही सृष्टि होती है। अनीश्वरवादी सांख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। परिणामवाद के दो रूप होते हैं—गुण-परिणामवाद और ब्रह्म-परिणामवाद। पहला सांख्यदर्शन तथा माध्वाचार्य का सिद्धान्त है। दूसरा सिद्धान्त रामानुजाचार्य का है। वे प्रकृति, जीव और ईश्वर—इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। फिर भी इन सबको ब्रह्मरूप ही मानते हैं—ब्रह्म ही अंश विशेष में प्रकृति रूप से परिणत होता है और वही जगत् बनता है।

जैन और बौद्ध दर्शन सृष्टिवादी नहीं है। वे परिवर्तनवादी हैं।

बौद्ध दर्शन में परिवर्तन की प्रक्रिया 'प्रतीत्य समुत्पादवाद' है। यह सही अर्थ में अहेतुकवाद है। इसमें कारण से कार्य उत्पन्न नहीं होता किन्तु सन्तति-प्रवाह में पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

जैन दृष्टि के अनुसार दृश्य विश्व का परिवर्तन जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। परिवर्तन स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों प्रकार का होता है। स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होता है, इसलिए दृष्टिगम्य नहीं होता। प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य होता है। यही सृष्टि या दृश्य जगत् है। वह जीव और पुद्गल की सायोगिक अवस्थाओं के बिना नहीं होता।

वैभाविक पर्याय की आधारभूत शक्ति दो प्रकार की होती है—ओघ और समुचित। 'घास में घी है'—यह ओघ शक्ति है। 'दूध में घी है'—यह समुचित शक्ति है। ओघ शक्ति कार्य की नियामक है—कारण के अनुरूप कार्य पैदा होगा, अन्यथा नहीं। समुचित शक्ति कार्य की उत्पादक है। कारण की समग्रता बनती है

और कार्य उत्पन्न हो जाता है।[1]

जैन-दृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्प-गृह है। उसकी व्यवस्था स्वय उसी मे समाविष्ट नियमो के द्वारा होती है। नियम वह पद्धति है जो चेतन और अचेतन-पुद्गल के विविध-जातीय सयोग से स्वय प्रकट होती है।

जैन दर्शन जगत् के वारे मे वैदिक ऋषि की भाति सदिग्ध भी नही है। वैदिक ऋषि कहता है—उस समय प्रलय दशा मे असत् भी नही था। सत् भी नही था। पृथ्वी भी नही थी। आकाश भी नही था। आकाश मे विद्यमान सातो भुवन भी नही थे।

प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करता है? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टिया हुई? देवता लोग इन सृष्टियो के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहा से सृष्टि हुई यह कौन जानता है?

ये नाना सृष्टिया कहा से हुई, किसने सृष्टिया की और किसने नही की—ये सब वे ही जाने, जो इनके स्वामी परमधाम मे रहते हैं। हो सकता है वे भी यह सब न जानते हो।[1]

जैन दर्शन के अनुसार चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि नही होती। दोनो अनादि अनन्त हैं।

---

१ द्रव्यानुयोगतर्कणा, २।६-१०
गुणपर्यायियो शक्तिर्मात्रमोघोद्भवादिमा।
आसन्नकार्ययोग्यत्वाच्छक्ति समुचिता परा॥
ज्ञायमाना तृणत्वेनाज्यशक्तिरनुमानत।
किं च दुग्धादि भावेन प्रोक्ता लोकसुखप्रदा॥
प्राक् पुद्गलपरावर्ते, धमशक्ति यथौघजा।
अन्त्यावर्ते तथा ख्याता शक्ति समुचितागिनाम्॥
कार्यभेदाच्छक्तिभेदो, व्यवहारेण दृश्यते।
युक्तनिश्चय नयादेकमनेकै कार्यकारणै॥
स्वस्वजात्यादि भूयस्यो गुणपर्यायव्यक्तय।

१ ऋग्वेद, १०।१२६, नासदीय सूक्त
"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।"
"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि॥
अर्वाग् देव अस्य विसर्जनेनाथा को वेद मत आवभूव।"
"इय विसृष्टियत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्तसो अग वेद यदि वा न वेद॥"

विभिन्न दर्शन और दृश्य-जगत् का कारण

वाद	दृश्य जगत् का कारण क्या है ?
जडाद्वैतवाद	जडपदार्थ
जडचैतन्याद्वैतवाद	जड-चैतन्ययुक्त पदार्थ
चैतन्याद्वैतवाद (विवर्तवाद)	ब्रह्म
आरम्भवाद	परमाणु-क्रिया
परिणामवाद	प्रकृति
प्रतीत्यसमुत्पादवाद	अव्याकृत (कहा नही जा सकता)
सापेक्ष सादि-सान्तवाद	जीव और पुद्गल की वैभाविक पर्याय।

परिवर्तन और विकास

जीव और अजीव (धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल) की समष्टि विश्व है। जीव और पुद्गल के सयोग से जो विविधता पैदा होती है, उसका नाम है—सृष्टि।

जीव और पुद्गल मे दो प्रकार की अवस्थाए मिलती हैं—स्वभाव और विभाव या विकार।

परिवर्तन का निमित्त काल बनता है। परिवर्तन का उपादान स्वय द्रव्य होता है। धर्म, अधर्म और आकाश मे स्वभाव-परिवर्तन होता है। जीव और पुद्गल मे काल के निमित्त से ही जो परिवर्तन होता है वह स्वभाव-परिवर्तन कहलाता है। जीव के निमित्त से पुद्गल मे और पुद्गल के निमित्त से जीव मे जो परिवर्तन होता है, उसे कहते हैं—विभाव-परिवर्तन। स्थूल-दृष्टि से हमे दो पदार्थ दीखते हैं, एक सजीव और दूसरा निर्जीव। दूसरे शब्दो मे—जीवत्-शरीर और निर्जीव-शरीर या जीवमुक्त-शरीर। आत्मा अमूर्त है, इसलिए अदृश्य है। पुद्गल मूर्त होने के कारण दृश्य अवश्य हैं पर अचेतन हैं। आत्मा और पुद्गल दोनो के सयोग से जीवत्-शरीर बनता है। पुद्गल के सहयोग के कारण जीव के ज्ञान को क्रियात्मक रूप मिलता है और जीव के सहयोग के कारण पुद्गल की ज्ञानात्मक प्रवृत्तिया होती हैं। सब जीव चेतनायुक्त होते हैं। किन्तु चेतना की प्रवृत्ति उन्हीं की दीख पडती है जो शरीर-सहित होते हैं। सब पुद्गल रूप-सहित हैं, फिर भी चर्मचक्षु द्वारा वे ही दृश्य हैं, जो जीवयुक्त या जीवमुक्त शरीर हैं। पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—जीव-सहित और जीव-रहित। शस्त्र-अहत सजीव और शस्त्र-हत निर्जीव होते हैं। जीव और स्थूल शरीर के वियोग के निमित्त शस्त्र कहलाते हैं। शस्त्र के द्वारा जीव शरीर से अलग होते हैं। जीव के चले जाने पर जो शरीर या शरीर के पुद्गल

स्कन्ध होते हैं—वे जीवमुक्त शरीर कहलाते हैं। खनिज पदार्थ पृथ्वीकायिक जीवो के शरीर हैं। पानी अप्कायिक जीवो का शरीर है। अग्नि तैजसकायिक, हवा वायुकायिक, तृण-लता-वृक्ष आदि वनस्पतिकायिक और शेष सब त्रसकायिक जीवो के शरीर हैं।

जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादि-प्रवाह वाला है। वह जब तक नही टूटता तब तक पुद्गल जीव पर और जीव पुद्गल पर अपना-अपना प्रभाव डालते रहते हैं। वस्तुवृत्त्या जीव पर प्रभाव डालने वाला कार्मण शरीर है। यह जीव के विकारी परिवर्तन का आन्तरिक कारण है। इसे बाह्य स्थितिया प्रभावित करती हैं। कार्मण-शरीर कार्मण वर्गणा से बनता है। ये वर्गणाए सबसे अधिक सूक्ष्म होती हैं। वर्गणा का अर्थ है एक जाति के पुद्गल-स्कन्धो का समूह। ऐसी वर्गणाए असख्य हैं। प्रत्यक्ष उपयोग की दृष्टि से वे आठ मानी जाती है

१ औदारिक-वर्गणा	५. कार्मण वर्गणा
२ वैक्रिय वर्गणा	६ श्वासोच्छ्वास वर्गणा
३ आहारक वर्गणा	७ भाषा वर्गणा
४ तैजस वर्गणा	८ मन वर्गणा

पहली पाच वर्गणाओ से पाच प्रकार के शरीरो का निर्माण होता है। शेष तीन वर्गणाओ से श्वास-उच्छ्वास, वाणी और मन की क्रियाए होती हैं। ये वर्गणाए समूचे लोक मे व्याप्त हैं। जब तक इनका व्यवस्थित सगठन नही बनता, तब तक ये स्वानुकूल प्रवृत्ति के योग्य रहती हैं किन्तु उसे कर नही सकती। इनका व्यवस्थित सगठन करनेवाले प्राणी हैं। प्राणि अनादिकाल मे कार्मण वर्गणाओ से आवेष्टित हैं। प्राणी का निम्नतम विकसित रूप 'निगोद' है।[1] निगोद अनादि-वनस्पति है। उसके एक-एक शरीर मे अनन्त-अनन्त जीव होते हैं। यह जीवो का अक्षय कोष है और सबका मूल स्थान है। निगोद के जीव एकेन्द्रिय होते हैं। जो जीव निगोद को छोड दूसरी काय मे नही गए वे 'अव्यवहार-राशि' कहलाते हैं[2] और निगोद से बाहर निकले जीव 'व्यवहार-राशि'[3]। अव्यवहार-राशि का तात्पर्य

---

१ लोकप्रकाश, ४।३२
अनन्तानामसुमतामेकसूक्ष्मनिगोदिनाम्।
साधारण शरीर यत्, स 'निगोद' इति स्मृत ॥

२, वही, ४।६६
कदापि ये न निर्याता बहि सूक्ष्मनिगोदत।
अव्यावहारिकास्ते स्यु दंरीजातमृताइव।

३ वही, ४।६४,६५
सूक्ष्मान्निगोदतोऽनादेर्निर्गता एकशोपि ये।
पृथिव्यादिव्यवहारञ्च, प्राप्तास्ते व्यावहारिका।
सूक्ष्मानादिनिगोदेषु, यान्ति यद्यपि ते पुन।
ते प्राप्तव्यवहारत्वात्, तथापि व्यवहारिण।

यह है कि उन जीवों ने अनादि-वनस्पति के सिवाय और कोई व्यवहार नही पाया। स्त्यानर्द्धि-निद्रा (घोरतम निद्रा) के उदय से ये जीव अव्यक्त-चेतना (जघन्यतम चैतन्य-शक्ति) वाले होते है। इनमे विकास की कोई प्रवृत्ति नही होती। अव्यवहार-राशि मे वाहर निकलकर प्राणी विकास की योग्यता को अनुकूल सामग्री पा अभिव्यक्त करता है। विकास की अन्तिम स्थिति है—शरीर का अत्यन्त वियोग या आत्मा की वन्धन-मुक्तदशा। यह प्रयत्न-साध्य है। निगोदीय जघन्यता स्वभाव-सिद्ध है।

स्थूल शरीर मृत्यु से छूट जाता है, पर सूक्ष्म शरीर नही छूटते। इसलिए फिर प्राणी को स्थूल-शरीर वनाना पडता है। किन्तु जव स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के शरीर छूट जाते हैं, तव फिर शरीर नही वनता।

आत्मा की अविकसित दशा मे उस पर कषाय का लेप रहता है। इसमे उसमें स्व-पर की मिथ्या कल्पना वनती है। स्व मे पर की दृष्टि और पर मे स्व की दृष्टि का नाम है—मिथ्या-दृष्टि। पुद्गल पर है, विजातीय है, वाह्य है। उसमे स्व की भावना, आसक्ति या अनुराग पैदा होता है अथवा घृणा की भावना वनती है। ये दोनो आत्मा के आवेग या प्रकम्पन हैं अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा मे कम्पन्न पैदा करती है। इनसे कार्मण वर्गणाए सगठित हो आत्मा के साथ चिपक जाती है। आत्मा को हर समय अनन्त-अनन्त कर्म-वर्गणाए आवेष्टित किए रहती हैं। नई कर्म-वर्गणाए पहले की कर्म-वर्गणाओ से रासायनिक क्रिया द्वारा घुल-मिलकर एकमेक वन जाती हैं। सव कर्म-वर्गणाओ की योग्यता समान नही होती। कई चिकनी होती हैं, कई तीव्र रसवाली और कई मन्द रस वाली, इसलिए कई छूकर रह जाती हैं, कई गाढ वन्धन मे वध जाती हैं। कर्म-वर्गणाए वनते ही अपना प्रभाव नहीं डालती। आत्मा का आवेष्टन वनने के वाद जो उन्हें नई वनावट या नई शक्ति मिलती है, उसका परिपाक होने पर वे फल देने या प्रभाव डालने मे समर्थ होती हैं।

प्रज्ञापना (पद ३५) मे दो प्रकार की वेदना वताई हैं

१ आभ्युपगमिकी—अभ्युपगम-सिद्धान्त के कारण जो कष्ट सहा जाता है वह आभ्युपगमिकी वेदना है।

२ औपक्रमिकी—कर्म का उदय होने पर अथवा उदीरणा द्वारा कर्म के उदय मे आने पर जो कष्टानुभूति होती है, वह औपक्रमिकी वेदना है।

उदीरणा जीव अपने आप करता है अथवा इष्ट-अनिष्ट पुद्गल सामग्री से अथवा दूसरे व्यक्ति के द्वारा भी वह हो जाती है। आयुर्वेद के पुरुषार्थ का यही निमित्त है।

वेदना चार प्रकार से भोगी जाती है

द्रव्य से—जल-वायु के अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु के सयोग से।

क्षेत्र से—शीत-उष्ण आदिअनुकूल-प्रतिकूल स्थान के सयोग से।

काल से—गर्मी मे हैजा, सर्दी मे बुखार, निमोनिया अथवा अशुभ ग्रहो के उदय से।

भाव से—असात-वेदनीय के उदय से।

वेदना का मूल असात-वेदनीय का उदय है। जहा भाव से वेदना है वही द्रव्य, क्षेत्र और काल उसके (वेदना के) निमित्त बनते हैं। भाव-वेदना के अभाव मे द्रव्यादि कोई असर नही डाल सकते। कर्म-वर्गणाए पौद्गलिक हैं, अतएव पुद्गल सामग्री उसके विपाक या परिपाक मे निमित्त बनती है।

धन के पास धन आता है—यह नियम कर्म-वर्गणाओ पर भी लागू होता है। कर्म के पास कर्म आता है। शुद्ध या मुक्त आत्मा के कर्म नही लगता। कर्म से बधी आत्मा का कषाय-लेप तीव्र होता जाता है। तीव्र कषाय तीव्र कम्पन पैदा करता है और उसके द्वारा अधिक कर्म-वर्गणाए खीची जाती हैं।

इसी प्रकार प्रवृत्ति का प्रकम्पन भी जैसा तीव्र या मन्द होता है, वैसी ही प्रचुर या न्यून मात्रा मे उनके द्वारा कर्म-वर्गणाओ का ग्रहण होता है। प्रवृत्ति सत् और असत् दोनो प्रकार की होती है। सत् से सत् कर्म-वर्गणाए और असत् से असत् कर्म-वर्गणाए आकृष्ट होती हैं। यही ससार, जन्म-मृत्यु या भव-परम्परा है। इस दशा मे आत्मा विकारी रहता है। इसलिए उस पर अनगिनत वस्तुओ और वस्तु-स्थितियो का असर होता रहता है। असर जो होता है, उसका कारण आत्मा की अपनी विकृत दशा है। विकारी दशा छूटने पर शुद्ध आत्मा पर कोई वस्तु प्रभाव नही डाल सकती। यह अनुभवसिद्ध बात है—असमभावी व्यक्ति, जिसमे राग-द्वेष का प्राचुर्य होता है, को पग-पग पर सुख-दु ख सताते है। उसे कोई भी व्यक्ति थोडे मे प्रसन्न और थोडे मे अप्रसन्न बना देता है। दूसरे की चेष्टाए उसे बदलने मे भारी निमित्त बनती हैं। समभावी व्यक्ति की स्थिति ऐसी नही होती। कारण यही है कि उसकी आत्मा मे विकार की मात्रा कम है या उसने ज्ञान द्वारा उसे उप-शान्त कर रखा है। पूर्ण विकास होने पर आत्मा पूर्णतया स्वस्थ हो जाती है, इस-लिए पर वस्तु का उस पर कोई प्रभाव नही होता। शरीर नही रहता तब उसके माध्यम से होनेवाली सवेदना भी नही रहती। आत्मा सहजवृत्त्या अप्रकम्प है। उसमे कम्पन शरीर-सयोग से होता है। अशरीर होने पर वह नही होता।

शुद्ध आत्मा के स्वरूप की पहचान के लिए आठ मुख्य तत्त्व है

१ अनन्त-ज्ञान
२ अनन्त-दर्शन
३ क्षायक-सम्यक्त्व
४ लब्धि
५ सहज-आनन्द
६. अटल-अवगाह
७ अमूर्तिकपन
८. अगुरु-लघु-भाव

मुक्त आत्मा का ज्ञान-दर्शन अबाध होता है। उन्हे जानने मे बाहरी पदार्थ

रुकावट नही डाल पाते । उनकी आत्म-रुचि यथार्थ होती है । उसमे कोई विपर्यास नहीं होता । उनकी लब्धि—आत्मशक्ति भी अबाध होती है । वे पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति से रहित होती हैं । वे बाह्य पदार्थों को जानती हैं किन्तु शरीर के द्वारा होनेवाली उसकी अनुभूति उन्हे नही होती । उनमे न जन्म-मृत्यु की पर्याय होती है, न रूप और न गुरु-लघु-भाव ।

आत्मा की अनुद्बुद्ध-दशा मे कर्म-वर्गणाए इन आत्म-शक्तियो को दबाए रहती हैं—इन्हे पूर्ण विकसित नही होने देती । स्व-स्थिति पकने पर कर्म-वर्गणाए गिरती-गिरती बलहीन हो जाती हैं । तब आत्मा मे कुछ सहज बुद्धि जागती है । यही से आत्म-विकास का क्रम शुरू होता है । तब से दृष्टि यथार्थ बनती है, सम्यक्त्व प्राप्त होता है । यह आत्म-जागरण का पहला सोपान है । इसमे आत्मा अपने रूप को 'स्व' और बाह्य वस्तुओं को 'पर' जान ही नही लेती किन्तु उसकी सहज श्रद्धा भी वैसी ही बन जाती है । इसीलिए इस दशा वाली आत्मा को अन्तर् आत्मा, सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वी कहते हैं । इससे पहले की दशा मे वह बहिर् आत्मा, मिथ्यादृष्टि या मिथ्यात्वी कहलाती है ।

इस जागरण के बाद आत्मा अपनी मुक्ति के लिए आगे बढ़ती है । सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के सहारे वह सम्यग् चारित्र का बल बढ़ाती है । ज्यो-ज्यो चरित्र का बल बढ़ता है त्यो-त्यो कर्म-वर्गणाओ का आकर्षण कम होता जाता है । सत् प्रवृत्ति या अहिंसात्मक प्रवृत्ति से पहले बधी कर्म-वर्गणाए शिथिल हो जाती हैं । चलते-चलते ऐसी विशुद्धि बढ़ती है कि आत्मा शरीर-दशा मे भी निरावरण बन जाती है । ज्ञान, दर्शन, वीतराग-भाव और शक्ति का पूर्ण या बाधाहीन या बाह्य-वस्तुओं से अप्रभावित विकास हो जाता है । इस दशा मे भव या शेष आयुष्य को टिकाए रखने वाली चार वर्गणाए—भवोपग्राही वर्गणाए बाकी रहती हैं । जीवन के अन्त मे ये भी टूट जाती हैं । आत्मा पूर्ण मुक्त या बाहरी प्रभावो से सर्वथा रहित हो जाती है । बन्धनमुक्त तुम्बा जैसे पानी पर तैरने लग जाता है वैसे ही बन्धन-मुक्त आत्मा लोक के अग्रभाग मे अवस्थित हो जाती है । मुक्त आत्मा मे वैभाविक परिवर्तन नही होता, स्वाभाविक परिवर्तन अवश्य होता है । वह वस्तुमात्र का अवश्यम्भावी धर्म है ।

परिवर्तन और विकास की मर्यादा

सत्य की व्याख्या अनेकान्तदृष्टि से ही हो सकती है । परिवर्तन विश्व-व्यवस्था का एक अग है । किन्तु विश्व-व्यवस्था पर उसका पूर्ण नियन्त्रण नही है । विश्व के अचल मे शाश्वत तत्त्व भी विद्यमान हैं ।

कुछ कार्य प्रवृत्ति-जनित हैं, कुछ नैसर्गिक हैं । इस बहुरूपी व्यवस्था के रहस्यो को उद्घाटित करने के लिए जैन दर्शन ने कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, उनका

ज्ञान वहुत उपयोगी है।

असम्भाव्य-कार्य[1]

१ अजीव को जीव नही वनाया जा सकता।
२ जीव को अजीव नही बनाया जा सकता।
३ एक साथ दो भाषा नही वोली जा सकती।
४. अपने किये कर्मों के फलो को इच्छा-अधीन नही किया जा सकता।
५ परमाणु नही तोडा जा सकता।
६ अलोक मे नही जाया जा सकता।

सर्वज्ञ या विशिष्ट योगी के सिवाय कोई भी व्यक्ति इन तत्त्वो का साक्षात्कार नही कर सकता[2]

१ धर्म (गति-तत्त्व)
२ अधर्म (स्थिति-तत्त्व)
३ आकाश
४ शरीर-रहित जीव
५ परमाणु
६ शब्द

पारमार्थिक सत्ता

१ ज्ञाता का सतत अस्तित्व[3]।
२ ज्ञेय का स्वतन्त्र अस्तित्व वस्तु-ज्ञान पर निर्भर नही है[4]।
३ ज्ञाता और ज्ञेय मे योग्य सम्वन्ध।

---

१ ठाण, ६।५।
२. वही, ६।४।
३ स्याद्वाद मंजरी, श्लोक १६
न चास्थिराणां भिन्नकालतयाऽन्योन्याऽसम्बद्धानाञ्च तेपा वाच्यवाचकभावो युज्यते।
४ तुलना—बाह्य जगत् वास्तविक नही है, उसका अस्तित्व केवल हमारे मन के भीतर या किसी अलौकिक शक्ति के मन के भीतर है, यह आदर्शवाद कहलाता है। आदर्शवाद के कई प्रकार हैं। परन्तु एक वात मे सभी कहते हैं, वह यह कि मूल वास्तविकता मन है। यह चाहे मानव-मन हो या अपौरुपेय-मन और वस्तुत यदि उसमे वास्तविकता का कोई अश है तो भी वह गौण है। एंगलस के शब्दो में मार्क्सवादियों की दृष्टि में—"भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण प्रकृति को ठीक उसी रूप में देखता है, जिस रूप मे वह सचमुच पायी जाती है।" वाह्यजगत् वास्तविक है। हमारे भीतर उसकी चेतना है या नहीं—इस वात से उसकी चेतना स्वतन्त्र है। उसकी गति और विकास हमारे या किसी और के मन द्वारा संचालित नहीं होते। (मार्क्सवाद क्या है ? ५,६८,६९ ले० एमिल बर्न्स)

४ वाणी मे ज्ञान का प्रामाणिक प्रतिबिम्ब—विचारो या लक्ष्यों की अभिव्यक्ति का यथार्थ साधन।

५ ज्ञेय (सवेद्य या विषय) और ज्ञातृ (सवित् या विषयी) के समकालीन अस्तित्व, स्वतन्त्र-अस्तित्व तथा पारस्परिक सम्बन्ध के कारण उनका विषय-विषयीभाव।

चार सिद्धान्त

१ पदार्थमात्र परिवर्तनशील है।

२ सत् का सर्वथा नाश और सवथा असत् का उत्पाद नही होता।

३ जीव और पुद्‌गल मे गति-शक्ति होती है।

४ व्यवस्था वस्तु का मूलभूत स्वभाव है।

इनकी जडवाद के चार सिद्धान्तो मे तुलना कीजिए।

(क) ज्ञाता और ज्ञेय नित्य परिवर्तनशील हैं।

(ख) सद् वस्तु का सम्पूर्ण नाश नही होता—पूण अभाव मे से सद् वस्तु उत्पन्न नही होती।

(ग) प्रत्येक वस्तु मे स्वभाव-सिद्ध गति-शक्ति किंवा परिवर्तन-शक्ति अवश्य रहती है।

(घ) रचना, योजना, व्यवस्था, नियमबद्धता अथवा सुमगति वस्तु का मूल-भूत स्वभाव है।[1]

समस्या और समाधान

लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत ? आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न ? जीवो मे जो भेद है, वह कर्मकृत है या अन्यकृत ? कर्म का कर्ता और भोक्ता स्वय जीव है या अन्य कोई ? अनेक समस्याए हैं, जो मनुष्य को सदिग्ध किये रहती हैं।

१ लोक शाश्वत है तो विनाश और परिवर्तन कैसे ? यदि वह आशाश्वत है तो भेद—अतीत, अनागत, नवीन, पुरातन आदि-आदि कैसे ?

२ आत्मा शाश्वत है तो मृत्यु कैसे ? यदि अशाश्वत है तो विभिन्न चैतन्य-सन्तानों की एकात्मकता कैसे ?

३ आत्मा शरीर से भिन्न है तो शरीर मे सुख-दु ख की अनुभूति कैसे ? यदि वह शरीर से अभिन्न है तो शरीर और आत्मा—ये दो पदार्थ क्यो ?

४ जीवो की विचित्रता कर्म-कृत है तो साम्यवाद कैसे ? यदि वह अन्यकृत

---

१ जडवाद, पृ० ६०-६४

है तो कर्मवाद क्यो ?

५ कर्म का कर्त्ता और भोक्ता यदि जीव ही है तो बुरे कर्म और उसके फल का उपभोग कैसे ? यदि जीव कर्त्ता-भोक्ता नही है तो कर्म और कर्म-फल से उसका सम्बन्ध कैसे ? इन सबका समाधान करने के लिए अनेकान्त दृष्टि आवश्यक है। एकान्तदृष्टि के एकागी विचारो से इनका विरोध नही मिट सकता।

इन समस्याओ का समाधान जैन दार्शनिको ने इस प्रकार किया है

१ लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। काल की अपेक्षा लोक शाश्वत है। ऐसा कोई काल नही, जिसमे लोक का अस्तित्व न मिले। त्रिकाल मे वह एकरूप नही रहता, इसलिए वह अशाश्वत भी है। जो एकान्तत शाश्वत होता है, उसमे परिवर्तन नही हो सकता, इसलिए वह अशाश्वत है। जो एकान्तत अशाश्वत होता है, उसमे अन्वयी सम्बन्ध नही हो सकता। पहले क्षण मे होनेवाला लोक दूसरे क्षण अत्यन्त उच्छिन्न हो जाए तो फिर 'वर्तमान' के अतिरिक्त अतीत, अनागत आदि का भेद नही घटता। कोई ध्रुव पदार्थ हो—त्रिकाल मे टिका रहे, तभी वह था, है और रहेगा—यो कहा जा सकता है। पदार्थ यदि क्षण-विनाशी ही हो तो अतीत और अनागत के भेद का कोई आधार ही नही रहता। इसलिए विभिन्न पर्यायो की अपेक्षा 'लोक शाश्वत है' यह माने विना भी स्थिति स्पष्ट नही होती।

२ आत्मा के लिए भी यही बात है। वह शाश्वत और अशाश्वत दोनो है

(१) द्रव्यत्व की दृष्टि से शाश्वत है—

आत्मा पूर्व और उत्तर सभी क्षणो मे रहता है, अन्वयी है, चैतन्य पर्यायो का सकलनकर्त्ता है।

(२) पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है—

विभिन्न रूपो मे—एक शरीर से दूसरे शरीर मे, एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे उसका परिणमन होता है।

३ आत्मा शरीर से भिन्न भी है, अभिन्न भी। स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है और सयोग एव उपकार की दृष्टि से अभिन्न। आत्मा का स्वरूप चैतन्य है और शरीर का स्वरूप जड, इसलिए ये दोनो भिन्न है। ससारावस्था मे आत्मा और शरीर का दूध-पानी की तरह, लोह अग्नि-पिंड की तरह एकात्म्य सयोग होता है, इसलिए शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा मे सवेदन और कर्म का विपाक होता है।

४ एक जीव की स्थिति दूसरे जीव से भिन्न है। उसका कारण कर्म अवश्य है, किन्तु केवल कर्म ही नही। उसके अतिरिक्त काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि अनेक तत्त्व हैं। कर्म दो प्रकार का होता है—सोपक्रम और निरूपक्रम अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष। फल-काल मे कई कर्म वाहरी स्थितियो की अपेक्षा नही रखते और कई रखते हैं, कई कर्म विपाक के अनुकूल सामग्री मिलने पर फल देते हैं और

कई उनके विना भी। कर्मोदय अनेकविध होता है, इसलिए कर्मवाद का साम्यवाद से विरोध नहीं है। कर्मोदय की सामग्री समान होने पर प्राणियो की स्थिति बहुत कुछ समान हो सकती है, होती भी है। जैन सूत्रो मे कल्पातीत देवताओ की समान स्थिति का जो वर्णन है, वह आज के इस साम्यवाद से कही अधिक रोमाचकारी है। कल्पातीत देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, वल, अनुभाव, सुख समान होता है, उनमें न कोई स्वामी होता है और न कोई सेवक और न कोई पुरोहित, वे सब अहमिन्द्र—स्वय इन्द्र हैं। अनेक देशो मे तथा समूचे भू-भाग में भी यदि खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज समान हो जाए, स्वामी-सेवक का भेद-भाव मिट जाए, राज्य-सत्ता जैसी कोई केन्द्रित शक्ति न रहे तो उससे कर्मवाद की स्थिति मे कोई आच नही आती। रोटी की सुलभता से ही विषमता नही मिटती। प्राणियो मे विविध प्रकार की गति जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग सम्बन्धी विसदृशता है। उसका कारण उनके अपने विचित्र कर्म ही है। एक पशु है तो एक मनुष्य, एक दो इन्द्रियवाला कृमि है तो एक पाच इन्द्रियवाला मनुष्य! यह विषमता क्यो? इसका कारण स्वोपार्जित कर्म के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता।

मुक्त आत्माए कर्म की कर्त्ता, भोक्ता कुछ भी नही हैं। बद्ध आत्माए कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। उनके कर्म का प्रवाह अनादि है और वह कर्म-मूल नष्ट न होने तक चलता रहता है। आत्मा स्वय कर्त्ता-भोक्ता होकर भी जिन कर्मों का फल अनिष्ट हो, वैसे कर्म क्यो करे और कर भी ले तो उनका अनिष्ट फल स्वय क्यो भोगे? इस प्रश्न के मूल मे ही भूल है। आत्मा मे कर्तृत्व शक्ति है, उसी से वह कर्म नही करती, किन्तु उसके पीछे राग-द्वेष, स्वत्व-परत्व की प्रवल प्रेरणा होती है। पूर्वकर्म-जनित वेग से आत्मा पूर्णतया दवती नही तो सव जगह उसे टाल भी नही सकती। एक वुरा कर्म आगे के लिए भी आत्मा मे वुरी प्रेरणा छोड देता है। भोक्तृत्व शक्ति की भी यही वात है। आत्मा मे वुरा फल भोगने की चाह नही होती पर वुरा या भला फल चाह के अनुसार नही मिलता वह पहले की क्रिया के अनुसार मिलता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है—यह स्वाभाविक वात है। विप खानेवाला यह न चाहे कि मैं मरू, फिर भी उसकी मौत टल नही सकती। कारण कि विष की क्रिया उसकी इच्छा पर निर्भर नही है, वह उसे खाने की क्रिया पर निर्भर है।

४

विश्व : विकास और ह्रास

अनादि-अनन्त

जीवन-प्रवाह के बारे मे अनेक धारणाए हैं। बहुत सारे इसे अनादि-अनन्त मानते हैं तो बहुत सारे सादि-सान्त। जीवन-प्रवाह को अनादि-अनन्त माननेवालो को उसकी उत्पत्ति पर विचार करने की आवश्यकता नही होती। चैतन्य कब, कैसे और किससे उत्पन्न हुआ—ये समस्याए उन्हे सताती हैं जो असत् से सत् की की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'उपादान' की मर्यादा को स्वीकार करनेवाले असत् से सत् की उत्पत्ति नही मान सकते। नियामकता की दृष्टि से ऐसा होना भी नही चाहिए अन्यथा समझ से परे की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह जगत् अनादि-अनन्त है। इसकी मात्रा न घटती है, न बढती है, केवल रूपान्तर होता है।[1]

विश्व-स्थिति के मूल सूत्र

विश्व-स्थिति की आधारभूत दस बातें हैं[2]

१ पुनर्जन्म—जीव मरकर बार-बार जन्म लेते हैं।

२ कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) कर्म बाधते हैं।

३ मोहनीय-कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बाधते है।

४ जीव-अजीव का अत्यन्ताभाव—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

---

१ भगवती, ५।८

२ ठाण, १०।१

५ त्रस-स्थावर-अविच्छेद—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि सभी त्रस जीव स्थावर बन जाए या सभी स्थावर जीव त्रस बन जाए या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाए।

६ लोकालोक पृथक्त्व—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

७ लोकालोक-अन्योन्याऽप्रवेश—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक मे प्रवेश करे और अलोक लोक मे प्रवेश करे।

८ लोक और जीवो का आधार-आधेय सम्बन्ध—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र मे जीव है और जितने क्षेत्र मे जीव है, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

९ लोक-मर्यादा—जितने क्षेत्र मे जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र 'लोक' है उतने क्षेत्र मे जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।

१० अलोक-गति-कारणाभाव—लोक के सब अन्तिम भागो मे आवद्ध पार्श्व-स्पृष्ट पुद्गल हैं। लोकान्त के पुद्गल स्वभाव से ही रूखे होते हैं। वे गति मे सहायता करने की स्थिति मे सघटित नही हो सकते। उनकी सहायता के विना जीव अलोक मे गति नही कर सकते।

विकास और ह्रास

विकास और ह्रास—ये परिवर्तन के मुख्य पहलू हैं। एकान्तनित्य-स्थिति मे न विकास हो सकता है और न ह्रास। परिणामी-नित्यत्व के अनुसार ये दोनो हो सकते हैं। डार्विन के मतानुसार यह विश्व क्रमश विकास की ओर वढ रहा है। जैन-दृष्टि इसे स्वीकार नही करती। विकास और ह्रास जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यो मे होता है। जीव का अन्तिम विकास है—मुक्त-दशा। यहा पहुचने पर फिर ह्रास नही होता। इससे पहले आध्यात्मिक क्रम-विकास की जो चौदह भूमिकाए हैं, उनमे आठवी (क्षपक-श्रेणी) भूमिका पर पहुचने के वाद मुक्त वनने से पहले क्षण तक क्रमिक विकास होता है। इससे पहले विकास और ह्रास—ये दोनो चलते हैं। कभी ह्रास से विकास और कभी विकास से ह्रास होता रहता है। विकास-दशाए ये हैं

१ अव्यवहार राशि साधारण-वनस्पति।

२ व्यवहार राशि प्रत्येक-वनस्पति।

(क) एकेन्द्रिय साधारण-वनस्पति, प्रत्येक-वनस्पति, पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु।

(ख) द्वीन्द्रिय।

(ग) त्रीन्द्रिय।
(घ) चतुरिन्द्रिय।
(ङ) पचेन्द्रिय   अमनस्क, समनस्क।

प्रत्येक प्राणी इन सवको क्रमश पार करके आगे बढता है, यह वात नही। इनका उत्क्रमण भी होता है। यह प्राणियो की योग्यता का क्रम है, उत्क्रान्ति का क्रम नही। उत्क्रमण और अपक्रमण जीवो की आध्यात्मिक योग्यता और सहयोगी परिस्थितियो के समन्वय पर निर्भर है।

दार्शनिको का 'ध्ययेवाद' भविष्य को प्रेरक मानता है और वैज्ञानिको का 'विकासवाद' अतीत को। ध्येय की ओर बढने से जीव का आध्यात्मिक विकास होता है—ऐसी कुछ दार्शनिको की मान्यता है। किन्तु ये दार्शनिक विचार भी वाह्य प्रेरणा है। आत्मा स्वत स्फूर्त है। वह ध्येय की ओर वढने के लिए वाध्य नही, स्वतन्त्र है। ध्येय को उचित रीति ममझ लेने के वाद वह उसकी ओर बढने का प्रयत्न कर सकती है। उचित सामग्री मिलने पर वह प्रयत्न सफल भी हो सकता है। किन्तु 'ध्येय की ओर प्रगति' ने यह सर्वसामान्य नियम नही है। यह काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि विशेष सामग्री-सापेक्ष है।

वैज्ञानिक विकासवाद वाह्य स्थितियो का आकलन है। अतीत की अपेक्षा विकास की परम्परा आगे वढती है, यह निश्चित सत्य नही है। किन्ही का विकास हुआ है तो किन्ही का ह्रास भी हुआ है। अतीत ने नई आकृतियो की परम्परा को आगे वढाया है, तो वर्तमान ने पुराने रूपो को अपनी गोद मे समेटा भी है। इसलिए अकेले अवसर की दी हुई अधिक स्वतन्त्रता मान्य नही हो सकती। विकास वाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित हो—आत्मा अपने से वाहर वाली शक्ति से परिचालित हो तो वह स्वतन्त्र नही हो सकती। परिस्थिति का दास वनकर आत्मा कभी अपना विकास नही साध सकती।

पुद्गल की शक्तियो का विकास और ह्रास—ये दोनो सदा चलते हैं। इनके विकाम या ह्रास का निरवधिक चरम रूप नही है। शक्ति की दृष्टि से एक पौद्गलिक स्कन्ध मे अनन्त-गुण तारतम्य हो जाता है। आकार-रचना की दृष्टि से एक-एक परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध वन जाता है, और फिर वे विखरकर एक-एक परमाणु वन जाते हैं।

पुद्गल अचेतन है, इसलिए उसका विकास या ह्रास चैतन्य-प्रेरित नही होता। जीव के विकास या ह्रास की यह विशेषता है। उसमे चैतन्य होता है, इसलिए उसके विकास-ह्रास मे वाहरी प्रेरणा के अतिरिक्त आन्तरिक प्रेरणा भी होती है।

जीव (चैतन्य) और शरीर का लोलीभूत सश्लेप होता है, इसलिए आन्तरिक प्रेरणा के दो रूप वन जाते हैं—आत्म-जनित और शरीर-जनित।

आत्म-जनित आन्तरिक प्रेरणा से आध्यात्मिक विकास होता है और शरीर-जनित से शारीरिक विकास।

शरीर पाच हैं।[1] उनमे दो सूक्ष्म हैं और तीन स्थूल। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का प्रेरक होता है। इसकी वर्गणाए शुभ और अशुभ दोनो प्रकार की होती हैं। शुभ वर्गणाओ के उदय से पौद्गलिक या शारीरिक विकास होता है और अशुभ वर्गणाओ के उदय से आत्म-चेतना का ह्रास, आवरण और शारीरिक स्थिति का भी ह्रास होता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार चेतना और अचेतन-पुद्गल-सयोगात्मक सृष्टि का विकास क्रमिक ही होता है, ऐसा नही है।

विकास और ह्रास के कारण

विकास और ह्रास का मुख्य कारण है आन्तरिक प्रेरणा या आन्तरिक स्थिति या आन्तरिक योग्यता और सहायक कारण है बाहरी स्थिति। डार्विन का सिद्धान्त बाहरी स्थिति को अनुचित महत्त्व देता है। बाहरी स्थितिया केवल आन्तरिक वृत्तियो को जगाती हैं, उनका नये सिरे से निर्माण नही करती। चेतन मे योग्यता होती है, वही बाहरी स्थिति का सहारा पा विकसित हो जाती है।

१ अन्तरग योग्यता और बहिरग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न होता है।
२ अन्तरग अयोग्यता और बहिरग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न नही होता।
३ अन्तरग योग्यता और बहिरग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नही होता।
४ अन्तरग अयोग्यता और बहिरग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नही होता।

प्रत्येक प्राणी मे दस सज्ञाए और जीवन-सुख की आकाक्षाए होती हैं। उसमे तीन एषणाए भी होती हैं

१ प्राणैषणा—मैं जीवित रहू।
२ पुत्रैषणा—मेरी सन्तति चले।
३ वित्तैषणा—मैं धनी बनू।

अर्थ और काम की इस आन्तरिक प्रेरणा तथा भूख, प्यास, ठडक, गर्मी आदि-आदि बाहरी स्थितियो के प्रहार से प्राणी की बहिर्मुखी वृत्तियो का विकास होता है। यह एक जीवनगत-विकास की स्थिति है। विकास का प्रवाह भी चलता है। एक पीढ़ी का विकास दूसरी पीढी को अनायास मिल जाता है। किन्तु उद्भिद्-जगत् से लेकर मनुष्य-जगत् तक जो विकास है, वह पहली पीढी के विकास की देन नही है। यह व्यक्ति-विकास की स्वतन्त्र गति है। उद्भिद्-जगत से भिन्न जातिया उसकी शाखाए नही किन्तु स्वतन्त्र हैं। उद्भिद् जाति का एक जीव पुनर्जन्म के

---

१ ठाण ५।२४

माध्यम से मनुष्य बन सकता है। यह जातिगत विकास नही, व्यक्तिगत विकास है।

विकास होता है, इसमे दोनो विचार एक रेखा पर हैं। किन्तु दोनो की प्रक्रिया भिन्न है। डार्विन के मतानुसार विकास जाति का होता है और जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति का। डार्विन को आत्मा और कर्म की योग्यता ज्ञात होती तो उनका ध्यान केवल जाति, जो कि बाहरी वस्तु है, के विकास की ओर नही जाता। आन्तरिक योग्यता की कमी होने पर एक मनुष्य फिर से उद्भिद् जाति मे जा सकता है, यह व्यक्तिगत ह्रास है।

प्राणि-विभाग

प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर और अचर। अचर प्राणी पाच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। चर प्राणियो के आठ भेद होते हैं—(१) अण्डज, (२) पोतज, (३) जरायुज, (४) रसज, (५) सस्वेदज ,(६) सम्मूर्च्छिम, (७) उद्भिद्, (८) उपपातज।

१ अण्डज—अण्डो से उत्पन्न होने वाले प्राणी अण्डज कहलाते है। जैसे—साप, केचुआ, मच्छ, कबूतर, हस, काक, मोर आदि जन्तु।

२ पोतज—जो जीव खुले अग से उत्पन्न होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे—हाथी, नकुल, चूहा, बगुली आदि।

३ जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एव मास से लथडा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्म वाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गौ, भैंस, ऊट, घोडा, मृग, सिंह, रीछ, कुत्ता, बिल्ली आदि।

४ रसज—मद्य आदि मे जो कृमि उत्पन्न होते हैं, वे रसज कहलाते है।

५ सस्वेदज—सस्वेद मे उत्पन्न होनेवाले सस्वेदज कहलाते है। जैसे—जू आदि।

६ सम्मूर्च्छिम—किसी सयोग की प्रधानतया अपेक्षा नही रखते हुए यत्र-कुत्र जो उत्पन्न हो जाते हैं, वे सम्मूर्च्छिम हैं। जैसे—चीटी, मक्खी आदि।

७ उद्भिद्—भूमि को भेदकर निकलनेवाले प्राणी उद्भिद् कहलाते है। जैसे—टिड्डी आदि।

८ उपपातज—शय्या एव कुम्भी मे उत्पन्न होने वाले उपपातज हैं। जैसे—देवता, नारक आदि।

उत्पत्ति-स्थान

'सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व नाना प्रकार की योनियो मे

उत्पन्न होते हैं और वही स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे शरीर से उत्पन्न होते हैं, शरीर मे रहते है, शरीर मे वृद्धि को प्राप्त करते हैं और शरीर का ही आहार करते है। वे कर्म के अनुगामी हैं। कर्म ही उनकी उत्पत्ति, स्थिति और गति का आदि कारण है। वे कर्म के प्रभाव से ही विभिन्न अवस्थाओ को प्राप्त करते हैं।"[1]

प्राणियो के उत्पत्ति-स्थान ८४ लाख है और उनके कुल एक करोड साढे सत्तानवे लाख (१,९७,५०,०००) हैं। एक उत्पत्ति-स्थान मे अनेक कुल होते हैं। जैसे गोवर एक ही योनि है और उसमे कृमि-कुल, कीट-कुल, वृश्चिक-कुल आदि अनेक कुल हैं।

स्थान	उत्पत्ति	कुल
१ पृथ्वीकाय	७ लाख	१२ लाख
२ अप्काय	७ लाख	७ लाख
३ तेजस्काय	७ लाख	७ लाख
४ वायुकाय	७ लाख	७ लाख
५ वनस्पतिकाय	२४ लाख	२८ लाख
६ द्वीन्द्रिय	२ लाख	७ लाख
७ त्रीन्द्रिय	२ लाख	८ लाख
८ चतुरिन्द्रिय	२ लाख	९ लाख
९ तिर्यञ्चपचेन्द्रिय	४ लाख	जलचर—१२॥ लाख खेचर—१२ लाख स्थलचर—१० लाख उर-परिसर्प—९ लाख भुज-परिसर्प—९ लाख
१० मनुष्य	१४ लाख	१२ लाख
११ नारक	४ लाख	२५ लाख
१२ देव	४ लाख	२६ लाख

उत्पत्ति-स्थान एव कुल-कोटि के अध्ययन से जाना जाता है कि प्राणियो की विविधता एव भिन्नता का होना असम्भव नही।

---

१ सूयगडो, २।३।६२ "सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसभवा, णाणाविहवुक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया कम्मठीइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति।"

अस्थावर-जगत्

उक्त प्राणी-विभाग जन्म-प्रक्रिया की ष्टि मे है। गति की दृष्टि से प्राणी दो भागो मे विभक्त होते हैं—स्थावर और त्रस। त्रस जीवो मे गति, आगति, भाषा, इच्छा व्यक्तीकरण आदि-आदि चैतन्य के स्पष्ट चिह्न प्रतीत होते हैं, इसलिए उनकी सचेतनता मे कोई सन्देह नही होता। स्थावर जीवो मे जीव के व्यावहारिक लक्षण स्पष्ट प्रतीत नही होते, इसलिए उनकी सजीवता चक्षुगम्य नही है। जैन सूत्र बताते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पाचो स्थावर-काय सजीव है। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है—हमे जितने पुद्गल दीखते है, ये सब जीवत्-शरीर या जीव-मुक्त शरीर है। जिन पुद्गल-स्कन्धो को जीव अपने शरीर-रूप मे परिणत कर लेते है, उन्ही को हम देख सकते हैं, दूसरो को नही। पाच स्थावर के रूप मे परिणत पुद्गल दृश्य हैं। इससे प्रमाणित होता है कि वे सजीव हैं। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर उत्पत्तिकाल मे सजीव ही होता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी प्रारम्भ मे सजीव ही होते हैं। जिस प्रकार स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक मृत्यु से मनुष्य-शरीर निर्जीव या आत्म-रहित हो जाता है उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी स्वाभाविक या प्रायोगिक मृत्यु से निर्जीव बन जाते हैं।

इनकी सजीवता का बोध कराने के लिए पूर्ववर्ती आचार्यो ने तुलनात्मक युक्तिया भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—

१ मनुष्य-शरीर मे समानजातीय मासाकुर पैदा होते हैं, वैसे ही पृथ्वी मे भी समानजातीय अकुर पैदा होते हैं इसलिए वह सजीव है।

२ अण्डे का प्रवाही रस सजीव होता है, पानी भी प्रवाही है, इसलिए सजीव है। गर्भकाल के प्रारम्भ मे मनुष्य तरल होता है, वैसे ही पानी तरल है, इसलिए सजीव है। मूत्र आदि तरल पदार्थ शस्त्र-परिणत होते हैं, इसलिए वे निर्जीव होते हैं।

३ जुगनू का प्रकाश और मनुष्य के शरीर मे ज्वरावस्था मे होने वाला ताप जीव-सयोगी है। वैसे ही अग्नि का प्रकाश और ताप जीव-सयोगी है। आहार के भाव और अभाव मे होनेवाली वृद्धि और हानि की अपेक्षा मनुष्य और अग्नि की समान स्थिति है। दोनो का जीवन वायु-सापेक्ष है। वायु के विना मनुष्य नही जीता, वैसे अग्नि भी नही जीती। मनुष्य मे जैसे प्राणवायु का ग्रहण और विपवायु का उत्सर्ग होता है, वैसे अग्नि मे भी होता है। इसलिए वह मनुष्य की भाति सजीव है। सूर्य का प्रकाश भी जीव-सयोगी है। सूर्य, 'आतप' नाम कर्मोदययुक्त पृथ्वी-कायिक जीवो का शरीर-पिण्ड है।

४ वायु मे व्यक्त-प्राणी की भाति अनियमित स्वप्रेरित गति होती है। इससे उसकी सचेतनता का अनुमान किया जा सकता है। स्थूल पुद्गल-स्कन्धो मे अनिय-

मित गति पर-प्रेरणा से होती है, स्वय नही।

ये चार जीव-निकाय हैं। इनमे से प्रत्येक मे असख्य-असख्य जीव हैं। मिट्टी का एक छोटा-सा ढेला, पानी की एक वूद, अग्नि का एक कण, वायु का एक सूक्ष्म भाग—ये सव असख्य जीवो के असख्य शरीरो के पिण्ड हैं। इनके एक जीव का एक शरीर अति-सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टि का विपय नही वनता। हम इनके पिण्डीभूत असख्य शरीरो को ही देख सकते हैं।

५ वनस्पति का चैतन्य पूर्ववर्ती निकायो से स्पष्ट है। इसे जैनेतर दार्शनिक भी सजीव मानते आए हैं और वैज्ञानिक जगत् मे भी इनके चैतन्य सम्वन्धी विविध परीक्षण हुए है। वेतार की तरगो (wireless waves) के वारे मे अन्वेपण करते समय जगदीशचन्द्र वसु को यह अनुभव हुआ कि धातुओ के परमाणु पर भी अधिक दवाव पडने से रुकावट आती है और उन्हें फिर उत्तेजित करने पर वह दूर हो जाती है। उन्होंने सूक्ष्म छानवीन के वाद वताया कि धान्य आदि पदार्थ भी थकते हैं, चचल होते हैं, विप से मुरझाते हैं, नशे से मस्त होते हैं और मरते हैं। अन्त मे उन्होने यह प्रमाणित किया कि ससार के सभी पदार्थ सचेतन हैं।[1]

वेदान्त की भापा मे सभी पदार्थों मे एक ही चेतन प्रवाहित हो रहा है।

जैन की भापा मे समूचा ससार अनन्त जीवो से व्याप्त है। एक अणुमात्र प्रदेश भी जीवो से खाली नही है।[2]

वनस्पति की सचेतनता सिद्ध करते हुए उसकी मनुष्य के साथ तुलना की गई है।

जैसे मनुष्य-शरीर जाति (जन्म)-धर्मक है, वैसे वनस्पति भी जाति-धर्मक है। जैसे मनुष्य-शरीर वालक, युवक तथा वृद्ध अवस्था प्राप्त करता है, वैसे वनस्पति-शरीर भी। जैसे मनुष्य सचेतन है, वैसे वनस्पति भी। जैसे मनुष्य-शरीर छेदन करने से मलिन हो जाता है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर आहार करनेवाला है, वैसे वनस्पति-शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर अनित्य है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य का शरीर अशाश्वत है (प्रतिक्षण मरता है), वैसे वनस्पति के शरीर की भी प्रतिक्षण मृत्यु होती है। जैसे मनुष्य-शरीर मे इष्ट और अनिष्ट आहार की प्राप्ति से वृद्धि और हानि होती है, वैसे ही वनस्पति के शरीर मे भी। जैसे मनुष्य-शरीर विविध परिणमनयुक्त है अर्थात् रोगो के सम्पर्क से पाण्डुत्व, वृद्धि, सूजन, कृशता, छिद्र आदि युक्त हो जाता है और औपधि-सेवन से कान्ति, वल, पुष्टि आदि युक्त हो जाता है, वैसे वनस्पति-शरीर भी नाना प्रकार

---

१ Response in the living and non-living

२ उत्तरज्झयणाणि, ३६।७८

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य वायरा।

के रोगो से ग्रस्त होकर पुष्प, फल और त्वचा-विहीन हो जाता है और औषधि के सयोग से पुष्प, फलादि युक्त हो जाता है। अत वनस्पति चेतनायुक्त है।

वनस्पति के जीवो मे अव्यक्त रूप से दस सज्ञाए होती हैं। सज्ञा का अर्थ है—अनुभव। दस सज्ञाए ये हैं—

आहार-सज्ञा, भय-सज्ञा, मैथुन-सज्ञा, परिग्रह-सज्ञा, क्रोध-सज्ञा, मान-सज्ञा, माया-सज्ञा, लोभ-सज्ञा ओघ-सज्ञा एव लोक-सज्ञा। इनको सिद्ध करने के लिए टीकाकारो ने उपयुक्त उदाहरण भी खोज निकाले हैं। वृक्ष जल का आहार तो करते ही हैं। इसके सिवाय 'अमर वेल' अपने आसपास होनेवाले वृक्षो का सार खीच लेती है। कई वृक्ष रक्त-शोषक भी होते हैं। इसलिए वनस्पति मे आहार-सज्ञा होती है। 'छुई-मुई' आदि स्पर्श के भय से सिकुड जाती है, इसलिए वनस्पति मे भय-सज्ञा होती है। 'कुरुबक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिगन से पल्लवित हो जाता है और 'अशोक' नामक वृक्ष स्त्री के पादघात मे प्रमुदित हो जाता हैं, इसलिए वनस्पति मे मैथुन-सज्ञा है। लताए अपने तन्तुओ से वृक्ष को वीट लेती है, इसलिए वनस्पति मे परिग्रह-सज्ञा है। 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कद क्रोध से हुकार करता है। 'सिदती' नाम की वेल मान से झरने लग जाती है। लताए अपने फलो को माया से ढाक लेती हैं। विल्व और पलाश आदि वृक्ष लोभ से अपने मूल निधान पर फैलते है। इससे जाना जाता है कि वनस्पति मे क्रोध, मान, माया और लोभ भी है। लताए वृक्षो पर चढने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती है, इसलिए वनस्पति मे ओघ-सज्ञा है। रात्रि मे कमल सिकुडते हैं, इसलिए वनस्पति मे लोक-सज्ञा है।

वृक्षो मे जलादि सीचते हैं, वह फलादि के रस के रूप मे परिणत हो जाता है, इसलिए वनस्पति मे उच्छ्वास का सद्भाव है। स्नायविक धडकनो के विना रस का प्रसार नही हो सकता। जैसे मनुष्य-शरीर मे उच्छ्वास से रक्त का प्रसार होता है और मृत-शरीर मे उच्छ्वास नही होता, अत रक्त का प्रसार भी नही होता, इस-लिए वनस्पति मे उच्छ्वास है। इस प्रकार अनेक युक्तियो से वनस्पति की सचेतनता सिद्ध की गई है।

वनस्पतिकाय के दो भेद है—साधारण और प्रत्येक। एक शरीर मे अनन्त जीव होते है, वह साधारण-शरीरी, अनन्त-काय या सूक्ष्म-निगोद है। एक शरीर मे एक ही जीव होता है, वह प्रत्येक-शरीरी है।

सघीय-जीवन

साधारण-वनस्पति का जीवन सघ-वद्ध होता है। फिर भी उनकी आत्मिक सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। कोई भी जीव अपना अस्तित्व नहीं गवाता। उन एक शरीराश्रयी अनन्त जीवो के सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण पृथक्-पृथक् होते हैं।

उन पर एक-दूसरे का प्रभाव नही होता। उनके माम्यवादी जीवन की परिभाषा करते हुए बताया है कि —"साधारण वनस्पति का एक जीव जो कुछ आहार आदि पुद्गल-समूह का ग्रहण करता है, वह तत्शरीरस्थ शेष सभी जीवो के उपभोग मे आता है और बहुत सारे जीव जिन पुद्गलो का ग्रहण करते है, वे एक जीव के उपभोग्य बनते हैं।[1]" उनके आहार-विहार, उच्छ्वास-निश्वास, शरीर-निर्माण और मौत—ये सभी साधारण कार्य एक साथ होते हैं।[2] साधारण जीवो का प्रत्येक शारीरिक कार्य साधारण होता है। पृथक्-शरीरी मनुष्यो के कृत्रिम सघो मे ऐसी साधारणता कभी नही आती। साधारण जीवो का स्वाभाविक सघात्मक जीवन साम्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जीव अमूर्त है, इसलिए वे क्षेत्र नही रोकते। क्षेत्र-निरोध स्थूल पौद्गलिक वस्तुए ही करती है। साधारण जीवो के स्थूल शरीर पृथक्-पृथक् नही होते। जो-जो निजी शरीर है, वे सूक्ष्म होते हैं, इसलिए एक सुई के अग्र भाग जितने से छोटे शरीर मे अनन्त जीव समा जाते हैं।

सुई की नोक टिके उतने 'लक्ष्यपाक' तेल मे एक लाख औषधियो की अस्तिता होती है। सब औषधियो के परमाणु उसमे मिले हुए होते हैं। इससे अधिक सूक्ष्मता आज के विज्ञान मे देखिए—

रसायनशास्त्र के पडित कहते है कि आल्पीन के सिरे के बराबर बर्फ के टुकडे मे १०,००,००,००,००,००,००,००,००० अणु हैं। इन उदाहरणो को देखते हुए साधारण जीवो की एक शरीराश्रयी स्थिति मे कोई सदेह नही होता। आग मे तपा लोहे का गोला अग्निमय होता है, वैसे साधारण वनस्पति-शरीर जीवमय होता है।

साधारण-वनस्पति जीवो का परिमाण

लोकाकाश के असख्य प्रदेश हैं। उसके एक-एक आकाश-प्रदेश पर एक-एक निगोद-जीव को रखते चले जाइए। वे एक लोक मे नही समायेंगे, दो-चार मे भी

---

१ प्रज्ञापना, पद १

एक्कस्स उ ज गहण, बहूण साहारणाण त चेव।
ज बहूयाण गहण, समासओ त पि एयस्स॥

२ वही, पद १

(क) साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहण च।
साहारण जीवाण, साहारण लक्खण एय॥

(ख) समय वक्कताणं, समय तेसि सरीरनिव्वत्ती।
समयं आणुगाहण, समय उस्सासनिस्सास॥

नही। वैसे अनन्त लोक आवश्यक होंगे।[1] इस काल्पनिक संख्या से उनका परिमाण समझिए। उनकी शारीरिक स्थिति सकीर्ण होती है। इसी कारण वे ससीम लोक मे समा रहे हैं।

प्रत्येक-वनस्पति

प्रत्येक-वनस्पति जीवो के शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रत्येक जीव अपने शरीर का निर्माण स्वय करता है। उनमे पराश्रयता भी होती है। एक घटक जीव के आश्रय मे असख्य जीव पलते हैं। वृक्ष के घटक बीज मे एक जीव होता है। उसके आश्रय मे पत्र, पुष्प और फूल के असख्य जीव उपजते हैं। बीजावस्था के सिवाय वनस्पति-जीव सघातरूप मे रहते हैं। श्लेष्म-द्रव्य-मिश्रित सरसो के दाने अथवा तिलपपडी के तिल एक-रूप बन जाते हैं। तब भी उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। प्रत्येक-वनस्पति के शरीरो की भी यही बात है। शरीर की सघात-दशा मे भी उनकी सत्ता स्वतन्त्र रहती है।[2]

प्रत्येक-वनस्पति जीवो का परिमाण

साधारण-वनस्पति जीवो की भाति प्रत्येक-वनस्पति का एक-एक जीव लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रखा जाए तो ऐसे असख्य लोक बन जाए। यह लोक असख्य आकाश-प्रदेश वाला है, ऐसे असख्य लोको के जितने आकाश-प्रदेश होते है, उतने प्रत्येक-शरीरी वनस्पति जीव हैं।[3]

क्रम-विकासवाद के मूल सूत्र

डार्विन का सिद्धान्त चार मान्यताओ पर आधारित है—

१ पितृ नियम—समान मे से समान सतति की उत्पत्ति।

---

१ प्रज्ञापना, पद १

लोगागासपएसे, निगोयजीव ठवेहि एक्केक।
एव मविज्जमाणा, हवति लोया अणताओ ॥

२ वही, पद १

(क) जह सगलसरिसवाण, सिलेसमिस्साणवट्टिया वट्टी।
पत्तेयसरीराण, तह होंति सरीरसघाया ॥

(ख) जहवा तिलपप्पडिया, बहूहिं तिलेहिं सहता सति।
पत्तेयसरीराण, तह होंति सरीरसघाया ॥

३ वही, पद १

लोगागासपएसे, परित्त जीव ठवेहि एक्केक।
एव मविज्जमाणा, हवन्ति लोया असखेज्जा ॥

२ परिवर्तन का नियम—निश्चित दशा मे सदा परिवर्तन होता है किन्तु वह उसके विरुद्ध नही होता। वह (परिवर्तन) सदा आगे बढता है, पीछे नही हटता। उससे उन्नति होती है, अवनति नही होती।

३ अधिक उत्पत्ति का नियम—यह जीवन-सग्राम का नियम है। अधिक होते हैं, वहा परस्पर सघर्ष होते हैं। यह अस्तित्व को बनाये रखने की लडाई है।

४ योग्य-विजय—अस्तित्व की लडाई मे जो योग्य होता है विजय उसी के हाथ मे आती है। स्वाभाविक चुनाव मे योग्य को ही अवसर मिलता है।

प्रकारान्तर से इसका वर्गीकरण यो भी हो सकता है—

१ स्वत परिवर्तन।

२ वश-परम्परा द्वारा अगली पीढी मे परिवर्तन।

३ जीवन-सघर्ष मे योग्यतम का शेष रहना।

इसके अनुसार पिता-माता के अर्जित गुण सन्तान मे सक्रान्त होते हैं। वे ही गुण वशानुक्रम से पीढी-दर-पीढी धीरे-धीरे उपस्थित होकर सुदीर्घ काल मे सुस्पष्ट आकार धारण करके एक जाति से अभिनव जाति उत्पन्न कर देते हैं।

डार्विन के मतानुसार पिता-माता के प्रत्येक अग से सूक्ष्मकला या अवयव निकलकर शुक्र और शोणित मे सचित होते हैं। शुक्र और शोणित से सन्तान का शरीर बनता है। अतएव पिता-माता के उपार्जित गुण सन्तान मे सक्रान्त होते हैं।

इसमे सत्याश है, किन्तु वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण नहीं। एक सन्तति मे स्वत बुद्धिगम्य कारणो के बिना भी परिवर्तन होता है। उस पर माता-पिता का भी प्रभाव पडता है। जीवन-सग्राम मे योग्यतम विजयी होता है, यह सच है किन्तु यह उससे अधिक सच है कि परिवर्तन की भी एक सीमा है। वह समानजातीय होता है, विजातीय नही। द्रव्य की सत्ता का अतिक्रम नही होता, मौलिक गुणो का नाश नही होता।

विकास या नई जाति उत्पन्न होने का अथ है कि स्थितियो मे परिवतन हो, वह हो सकता है। किन्तु तिर्यञ्च पशु, पक्षी या जल-जन्तु आदि से मनुष्य-जाति की उत्पत्ति नही हो सकती।

प्राणियो की मौलिक जातिया पाच हैं। वे क्रम-विकास से उत्पन्न नही, स्वतन्त्र हैं। पाच जातिया योग्यता की दृष्टि से क्रमश विकसित हैं। किन्तु पूर्व-योग्यता से उत्तर-योग्यता सृष्ट या विकसित हुई, ऐसा नही। पचेन्द्रिय प्राणी की देह से पचेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होता है। वह पचेन्द्रिय ज्ञान का विकास पिता से न्यून या अधिक पा सकता है। पर यह नही हो सकता कि वह किसी चतुरिन्द्रिय से उत्पन्न हो जाए या किसी चतुरिन्द्रिय को उत्पन्न कर दे। सजातीय से उत्पन्न होना और सजातीय को उत्पन्न करना, यह गर्भज प्राणियो की निश्चित मर्यादा है।

विकासवाद जाति-विकास नही, किन्तु जाति-विपर्यास मानता है। उसके

अनुसार इस विश्व मे कुछ विशुद्ध तप्त पदार्थ चारो ओर भरे पडे थे, जिनकी गति और उष्णता मे क्रमश कमी होते हुए, वाद मे उनमे से मर्व ग्रहो और हमारी इस पृथ्वी की भी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार जैसे-जैसे हमारी यह पृथ्वी ठडी होने लगी, वैसे-वैसे इस वायु-जलादि की उत्पत्ति हुई और उसके वाद वनस्पति की उत्पत्ति हुई। उद्भिद्-राज्य हुआ। उससे जीव-राज्य हुआ। जीव-राज्य का विकासक्रम इस प्रकार माना जाता है—पहले सरीसृप हुए, फिर पक्षी, पशु, बन्दर और मनुष्य हुए।

डार्विन के इस बिलम्बित 'क्रम-विकास-प्रसर्पणवाद' को विख्यात प्राणी-तत्त्ववेत्ता डी० व्राइस ने सान्ध्य—प्रिमरोज (इस पेड का थोडा-सा चारा हालैण्ड से लाया जाकर अन्य देशो की मिट्टी मे लगाया गया। इससे अकस्मात् दो नई श्रेणियो का उदय हुआ) के उदाहरण से असिद्ध ठहराकर 'प्लुतसञ्चारवाद' को मान्य ठहराया है, जिसका अर्थ है कि एक जाति से दूसरी उपजाति का जन्म आकस्मिक होता है, क्रमिक नही।

विज्ञान का सृष्टि-क्रम असत् से सत् (उत्पादवाद या अहेतुकवाद) है। यह विश्व कव, क्यो और कैसे उत्पन्न हुआ, इसका आनुमानिक कल्पनाओ के अतिरिक्त कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता। डार्विन ने सिर्फ शारीरिक विवर्तन के आधार पर क्रम-विकास का सिद्धान्त स्थिर किया। शारीरिक विवर्तन मे वर्ण-भेद, सहनन[1]-भेद, सस्थान[2]-भेद, लम्बाई-चौडाई का तारतम्य, ऐसे-ऐसे और भी सूक्ष्म-स्थूल-भेद हो सकते हैं। ये पहले भी हुआ करते थे और आज भी होते हैं। ये देश, काल, परिस्थिति के भेद से किसी विशेष प्रयोग के विना भी हो सकते है और विशेष प्रयोग के द्वारा भी। १७९१ ई० मे भेडो के झुण्ड मे अकस्मात् एक नई जाति उत्पन्न हो गई। उन्हे आजकल 'अनेकन' भेड कहा जाता है। यह जाति-मर्यादा के अनुकूल परिवर्तन है जो यदा-तदा, यत्किंचित् सामग्री से हुआ करता है। प्रायोगिक परिवर्तन के नित-नए उदाहरण विज्ञान जगत् प्रस्तुत करता ही रहता है।

अभिनव जाति की उत्पत्ति का सिद्धान्त एक जाति मे अनेक व्यक्ति प्राप्त भिन्नताओ की वहुलता के आधार पर स्वीकृत हुआ है। उत्पत्ति-स्थान और कुल-कोटि की भिन्नता से प्रत्येक जाति मे भेद-वाहुल्य होता है। उन अवान्तर

---

१ सहनन का अर्थ है 'अस्थि-रचना'। अस्थि-रचना छह प्रकार की होती है, अत सहनन के छह भेद हैं—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और सेवात।

२ सस्थान का अर्थ है आकृति-रचना। यो तो जितने प्राणी हैं उतनी ही आकृतिया हैं, लेकिन उनके वर्गीकरण से छह ही प्रकार होते हैं। यथा—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्डक।

भेदो के आधार पर मौलिक जाति की सृष्टि नही होती। एक जाति उससे मौलिक भेद वाली जाति को जन्म देने मे समर्थ नही होती। जो जीव जिस जाति मे जन्म लेता है, वह उसी जाति मे प्राप्त गुणो का विकास कर सकता है। जाति के विभाजक नियमो का अतिक्रमण नही हो सकता। इसी प्रकार जो जीव स्वार्जित कर्म-पुद्गलो की प्रेरणा से जिस जाति मे जन्म लेता है, उसी (जाति) के आधार पर उसके शरीर-सहनन, सस्थान, ज्ञान आदि का निर्णय किया जा सकता है, अन्यथा नही।

वाहरी स्थितियो का प्राणियो पर प्रभाव होता है। किन्तु उनकी आनुवशिकता मे वे परिवतन नही ला सकती। प्रो० डार्लिगटन के अनुसार—"जीवो की वाहरी परिस्थितिया प्रत्यक्ष रूप से उनके विकास-क्रम को पूर्णतया निश्चित नही करतीं। इससे यह साबित हुआ कि मार्क्स ने अपने और डार्विन के मतो मे जो समानान्तरता पायी थी, वह वहुत स्थायी और दूरगामी नही थी। विभिन्न स्वभावो वाले मानव प्राणियो के शरीर मे वाह्य और आन्तरिक भौतिक प्रभेद मौजूद होते हैं। उसके भीतर के भौतिक-प्रभेद के आधार को ही आनुवशिक या जन्मजात कहा जाता है। इस भौतिक आन्तरिक प्रभेद के आधारो का भेद ही व्यक्तियो, जातियो और वर्गो के भेदो का कारण होता है। ये सव भेद वाहरी अवयवो मे होनेवाले परिवर्तनो का ही परिणाम हैं। इन्हें जीवधारी देह के पहलुओ के सिवाय वाहरी शक्ति नष्ट नही कर सकती। आनुवशिकता के इस असर को अच्छे भोजन, शिक्षा अथवा सरकार के किसी भी कार्य से चाहे वह कितना ही उदार या क्रूर क्यो न हो, सुधार या उन्नत करना कठिन है। आनुवशिकता के प्रभाव को इस नए आविष्कार के बाद 'जेनेटिक्स का विज्ञान' कहा गया।[1]

हमे दो श्रेणी के प्राणी दिखाई देते हैं। एक श्रेणी के गर्भज हैं, जो माता-पिता के शोणित, रज और शुक्र विन्दु के मेल से उत्पन्न होते हैं। दूसरी श्रेणी के सम्मूर्च्छिम हैं जो गर्भाधान के विना स्व-अनुकूल सामग्री के सान्निध्य मात्र से उत्पन्न हो जाते हैं।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय के जीव सम्मूर्च्छिम और तिर्यञ्च जाति के ही होते हैं। पचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम और गर्भज दोनो प्रकार के होते हैं। इन दोनो (सम्मूर्च्छिम और गर्भज पचेन्द्रिय) की दो जातिया हैं—

(१) तिर्यञ्च, (२) मनुष्य।[2]

तिर्यञ्च जाति के मुख्य प्रकार तीन हैं—

---

१ विज्ञान और कम्युनिज्म—प्रो० सी० डी० डार्लिगटन

२ मनुष्य के मल, मूत्र, लहू आदि अशुचि-स्यान में उत्पन्न होने वाले पचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं। (देखें—प्रज्ञापना, पद १)

१ जलचर—मत्स्य आदि।

२ स्थलचर—गाय, भैंस आदि।

(क) उरपरिसृप—रेंगने वाले प्राणी—साप आदि।

(ख) भुजपरिसृप—भुजा के बल पर चलनेवाले प्राणी—नेवला आदि इसी की उपशाखाए हैं।

३ खेचर—पक्षी।

सम्मूर्च्छित जीवो का जाति-विभाग गर्भ-व्युत्क्रान्त जीवो के जाति-विभाग जैसा सुस्पष्ट और सवद्ध नही होता।

आकृति-परिवर्तन और अवयवो की न्यूनाधिकता के आधार पर जातिविकास की जो कल्पना है, वह औपचारिक है, तात्त्विक नही। सेव के वृक्ष की लगभग दो हजार जातिया मानी जाती हैं। भिन्न-भिन्न देश की मिट्टी मे बोया हुआ बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधो के रूप मे परिणत होता है। उनके फूलो और फलो मे वर्ण, गन्ध, रस आदि का अन्तर भी आ जाता है। 'कलम' के द्वारा भी वृक्षो में आकस्मिक परिवर्तन किया जाता है। इसी प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य के शरीर पर भी विभिन्न परिस्थितियो का प्रभाव पडता है। शीत-प्रधान देश मे मनुष्य का रग श्वेत होता है, उष्ण-प्रधान देश मे श्याम। यह परिवर्तन मौलिक नही है। वैज्ञानिक प्रयोगो के द्वारा औपचारिक परिवर्तन के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। मौलिक परिवर्तन प्रयोगसिद्ध नही हैं। इसलिए जातिगत औपचारिक परिवर्तन के आधार पर क्रम-विकास की धारणा अधिक मूल्यवान नही बन सकती।

शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उल्टा क्रम

पारिपार्श्विक वातावरण या बाहरी स्थितियो के कारण जैसे विकास या प्रगति होती है, वैसे ही उसके वदलने पर ह्रास या पूर्व-गति भी होती है।

इस दिशा मे सवसे आश्चर्यजनक प्रयोग हैं म्यूनिख की जन्तुशाला के डाइरेक्टर श्री हिंजहेक के, जिन्होंने विकासवाद की गाडी ही आगे से पीछे की ओर ढकेल दी है और ऐसे घोडे पैदा किये हैं, जैसे कि पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व होते थे। प्रागैतिहासिक युग के इन घोडो को इतिहासकार 'टरपन' कहते हैं।[1]

---

१ 'टरपन' जाति के पशु जगत् के प्राचीनतम पशुओ मे से हैं। पाषाणयुगीन गुफाओ मे उनके कितने ही चित्र आज भी उपलब्ध हैं—कद मे नाटा-ठिगना, भूरे वाल, पैर पर धारिया और चूहे सा-मुह। यह पशु वडा ताकतवर तथा भयानक होता था। अपनी जगली अवस्था में तो अकसर इनके झुण्ड चरते-चरते यूरोप के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुच जाते थे। अठारहवीं सदी तक तो इस जाति के पशुओ का पता चलता है, किन्तु उसके वाद यह पूरी जाति ही जैसे हमेशा के लिए तिरोहित-सी हो गई।

सन् १९२८ में पुरातत्त्व का शोध-छात्र हिंजहेक जब खोह-युगीन मानव के भित्ति-चित्र

इससे जाना जाता है कि शरीर, संहनन, संस्थान और रंग का परिवर्तन होता है। इससे एक जाति के अनेक रूप बन जाते हैं, किन्तु मूलभूत जाति नहीं बदलती।

दो जाति के प्राणियों के संगम से तीसरी एक नई जाति पैदा होती है। इस मिश्र जाति में दोनों के स्वभाव मिलते हैं, किन्तु यह भी शारीरिक भेद वाली उपजाति है। आत्मिक शक्तिगत और ऐन्द्रियिक और मानसिक शक्ति का भेद उनमें नहीं होता। जाति-भेद का मूल कारण है—आत्मिक विकास। इन्द्रियां, स्पष्ट भाषा और मन, इनका परिवर्तन मिश्रण और काल-क्रम से नहीं होता। एक स्त्री के गर्भ से 'गर्भ-प्रतिबिम्ब' पैदा होता है, जिसके रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। आकृति-भेद की समस्या जाति-भेद से मौलिक नहीं है।

प्रभाव के निमित्त

हर प्राणी पर माता-पिता का, आसपास के वातावरण का, देश-काल की सीमा का, खान-पान का और ग्रहों-उपग्रहों का अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके जो निमित्त हैं उन पर जैन दृष्टि का क्या निर्णय है—यह थोड़े में जानना है।

प्रभावित स्थितियों को वर्गीकृत कर हम दो भाग करें—शरीर और बुद्धि। ये सारे निमित्त इन दोनों को प्रभावित करते हैं।

प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का संयुक्त एक रूप होता है। प्रत्येक प्राणी को आत्मिक शक्ति का विकास और उसकी अभिव्यक्ति के निमित्तभूत शारीरिक साधन उपलब्ध होते हैं।

आत्मा सूक्ष्म शरीर का प्रवर्तक है और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का। बाहरी स्थितियां स्थूल शरीर को प्रभावित करती हैं, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर आत्मा को—उद्बिग्न, मन्द या चेतन वृत्तियों को।

इग्लैण्ड वापस लौटा तो उसके मन में यह प्रश्न उठा कि क्या हम वर्तमान घोड़े की नस्ल का विकास के उल्टे क्रम पर बदलते हुए 'टरपन' की जाति में परिवर्तित नहीं कर सकते। प्रश्न क्या था, मानो एक चुनौती थी। उसने पुराने 'टरपन' जाति के पशुओं के अस्थिपंजर तथा गुफा चित्रों का गहरा अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। कई वर्ष तक यह इधर उधर 'टरपन' सम्बन्धी सही जानकारी प्राप्त करने के लिए ही मारा मारा फिरता रहा। आखिर पन्द्रह वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद उसने यह पता लगा लिया कि 'टरपन' एशिया के जंगली घोड़ा और आइसलैंड के पालतू घोड़ों के बहुत निकट का जन्तु रहा होगा। अतः उसने इन्हीं के संक्रमण द्वारा नई नस्ल पैदा करना शुरू किया। उसे अपने प्रयोग में सफलता भी मिली। इस परीक्षण की पांचवीं पीढ़ी का पशु बिलकुल प्रागैतिहासिक युग के 'टरपन' के समान था और इस नयी नस्ल के सतरह जानवर उसने अभी तक पैदा कर लिए हैं। —नव०, जून १९५२

शरीर पौद्गलिक होते हैं—सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म वर्गणाओ का सगठन होता है और स्थूल शरीर स्थूल वर्गणाओ का।

१. आनुवशिक समानता का कारण है—वर्गणा का साम्य। जन्म के आरम्भ-काल मे जीव जो आहार लेता है, वह उसके जीवन का मूल आधार होता है। वे वर्गणाए मातृ-पितृ सात्म्य होती हैं, इसलिए माता और पिता का उस पर प्रभाव होता है। सन्तान के शरीर में मास, रक्त और मस्तुलुग (भेजा)—ये तीन अग माता के और हाड, मज्जा और केश-दाढी-रोम-नख—ये तीन अग पिता के होते हैं।[1] वर्गणाओ का साम्य होने पर भी आन्तरिक योग्यता समान नही होती। इसलिए माता-पिता से पुत्र की रुचि, स्वभाव, योग्यता भिन्न भी होती हैं। यही कारण है कि माता-पिता के गुण-दोषो का सन्तान के स्वास्थ्य पर जितना प्रभाव पडता है, उतना बुद्धि पर नही पडता।

२ वातावरण भी पौद्गलिक होता है। पुद्गल पुद्गल पर असर डालते हैं। शरीर, भाषा और मन की वर्गणाओ के अनुकूल वातावरण की वर्गणाए होती है, उन पर उनका अनुकूल प्रभाव होता है और प्रतिकूल दशा मे प्रतिकूल। आत्मिक-शक्ति विशेष जागृत हो तो इसमे अपवाद भी हो सकता है। मानसिक-शक्ति वर्गणाओ मे परिवर्तन ला सकती है। कहा भी है—

"चित्तायत धातुवद्ध शरीर, स्वस्थे चित्ते बुद्धय प्रस्फुरन्ति।
तस्माच्चित्त सर्वथा रक्षणीय, चित्ते नष्टे बुद्धयो यान्ति नाशम्।"

—यह धातुवद्ध शरीर चित्त के अधीन है। स्वस्थ चित्त मे बुद्धि की स्फुरणा होती है। इसलिए चित्त को स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त नष्ट होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र और बलवान् मन पवित्र वर्गणाओ को ग्रहण करता है, इसलिए बुरी वर्गणाए शरीर पर भी बुरा असर नही डाल सकती।

३ खान-पान और औषधि का असर भी भिन्न-भिन्न प्राणियो पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसका कारण भी उनके शरीर की भिन्न-भिन्न वर्गणाए हैं। वर्गणाओ के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श मे अनन्त प्रकार का वैचित्र्य और तरतमभाव होता है। एक ही रस का दो व्यक्ति दो प्रकार का अनुभव करते हैं। यह उनका बुद्धि-दोष या अनुभव-शक्ति का दोष नही किन्तु इस भेद का आधार उनकी विभिन्न वर्गणाए हैं। अलग-अलग परिस्थिति मे एक ही व्यक्ति को इस भेद का शिकार होना पडता है।

खान-पान, औषधि आदि का शरीर के अवयवो पर असर होता है। शरीर के अवयव इन्द्रिय, मन और भाषा के साधन होते हैं, इसलिए जीव की प्रवृत्ति के ये

---

१ भगवती, १।७

भी परस्पर कारण बनते हैं। ये बाहरी वर्गणाए आन्तरिक योग्यता को सुधार या बिगाड नही सकती और न बढा-घटा भी सकती। किन्तु जीव की आन्तरिक योग्यता की साधनभूत आन्तरिक वर्गणाओ मे सुधार या बिगाड ला सकती हैं। यह स्थिति दोनो प्रकार की वर्गणाओ के बलाबल पर निर्भर है।

४ ग्रह-उपग्रह से जो रश्मिया निकलती हैं, उनका भी शारीरिक वर्गणाओ के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव होता है। विभिन्न रगो के शीशो द्वारा सूर्य-रश्मियो को एकत्रित कर शरीर पर डाला जाए तो स्वास्थ्य या मन पर उनकी विभिन्न प्रतिक्रियाए होती हैं। सगठित दशा मे हमे तत्काल उनका असर मालूम पडता है। असगठित दशा और सूक्ष्म रूप मे उनका जो असर हमारे ऊपर होता है, उसे हम पकड नही सकते।

ज्योतिर्विद्या मे उल्का की और योग-विद्या मे विविध रगो की प्रतिक्रिया भी उनकी रश्मियो के प्रभाव से होती है।

यह बाहरी असर है। अपनी आन्तरिक वृत्तियो का भी अपने पर प्रभाव पडता है। ध्यान या मानसिक एकाग्रता से चचलता की कमी होती है, आत्म-शक्ति का विकास होता है। मन की चचलता मे जो शक्ति बिखर जाती है, वह ध्यान से केन्द्रित होती है। इसीलिए आत्म-विकास मे मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति का बडा महत्त्व है।

मानसिक अनिष्ट-चिन्तन से प्रतिकूल वर्गणाए गृहीत होती हैं, उनका स्वास्थ्य पर हानिजनक प्रभाव होता है। प्रसन्न दशा मे अनुकूल वर्गणाए अनुकूल प्रभाव डालती हैं।

क्रोध आदि वर्गणाओ की भी ऐसी ही स्थिति है। ये वर्गणाए समूचे लोक मे भरी पडी हैं। इनकी बनावट अलग-अलग ढग की होती है और उसके अनुसार ही ये निमित्त बनती हैं।

५

जीवन-निर्माण

ससार का हेतु

जीव की वैभाविक दशा का नाम ससार है। ससार का मूल कर्म है। कर्म के मूल राग, द्वेप है। जीव की असयममय प्रवृत्ति रागमूलक या द्वेपमूलक होती है। उसे ममझा जा सके या नही, यह दूसरी वात है। जीव के फमानेवाला दूसरा कोई नही। जीव भी कर्मजाल को अपनी ही अज्ञान-दशा और आशा-वाछा से रच लेता है। कर्म व्यक्तिरूप से अनादि नही है, प्रवाहरूप से अनादि है। कर्म का प्रवाह कब से चला, इमकी आदि नही है। जब से जीव है तव से कर्म है। दोनो अनादि हैं। अनादि का आरम्भ न होता है और न वताया जा सकता है। एक-एक कर्म की अपेक्षा सब कर्मो की निश्चित अवधि होती है। परिपाक-काल के वाद वे जीव से विलग हो जाते हैं। अतएव आत्मा की कर्म-मुक्ति मे कोई वाधा नही आती। आत्म-सयम से नए कर्म चिपकने बन्द हो जाते हैं। पहले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीमे-धीमे निर्जीर्ण हो जाते हैं, नए कर्मों का वन्ध नही होता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तव वह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। यह प्रक्रिया आत्म-साधको की है। आत्म-साधना से विमुख रहनेवाले नए-नए कर्मों का सचय करते हैं। उसी के द्वारा उन्हें जन्म-मृत्यु के अविरल प्रवाह मे वहना पडता है।

सूक्ष्म शरीर

सूक्ष्म शरीर दो हैं—तैजस और कार्मण। तैजम शरीर तैजस परमाणुओ मे वना हुआ विद्युत्-शरीर है। इससे स्थूल शरीर मे सक्रियता, पाचन, दीप्ति और तेज वना रहता है। कार्मण शरीर सुख-दुख के निमित्त वननेवाले कर्म-अणुओ के समूह से वनता है। यही शेप मव शरीरो का जन्म-मरण की परम्परा का मूल

कारण होता है। इससे छुटकारा पाए विना जीव अपनी असली दशा मे नहीं पहुच पाता।

गर्भ

प्राणी की उत्पत्ति का पहला रूप दूसरे मे छिपा होता है, इसलिए उस दशा का नाम 'गर्भ' हो गया। जीवन का अन्तिम छोर जैसे मौत है, वैसे उसका आदि छोर गर्भ है। मौत के वाद क्या होगा—यह जैसे अज्ञात रहता है वैसे ही गर्भ से पहले क्या था—यह अज्ञात रहता है। उन दोनो के वारे मे विवाद है। गर्भ प्रत्यक्ष है, इसलिए यह निर्विवाद है।

मौत क्षण भर के लिए आती है। गर्भ महीनो तक चलता है। इसलिए जैसे मौत अन्तिम दशा का प्रतिनिधित्व करती है, वैसे गर्भ जीवन के आरम्भ का पूरा प्रतिनिधित्व नही करता। इसीलिए प्रारम्भिक दशा का प्रतिनिधि शव्द और चुनना पडा। वह है—'जन्म'। 'जन्म' ठीक जीवन की आदि रेखा का अर्थ देता है। जो प्राणी है, वह जन्म लेकर ही हमारे सामने आता है। जन्म की प्रणाली सव प्राणियो की एक नही है। भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न ढग से जन्म लेते हैं। एक वच्चा मा के पेट मे जन्म लेता है और पौधा मिट्टी मे। वच्चे की जन्म-प्रक्रिया पौधे की जन्म-प्रक्रिया मे भिन्न है। वच्चा स्त्री और पुरुष के रज तथा वीर्य के सयोग से उत्पन्न होता है। पौधा वीज से पैदा हो जाता है। इस प्रक्रिया-भेद के आधार पर जैन आगम के दो विभाग करते हैं—गर्भ और सम्मूर्छन। स्त्री-पुरुष के सयोग से होनेवाले जन्म को गर्भ और उनके सयोग-निरपेक्ष जन्म को सम्मूर्छन कहा जाता है। साधारणतया उत्पत्ति और अभिव्यक्ति के लिए गर्भ शव्द का प्रयोग सव जीवो के लिए होता है। स्थानाग मे वादलो के गर्भ वतलाए हैं।[1] किन्तु जन्म-भेद की प्रक्रिया के प्रसग मे 'गर्भ' का उक्त विशेष अर्थ मे प्रयोग हुआ है। चैतन्य-विकास की दृष्टि से भी 'गर्भ' को विशेष अर्थ मे रूढ करना आवश्यक है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और माता-पिता के सयोग-निरपेक्ष जन्म पानेवाले प्राणी-वर्गो मे मानसिक विकास नही होता। माता-पिता के सयोग से जन्म पानेवाले जीवो मे मानसिक विकास होता है। इस दृष्टि से समनस्क जीव की जन्म-प्रक्रिया 'गर्भ' और अमनस्क जीवो की जन्म-प्रक्रिया 'सम्मूर्छन'—ऐसा विभाग करना आवश्यक था। जन्म-विभाग के आधार पर चैतन्य-विकास का सिद्धान्त स्थिर होता है—गर्भज समनस्क और सम्मूर्छन अमनस्क।

---

१ ठाण, ४।६४१
चत्तारि दगगब्भा पण्णत्ता, तजहा—हेमगा, अब्भसथडा, सीतोसिणा, पचरूविया।

गर्भज जीवो के मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यञ्च—ये दो वर्ग हैं। मनुष्य गर्भज ही होते है। तिर्यञ्च गर्भज भी होते हैं और सम्मूर्छन भी।

मानुषी गर्भ के चार विकल्प हैं—स्त्री, पुरुष, नपुसक और विम्व। ओज की मात्रा अधिक, वीर्य की मात्रा अल्प, तव स्त्री होती है। ओज अल्प और वीर्य अधिक, तव पुरुष होता है। दोनो के तुल्य होने पर नपुसक होता है। वायु के दोष से ओज गर्भाशय मे स्थिर हो जाता है, उसका नाम 'विम्व' है।[1] वह गर्भ नही, किन्तु गर्भ का आकार होता है। वह आर्त्तव की निर्जीव परिणति होती है। ये निर्जीव विम्व जैसे मनुष्य जाति मे होते हैं, वैसे ही पशु-पक्षी जाति मे भी होते हैं। निर्जीव अण्डे जो आजकल प्रचुर मात्रा मे पैदा किये जाते हैं, की यही प्रक्रिया हो सकती है।

गर्भाधान की कृत्रिम पद्धति

गर्भाधान की स्वाभाविक पद्धति स्त्री-पुरुष का सयोग है। कृत्रिम रीति से भी गर्भाधान हो सकता है। 'स्थानाग' मे उसके पाच कारण वतलाए है।[2] उन सव का सार कृत्रिम रीति से वीर्य-प्रक्षेप है। गर्भाधान के लिए मुख्य वात वीर्य और आर्त्तव के सयोग की है। उसकी विधि स्वाभाविक और कृत्रिम—दोनो प्रकार की हो सकती है।

गर्भ की स्थिति

तिर्यञ्च की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष की है।[3] मनुष्य की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।[4] काय-भवस्थ की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चौवीस वर्ष की है।[5] गर्भ मे वारह वर्ष विता मर जाता है और फिर जन्म ले और वारह वर्ष वहा रहता है—इस प्रकार काय-भवस्थ अधिक से अधिक चौवीस वर्ष तक गर्भ मे रह जाता है।[6]

योनिभूत वीर्य की स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट वारह मुहूर्त्त की होती है।

---

१ स्थानांग वृत्ति, पत्र २७३
स्त्रिया ओजसा समायोगो वातवशेन तत् स्थिरीभवनलक्षण स्त्र्योज समायोगस्तस्मिन् सति विम्व तत्र गर्भाशये प्रजायते।

२ ठाण, ५।१०३

३ भगवती, २।५

४ वही, २।५

५ वही, २।५

६ वही, २।५, वृत्ति

गर्भ-सख्या

एक स्त्री के गर्भ मे एक-दो यावत् नौ लाख तक जीव उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु वे सब निष्पन्न नही होते। अधिकाश निष्पन्न हुए विना ही मर जाते हैं।[1]

गर्भ-प्रवेश की स्थिति

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! जीव गर्भ मे प्रवेश करते समय स-इन्द्रिय होता है अथवा अन्-इन्द्रिय ?

भगवान् बोले—गौतम! स-इन्द्रिय भी होता है और अन् इन्द्रिय भी।

गौतम ने फिर पूछा—यह कैसे, भगवन् ?

भगवान् ने उत्तर दिया—द्रव्य इन्द्रिय की अपेक्षा वह अन्-इन्द्रिय होता है और भाव-इन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय।[2]

इसी प्रकार दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने वताया—गर्भ मे प्रवेश करते समय जीव स्थूल-शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक) की अपेक्षा अ-शरीर और सूक्ष्म-शरीर (तैजस, कार्मण) की अपेक्षा स-शरीर होता है।[3]

गर्भ मे प्रवेश पाते समय जीव का पहला आहार ओज और वीर्य होता है। गर्भ-प्रविष्ट जीव का आहार मा के आहार का ही सार-अश होता है। उसके कवल-आहार नही होता। वह समूचे शरीर से आहार लेता है और समूचे शरीर से परिणत करता है। उसके उच्छ्वास-नि श्वास भी सर्वात्मना होते हैं। उसके आहार, परिणमन, उच्छ्वास-नि श्वास वार-बार होते हैं।[4]

वाहरी स्थिति का प्रभाव

गर्भ मे रहे हुए जीव पर वाहरी स्थिति का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है। किसी-किसी गर्भगत जीव मे वैक्रिय-शक्ति (विविध रूप वनाने की सामर्थ्य) होती है। वह शत्रु-सैन्य को देखकर विविध रूप वना उससे लडता है। उसमे अर्थ, राज्य-भोग और काम की प्रवल आकाक्षा उत्पन्न हो जाती है। कोई-कोई धार्मिक प्रवचन सुन विरक्त वन जाता है। उसका धर्मानुराग तीव्र हो जाता है।[5]

एक तीसरे प्रकार का जन्म है। उसका नाम है—उपपात। स्वर्ग और नरक मे उत्पन्न होनेवाले जीव उपपात जन्मवाले होते हैं। वे निश्चित जन्मकक्षो मे

---

१ भगवती, २।५
२ वही, १।७
३ वही, १।७
४ वही, १।७
५ वही, १।७

उत्पन्न होते हैं और अन्तर्-मुहूर्त्त मे युवा बन जाते हैं।

जन्म के प्रारम्भ मे

तीन प्रकार से पैदा होनेवाले प्राणी अपने जन्म-स्थानो मे आते ही सबसे पहले आहार लेते हैं। वे स्व-प्रायोग्य पुद्गलो का आकर्षण और सग्रह करते हैं। सम्मूर्च्छनज प्राणी उत्पत्ति-क्षेत्र के पुद्गलो का आहार करते हैं। गर्भज प्राणी का प्रथम आहार रज-वीर्य के अणुओ का होता है। देवता अपने-अपने स्थान के पुद्गलो का सग्रह करते हैं। इसके अनन्तर ही उत्पन्न प्राणी पौद्गलिक शक्तियो का क्रमिक निर्माण करते हैं। वे छह हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। इन्हे पर्याप्ति कहते हैं। कम से कम चार पर्याप्तिया प्रत्येक प्राणी मे होती हैं।

जन्म

लोक शाश्वत है, ससार अनादि है, जीव नित्य है। कर्म की वहुलता है, जन्म-मृत्यु की वहुलता है, इसीलिए एक परमाणु मात्र भी लोक मे ऐसा स्थान नही, जहा जीव न जन्मा हो और न मरा हो।

ऐसी जाति, योनि, स्थान या कुल नही, जहा जीव अनेक वार या अनन्त वार जन्म धारण न कर चुके हो।

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नही होती, तब तक उसकी जन्म-मरण की परम्परा नही रुकती। मृत्यु के वाद जन्म निश्चित है। जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना। सब जीवो का उत्पत्ति-क्रम एक-सा नही होता। अनेक जातिया है, अनेक योनिया हैं और अनेक कुल हैं। प्रत्येक प्राणी के उत्पत्ति-स्थान मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का कुछ न कुछ तारतम्य होता ही है। फिर भी उत्पत्ति की प्रक्रियाए अनेक नही हैं। सब प्राणी तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। अतएव जन्म के तीन प्रकार वतलाए गए हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात। जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत नही होता और जो गर्भ धारण नही करते, उन जीवो की उत्पत्ति को 'सम्मूर्च्छन' कहते हैं। कई चतुरिन्द्रिय तक के सब जीव सम्मूर्च्छन जन्मवाले होते हैं। कई तिर्यञ्च—पचेन्द्रिय तथा मनुष्य के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानो मे उत्पन्न होने-वाले पञ्चेन्द्रिय मनुष्य भी सम्मूर्च्छनज होते हैं। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से जिनकी उत्पत्ति होती है, उनके जन्म का नाम 'गर्भ' है। अण्डज, पोतज और जरायुज पचेन्द्रिय प्राणी गर्भज होते है। जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत होता है, उनका जन्म 'उपपात' कहलाता है। देव और नारक उपपात जन्मा होते हैं। नारको के लिए कुम्भी (छोटे मुह की कुण्डे) और देवता के लिए शय्याए नियत होती हैं। प्राणी सचित्त और अचित्त दोनो प्रकार के शरीर मे उत्पन्न होते हैं।

प्राण और पर्याप्ति

आहार, चिन्तन, जल्पन, आदि सब कियाए प्राण और पर्याप्ति—इन दोनोके सहयोग से होती हैं। जैसे—बोलने मे प्राणी का आत्मीय प्रयत्न होता है, वह प्राण है। उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति भाषा-योग्य पुद्गलो का सग्रह करती है, वह भाषा-पर्याप्ति है। आहार-पर्याप्ति और आयुष्य-प्राण, शरीर-पर्याप्ति और काय-प्राण, इन्द्रिय-पर्याप्ति और इन्द्रिय-प्राण, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास प्राण, भाषा-पर्याप्ति और भाषा-प्राण, मन-पर्याप्ति और मन-प्राण—ये परस्पर सापेक्ष हैं। इससे हमे यह निश्चय होता है कि प्राणियो की शरीर के माध्यम से होनेवाली जितनी क्रियाए हैं, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक-शक्ति दोनो के पारस्परिक सहयोग से ही होती हैं।

प्राण-शक्ति

प्राणी का जीवन प्राण-शक्ति पर अवलम्बित रहता है। प्राण-शक्तिया दस हैं—

१ स्पर्शन-इन्द्रिय-प्राण।
२ रसन-इन्द्रिय-प्राण।
३ घ्राण-इन्द्रिय-प्राण।
४ चक्षु-इन्द्रिय-प्राण।
५ श्रोत्र-इन्द्रिय-प्राण।
६ मन-प्राण
७ वचन-प्राण।
८ काय-प्राण।
९ श्वासोच्छ्वास-प्राण।
१० आयुष्य-प्राण।

प्राण-शक्तिया सब जीवो मे समान नही होती। फिर भी कम से कम चार तो प्रत्येक प्राणी मे होती ही हैं।

शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन इन्द्रिय, इन जीवन-शक्तियो मे जीवन का मौलिक आधार है। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति का कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीवन-शक्ति को पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है। जन्म के पहले क्षण मे प्राणी कई पौद्गलिक शक्तियो की रचना करता है। उनके द्वारा स्वयोग्य पुद्गलो का ग्रहण, परिणमन और उत्सजन होता है। उनकी रचना प्राण-शक्ति के अनुपात पर होती है। जिस प्राणी मे जितनी प्राण-शक्ति की योग्यता होती है, वह उतनी ही पर्याप्तियो का निर्माण कर सकता है। पर्याप्ति-रचना मे प्राणी को अन्तर्-

मुहूर्त्त का समय लगता है। यद्यपि उनकी रचना प्रथम क्षण मे ही प्रारम्भ हो जाती है पर आहार-पर्याप्ति के सिवाय शेष सबो की समाप्ति अन्तर्-मुहूर्त्त से पहले नही होती। स्वयोग्य पर्याप्तियो की परिसमाप्ति न होने तक जीव अपर्याप्त कहलाते है और उसके वाद पर्याप्त। उनकी समाप्ति से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो जाती है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं। यहा इतना-सा जानना आवश्यक है कि आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियो की पूर्ण रचना किए विना कोई प्राणी नही मरता।

जीवो के चौदह भेद और उनका आधार

जीवो के निम्नोक्त चौदह भेद हैं—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
वादर एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
द्वीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
त्रीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
चतुरिन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त

पर्याप्त और अपर्याप्त की सक्षिप्त चर्चा करने के वाद अव हमे यह देखना चाहिए कि जीवो के इन चौदह भेदो का मूल आधार क्या है? पर्याप्त और अपर्याप्त—दोनो जीवो की अवस्थाए हैं। जीवो की जो श्रेणिया की गई हैं उन्ही के आधार पर ये चौदह भेद वनते हैं। इनमे एकेन्द्रिय जीवो के सिवाय सूक्ष्म और वादर ऐसा भेद-करण और किसी का नही है। क्योकि एकेन्द्रिय के सिवाय और कोई जीव सूक्ष्म नही होते। सूक्ष्म की कोटि मे हम उन जीवो को परिगणित करते हैं, जो समूचे लोक मे जमे हुए होते हैं, जिन्हे अग्नि जला नही सकती, तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र छेद नही सकते, जो अपनी आयु से जीते हैं और अपनी मौत से मरते हैं, और जो इन्द्रियो द्वारा नही जाने जाते।[1] प्राचीन शास्त्रो मे 'सर्व जीवमय जगत्' इस सिद्धान्त की स्थापना हुई, वह इन्ही जीवो को ध्यान मे रखकर हुई है। कई भारतीय दार्शनिक परम ब्रह्म को जगत्-व्यापक मानते हैं, कई आत्मा को सर्वव्यापी मानते है और जैन-दृष्टि के अनुसार इन सूक्ष्म जीवो से समूचा लोक व्याप्त है। सवका तात्पर्य यही है कि चेतन-सत्ता लोक के सव भागो मे है। कई कृमि, कीट सूक्ष्म कहे जाते हैं किन्तु वस्तुत वे स्थूल हैं। वे आखो से देखे जा सकते हैं। साधारणतया न देखे जाए तो सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्रो से देखे जा सकते हैं। अतएव

---

१ प्रज्ञापना, पद १
सुहुमा आणागेज्झा चक्खुफास न ते यति।

उनमे सूक्ष्म जीवो की कोई श्रेणी नही । वादर एकेन्द्रिय के एक जीव का एक शरीर हमारी दृष्टि का विषय नही बनता। हमे जो एकेन्द्रिय शरीर दीखते हैं, वे असख्य जीवों के, असख्य शरीरो के पिण्ड होते हैं। सचित्त मिट्टी का एक छोटा-सा रज-कण, पानी की एक वूद या अग्नि की एक चिनगारी—ये एक जीव के शरीर नही हैं। इनमे से प्रत्येक मे अपनी-अपनी जाति के असख्य जीव होते हैं और उनके असख्य शरीर पिण्डीभूत हुए रहते हैं तथा उस दशा मे दृष्टि के विषय भी वनते हैं। इसलिए वे वादर हैं। साधारण वनस्पति के एक, दो, तीन या चार जीवो का शरीर नही दीखता क्योकि उनमे से एक-एक जीव मे शरीर-निष्पादन की शक्ति नही होती। वे अनन्त जीव मिलकर एक शरीर का निर्माण करते हैं। इसलिए अनन्त जीवो के शरीर स्थूल परिणतिमान होने के कारण दृष्टि-गोचर होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म—अपर्याप्त और पर्याप्त, वादर—अपर्याप्त और पर्याप्त—ये चार भेद होते हैं। इसके वाद चतुरिन्द्रिय तक के सव जीवो के दो-दो भेद होते हैं। पचेन्द्रिय जीवो के चार विभाग हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीवो की सूक्ष्म और वादर—ये दो प्रमुख श्रेणिया हैं, वैसे पचेन्द्रिय जीव समनस्क और अमनस्क—इन दो भागो मे वटे हुए हैं। चार-इन्द्रिय तक के सव जीव अमनस्क होते हैं। इसलिए मन की लब्धि या अनुपलब्धि के आधार पर उनका कोई विभाजन नही होता। सम्मूर्च्छनज पचेन्द्रिय जीवो के मन नही होता। गर्भज और उपपातज पचेन्द्रिय जीव समनस्क होते हैं। अतएव असज्ञी-पचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त, सज्ञी-पचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त—ये चार भेद होते हैं। ससार के प्राणी मात्र इन चौदह वर्गो मे समा जाते हैं। इस वर्गीकरण से हमे जीवो के क्रमिक विकास का भी पता चलता है। एक इन्द्रिय वाले जीवो से दो इन्द्रिय वाले जीव, दो इन्द्रिय वालो से तीन इन्द्रिय वाले जीव—यो क्रमश पूर्व-श्रेणी के जीवो से उत्तर-श्रेणी के जीव अधिक विकसित हैं।

इन्द्रिय-ज्ञान और पाच जातिया

इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष है। इसलिए परोक्ष-ज्ञानी को पौद्गलिक इन्द्रियो की अपेक्षा रहती है। किसी मनुष्य की आख फूट जाती है, फिर भी वह चतुरिन्द्रिय नही होता। उसकी दर्शन-शक्ति कही नही जाती किन्तु आख के अभाव मे उसका उपयोग नही होता। आख मे विकार होता है, दीखना वन्द हो जाता है। उसकी उचित चिकित्सा हुई, दर्शन-शक्ति खुल जाती है। यह पौद्गलिक इन्द्रिय (चक्षु) के सहयोग का परिणाम है। कई प्राणियो मे सहायक इन्द्रियो के विना भी उसके ज्ञान का आभास मिलता है, किन्तु वह उनके होने पर जितना स्पष्ट होता है, उतना स्पष्ट उनके अभाव में नही होता। वनस्पति मे रसन आदि पाचो इन्द्रियो

के चिह्न मिलते हैं।[1] उनमे भावेन्द्रिय का पूर्ण विकास और सहायक इन्द्रिय का सद्भाव नही होता, इसलिए वे एकेन्द्रिय ही कहलाते है। उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि इन्द्रिय ज्ञान चेतन-इन्द्रिय और जड-इन्द्रिय दोनों के सहयोग से होता है। फिर भी जहा तक ज्ञान का सम्बन्ध है—उसमे चेतन-इन्द्रिय की प्रधानता है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि प्राणियो की एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय—ये पाच जातिया बनने मे दोनो प्रकार की इन्द्रिया कारण है। फिर भी यहा द्रव्येन्द्रिय की प्रमुखता है। एकेन्द्रिय मे अतिरिक्त भावेन्द्रिय के चिह्न मिलने पर भी वे शेष बाह्य इन्द्रियो के अभाव मे पचेन्द्रिय नही कहलाते।

मानस-ज्ञान और सज्ञी-असज्ञी

इन्द्रिय के बाद मन का स्थान है। यह भी परोक्ष है। पौद्गलिक मन के बिना इसका उपयोग नही होता। इन्द्रिय ज्ञान से इसका स्थान ऊचा है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय नियत होता है, मन का विषय अनियत। वह सब विषयो को ग्रहण करता है। इन्द्रिय-ज्ञान वार्तमानिक होता है, मानव-ज्ञान त्रैकालिक। इन्द्रिय-ज्ञान मे तर्क-वितर्क नही होता। मानस-ज्ञान आलोचनात्मक होता है।[2]

मानस प्रवृत्ति का प्रमुख साधन मस्तिष्क है। कान का पर्दा फट जाने पर कर्णेन्द्रिय का उपयोग नही होता, वैसे ही मस्तिष्क की विकृति हो जाने पर मानस-शक्ति का उपयोग नही होता। मानस-ज्ञान गर्भज और उपपातज पचेन्द्रिय प्राणियो के ही होता है। इसलिए उसके द्वारा प्राणी दो भागो मे बट जाते हैं—सज्ञी और असज्ञी या समनस्क और अमनस्क। द्वीन्द्रिय आदि प्राणियो मे आत्म-रक्षा की भावना, इष्ट-प्रवृत्ति, अनिष्ट-निवृत्ति, आहार-भय आदि सज्ञाए, सकुचन, प्रसरण, शब्द, पलायन, आगति, गति, आदि-चेष्टाए होती है—ये मन के कार्य है। तब फिर ये असज्ञी क्यो ? बात सही है। इष्ट-प्रवृत्ति और अनिष्ट-निवृत्ति का सज्ञान मानस-ज्ञान की परिधि का है, फिर भी वह सामान्य है—नगण्य है, इसलिए उनसे कोई प्राणी सज्ञी नही बनता। एक कौडी भी धन है पर उससे कोई धनी नही कहलाता। सज्ञी वही होते है जिनमे दीर्घकालिकी सज्ञा मिले, जो भूत, वर्तमान

---

१ विशेषावश्यक भाष्य गाथा, १०३, वृत्ति—
एकेन्द्रियाणां तावच्छ्रोत्रादिद्रव्येन्द्रियाभावेऽपि भावेन्द्रियज्ञानं किञ्चिद् दृश्यत एव। वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गोपलम्भात्।

२ अत्थाणतरचारि णियत चित्त तिकालविसय तु।
अत्थेय पडुप्पन्ने, विणियोग इंदियं लहई॥
अर्थान्तरचारी सर्वार्थग्राही, नियत, त्रैकालिक और सप्रधारणात्मक ज्ञान मन है। वर्तमान, प्रतिनियत अर्थग्राही ज्ञान इन्द्रिय है

और भविष्य की ज्ञान-शृंखला को जोड़ सके।[1]

इन्द्रिय और मन

पूर्व पंक्तियों में इन्द्रिय और मन का संक्षिप्त विश्लेषण किया। उससे उन्हीं का स्वरूप स्पष्ट होता है। संज्ञी और असंज्ञी के इन्द्रिय और मन का क्रम स्पष्ट नहीं होता। असंज्ञी संज्ञी के इन्द्रिय-ज्ञान में कुछ तरतम रहता है या नहीं ? मन से उसका कुछ सम्बन्ध है या नहीं ? इसे स्पष्ट करना चाहिए। असंज्ञी के केवल इन्द्रिय-ज्ञान होता है, संज्ञी के इन्द्रिय और मानस—दोनों ज्ञान होते हैं। इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा दोनों के लिए एक है। किसी रंग को देखकर संज्ञी और असंज्ञी चक्षु के द्वारा सिर्फ इतना ही जानेंगे कि यह रंग है। इन्द्रिय-ज्ञान में भी अपार तरतम होता है। एक प्राणी चक्षु के द्वारा जिसे स्पष्ट जानता है, दूसरा उसे बहुत स्पष्ट जान सकता है। फिर भी अमुक रंग है, इससे आगे नहीं जाना जा सकता। उसे देखने के पश्चात् यह ऐसा क्यों ? इससे क्या लाभ ? यह स्थायी है या अस्थायी ? कैसे बना ? आदि-आदि प्रश्न या जिज्ञासाएं मन का कार्य है। असंज्ञी के ऐसी जिज्ञासाएं नहीं होतीं। उनका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष धर्मों से होता है। इन्द्रिय-ज्ञान में प्रत्यक्ष धर्म से एक सूत भी आगे बढ़ने की क्षमता नहीं होती। संज्ञी जीवों में इन्द्रिय और मन दोनों का उपयोग होता है। मन-इन्द्रिय-ज्ञान का सहचारी भी होता है और उसके बाद भी इन्द्रिय द्वारा जाने हुए पदार्थ की विविध-अवस्थाओं को जानता है। मन का मनन या चिन्तन स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु बाह्य विषयों का पर्यालोचन इन्द्रिय द्वारा उनका ग्रहण होने के बाद ही होता है, इसलिए संज्ञी-ज्ञान में इन दोनों का गहरा सम्बन्ध है।

जाति-स्मृति

पूर्वजन्म की स्मृति (जाति-स्मृति) 'मति' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले नौ समनस्क जीवन की घटनावलियां जानी जा सकती हैं। पूर्वजन्म में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व-परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। सब समनस्क जीवों को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती, इसकी कारण-मीमांसा करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—

"जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।
तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो॥"

—व्यक्ति 'मृत्यु' और 'जन्म' की वेदना से सम्मूढ़ हो जाता है, इसलिए

---

1 नंदी, सूत्र ४१

साधारणतया उसे जाति की स्मृति नही होती।

एक ही जीवन मे दु ख-व्यग्रदशा (सम्मोह-दशा) मे स्मृति-भ्र श हो जाता है, तव वैसी स्थिति मे पूर्वजन्म की स्मृति लुप्त हो जाए, उसमे कोई आश्चर्य की वात नही।

पूर्वजन्म के स्मृति-साधन मस्तिष्क आदि नही होते, फिर भी आत्मा के दृढ-सस्कार और ज्ञान-वल से उसकी स्मृति हो आती है। इसीलिए ज्ञान दो प्रकार का वतलाया है—इस जन्म का ज्ञान और अगले जन्म का ज्ञान।[1]

अतीन्द्रियज्ञान-योगीज्ञान

अतीन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनो से अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह प्रत्यक्ष है, इसलिए इसे पौद्गलिक साधनो—शारीरिक अवयवो के सहयोग की अपेक्षा नही होती। यह 'आत्ममात्रापेक्ष' होता है। हम जो त्वचा से छूते हैं, कानो मे सुनते है, आखो से देखते हैं, जीभ से चखते हैं, वह वास्तविक प्रत्यक्ष नही। हमारा ज्ञान शरीर के विभिन्न अवयवो से सम्वन्धित होता है, इसलिए उसकी नैश्चयिक सत्य (निरपेक्ष) तक पहुच नही होती। उसका विपय केवल व्यावहारिक सत्य (सापेक्ष सत्य) होता है। उदाहरण के लिए स्पर्शन-इन्द्रिय को लीजिए। हमारे शरीर का सामान्य तापमान ९७ या ९८ डिग्री होता है। उससे कम तापमान वाली वस्तु हमारे लिए ठडी होगी। जिसका तापमान हमारी उष्मा से अधिक होगा, वह हमारे लिए गर्म होगी। हमारा यह ज्ञान स्वस्थिति-स्पर्शी होगा, वस्तु-स्थिति-स्पर्शी नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शव्द और सस्थान का ज्ञान सहायक-सामग्री-सापेक्ष होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान परिस्थिति की अपेक्षा से मुक्त होता है। उसकी ज्ञप्ति मे देश, काल और परिस्थिति का व्यवधान या विपर्यास नही आता। इसलिए उससे वस्तु के मौलिक रूप की सही-सही जानकारी मिलती है।

---

१ भगवती, १/१

६

आत्मवाद

दो प्रवाह आत्मवाद और अनात्मवाद

ज्ञान का अश यत्किचित् मात्रा मे प्राणी-मात्र मे मिलता है। मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी हैं। उनमे बौद्धिक विकास अधिक होता है । बुद्धि का काम है—सोचना, समझना, तत्त्व का अन्वेषण करना। उन्होंने सोचा, समझा, तत्त्व का अन्वेषण किया। उसमे से दो विचार-प्रवाह निकले—क्रियावाद और अक्रियावाद।

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष पर विश्वास करनेवाले 'क्रियावादी' और इन पर विश्वास नही करनेवाले 'अक्रियावादी' कहलाए। क्रियावादी वर्ग ने सयमपूर्वक जीवन बिताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया और अक्रियावादी वर्ग ने सुखपूर्वक जीवन बिताने को ही परमार्थ बतलाया। क्रियावादियो ने—'शारीरिक कष्टो को समभाव से सहना महाफल है', 'आत्महित कष्ट सहने से सधता है'—ऐसे वाक्यो की रचना की और अक्रियावादियो के मन्तव्य के आधार पर—'यावज्जीवेत् सुख जीवेत्, ऋण कृत्वा घृत पिवेत्'—जैसी युक्तियो का सृजन हुआ।

क्रियावादी वर्ग ने कहा—'जो रात या दिन चला जाता है, वह फिर वापस नही आता । अधर्म करने वाले के रात-दिन निष्फल होते हैं, धर्मनिष्ठ व्यक्ति के वे सफल होते हैं। इसलिए धर्म करने मे एक क्षण भी प्रमाद मत करो। क्योकि यह जीवन कुश के नोक पर टिकी हुई हिम की बूद के समान क्षणभगुर है। यदि इस जीवन को व्यर्थ गवा दोगे तो फिर दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना बडा दुर्लभ है। कर्मो के विपाक बडे निविड होते हैं। अत समझो, तुम क्यो नही समझते हो ? ऐसा सद्-विवेक बार-बार नही मिलता। बीती हुई रात फिर लौटकर नही आती और न मानव-जीवन फिर से मिलना सुलभ है। जब तक बुढापा न सताए, रोग घेरा न डाले, इन्द्रिया शक्तिहीन न बनें तब तक धर्म का आचरण कर लो। नही तो फिर मृत्यु के समय वैसे ही पछताना होगा, जैसे साफ-सुथरे राज-

मार्ग को छोडकर ऊबड-खाबड मार्ग मे जानेवाला गाडीवान् रथ की धुरी टूट जाने पर पछताता है।'

अक्रियावादियो ने कहा—'यह सबसे बडी मूर्खता है कि लोग दृष्ट सुखो को छोडकर अदृष्ट सुख को पाने की दौड मे लगे हुए हैं। ये कामभोग हाथ मे आये हुए हैं, प्रत्यक्ष हैं। जो पीछे होनेवाला है न जाने कब क्या होगा ? परलोक किसने देखा है—कौन जानता है कि परलोक है या नही ? जन-समूह का एक बडा भाग सासारिक सुखो का उपभोग करने मे व्यस्त है, तब फिर हम क्यो न करें ? जो दूसरो को होगा वही हमको भी होगा। हे प्रिये ! चिन्ता करने जैसी कोई बात नही, खूब खा-पी, आनन्द कर, जो कुछ कर लेगी, वह तेरा है। मृत्यु के बाद आना-जाना कुछ भी नही है। कुछ लोग परलोक के दु खो का वर्णन कर-कर जनता को प्राप्त सुखो मे विमुख किए देते हैं। पर यह अतात्त्विक है।'

क्रियावाद की विचारधारा मे वस्तु-स्थिति स्पष्ट हुई। लोगो ने सयम सीखा। त्याग-तपस्या को जीवन मे उतारा।

अक्रियावाद की विचार-प्रणाली मे वस्तु-स्थिति ओझल रही। लोग भौतिक सुखो की ओर मुडे।

क्रियावादियो ने कहा—"सुकृत और दुष्कृत का फल होता है। शुभ कर्मो का फल अच्छा और अशुभ कर्मो का फल बुरा होता है। जीव अपने पाप एव पुण्य कर्मो के साथ ही परलोक मे उत्पन्न होते हैं।[1] पुण्य और पाप दोनो का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष मिलता है।"

फलस्वरूप लोगो मे धर्मरुचि पैदा हुई। अल्प-इच्छा, अल्प-आरम्भ और अल्प-परिग्रह का महत्त्व बढा। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इनकी उपासना करने वाला महान् समझा जाने लगा।

अक्रियावादियो ने कहा—'सुकृत और दुष्कृत का फल नही होता। शुभ कर्मो के शुभ और अशुभ कर्मो के अशुभ फल नही होते। आत्मा परलोक मे जाकर उत्पन्न नही होता।[2]'

फलस्वरूप लोगो मे सन्देह बढा। भौतिक लालसा प्रबल हुई। महा-इच्छा, महा-आरम्भ और महा-परिग्रह का राहु जगत् पर छा गया।

क्रियावादी की अन्तर्-दृष्टि 'अपने किये कर्मो को भोगे बिना छुटकारा नही'—इस पर लगी रहती है।[3] वह जानता है कि कर्म का फल भुगतना होगा, इस जन्म

---

१ दशाश्रुतस्कन्ध, ६ सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवन्ति सफले कल्लाणपावए पच्चायंति जीवा

२ वही, ६ णो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति, णो दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवन्ति, अफले कल्लाणपावए णो पच्चायंति जीवा

३ उत्तरज्झयणाणि, ४।३ कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

मे नही तो अगले जन्म में । किन्तु उसका फल चखे बिना मुक्ति नही । इसलिए यथासम्भव पाप-कर्म से बचा जाए, यही श्रेयम् है । अन्तर्-दृष्टिवाला व्यक्ति मृत्यु के समय भी घबराता नही, दिव्यानन्द के साथ मृत्यु को वरण करता है।

अक्रियावादी का दृष्टि बिन्दु 'हत्थागया इमे कामा'—ये काम हाथ मे आए हुए है—जैसी भावना पर टिका हुआ होता है । वह सोचता है कि इन भोग-साधनो का जितना अधिक उपभोग किया जाए, वही अच्छा है । मृत्यु के बाद कुछ होना-जाना नही है । इस प्रकार उसका अन्तिम लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग ही होता है । वह कर्म-बन्ध से निरपेक्ष होकर त्रस और स्थावर जीवो की सार्थक और निरर्थक हिसा से सकुचाता नही । वह जब कभी रोग-ग्रस्त होता है, तब अपने किए कर्मो को स्मरण कर पछताता है । परलोक से डरता भी है । अनुभव बताता है कि मर्मान्तिक रोग और मृत्यु के समय बडे-बडे नास्तिक काप उठते है । वे नास्तिकता को तिलाजलि दे आस्तिक बन जाते है । अन्तकाल मे अक्रियावादी को यह सन्देह होने लगता है—"मैने सुना कि नरक है ? जो दुराचारी जीवो की गति है, जहा क्रूर कर्मवाले अज्ञानी जीवो को प्रगाढ वेदना सहनी पडती है । यह कही सच तो नही है ? अगर सच है तो मेरी क्या दशा होगी ?" इस प्रकार वह सकल्प-विकल्प की दशा मे मरता है ।

क्रियावाद का निरूपण यह रहा कि आत्मा के अस्तित्व मे सन्देह मत करो । वह अमूर्त है, इसलिए इन्द्रियग्राह्य नही है । वह अमूर्त है इसलिए नित्य है । अमूर्त पदार्थ मात्र अविभागी नित्य होते है । आत्मा नित्य होने के उपरान्त भी स्वकृत अज्ञान आदि दोषो के बन्धन मे बधा हुआ है । वह बन्धन ही ससार (जन्म-मरण) का मूल है ।

अक्रियावाद का सार यह रहा कि यह लोक इतना ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है । इस जगत् मे केवल पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाच महाभूत ही है । इनके समुदाय मे चैतन्य या आत्मा पैदा होती है । भूतो का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है—जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है । जिस प्रकार अरणि की लकडी से अग्नि, दूध से घी और तिलो से तैल पैदा होता है, वैसे ही पच भूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है । शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं रहती ।

इस प्रकार दोनो प्रवाहो से जो धाराए निकलती है, वे हमारे सामने है । हमे इनको अथ से इति तक परखना चाहिए क्योकि इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नही बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय एव धार्मिक जीवन की नीव इन्ही पर खडी होती है । क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन-पथ एक नही हो सकता । क्रियावादी के प्रत्येक कार्य मे आत्म-शुद्धि का खयाल होगा, जबकि अक्रियावादी को उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही

होती। आज बहुत सारे क्रियावादी भी हिंसा-बहुल विचारधारा मे बह चले हैं। जीवन की क्षणभगुरता को विसार कर महारम्भ-और महापरिग्रह मे फसे हुए हैं। जीवन-व्यवहार मे यह समझना कठिन हो रहा है कि कौन क्रियावादी है और कौन अक्रियावादी ? अक्रियावादी सुदूर भविष्य की न सोचें तो कोई आश्चर्य नही। क्रियावादी आत्मा को भुला बैठें, आगे-पीछे न देखें तो कहना होगा कि वे केवल परिभाषा मे क्रियावादी हैं, सही अर्थ मे नही। भविष्य को सोचने का अर्थ वर्तमान से आखें मूद लेना नही है। भविष्य को समझने का अर्थ है वर्तमान को सुधारना। आज के जीवन की सुखमय साधना ही कल को सुखमय बना सकती है। विषय-वासनाओ मे फसकर आत्म-शुद्धि की उपेक्षा करना क्रियावादी के लिए प्राण-घात से भी अधिक भयकर है। उसे आत्म-अन्वेषण करना चाहिए।

आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिषद् के सदस्य सर ओलिवर लॉज ने इस अन्वेषण का मूल्याकन करते हुए लिखा है कि—"हमे भौतिक ज्ञान के पीछे पडकर पारभौतिक विषयो को नही भूल जाना चाहिए। चेतन जड का कोई गुण नही, परन्तु उसमे समायी हुई अपने को प्रदर्शित करनेवाली एक स्वतन्त्र सत्ता है। प्राणीमात्र के अन्तर्गत एक ऐसी वस्तु अवश्य है जिसका शरीर के नाश के साथ अन्त नही हो जाता। भौतिक और पारभौतिक सज्ञाओ के पारस्परिक नियम क्या हैं, इस बात का पता लगाना अब अत्यन्त आवश्यक हो गया है।"

आत्मा क्यो ?

अक्रियावादी कहते हैं—'जो पदार्थ प्रत्यक्ष नही, उसे कैसे माना जाए ? आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नही, फिर उसे क्यो माना जाए ?' क्रियावादी कहते है—पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नही, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष अनुमान और आगम भी हैं। इन्द्रिय और मन से क्या-क्या जाना जाता है ? इनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे अपने दो-चार पीढी के पूर्वज भी नही जाने जाते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाए ? इन्द्रिया सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूपात्मक मूर्त द्रव्य को जानती हैं। मन इन्द्रियो का अनुगामी है। वह उन्ही के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपो को जानता है, चिन्तन करता है। मूर्त के माध्यम से वह अमूर्त वस्तुओ को भी जानता है। इसलिए विश्ववर्ती सब पदार्थों को जानने के लिए इन्द्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितान्त अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नही है।[1] वह अरूपी सत्ता है।[2]

---

१ आयारो, ५।१३६

२ वही, ५।१२७

अरूपी तत्त्व इन्द्रियो से नही जाने जा सकते। आत्मा अमूर्त है इसलिए इन्द्रिय के द्वारा न जाना जाए, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आच नही आती। इन्द्रिय द्वारा अरूपी आकाश को कौन-कब जान सकता है ? अरूपी की वात छोडिए, अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ, जो रूपी हैं, वे सभी कोरी इन्द्रियो से नही जाने जा सकते । अत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने से कोई तथ्य नही निकलता।

सार की भाषा मे अनात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नही, इसलिए वह नही।

अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नही इसलिए वह नही, यह मानना तर्क-वाधित है क्योकि वह अमूर्तिक है, इसलिए इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष हो ही नही सकती।

भारतीय दर्शन मे आत्मा के साधक तर्क

किसी भी भारतीय व्यक्ति को आम के अस्तित्व मे कोई सन्देह नही है क्योकि वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु के विषय मे सन्देह नही होता। जिन देशो मे आम नही होता, उन देशो की जनता के लिए आम परोक्ष है। परोक्ष वस्तु के विषय मे या तो हमारा ज्ञान ही नही होता, यदि सुन या पढकर ज्ञान होता है तो वह साधक-वाधक तर्कों की कसौटी से कसा हुआ होता है। साधक प्रमाण वलवान् होते हैं तो हम परोक्ष वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। और वाधक प्रमाण वलवान् होते हैं तो हम उसके अस्तित्व को नकार देते हैं।

भारत मे जैसे आम प्रत्यक्ष है, वैसे ही आत्मा प्रत्यक्ष होती तो भारतीय दर्शन का विकास आठ आना ही हुआ होता। आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। उसका चिन्तन, मन्थन, मनन और दर्शन भारत मे इतना हुआ है कि आत्मवाद भारतीय दर्शन का प्रधान अग बन गया। यहा अनात्मवादी भी रहे हैं, किन्तु आत्मवादियो की तुलना मे आटे मे नमक जितने ही रहे हैं। अनात्मवादियो की सख्या भले कम रही हो, उनके तर्क कम नही रहे हैं। उन्होने समय-समय पर आत्मा के वाधक-तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनके विपक्ष मे आत्मवादियो द्वारा आत्मा के साधक-तर्क प्रस्तुत किए गए। सक्षेप मे उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ स्व-सवेदन

अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। 'मैं हू', 'मैं सुखी हू', 'मैं दु खी हू'—यह अनुभव शरीर को नही होता, किन्तु उसे होता है जो शरीर से भिन्न है। शकराचार्य के शब्दो मे—सर्वोप्यात्माऽस्तित्व प्रत्येति न नाहमस्मीति'

—सबको यह विश्वास होता है कि 'मैं हू'। यह विश्वास किसी को नही होता कि 'मैं नही हू।'

२ अत्यन्ताभाव

इस तार्किक नियम के अनुसार चेतन और अचेतन मे त्रैकालिक विरोध है। जैन-आचार्यों के शब्दो मे 'न कभी ऐसा हुआ है, न हो रहा है और न होगा कि जीव अजीव बन जाए और अजीव जीव बन जाए।'

३. उपादान कारण

इस तार्किक नियम के अनुसार जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है, वह उसी रूप मे परिणत होती है। अचेतन के उपादान चेतन मे नही बदल सकते।

४. सत्-प्रतिपक्ष

जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नही है उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन नही मिल सकता। यदि चेतन नामक सत्ता नही होती तो 'न चेतन—अचेनन'— इस अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध ही नही होता।

५ बाधक-प्रमाण का अभाव

अनात्मवादी—आत्मा नही है, क्योकि उसका कोई साधक प्रमाण नही मिलता।

आत्मवादी—आत्मा है क्योकि उसका कोई बाधक प्रमाण नही मिलता।

६ सत् का निषेध

जीव यदि न हो तो उसका निषेध नही किया जा सकता। असत् का निषेध नही होता। जिसका निषेध होता है, वह अस्तित्व मे अवश्य होता है।

निषेध चार प्रकार के हैं—

१ सयोग,

२ समवाय,

३ सामान्य,

४ विशेष।

'मोहन घर मे नही है' यह सयोग-प्रतिषेध है। इसका अर्थ यह नही कि मोहन है ही नही, किन्तु 'वह घर मे नही है'—यह 'गृह-सयोग' का प्रतिषेध है। 'खरगोश के सीग नही होते'—यह समवाय-प्रतिषेध है। खरगोश भी होता है और सीग भी। इनका प्रतिषेध नही है। यहा केवल 'खरगोश के सीग'—इस समवाय का प्रतिषेध है।

'दूसरा चाद नही है' इसमे चन्द्र के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नही, किन्तु उसके सामान्य-मात्र का निषेध है। 'मोती घडे-जितने बडे नही हैं'—इसमे मुक्ता का अभाव नही, किन्तु 'घडे जितने बडे'—यह जो विशेषण है उसका प्रतिषेध है।

आत्मा नही है, इसमे आत्मा का निषेध नही, किन्तु उसका किसी के साथ होने वाले सयोग का निषेध है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्य

यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नही होने मात्र से आत्मा का अस्तित्व नकारा जाए तो प्रत्येक सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तु के अस्तित्व का अस्वीकार करना होगा। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से मूर्त तत्त्व का ग्रहण होता है। आत्मा अमूर्त तत्त्व है, इसलिए इन्द्रिया उसे नही जान पाती। इससे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्य सिद्ध होता है, आत्मा का अनस्तित्व सिद्ध नही होता।

८ गुण द्वारा गुणी का ग्रहण

चैतन्य गुण है और चेतन गुणी। चैतन्य प्रत्यक्ष है, चेतन प्रत्यक्ष नही है। परोक्ष गुणी की सत्ता प्रत्यक्ष गुण से प्रमाणित हो जाती है। भौंहारे मे बैठा आदमी प्रकाश को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है।

९ विशेष गुण द्वारा स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध

वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। स्वतन्त्र पदार्थ वही होता है, जिसमे ऐसा त्रिकालवर्ती गुण मिले जो किसी दूसरे पदार्थ मे न मिले।

आत्मा मे चैतन्य नामक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ मे व्याप्त नही है, इसलिए आत्मा का दूसरे सभी पदार्थों से स्वतन्त्र अस्तित्व है।

१० सशय

जो यह सोचता है कि 'मैं नही हू' वही जीव है। अचेतन को अपने अस्तित्व के विषय मे कभी सशय नही होता। 'यह है या नही' ऐसी ईहा या विकल्प चेतन के ही होता है। सामने जो लम्बा-चौडा पदार्थ दीख रहा है, 'वह खभा है या आदमी,' यह विकल्प सचेतन व्यक्ति के ही मन मे उठता है।

११ द्रव्य की त्रैकालिकता

जो पहले-पीछे नही है, वह मध्य मे नही हो सकता। जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वह यदि पहले न हो और पीछे भी न हो तो वर्तमान मे भी नही हो सकता।

१२. सकलनात्मक ज्ञान

इन्द्रियो का अपना-अपना निश्चित विपय होता है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विपय को नही जान सकती। इन्द्रिया ही ज्ञाता हो, उनका प्रवर्तक आत्मा-ज्ञाता न हो तो सव इन्द्रियो के विपयो का सकलनात्मक ज्ञान नही हो सकता। फिर मैं स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द को जानता हू, इस प्रकार सकलनात्मक ज्ञान किसे होगा ? ककडी को चबाते समय स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द—इन पाचो को जान रहा हू, ऐसा ज्ञान होता है।

१३ स्मृति

इन्द्रियो के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयो की स्मृति रहती है। आख से कोई वस्तु देखी, कान से कोई वस्तु सुनी, सयोगवश आख फूट गई और कान का पर्दा फट गया, फिर भी दृष्ट और श्रुत की स्मृति रहती हे।

सकलनात्मक ज्ञान और स्मृति—ये मन के कार्य हैं। मन आत्मा के विना चालित नही होता। आत्मा के अभाव मे इन्द्रिय और मन—दोनो निष्क्रिय हो जाते हैं। अत दोनो के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है।

१४ ज्ञेय और ज्ञाता का पृथक्त्व

ज्ञेय, इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनो भिन्न हैं। आत्मा ग्राहक है, इन्द्रिया ग्रहण के साधन हैं और पदार्थ ग्राह्य है। लोहार सण्डासी से लोहपिण्ड को पकडता है। लोहपिण्ड ग्राह्य है, सण्डासी ग्रहण का साधन है और लोहार ग्राहक है। ये तीनो पृथक्-पृथक् हैं। लोहार न हो तो सण्डासी लोहपिण्ड को नही पकड सकती। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रिय और मन अपने विपय को ग्रहण नही कर पाते।

१५ पूर्व-सस्कार की स्मृति

इस प्रकार भारतीय आत्मवादियो ने वहुमुखी तर्कों द्वारा आत्मा और पुनर्जन्म का समर्थन किया है।

आत्मा चेतनामय अरूपी सत्ता है। उपयोग (चेतना की क्रिया) उसका लक्षण है। ज्ञान-दर्शन, सुख-दु ख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है। वह विज्ञाता है। वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श नही है। वह लम्बा नही है। छोटा नही है, टेढा नही है, गोल नही है, चौकोना नही है, मडलाकार नही है। वह हलका नही है, भारी नही है, स्त्री और पुरुष नही है।[1] वह ज्ञानमय असख्य प्रदेशो का पिण्ड है। कल्पना से उसका माप किया जाए तो वह असख्य परमाणु जितना है। इसलिए वह ज्ञानमय

१ आयारो, ५।१२६-१३६

असख्य प्रदेशो का पिण्ड है।

वह अरूप है, इसलिए देखा नही जाता। उसका चेतना गुण हमें मिलता है। गुण से गुणी का ग्रहण होता है। इससे उसका अस्तित्व हम जान जाते हैं।

वह एकान्तत वाणी द्वारा प्रतिपाद्य[1] और तर्क द्वारा गम्य नही है।[2]

जैन-दृष्टि से आत्मा का स्वरूप

१ जीव स्वरूपत अनादि-अनन्त और नित्य-अनित्य—

जीव अनादि-निधन (न आदि और न अन्त) है। अविनाशी और अक्षय है। द्रव्य नय की अपेक्षा से उसका स्वरूप नष्ट नही होता, इसलिए नित्य और पर्याय-नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे वह परिणत होता रहता है, इसलिए अनित्य है।

२ ससारी जीव और शरीर का अभेद—

जैसे पिजडे से पक्षी, घडे से बेर और गजी मे आदमी भिन्न नही होता, वैसे ही ससारी जीव शरीर मे भिन्न नही होता।

जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गन्ध—ये एक लगते हैं, वैसे ही ससार दशा मे जीव और शरीर एक लगते हैं।

३ जीव का परिमाण—

जीव का शरीर के अनुसार सकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के शरीर मे होता है वह कुन्थु के शरीर मे भी उत्पन्न हो जाता है। सकोच और विस्तार—दोनो दशाओ मे प्रदेश-सख्या, अवयव-सख्या समान रहती है।

५ आत्मा और काल की तुलना—अनादि-अनन्त की दृष्टि से—

जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीनो कालो मे अनादि और अविनाशी है।

४ आत्मा और आकाश की तुलना—अमूर्त की दृष्टि से—

जैसे आकाश अमूर्त है फिर भी वह अवगाह-गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त है और वह विज्ञान-गुण से जाना जाता है।

६ जीव और ज्ञान आदि का आधार-आधेय सम्बन्ध—

जैसे पृथ्वी सब द्रव्यो का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान आदि गुणो का आधार है।

७ जीव और आकाश की तुलना—नित्य की दृष्टि से—

जैसे आकाश तीनो कालो मे अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैसे ही जीव

---

१ आयारो, ५।१३८ अपयस्स पय णत्थि।

२ वही ५।१२२-१२४

भी तीनो कालो मे अविनाशी-अवस्थित होता है।

८ जीव और सोने की तुलना—नित्य-अनित्य की दृष्टि से—

जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं तब भी वह सोना ही रहता है, केवल नाम और रूप मे अन्तर पड़ता है। ठीक उसी प्रकार चारो गतियो मे भ्रमण करते हुए जीव की पर्याए बदलती हैं—रूप और नाम बदलते हैं—जीव द्रव्य बना का बना रहता है।

९ जीव की कर्मकार से तुलना—कर्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से—

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वय कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

१० जीव और सूर्य की तुलना—भवानुयायित्व की दृष्टि से—

जैसे दिन मे सूर्य यहा प्रकाश करता है, तब दीखता है और रात को दूसरे क्षेत्र मे चला जाता है—प्रकाश करता है, तब दीखता नही वैसे ही वर्तमान शरीर मे रहता हुआ जीव उसे प्रकाशित करता है और उसे छोड़कर दूसरे शरीर मे जा उसे प्रकाशित करने लग जाता है।

११ जीव का ज्ञान-गुण से ग्रहण—

जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नही दीखता, फिर भी वह घ्राण के द्वारा ग्रहण होती है, वैसे ही जीव के नही दीखने पर भी उसका ज्ञानगुण के द्वारा ग्रहण होता है।

भभा, मृदग आदि के शब्द सुने जाते हैं, किन्तु उनका रूप नही दीखता, वैसे ही जीव नही दीखता तब भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

१२ जीव का चेष्टा-विशेष द्वारा ग्रहण—

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर मे पिशाच घुस जाता है, तब यद्यपि वह नही दीखता, फिर भी आकार और चेष्टाओ द्वारा जान लिया जाता है कि यह पुरुष पिशाच से अभिभूत है, वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुःख, बोलना-चलना आदि-आदि विविध चेष्टाओ द्वारा जाना जाता है।

१३ जीव के कर्म का परिणमन—

जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सात धातु के रूप मे परिणत होता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्म रूप मे परिणत हो जाते हैं।

१४ जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध और उसका उपाय द्वारा विसम्बन्ध—

जैसे सोने और मिट्टी का सयोग अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का सयोग (साहचर्य) भी अनादि है। जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् होता है, वैसे ही जीव भी सवर-तपस्या आदि उपायो के द्वारा कर्म से पृथक् हो जाता है।

(१५) जीव और कर्म के सम्बन्ध मे पौर्वापर्य नही—

जैसे मुर्गी और अण्डे में पौर्वापर्य नही वैसे ही जीव और कर्म मे भी पौर्वापर्य नही है। दोनो अनादि-सहगत हैं।

भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओ मे परिणत होनेवाला, कर्त्ता और भोक्ता, स्वय अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियो से शुभ-अशुभ कर्मों का सचय करनेवाला और उनका फल भोगनेवाला, स्वदेह-परिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिमाण का है।

वौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु-सत्य नही, काल्पनिक-सज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिक तत्त्व, काया) के सघात ससार-यात्रा के लिए काफी हैं। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नही है। वौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय मे प्रश्न पूछे जाने पर वौद्ध मौन रहे हैं। इसका कारण पूछने पर वुद्ध कहते हैं कि—"यदि मैं कहू आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी वन जाते हैं, यदि यह कहू कि आत्मा नही है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए उन दोनो का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हू।"[1]

नागार्जुन लिखते हैं—"वुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है और आत्मा नहीं है यह भी कहा है। तथा बुद्ध ने आत्मा और अनात्मा किसी का भी उपदेश नही किया।"

वुद्ध ने आत्मा क्या है, कहा से आया है और कहा जाएगा—इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर दु ख और दु ख-निरोध—इन दो तत्त्वो का ही मुख्यतया उपदेश किया। वुद्ध ने कहा, "तीर से आहत पुरुप के घाव को ठीक करने की वात सोचनी चाहिए। तीर कहा से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।"

वुद्ध का यह 'मध्यम-मार्ग' का दृष्टिकोण है। कुछ वौद्ध मन को भौतिक तत्त्वो से अलग स्वीकार करते हैं।

---

१ माध्यमकारिका, १८/१०
अस्तीति शाश्वतग्राही नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे, नाश्रीयेत विचक्षण ॥

२ माध्यमकारिका, १८।६
आत्मेत्यपि प्रज्ञापित मनात्मत्यपि देशितम्।
वुद्धैर्नात्मा नचानात्मा, कश्चिदित्यपि देशितम ॥

नैयायिकों के अनुसार आत्मा नित्य और विभु है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान—ये उसके लिङ्ग हैं। इनसे हम उसका अस्तित्व जानते हैं।

सांख्य आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानते हैं, जैसे—

"अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्मः, आत्मा कपिलदर्शने॥"

सांख्य जीव को कर्त्ता नहीं मानते, फल-भोक्ता मानते हैं। उनके मतानुसार कर्तृ-शक्ति प्रकृति है।

वेदान्ती अन्तःकरण से परिवेष्टित चैतन्य को जीव बतलाते हैं। उसके अनुसार—'एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः'—स्वभावतः जीव एक है, परन्तु देहादि-उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है।

परन्तु रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं, वे एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं।

वैशेषिक सुख-दुःख आदि की समानता की दृष्टि से आत्मैक्यवादी[1] और व्यवस्था की दृष्टि से आत्मा-नैक्यवादी है।[2]

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण[3], मन से भिन्न[4], विभु—व्यापक[5] और अपरिणामी है।[6] वह वाणी द्वारा अगम्य है।[7] उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा बताया है।[8] वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अन्तर है, न बाहर है।[9]

---

१ वैशेषिक सूत्र, ३।२।१९।

२ वही, ३।२।२० व्यवस्थातो नाना।

३ कठोपनिषद्, २।१५।१८ न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

४ (क) वही, २।३।७।८०
इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ या उत्कृष्ट है। मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्त्व, महत्तत्व से अव्यक्त, और अव्यक्त से पुरुष श्रेष्ठ है। वह व्यापक तथा अलिङ्ग है।
(ख) वही, १।३।१०, ११ पुरुष से पर (श्रेष्ठ या उत्कृष्ट) और कोई कुछ नहीं है। वह सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है।

५ ईशा-उपनिषद्
ईशावास्यमिदं सर्वं। यत् किञ्च जगत्यां जगत्।

६ गीता, २।२५।

७ तैत्तिरीय उपनिषद्, २।४।

८ बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।५।१५ स एस नेति नेति।

९ बृहदारण्यक उपनिषद्, ३।८.८
अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनन्तरमबाह्यम्।

संक्षेप मे—

बौद्ध—आत्मा स्थायी नही, चेतना का प्रवाहमात्र है।

न्याय वैशेषिक—आत्मा स्थायी किन्तु चेतना उसका स्थायी स्वरूप नही। गहरी नीद मे वह चेतनाविहीन हो जाती है।

वैशेपिक—मोक्ष मे आत्मा की चेतना नष्ट हो जाती है।

साख्य—आत्मा स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी, नित्य और चित्स्वरूप है। बुद्धि अचेतन है—प्रकृति का विवर्त्त है।

मीमासक—आत्मा मे अवस्था-भेद-कृत भेद होता है, फिर भी वह नित्य है।

जैन—आत्मा परिवर्तन-युक्त, स्थायी और चित्स्वरूप है। बुद्धि भी चेतन है। गहरी नीद या मूर्च्छा मे चेतना होती है, उसकी अभिव्यक्ति नही होती, सूक्ष्म अभिव्यक्ति होती भी है। मोक्ष मे चेतना का सहज उपयोग होता है। चेतना की आवृत-दशा में उसे प्रवृत्त करना पडता है—अनावृत-दशा मे वह सतत प्रवृत्त रहती है।

औपनिषदिक आत्मा के विविध रूप और जैन-दृष्टि से तुलना

औपनिपदिक सृष्टि-क्रम मे आत्मा का स्थान पहला है। 'आत्मा' शब्द-वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औपधिया, औपधियो से अन्न और अन्न से पुरुप उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुप अन्न-रसमय ही है—अन्न और रस का विकार है।[1] इस अन्न रसमय पुरुप की तुलना औदारिक शरीर से होती है। इसके सिर आदि अगोपांग माने गए हैं। प्राणमय आत्मा (शरीर) अन्नमय कोप की भाति पुरुपाकार है। किन्तु उसकी भाति अगोपाग वाला नही है।[2] पहले कोश की पुरुपाकारता के अनुसार ही उत्तरवर्ती कोश पुरुषाकार है। पहला कोश उत्तरवर्ती कोश से पूर्ण, व्याप्त या भरा हुआ है।[3] इस प्राणमय शरीर की तुलना श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति से की जा सकती है।

प्राणमय आत्मा जैसे अन्नमय कोश के भीतर रहता है, वैसे ही मनोमय आत्मा प्राणमय कोश के भीतर रहता है।[4]

इस मनोमय शरीर की तुलना मन पर्याप्ति से हो सकती है। मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है।[5]

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद्, २।१।१।

२ वही, २।२।१।

३ वही, २।२।१।

४ वही, २।३।१।

५ वही, २।४।१।

निश्चयात्मिका बुद्धि जो है, वही विज्ञान है। वह अन्त करण का अध्यवसाय रूप धर्म है। इस निश्चयात्मिका बुद्धि से उत्पन्न होनेवाला आत्मा विज्ञानमय है। इसकी तुलना भाव-मन, चेतन-मन से होती है। विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय आत्मा रहता है।[1] इसकी तुलना आत्मा की सुखानुभूति की दशा से हो सकती है।

सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण

प्राणी और अप्राणी मे क्या भेद है? यह प्रश्न कितनी बार हृदय को आदोलित नही करता। प्राण प्रत्यक्ष नही हैं। उनकी जानकारी के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण पर्याप्ति है। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश द्रव्यो (पुद्गलो) का ग्रहण, स्वरूप मे परिणमन और विसर्जन करता है।

जीव[2]	अजीव[3]
१ प्रजनन-शक्ति (सतति-उत्पादन)	प्रजनन-शक्ति नही।
२ वृद्धि	वृद्धि नही।[4]

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद्, २।५।१।

२ पचास्तिकाय, १२६, १३०

ण हि इन्दियाणि जीवा, काया पुण छप्पयारपण्णति।
ज हवदि-तेसु णाण, जीवोत्तिय त परूवन्ति ॥
जाणादि पस्सदि सव्व, इच्छदि सुख विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिद वा, भुजदि जीवो फल तेसि ॥

३ वही,

सुह दु ख जाणणा वा, हिदपरियम्म च अहिद भीसत्त।
जस्स ण विज्जदि णिच्च, त समणा विति अजीव ॥

४ हिन्दी विश्वभारती, खण्ड १, पृ० ४१, ५०

(क) कृत्रिम उद्भिज अपने आप वढ़ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की वढ़ती और इसकी वढ़ती मे गहरा अन्तर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओ के फलस्वरूप वढ़ता है।

इसके विपरीत जड पदाथ से तैयार किया हुआ उद्भिज वाहरी क्रिया का ही परिणाम है।

(ख) सजीव पदार्थ वढ़ते हैं और निर्जीव नहीं वढ़ते, लेकिन क्या चीनी का 'रवा' चीनी के सपृक्त घोल में रखे जाने पर नही वढ़ता? यही वात पत्थरो और कुछ चट्टानो के वारे मे भी कही जा सकती है, जो पृथ्वी के नीचे से वढकर छोटे या वडे आकार ग्रहण कर लेते हैं। एक ओर हम आम की गुठली से एक पतली शाखा निकलते हुए देखते हैं और इसे एक छोटे पौधे और अन्त मे एक पूरे वृक्ष के रूप मे वढ़ते हुए पाते हैं, और दूसरी ओर एक पिल्ले को धीरे-धीरे वढ़ते हुए देखते हैं और एक दिन वह पूरे कुत्ते के वरावर हो जाता है।

३	आहार-ग्रहण।[1] स्वरूप मे परिणमन विसर्जन	नही
४	जागरण, नीद, परिश्रम विश्राम	नही
५	आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न	नही
६	भय-त्रास[2]	नही

भापा अजीव मे नही होती किन्तु सब जीवो मे भी नही होती—त्रस जीवो मे

लेकिन इन दोना प्रकार के वढाव में अन्तर है। चीनी के रवे या पत्थर का वढाव उनकी सतह पर अधिकाधिक नए पर्त के जमाव होने की वजह से होता है। परन्तु इसके विपरीत छोटे पेड या पिल्ले अपने शरीर के भीतर खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने से वढकर पूरे डीलडौल के हो जाते हैं। अतएव पशुओ और पौधो का वढाव भीतर से होता है और निर्जीव पदार्थों का वढाव यदि होता है तो वाहर से।

१-२ हिन्दी विश्वभारती, खण्ड १, पृ० ४२

प्राणी सजीव और अजीव दोनो प्रकार का आहार लेते हैं। किन्तु उसे लेने के वाद वह सव अजीव हो जाता है। अजीव पदार्थों को जीव स्वरूप मे कैसे परिवर्तित करते हैं, यह आज भी विज्ञान के लिए रहस्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से वना आहार लेते हैं। वह उनमे पहुचकर सजीव कोष्ठो का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव पदार्थ सजीव वन गए इसका श्रेय 'क्लोरोफिल' को है। वे इस रहस्यमय पद्धति को नही जान सके हैं, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव मे परिवर्तित कर देता है। जैन दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप में परिणत करने वाली शक्ति आहार पर्याप्ति है। वह जीवन शक्ति की आधार शिला होती है और उसी के सहयार से शरीर आदि का निर्माण होता है।

—लज्जावती की पत्तिया स्पर्श करते ही मूर्च्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश में विद्युत् का प्रहार होते ही खेतो मे चरते हुए मृगो का झुण्ड भयभीत होकर तितर वितर हो जाता है। वाटिका में विहार करते हुए विहगो में कोलाहल मच जाता है और खाट पर सोया हुआ अवोध वालक चौंक पडता है। परन्तु खेत की मेड, वाटिका के फव्वारे तथा वालक की खाट पर स्पष्टतया कोई प्रभाव नही पडता। ऐसा क्यो होता है, क्या कभी आपने इसकी ओर ध्यान दिया? इन सारी घटनाओ की जड में एक ही रहस्य है और यह भी सजीव प्रकृति की प्रधानता है। यह जीवो की उत्तेजना शक्ति और प्रतिक्रिया है। यह गुण लज्जावती, हरिण, विहग, वालक अथवा अन्य जीवों मे उपस्थित है, परन्तु किसी मे कम, किसी मे अधिक। आघात के अतिरिक्त, अन्य अनेक कारणों का भी प्राणियो पर प्रभाव पडता है।

होती है, स्थावर जीवो में नही होती —इसलिए यह जीव का व्यापक लक्षण नही बनता।

गति जीव और अजीव दोनो मे होती है किन्तु इच्छापूर्वक या सहेतुक गति-आगति तथा गति-आगति का विज्ञान केवल जीवो मे होता है, अजीव पदार्थ मे नही।

अजीव के चार प्रकार—धर्म, अधर्म, आकाश और काल गतिशील नही हैं, केवल पुद्गल गतिशील है। उसके दोनो रूप परमाणु और स्कन्ध (परमाणु समुदय) गतिशील है। इनमे नैसर्गिक और प्रायोगिक--दोनो प्रकार की गति होती है। स्थूल-स्कन्ध-प्रयोग के विना गति नही करते। सूक्ष्म-स्कन्ध स्थूल-प्रयत्न के विना भी गति करते हैं। इसलिए उनमे इच्छापूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पष्ट पुद्गल स्कन्धो मे कम्पन, प्रकम्पन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उद्दीरणा और विचित्र आकृतियो का परिणमन देखकर विभग-अज्ञानी (पारद्रष्टा मिथ्यादृष्टि) को 'ये सब जीव हैं'—ऐसा भ्रम हो जाता है।

अजीव मे जीव या अणु मे कीटाणु का भ्रम होने का कारण उनका गति और आकृति सम्वन्धी साम्य है।

जीवत्व की अभिव्यक्ति के साधन उत्थान, वल, वीर्य हैं। वे शरीर-सापेक्ष हैं। शरीर पौद्गलिक है। इसलिए चेतन द्वारा स्वीकृत पुद्गल और चेतन-मुक्त पुद्गल मे गति और आकृति के द्वारा भेद-रेखा नही खीची जा सकती।[1]

जीवन के व्यावहारिक लक्षण

सजातीय-जन्म, वृद्धि, सजातीय-उत्पादन, क्षत-सरोहण (घाव भरने की शक्ति) और अनियमित तिर्यग्-गति—ये जीवो के व्यावहारिक लक्षण है। एक मशीन खा सकती है, लेकिन खाद्य रस के द्वारा अपने शरीर को वढा नही सकती। किसी हद तक अपना नियन्त्रण करने वाली मशीनें भी हैं। टारपिडो मे स्वय-चालक शक्ति है, फिर भी वे न तो सजातीय यन्त्र की देह से उत्पन्न होते हैं और न किसी सजातीय यन्त्र को उत्पन्न करते हैं। ऐसा कोई यन्त्र नही जो अपना घाव खुद भर सके या मनुष्यकृत नियमन के विना इधर-उधर घूम सके—तिर्यग्-गति कर सके। एक रेलगाडी पटरी पर अपना बोझ लिए पवन-वेग से दौड

---

१ हिन्दी विश्वभारती, खण्ड १, पृ० १३८
सोडियम धातु के टुकडे पानी में तैरकुआ कीडो की तरह तीव्रता से इधर-उधर दौडते हैं और शीघ्र ही रासायनिक क्रिया के कारण समाप्त होकर लुप्त हो जाते हैं।

सकती है पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चीटी को भी वह नही मार सकती। चीटी मे चेतना है, वह इधर-उधर घूमती है। रेलगाडी जड है, उसमें वह शक्ति नही। यन्त्र-क्रिया का नियामक भी चेतनावान् प्राणी है। इसलिए यन्त्र और प्राणी की स्थिति एक-सी नही है। ये लक्षण जीवधारियो की अपनी विशेषताए हैं। जड मे ये नही मिलती।

जीव के नैश्चयिक लक्षण

आत्मा का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। प्राणी मात्र मे उसका न्यूनाधिक मात्रा मे सद्भाव होता है। यद्यपि सत्ता रूप मे चैतन्य शक्ति सव प्राणियों के अनन्त होती है, पर विकास की अपेक्षा वह सव मे एक-सी नही होती। ज्ञान के आवरण की प्रवलता एव दुर्वलता के अनुसार उसका विकास न्यून या अधिक होता है। एकेन्द्रिय वाले जीवो मे भी कम से कम एक (स्पर्शन) इन्द्रिय का अनुभव मिलेगा। यदि वह न रहे, तव फिर जीव और अजीव मे कोई अन्तर नही रहता। जीव और अजीव का भेद वतलाते हुए शास्त्रो मे कहा है—'केवलज्ञान (पूर्ण ज्ञान) का अनन्तवा भाग तो सव जीवो के विकसित रहता है। यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव वन जाए।'

मध्यम और विराट् परिमाण

उपनिषदो मे आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाए मिलती हैं। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर् हृदय मे चावल या जौ के दाने जितना है।[1]

यह आत्मा प्रदेश-मात्र (अगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक की दूरी जितना) है।[2]

यह आत्मा शरीर-व्यापी है।[3]

यह आत्मा सर्व-व्यापी है।[4]

हृदय-कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सव लोको की अपेक्षा वडा है।[5]

जीव सख्या की दृष्टि से अनन्त है। प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असख्य हैं। जीव असख्य-प्रदेशी हैं। अत व्याप्त होने की क्षमता की दृष्टि से लोक

---

१ वृहदारण्यक उपनिषद्, ५।६।१ यथा व्रीहिर्वा यवो वा।

२ छान्दोग्य उपनिषद्, ५।१८।१ प्रदेशमात्रम्।

३ कौषीतकी उपनिषद्, ३५।४।२० एष प्रज्ञात्मा इद शरीरमनुप्रविष्ट।

४ मुण्डक उपनिषद्, १।१।६ सर्वंगतम्।

५ छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१४।३।

के समान विराट् है।[1] 'केवली-समुद्घात' की प्रक्रिया में आत्मा कुछ समय के लिए व्यापक बन जाती है। 'मरण-समुद्घात' के समय भी आशिक व्यापकता होती है।[2]

प्रदेश-सख्या की दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव—ये चार समतुल्य हैं। अवगाह की दृष्टि से सम नही हैं। धर्म, अधर्म और आकाश स्वीकारात्मक और क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति शून्य हैं, इसलिए उनके परिमाण मे कोई परिवर्तन नही होता। ससारी जीवो मे पुद्गलो का स्वीकरण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये दोनो प्रवृत्तिया होती हैं, इसलिए उनका परिमाण सदा समान नही रहता। वह सकुचित या विकसित होता रहता है। फिर भी अणु जितना सकुचित और लोकाकाश जितना विकसित (केवली समुद्घात के सिवाय) नही होता, इसलिए जीव मध्यम परिमाण की कोटि के होते है।

सकोच और विकोच जीवो की स्वभाव-प्रक्रिया नही है—वे कार्मण शरीर-सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा मे जीव शरीर की मर्यादा मे वधे हुए होते हैं, इसलिए उनका परिमाण स्वतन्त्र नही होता। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति-चतुष्टय-सापेक्ष होता है। मुक्त-दशा मे सकोच-विकोच नही, वहा चरम शरीर के ठोस (दो तिहाई) भाग मे आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

आत्मा के सकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश मे रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी मे रख दें तो वही प्रकाश कोठरी मे समा जाता है। एक घडे के नीचे रखते हैं तो घडे मे समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते हैं तो ढकनी मे समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशो का भी सकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक-शरीर मे रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर मे रहती है और वही वृद्ध-शरीर मे। स्थूल-शरीर-व्यापी आत्मा कृश-शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है।

इस विषय मे एक शका हो सकती है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से वह अवयव-सहित हो जाएगी और अवयव-सहित हो जाने से वह अनित्य हो जाएगी, क्योंकि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरणशील—अनित्य होता है। घडा अवयव-सहित है, अत अनित्य है। इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नही कि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। जैसे घडे का आकाश, पट का आकाश इत्यादिक रूपता से आकाश सावयव है और नित्य है,

---

१ भगवती, २।१० जीवत्थिकाए—लोए, लोयमेत्ते, लोयप्पमाणे।
२ वही, ६।६।१७।

वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते हैं, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवी से कभी पृथक् नही हो सकते।

विश्व की कोई भी वस्तु एकान्त रूप से नित्य और अनित्य नही है, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नही छूटता, अत आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी सकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख मे, कभी दु ख मे—इत्यादिक कारणो से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अत स्याद्वाद दृष्टि से सावयवता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने मे वाधक नही है।

वद्ध और मुक्त

आत्मा दो भागो मे विभक्त है—वद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा। कर्म-वन्धन टूटने से जिनका आत्मीय स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माए होती हैं। वे भी अनन्त हैं। उनके शरीर एव शरीर-जन्य क्रिया और जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नही होते। वे आत्म-रूप हो जाते हैं। अतएव उन्हे सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। उनका निवास ऊचे लोक के चरम भाग मे होता है। वे मुक्त होते ही वहा पहुच जाते हैं। आत्मा का स्वभाव ऊपर जाने का है। वन्धन के कारण ही वह तिरछा या नीचे जाता है। ऊपर जाने के वाद वह फिर कभी नीचे नही आता। वहा से अलोक में भी नही जा सकता। वहा गति-तत्त्व (धर्मास्तिकाय) का अभाव है। दूसरी श्रेणी की जो ससारी आत्माए हैं, वे कर्म-वद्ध होने के कारण अनेक योनियो मे परिभ्रमण करती हैं, कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। ये मुक्त आत्माओ से अनन्तानन्त गुनी होती हैं। मुक्त आत्माओं का अस्तित्व पृथक्-पृथक् होता है तथापि उनके स्वरूप मे पूर्ण समता होती है। ससारी जीवो मे भी स्वरूप की दृष्टि से ऐक्य होता है किन्तु वह कर्म से आवृत रहता है और कर्मकृत भिन्नता से वे विविध वर्गों मे वट जाते हैं, जैसे पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, तेजस्कायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव, त्रसकायिक जीव। जीवो के ये छह निकाय, शारीरिक परमाणुओ की भिन्नता के अनुसार रचे गए हैं। सव जीवो के शरीर एक-से नही होते। किन्ही जीवो का शरीर पृथ्वी होता है तो किन्ही का पानी। इस प्रकार पृथक्-पृथक् परमाणुओ के शरीर वनते हैं। इनमें पहले पाच निकाय 'स्थावर' कहलाते हैं। त्रस जीव इधर-उधर घूमते हैं, शब्द करते हैं, चलते-फिरते हैं, सकुचित होते है, फैल जाते हैं, इसलिए उनकी चेतना मे कोई सन्देह नही होता। स्थावर जीवो मे ये वातें नही होती अत उनकी चेतनता के विपय मे सन्देह होना कोई आश्चर्य की वात नही।

जीव-परिमाण

जीवो के दो प्रकार हैं—मुक्त और ससारी। मुक्त जीव अनन्त है। ससारी जीवो के छह निकाय हैं। उनका परिमाण निम्न प्रकार है—

१ पृथ्वीकाय—असख्य जीव

२. अप्काय—असख्य जीव

३ नेजस्काय—असख्य जीव

३ वायुकाय—असख्य जीव

५ वनस्पतिकाय—अनन्त जीव

६ त्रसकाय—असख्य जीव

त्रसकाय के जीव स्थूल ही होते हैं। शेष पाच निकाय के जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवो से समूचा लोक भरा है। स्थूल जीव आधार बिना नही रह सकते। इसलिए वे लोक के थोडे भाग मे हैं।

एक-एक काय मे कितने जीव हैं, यह उपमा के द्वारा समझाया गया है—

एक हरे आवले के समान मिट्टी के ढेले मे जो पृथ्वी के जीव हैं, उन सब मे से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना बडा किया जाय तो वे एक लाख योजन लम्बे-चौडे जम्बूद्वीप मे नही समाते।[१]

पानी की एक बूद मे जितने जीव हैं, उन सब मे से प्रत्येक का शरीर सरसो के दाने के समान बनाया जाए तो वे उक्त जम्बूद्वीप मे नही समाते।[२]

एक चिनगारी के जीवो मे से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए तो वे भी जम्बूद्वीप मे नही समाते।[३]

नीम के पत्ते को छूने वाली हवा मे जितने जीव है, उन सब मे से प्रत्येक के शरीर को खस-खस के दाने के समान किया जाए तो वे जम्बूद्वीप मे नही समाते।[४]

शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? मानसिक विचारो का हमारे

---

१ अद्दाऽमलगपमाणे पुढवीकाए, हवति जे जीवा।
ते पारेवयमित्ता जबूदीवे न माइति॥

२ एगम्मि दगबिन्दुम्मि, जे जिणवरेहिं पण्णत्ता।
ते जइ सरिसवमित्ता, जम्बूदीवे न माइति॥

३ वरट्टितन्दुलमित्ता तेऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
मत्यपलिक्ख पमाणा, जम्बूदीवे न माइति॥

४ जे लिंबपत्तफरिसा वाऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
ते जइ खसखसमित्ता, जम्बूदीवे न माइति॥

शरीर तथा मस्तिष्क के साथ क्या सम्बन्ध है ?—इस प्रश्न के उत्तर में तीन वाद प्रसिद्ध हैं—

१ एकपाक्षिक-क्रियावाद (भूत चैतन्यवाद)।

२ मनोदैहिक सहचरवाद।

३ अन्योन्याश्रयवाद।

भूत चैतन्यवादी केवल शारीरिक व्यापारो को ही मानसिक व्यापारो का कारण मानते हैं। उनकी सम्मति मे आत्मा शरीर की उपज है। मस्तिष्क की विशेष कोष्ठ-क्रिया ही चेतना है। ये प्रकृतिवादी भी कहे जाते हैं। आत्मा को प्रकृति-जन्य सिद्ध करने के लिए ये इस प्रकार अपना अभिमत प्रस्तुत करते हैं। पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, श्वासोच्छ्वास फेफडो की क्रिया का नाम है, वैसे ही चेतना (आत्मा) मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का नाम है। यह भूत-चैतन्यवाद का एक सक्षिप्त रूप है। आत्मवादी इसका निरसन इस प्रकार करते हैं—'चेतना मस्तिष्क के कोष्ठ की क्रिया है।' इसमे द्व्यर्थक क्रिया शब्द का समानार्थक प्रयोग किया गया है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया में बड़ा भारी अन्तर है। क्रियाशब्द का दो बार का प्रयोग विचार-भेद का द्योतक है। जब हम यह कहते हैं कि पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, तब पाचन और आमाशय की क्रिया मे भेद नही समझते। पर जब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का विचार करते हैं, तब उस क्रिया-मात्र को चेतना नही समझते। चेतना का विचार करते है तब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का किसी प्रकार का ध्यान नही आता। ये दोनो घटनाए सर्वथा विभिन्न हैं। पाचन से आमाशय की क्रिया का बोध हो आता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय की क्रिया—ये दो घटनाए नही, एक ही क्रिया के दो नाम हैं। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क तथा शरीर के सारे अवयव चेतनाहीन तत्त्व से बने हुए होते हैं। चेतनाहीन से चेतना उत्पन्न नही हो सकती। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए पादरी बटलर ने लिखा है—"आप हाइड्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, ऑक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्त्व के मृत परमाणु तथा बारुद की भाति उन समस्त तत्त्वो के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है, ले लीजिए। विचारिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एव ज्ञान-शून्य हैं, फिर विचारिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कन्ध हो सकते हैं, बना रहे हैं। इस शुद्ध यान्त्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन मे खीच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार मे आ सकता है कि इस यान्त्रिक क्रिया का इन मृत परमाणुओ से बोध, विचार एव भावनाए उत्पन्न हो सकती हैं ? क्या पासो के खटपटाने से होमर कवि या बिलयर्ड खेल की गेद के खनखनाने से गणित

डिफरेनशियल केल्कुलस (Differential Calculus) निकल सकता है ? आप मनुष्य की जिज्ञासा का—परमाणुओ के परस्पर सम्मिश्रण की यान्त्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई ?—सन्तोषप्रद उत्तर नही दे सकते ।[1]

पाचन और श्वासोश्छ्वास की क्रिया से चेतना की तुलना भी त्रुटिपूर्ण है। ये दोनो क्रियाए स्वय अचेतन हैं। अचेतन मस्तिष्क की क्रिया चेतना नही हो सकती। इसलिए यह मानना होगा कि चेतना एक स्वतन्त्र सत्ता है, मस्तिष्क की उपज नही। शारीरिक व्यापारो को ही मानसिक व्यापारो के कारण माननेवालो के दूसरी आपत्ति यह आती है कि—"मैं अपनी इच्छा के अनुसार चलता हू—मेरे भाव शारीरिक परिवर्तनो को पैदा करनेवाले है" इत्यादि प्रयोग नही किये जा सकते।

'मनोदैहिक-सहचरवाद' के अनुमार मानसिक तथा शारीरिक व्यापार परस्पर सहकारी हैं, इसके सिवाय दोनो मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही। इस वाद का उत्तर अन्योन्याश्रयवाद है। उसके अनुसार शारीरिक क्रियाओ का मानसिक व्यापारो पर एव मानसिक व्यापारो का शारीरिक क्रियाओ पर असर होता है। जैसे—

१ मस्तिष्क की बीमारी से मानसिक शक्ति दुर्वल हो जाती है।

२ मस्तिष्क के परिमाण के अनुसार मानसिक शक्ति का विकास होता है। साधारणतया पुरुषो का दिमाग ४६ से ५० या ५२ औंस तक का और स्त्रियो

---

1 "Take your dead hydrogen atoms, your dead oxygen atoms, your dead carbon atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorous atoms and all other atoms dead as grains of shot, of which the branch is formed Imagine them separate and senseless, observe then running together and forming all imaginable combinations This as a purely mechanical process is seeable by the mind But can you see or aream or in any way imagine how out of that mechanical act and from these individually dead atoms, sensation, thought and emotion are to arise ? Are you likely to create Homer out of the rattling of dice or 'Differential Calculus' out of the clash of Billiard ball ? You can not satisfy the human understanding in its demand for logical continuity between molecular process and the phenomena of consciousness "

का ४४-४८ औंस तक का होता है। देश-विशेष के अनुसार इनमे कुछ न्यूनाधिकता भी पायी जाती है। अपवादरूप असाधारण मानसिक शक्ति वालो का दिमाग औसत परिमाण से भी नीचे दर्जे का पाया गया है। पर साधारण नियमानुसार दिमाग के परिमाण और मानसिक विकास का सम्बन्ध रहता है।

३ ब्राह्मीघृत आदि विविध औषधियो से मानसिक विकास को सहारा मिलता है।

४ दिमाग पर आघात होने से स्मरण-शक्ति क्षीण हो जाती है।

५ दिमाग का एक विशेष-भाग मानसिक शक्ति के साथ सम्बन्धित है, उसकी क्षति से मानस-शक्ति मे हानि होती है।

मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव

१ निरन्तर चिन्ता एव दिमागी परिश्रम मे शरीर थक जाता है।

२ सुख-दुख का शरीर पर प्रभाव होता है।

३ उदासीन-वृत्ति एव चिन्ता से पाचन-शक्ति मन्द हो जाती है, शरीर कृश हो जाता है। क्रोध आदि से रक्त विपाक्त वन जाता है।

इन घटनाओ के अवलोकन के वाद शरीर और मन के पारस्परिक सम्बन्ध के वारे मे सन्देह का कोई अवकाश नही रहता। इस प्रकार अन्योन्याश्रयवादी मानसिक एव शारीरिक सम्बन्ध के निणय तक पहुच गए। दोनो शक्तियो का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके सामने एक उलझन अव तक भी मौजूद है। दो विसदृश पदार्थो के वीच कार्य-कारण का सम्वन्ध कैसे ? इसका वे अभी समाधान नही कर पाए हैं।

दो विसदृश पदार्थो (अरूप और सरूप) का सम्बन्ध

आत्मा और शरीर—ये विजातीय द्रव्य हैं। आत्मा चेतन और अरूप है, शरीर अचेतन और सरूप। इस दशा में दोनो का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इसका समाधान जैन दर्शन मे यो किया गया है। ससारी आत्मा सूक्ष्म और स्थूल, इन दो प्रकार के शरीरो से वेष्टित रहता है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के समय स्थूल शरीर छूट जाता है, सूक्ष्म शरीर नही छूटता। सूक्ष्म-शरीरधारी जीवो को एक के वाद दूसरे-तीसरे स्थूल शरीर का निर्माण करना पडता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करते हैं, इसलिए अमूर्त जीव मूर्त शरीर मे कैसे प्रवेश करते हैं—यह प्रश्न ही नही उठता। सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्वन्ध अपश्चानुपूर्वी है। अपश्चानुपूर्वी उसे कहा जाता है, जहा पहले-पीछे का कोई विभाग नही होता—पौर्वापर्य नही निकाला जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि उनका सम्बन्ध अनादि है। इसीलिए ससार-दशा मे जीव कथञ्चित् मूर्त भी है।

उनका अमूर्त रूप विदेहदशा मे प्रकट होता है। यह स्थिति बनने पर फिर उनका मूर्त द्रव्य मे कोई सम्बन्ध नही रहता। किन्तु ससार-दशा मे जीव और पुद्गल का कथचित् सादृश्य होता है, इसलिए उनका सम्बन्ध होना असम्भव नही। 'अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध नही हो सकता'—यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है, यह उचित है। इनमे क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध नही हो सकता।

अरूप (ब्रह्म) का सरूप (जगत्) के साथ सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। अरूप ब्रह्म के रूप-प्रणयन की वेदान्त के लिए एक जटिल समस्या है। सगति से असगति (ब्रह्म से जगत्) और असगति से फिर सगति की ओर गति क्यो होती है? यह उसे और अधिक जटिल बना देती है।

अमूर्त आत्मा का मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध की स्थिति जैन दर्शन के सामने वैसी ही उलझन भरी है। किन्तु वस्तुवृत्या वह उससे भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार अरूप का रूप-प्रणयन नही हो सकता। ससारी आत्माए अरूप नही होती। उनका विशुद्ध रूप अमूर्त होता है किन्तु ससार दशा मे उसकी प्राप्ति नही होती। उनकी अरूप-स्थिति मुक्त-दशा मे बनती है। उसके बाद उनका सरूप के घात-प्रत्याघातो से कोई लगाव नही होता।

विज्ञान और आत्मा

बहुत से पश्चिमी वैज्ञानिक आत्मा को मन से अलग नही मानते। उनकी दृष्टि मे मन और मस्तिष्क-क्रिया एक है। दूसरे शब्दो मे मन और मस्तिष्क पर्यायवाची शब्द हैं। पावलोफ ने इसका समर्थन किया है कि स्मृति मस्तिष्क (सेरेब्रम) के करोडो सेलो (Cells) की क्रिया है। बर्गसा जिस युक्ति के बल पर आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव करता है, उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को 'पावलोफ' मस्तिष्क के सेलो (Cells) की क्रिया बतलाता है। फोटो के नेगेटिव प्लेट मे जिस प्रकार प्रतिबिम्ब खीचे हुए होते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क मे अतीत के चित्र प्रतिबिम्बित रहते है। जब उन्हे तदनुकूल सामग्री द्वारा नई प्रेरणा मिलती है तब वे जागृत हो जाते हैं, निम्नस्तर से ऊपरीस्तर मे आ जाते हैं, इसी का नाम स्मृति है। इसके लिए भौतिक तत्वो मे पृथक् अन्वयी आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नही। भूताद्वैतवादी वैज्ञानिको ने भौतिक प्रयोगो के द्वारा अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने की बहुमुखी चेष्टाए की हैं, फिर भी भौतिक प्रयोगो का क्षेत्र भौतिकता तक ही सीमित रहता है, अमूर्त आत्मा या मन का नास्तित्व सिद्ध करने मे उसका अधिकार सम्पन्न नही होता। मन भौतिक और अभौतिक दोनो प्रकार का होता है।

मनन, चिन्तन, तर्क, अनुमान, स्मृति 'तदेवेदम्' इस प्रकार सकलनात्मक ज्ञान—

अतीत और वर्तमान ज्ञान की जोड करना, ये कार्य अभौतिक मन के हैं।[1] भौतिक मन उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन है। इसे हम मस्तिष्क या 'औपचारिक ज्ञान तन्तु' भी कह सकते हैं। मस्तिष्क शरीर का अवयव है। उस पर विभिन्न प्रयोग करने पर मानसिक स्थिति मे परिवर्तन पाया जाए, अर्ध-स्मरण या विस्मरण आदि मिले, यह कोई आश्चयजनक घटना नही। क्योकि कारण के अभाव मे कार्य अभिव्यक्त नही होता, यह निश्चित तथ्य हमारे सामने है। भौतिकवादी तो मस्तिष्क भी भौतिक है या और कुछ—इस समस्या मे उलझे हुए हैं। वे कहते हैं मन सिर्फ भौतिक तत्त्व नही है। ऐसा होने पर उसके विचित्रगुण-चेतन-क्रियाओ की व्याख्या नही हो सकती। मन (मस्तिष्क) मे ऐसे नए गुण देखे जाते हैं, जो पहले भौतिक-तत्त्वो मे मौजूद न थे, इसलिए भौतिक-तत्त्वो और मन को एक नही कहा जा सकता। साथ ही भौतिक-तत्त्वो से मन इतना दूर भी नही है कि उसे बिलकुल ही एक अलग तत्त्व माना जाए।[2]

इन पक्तियो से यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक जगत् मन के विषय मे ही नही, किन्तु मन के साधनभूत मस्तिष्क के बारे मे भी अभी कितना सदिग्ध है। मस्तिष्क को अतीत के प्रतिबिम्बो का वाहक और स्मृति का साधन मानकर स्वतन्त्र चेतना का लोप नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क फोटो के नेगेटिव प्लेट की भाति वतमान के चित्रो को खीच सकता है, सुरक्षित रख सकता है, इस कल्पना के आधार पर उसे स्मृति का साधन भले ही माना जाए किन्तु उस स्थिति मे वह भविष्य की कल्पना नही कर सकता। उसमे केवल घटनाए अकित हो सकती हैं, पर उनके पीछे छिपे हुए कारण स्वतन्त्र चेतनात्मक व्यक्ति का अस्तित्व माने बिना नहीं जाने जा सकते। 'यह क्यो ? यह है तो ऐसा होना चाहिए, ऐसा नही होना चाहिए, यह नही हो सकता, यह वही है, इसका परिणाम यह होगा'—ज्ञान की इत्यादि क्रियाए अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। प्लेट की चित्रावली मे नियमन होता है। प्रतिबिम्बित चित्र के अतिरिक्त उसमे और कुछ भी नही होता। यह नियमन मानव-मन पर लागू नही होता। वह अतीत की धारणाओ के आधार पर बडे-बडे निष्कर्ष निकालता है, भविष्य का मार्ग निर्णीत करता है। इसलिए इस दृष्टान्त की भी मानस-क्रिया मे सगति नही होती।

तकशास्त्र और विज्ञान-शास्त्र अकित प्रतिबिम्बो के परिणाम नही। अदृष्ट-पूर्व और अश्रुतपूर्व वैज्ञानिक आविष्कार स्वतन्त्र मानस की तर्कणा के काय हैं, किसी दृष्ट-वस्तु के प्रतिबिम्ब नही। इसलिए हमे स्वतन्त्र चेतना का अस्तित्व और उसका विकास मानना ही हागा। हम प्रत्यक्ष में आनेवाली चेतना की विशिष्ट

---

१ सूत्रकृताग वृत्ति १।८।
२ विज्ञान की रूपरेखा, पृ० २६७।

क्रियाओ की किसी भी तरह अवहेलना नही कर सकते । इसके अतिरिक्त भौतिकवादी वर्गसा की आत्म-साधक युक्ति को—'चेतन और अचेतन का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?'—इस प्रश्न के द्वारा व्यर्थ प्रमाणित करना चाहते हैं। वर्गसा के सिद्धान्त की अपूर्णता का उल्लेख करते हुए वताया गया है कि—वर्गसा जैसे दार्शनिक चेतना को भौतिक तत्त्वो से अलग ही एक रहस्यमय वस्तु सावित करना चाहते हैं। ऐसा सावित करने मे उनकी सवसे जवरदस्त युक्ति है 'स्मृति'। मस्तिष्क शरीर का अग होने से एक क्षणिक परिवर्तनशील वस्तु है। वह स्मृति को भूत से वर्तमान मे लाने का वाहन नही वन सकता। इसके लिए किसी अक्षणिक—स्थायी माध्यम की आवश्यकता है। इसे वह चेतना या आत्मा का नाम देते हैं। स्मृति को अतीत से वर्तमान और परे भी ले जाने की जरूरत है, लेकिन अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से सम्बन्ध कैसे होता है, यह आसान समस्या नही है। चेतन और अचेतन इतने विरुद्ध द्रव्यो का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना तेल मे पानी मिलाने जैसा है। इसलिए इस कठिनाई को दूर करने का तरीका ढूढा जा रहा है। इससे इतना साफ हो जाता है कि चेतना या स्मृति से ही हमारी समस्या हल नही हो सकती।

सज्जीवतच्छरीरवादी वर्ग ने आत्मवादी पाश्चात्य दार्शनिको की जिस कठिनाई को सामने रखकर सुख की श्वास ली है, उस कठिनाई को भारतीय दार्शनिको ने पहले से ही साफ कर अपना पथ प्रशस्त कर लिया था। ससार-दशा मे आत्मा और शरीर—ये दोनो सर्वथा भिन्न नही होते। गौतम स्वामी के प्रश्नो का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने आत्मा और शरीर का भेदाभेद वतलाया है—"आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। शरीर रूपी भी है और अरूपी भी तथा वह सचेतन भी है और अचेतन भी।[1] शरीर और आत्मा का क्षीर-नरवत् अथवा अग्नि-लोह-पिण्डवत् तादात्म्य होता है। यह आत्मा की ससारावस्था है। इसमे जीव और शरीर का कथचित् अभेद होता है। अतएव जीव के दस परिणाम होते हैं[2] तथा इसमे वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि पौद्गलिक गुण भी मिलते हैं।[3] शरीर से आत्मा का कथचित्-भेद होता है।[4] इसलिए उसको अवर्ण, अगध, अरस और

---

१ भगवती, १३।७।४९५
आया भते । काये अन्ने काये ! गोयमा आया काये वि अन्ने वि काये । रूवि भन्ते ! काये अरूवि काये ? गोयमा ! रूवि पि काये अरूवि पि काये । एव [illegible] [illegible]-गोयमा ! सचित्ते वि काये अचित्ते वि काये ।

२ वही, १४।४।५१४

३ वही, १७।२।

४ सूत्रकृतांग, १।१।१८, वृत्ति—
भूतेभ्य कथचिदन्य एव शरीरेण सह अयोयानुवेधादनन्योऽपि ।

अस्पर्श कहा जाता है। आत्मा और शरीर का भेदाभेद-स्वरूप जानने के पश्चात् "अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन मे सम्बन्ध कैसे होता है—यह प्रश्न कोई मूल्य नही रखता। विश्ववर्त्ती चेतन या अचेनन सभी पदार्थ परिणामी-नित्य हैं। ऐकान्तिक रूप से कोई भी पदाथ मरणधर्मा या अमर नही। आत्मा स्वय नित्य भी है और अनित्य भी, सहेतुक भी है और निर्हेतुक भी। कर्म के कारण आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाए होती हैं, इसलिए वह अनित्य और सहेतुक है तथा उसके स्वरूप का कभी प्रच्यव नही होता, इसलिए वह नित्य और निर्हेतुक है। शरीरस्थ आत्मा ही भौतिक पदार्थो से सम्वद्ध होती है। स्वरूपस्थ होने के वाद वह विशुद्ध चेतवावान् और सर्वथा अमूर्त वनती है, फिर उसका कभी अचेतन पदार्थ से सम्वन्ध नही होता। वद्ध आत्मा स्थूल-शरीर-मुक्त होने पर भी सूक्ष्म-शरीर-युक्त रहती है। स्थूल शरीर मे वह प्रवेश नही करती किन्तु सूक्ष्म-शरीरवान् होने के कारण स्वय उसका निर्माण करती है। अचेतन के साथ उसका अभूतपूर्व सम्वन्ध नही होता, किन्तु अनादिकालीन प्रवाह मे वह शरीर-पर्यायात्मक एक कडी और जुड जाती है। उसमे कोई विरोध नही आता। ससारी आत्मा अनादिकाल से कम से वधा हुआ है। वह कभी भी अपने रूप मे स्थित नही, अतएव अमूर्त होने पर भी उसका मूत कर्म (अचेतन द्रव्य) के साथ सम्वन्ध होने मे कोई आपत्ति नही होती।

आत्मा पर विज्ञान के प्रयोग

वैज्ञानिको ने १०२ तत्त्व माने हैं। वे सव मूर्तिमान हैं। उन्होंने जितने प्रयोग किये हैं, वे सभी मूर्त द्रव्यो पर ही किए हैं। अमूर्त तत्त्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विपय नही वनता। उस पर प्रयोग भी नही किए जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसीलिए आज के वैज्ञानिक, भौतिक साधन-सम्पन्न होते हुए भी उसका पता नही लगा सके। किन्तु भौतिक साधनो से आत्मा का अस्तित्व नही जाना जाता तो उसका नास्तित्व भी नही जाना जाता। शरीर पर किये गए विविध प्रयोगो से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नही होती। रूस के जीव-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् पावलोक ने एक कुत्ते का दिमाग निकाल लिया।[1] उससे वह शून्यवत् हो गया। उसकी चेष्टाए स्तव्ध हो गई। वह अपने मालिक और खाद्य तक को नही पहचान पाता। फिर भी वह मरा नही। इन्जेक्शनो द्वारा उसे खाद्य तत्त्व दिया जाता रहा। इस प्रयोग पर उन्होंने यह वताया कि दिमाग ही चेतना है। उसके निकल जाने पर प्राणी मे कुछ भी चैतन्य नही रहता।

१ पावलोक के सिद्धान्त को प्रवृत्तिवाद कहते हैं। उसका कहना है कि समस्त मानसिक क्रियाए शारीरिक प्रवृत्ति के साथ होती हैं। मानसिक क्रिया और शारीरिक प्रवृत्ति अभिन्न ही नहीं किन्तु अभिन्न ही है।

इस पर हमे अधिक कहने की कोई आवश्यकता नही। यहा सिर्फ इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि दिमाग चेतना का उत्पादक नही, किन्तु वह मानस प्रवृत्तियो के उपयोग का साधन है। दिमाग निकाल लेने पर उसकी मानसिक चेष्टाए रुक गई। इसका अर्थ यह नही कि उसकी चेतना विलीन हो गई। यदि ऐसा होता तो वह जीवित भी नही रह पाता। खाद्य का स्वीकरण, रक्तसचार, प्राणापान आदि चेतनावान् प्राणी मे ही होता है। बहुत सारे ऐसे भी प्राणी हैं, जिनके मस्तिष्क होता ही नही। वह केवल मानम-प्रवृत्ति वाले प्राणी के ही होता है। वनस्पति भी आत्मा है। उनमे चेतना है, हर्प, शोक, भय आदि प्रवृतिया हैं। पर उनके दिमाग नही होता। चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है। जिसमे स्वानुभूति होती है, सुख-दु ख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है। फिर चाहे वह अपनी अनुभूति को व्यक्त कर सके या न कर सके, उसको व्यक्त करने के साधन मिलें या न मिलें। वाणी-विहीन प्राणी को प्रहार से कष्ट नही होता, यह मानना यौक्तिक नही। उसके पास बोलने का साधन नही, इसलिए वह अपना कष्ट कह नही सकता। फिर भी वह कष्ट का अनुभव कैसे नही करेगा ? विकासशील प्राणी मूक होने पर भी अग-सचालन-क्रिया से पीडा जता सकते हैं। जिनमे यह शक्ति भी नही होती, वे किसी तरह भी अपनी स्थिति को स्पष्ट नही कर सकते। इससे स्पष्ट है कि बोलना, अग-सचालन होते दीखना, चेष्टाओ को व्यक्त करना, ये आत्मा के व्यापक लक्षण नही हैं। ये केवल विशिष्ट शरीरधारी यानी त्रस-जातिगत आत्माओ के होते हैं। स्थावर जातिगत आत्माओ मे ये स्पष्ट लक्षण नही मिलते। इससे उनकी चेतनता और सुख-दु खानुभूति का लोप थोडे ही किया जा सकता है। स्थावर जीवो की कष्टानुभूति की चर्चा करते हुए शास्त्रो मे लिखा है कि—जन्मान्ध, जन्म-मूक, जन्म-बधिर एव रोग-ग्रस्त पुरुष के शरीर का कोई युवा पुरुष तलवार एव खडग् से ३२-३२ वार छेदन-भेदन करे, उस समय उसे जैसा कष्ट होता है वैसा कष्ट पृथ्वी के जीवो को उन पर प्रहार करने से होता है। तथापि सामग्री के अभाव मे वे बता नही सकते। मानव प्रत्यक्ष प्रमाण का आग्रही ठहरा। इसलिए वह इस परोक्ष तथ्य को स्वीकार करने से हिचकता है। खैर। जो कुछ हो, इस विषय पर हमे इतना-सा स्मरण कर लेना होगा कि आत्मा अरूपी चेतन सत्ता है। वह किसी प्रकार भी चर्म-चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नही हो सकती।

आज मे ढाई हजार वर्ष पहले कौशाम्बी-पति राजा प्रदेशी ने अपने जीवन के नास्तिक-काल मे शारीरिक अवयवो के परीक्षण द्वारा आत्म-प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए। किन्तु उसका वह समूचा प्रयास विफल रहा।

आज के वैज्ञानिक भी यदि वैसी ही असम्भव चेष्टाए करते रहेगे तो कुछ भी तथ्य नही निकलेगा। इसके विपरीत यदि वे चेतना का आनुमानिक एव स्वसवेदनात्मक अन्वेषण करें तो इस गुत्थी को अधिक सरलता से सुलझा सकते है।

चेतना का पूर्वरूप क्या है ?

निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति नही हो सकती—इस तथ्य को स्वीकार करनेवाले दार्शनिक चेतना तत्त्व को अनादि-अनन्त मानते हैं। दूसरी श्रेणी उन दार्शनिको की है जो निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड' की धारणा भी यही है कि जीवन का आरम्भ निर्जीव पदार्थ से हुआ। वैज्ञानिक जगत् मे भी इस विचार की दो धाराए हैं।

१ वैज्ञानिक लुई पाश्चर और टिंडल आदि निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार नही करते।

रूसी नारी वैज्ञानिक लेपेसिनस्काया, अणु-वैज्ञानिक डॉ० डेराल्ड यूरे और उनके शिष्य स्टैनले मिलर आदि निष्प्राण सत्ता से सप्राण सत्ता की उत्पत्ति मे विश्वास करते हैं।

चैतन्य को अचेतन की भाति अनुत्पन्न सत्ता या नैसर्गिक सत्ता स्वीकार करने वालो को 'चेतना का पूर्वरूप क्या है ?'—यह प्रश्न उलझन मे नही डालता।

दूसरी कोटि के लोग, जो अहेतुक या आकस्मिक चैतन्योत्पादवादी हैं, उन्हे यह प्रश्न झकझोर देता है। आदि-जीव किन अवस्थाओ मे, कब और कैसे उत्पन्न हुआ—यह रहस्य आज भी उनके लिए कल्पना-मात्र है।

लुई पाश्चर और टिंडाल ने वैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा यह प्रमाणित किया कि निर्जीव से सजीव पदार्थ उत्पन्न नही हो सकते। यह परीक्षण यो है।

'१ एक काच के गोले मे उन्होंने कुछ विशुद्ध पदार्थ रख दिया और उसके बाद धीरे-धीरे उसके भीतर से समस्त हवा निकाल दी। वह गोला और उसके भीतर रखा हुआ पदार्थ ऐसा था कि उसके भीतर कोई भी सजीव प्राणी या उसका अण्डा या वैसी ही कोई चीज रह न जाए, यह पहले ही अत्यन्त सावधानी से देख लिया गया। इस अवस्था मे रखे जाने पर देखा गया कि चाहे जितने दिन भी रखा जाएँ, उसके भीतर इस प्रकार की अवस्था मे किसी प्रकार की जीव-सत्ता प्रकट नही होती, उसी पदार्थ को बाहर निकालकर रख देने पर कुछ दिनो मे ही उनमे कीडे, मकोडे या क्षुद्राकार बीजाणु दिखाई देने लगते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाहर की हवा मे रहकर ही बीजाणु या प्राणी का अण्डा या छोटे-छोटे विशिष्ट जीव इस पदार्थ मे जाकर उपस्थित होते हैं।'

स्टैनले मिलर ने डॉ० यूरे के अनुसार जीवन की उत्पत्ति के समय जो परिस्थितिया थी, वे ही उत्पन्न कर दी। एक सप्ताह के बाद उसने अपने रासायनिक मिश्रण की परीक्षा की। उसमे तीन प्रकार के प्रोटीन मिले परन्तु एक भी प्रोटीन जीवित नही मिला। मार्क्सवाद के अनुसार चेतना भौतिक सत्ता का

गुणात्मक परिवर्तन है। पानी, पानी है। परन्तु उसका तापमान थोडा वढा दिया जाए तो एक निश्चित विन्दु पर पहुचने के वाद वह भाप वन जाता है। (ताप के इस विन्दु पर यह होता है, यह वायुमण्डल के दवाव के साथ वदलता रहता है) यदि उसका तापमान कम कर दिया जाए तो वह वर्फ वन जाता है। जैसे भाप और वर्फ का पूर्व-रूप पानी है, उसका भाप या वर्फ के रूप मे परिणमन होने पर—गुणात्मक परिवर्तन होने पर, वह पानी नही रहता। वैसे चेतना का पहले रूप क्या था जो मिटकर चेतना को पैदा कर सका ? इसका कोई सामधान नही मिलता। "पानी को गर्म कीजिए तो वहुत समय तक वह पानी ही वना रहेगा। उसमे पानी के सभी साधारण गुण मौजूद रहेगे, केवल उसकी गर्मी वढती जाएगी। इसी प्रकार पानी को ठण्डा कीजिए तो एक हद तक वह पानी ही वना रहता है लेकिन उसकी गर्मी कम हो जाती है। परन्तु एक विन्दु पर परिवर्तन का यह क्रम यकायक टूट जाता है। शीत या उष्ण विन्दु पर पहुचते ही पानी के गुण एकदम वदल जाते हैं। पानी, पानी नही रहता वल्कि भाप या वर्फ वन जाता है।"

जैसे निश्चित विन्दु पर पहुचने पर पानी भाप या वर्फ वनता है वैसे भौतिकता का कौन-सा निश्चित विन्दु है जहा पहुचकर भौतिकता चेतना के रूप मे परिवर्तित होती है। मस्तिष्क के घटक तत्त्व हैं—हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्वन, फासफोरस आदि-आदि। इनमे से कोई एक तत्त्व चेतना का उत्पादक है या सवके मिश्रण से वह उत्पन्न होती है और कितने तत्त्वो की कितनी मात्रा वनने पर वह पैदा होती है—इसका कोई ज्ञान अभी तक नही हुआ है। चेतना भौतिक तत्त्वो के मिश्रण से पैदा होती है। या वह भौतिकता का गुणात्मक परिवर्तन है, यह तव तक वैज्ञानिक सिद्धान्त नही वन सकता जव तक भौतिकता के उस चरम-विन्दु की, जहा पहुचकर यह चेतना के रूप मे परिवर्तित होता है, निश्चित जानकारी न मिले।

इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नही

आख, कान आदि नष्ट होने पर भी उनके द्वारा विज्ञात विपय की स्मृति रहती है, इसका कारण यही है कि आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है। यदि ऐसा न होता तो इन्द्रिय के नष्ट होने पर उनके द्वारा किया हुआ ज्ञान भी चला जाता। इन्द्रिय के विकृत होने पर भी पूर्व-ज्ञान विकृत नही होता। इससे प्रमाणित होता है कि ज्ञान का अधिष्ठान इन्द्रिय से भिन्न है—वह आत्मा है। इस पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय विगड जाने पर जो पूर्व-ज्ञान की स्मृति होती है, उसका कारण है मस्तिष्क, आत्मा नही। मस्तिष्क स्वस्थ होता है, तव तक स्मृति है। उसके विगड जाने पर स्मृति नही होती। इसलिए "मस्तिष्क ही ज्ञान का अधिष्ठान है।" उससे पृथक् आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता

नही।' यह तर्क भी आत्मवादी के लिए नगण्य है। जैसे इन्द्रिया बाहरी वस्तुओ को जानने के साधन है, वैसे मस्तिष्क इन्द्रियज्ञान विषयक चिन्तन और स्मृति का साधन है। उसके विकृत होने पर यथार्थ स्मृति नही होती। फिर भी पागल व्यक्ति मे चेतना की क्रिया चालू रहती है, वह उससे भी परे की शक्ति की प्रेरणा है। साधनो की कमी होने पर आत्मा की ज्ञान-शक्ति विकल हो जाती है, नष्ट नही होती। मस्तिष्क विकृत हो जाने पर अथवा उसे निकाल देने पर भी खाना-पीना, चलना-फिरना, हिलना-डुलना, श्वास-उच्छ्वास लेना आदि-आदि प्राण-क्रियाए होती हैं। वे यह बताती हैं कि मस्तिष्क के अतिरिक्त जीवन की कोई दूसरी शक्ति है। उसी शक्ति के कारण शरीर के अनुभव और प्राण की क्रिया होती है। मस्तिष्क से चेतना का सम्बन्ध है। इसे आत्मवादी भी स्वीकार नही करते। 'तन्दुल-वेयालिय' के अनुसार इस शरीर मे १६० ऊर्ध्वगामिनी और रसहारिणी शिराए हैं, जो नाभि से निकलकर ठेठ सिर तक पहुचती हैं। वे स्वस्थ होती हैं, तब तक आख, कान, नाक और जीभ का बल ठीक रहता है।[1] भारतीय आयुर्वेद के मत मे भी मस्तक प्राण और इन्द्रिय का केन्द्र माना गया है—

"प्राणा प्राणभृता यत्र, तथा सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गाना, शिरस्तदभिधीयते ॥—चरक

मस्तिष्क चैतन्य सहायक धमनियो का जाल है। इसलिए मस्तिष्क की अमुक शिरा काट देने से अमुक प्रकार की अनुभूति न हो, इससे यह फलित नही होता कि चेतना मस्तिष्क की उपज है।

कृत्रिम मस्तिष्क चेतन नही

कृत्रिम मस्तिष्क, जिनका बड़े गणित के लिए उपयोग होता है, चेतनायुक्त नही है। वे चेतना-प्रेरित कार्यकारी यन्त्र हैं। उनकी मानव मस्तिष्क से तुलना नही की जा सकती। वास्तव मे ये मानव-मस्तिष्क की भाति सक्रिय और बुद्धियुक्त नही होते। ये केवल शीघ्र और तेजी से काम करनेवाले होते हैं। यह मानव-मस्तिष्क की सुषुम्ना और मस्तिष्क स्थित श्वेत मज्जा के मोटे काम ही कर सकता है और इस अर्थ मे यह मानव-मस्तिष्क का एक शताश भी नही। मानव-मस्तिष्क चार भागो मे बटा हुआ है—

१ दीर्घ-मस्तिष्क—जो सवेदना, विचार-शक्ति और स्मरणशक्ति इत्यादि को प्रेरणा देता है।

---

१ तन्दुलवैयालिय—इमम्मि सरीरए सठिसिरासय नाभिप्पभवाण उड्ढगामिणाणं सिर उपगयाण जा उ रसहरणिओत्ति णुच्चइ। जासिं ण निरुवघाएण चक्खूसोयघाणजिह्वावल भवइ।

२ लघु-मस्तिष्क ।

३ सेतु ।

४ सुषुम्ना ।

यान्त्रिक मस्तिष्क केवल सुषुम्ना के ही कार्यों को कर सकता है, जो मानव-मस्तिष्क का क्षुद्रतम अश है ।

यान्त्रिक-मस्तिष्क का गणन-यन्त्र लगभग मोटर मे लगे मीटर की तरह होता है, जिसमे मोटर के चलने की दूरी मीलो मे अकित होती चलती है। इस गणन-यन्त्र का कार्य एक और शून्य अक को जोडना अथवा एकत्र करना है । यदि गणन-यन्त्र से इन अको को निकाला जाता है तो इससे घटाने की क्रिया होती है और जोड-घटाव की दो क्रियाओ पर ही सारा गणित आधारित है ।

प्रदेश और जीवकोष

आत्मा असख्य-प्रदेशी है। एक, दो, तीन प्रदेश जीव नही होते। परिपूर्ण असख्य प्रदेश के समुदय का नाम जीव है। वह असख्य जीवकोषो का पिण्ड नही है। वैज्ञानिक असख्य सेल्स (Cells)—जीवकोषो के द्वारा प्राणी-शरीर और चेतन का निर्माण होना बतलाते हैं। वे शरीर तक सीमित हैं। शरीर अस्थायी है—एक पौद्गलिक अवस्था है। उसका निर्माण होता है और वह रूपी है, इसलिए अगोपाग देखे जा सकते हैं। उनका विश्लेषण किया जा सकता है। आत्मा स्थायी और अभौतिक द्रव्य है। वह उत्पन्न नही होता और वह अरूपी है, किसी प्रकार भी इन्द्रिय-शक्ति से देखा नही जाता। अतएव जीव-कोषो के द्वारा आत्मा की उत्पत्ति बतलाना भूल है। प्रदेश भी आत्मा के घटक नही हैं। वे स्वय आत्मरूप हैं। आत्मा का परिमाण जानने के लिए उसमे उनका आरोप किया गया है। यदि वे वास्तविक अवयव होते तो उनमे सगठन, विघटन या न्यूनाधिक्य हुए बिना नही रहता। वास्तविक प्रदेश केवल पौद्गलिक स्कन्धो मे मिलते हैं। अतएव उनमे सघात या भेद होता रहता है। आत्मा अखण्ड द्रव्य है। उसमे सघात-विघात कभी नही होते और न उसके एक-दो-तीन आदि प्रदेश जीव कहे जाते हैं। आत्मा कृत्स्न, परिपूर्ण लोकाकाश तुल्य प्रदेश परिमाण वाली हैं। एक तन्तु भी पट का उपकारी होता है। उसके बिना पट पूरा नही बनता। परन्तु एक तन्तु पट नही कहा जाता। एक रूप मे समुदित तन्तुओ का नाम पट है। वैसे ही जीव का एक प्रदेश जीव नही कहा जाता। असख्य चेतन प्रदेशो का एक पिण्ड है, उसी का नाम जीव है।

अस्तित्व-सिद्धि के दो प्रकार

प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व दो प्रकार से सिद्ध होता है—साधक प्रमाण से और बाधक प्रमाण के अभाव से। जैसे साधक प्रमाण अपनी सत्ता के साध्य का

अस्तित्व सिद्ध करना है, ठीक उसी प्रकार बाधक प्रमाण न मिलने से भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक प्रमाण अनेक मिलते हैं, किन्तु बाधक प्रमाण एक भी ऐसा नही मिलता, जो आत्मा का निषेधक हो। इससे जाना जाता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। हा, यह निश्चित है कि इन्द्रियो के द्वारा उसका ग्रहण नही होता। फिर भी आत्मा के अस्तित्व मे यह बाधक नही, क्योकि बाधक वह बन सकता है, जो उस विषय को जानने मे समर्थ हो और अन्य पूरी सामग्री होने पर भी उसे न जान सके। जैसे—आख घट, पट आदि को देख सकती है, पर जिस समय उचित सामीप्य एव प्रकाश आदि सामग्री होने पर भी वह उनको न देख सके, तब वह उस विषय की बाधक मानी जा सकती है। इन्द्रियो की ग्रहण-शक्ति परिमित है। वे सिर्फ पार्श्ववर्ती और स्थूल पौद्गलिक पदार्थों को ही जान सकती हैं। आत्मा अपौद्गलिक (अभौतिक) पदार्थ है। इसलिए इन्द्रियो द्वारा आत्मा को न जान सकना नही कहा जा सकता। यदि हम बाधक प्रमाण का अभाव होने से किसी पदार्थ का सद्भाव मानें तब तो फिर पदार्थ-कल्पना की बाढ-सी आ जाएगी। उसका क्या उपाय होगा? ठीक है, यह सदेह हो सकता है, किन्तु बाधक प्रमाण का अभाव साधक प्रमाण के द्वारा पदार्थ का सद्भाव स्थापित कर देने पर ही कार्यकर होता है।

आत्मा के साधक प्रमाण मिलते हैं, इसीलिए उसकी स्थापना की जाती है। उस पर भी यदि सन्देह किया जाता है, तब आत्मवादियो को वह हेतु भी अनात्मवादियो के सामने रखना जरूरी हो जाता है कि आप यह तो बतलाए कि 'आत्मा नही है' इसका प्रमाण क्या है? 'आत्मा है' इसका प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना हमारे प्रत्यक्ष है। उसके द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का भी सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे—धूम को देखकर मनुष्य अग्नि का ज्ञान कर लेता है, आतप को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है इसका कारण यही है कि धुआ अग्नि का तथा आतप सूर्योदय का अविनाभावी है—उनके बिना वे निश्चितरूपेण नही होते। चेतना भूत-समुदाय का कार्य या भूत-धर्म है, यह नही माना जा सकता क्योकि भूत जड है। भूत और चेतना मे अत्यन्ताभाव—त्रिकालवर्ती विरोध होता है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नही बन सकता। लोक-स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए, ऐसा न कभी हुआ, न होता है और न कभी होगा। इसलिए हमे आत्मा की जड वस्तु से भिन्न सत्ता स्वीकार करनी होती है। यद्यपि कई विचारक आत्मा को जड पदार्थ का विकसित रूप मानते हैं, किन्तु यह सगत नही। विकास अपने धर्म के अनुकूल ही होता है और हो सकता है। चैतन्यहीन जड पदार्थ से चेतनावान् आत्मा का उपजना विकास नही कहा जा सकता। यह तो सर्वथा असत्-कार्यवाद है। इसलिए जडत्व और चेतनत्व—इन दो विरोधी

महाशक्तियो को एक मूल तत्त्वगत न मानना ही युक्तिसगत है।

स्वतन्त्र सत्ता का हेतु

द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यो मे न मिलनेवाला गुण जिसमे मिले, वह स्वतन्त्र द्रव्य होता है। सामान्यगुण जो कई द्रव्यो मे मिले, उनसे पृथक् द्रव्य की स्थापना नही होती। चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह उसके सिवाय और कही नही मिलता। अतएव आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है और उसमे पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ-क्रियाकारित्व और सत्—दोनो घटित होते हैं। पदार्थ वही है जो प्रति क्षण अपनी क्रिया करता रहे। अथवा पदार्थ वही है जो सत् हो यानी पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओ को त्यागता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओ को प्राप्त करता हुआ, भी अपने स्वरूप को न त्यागे। आत्मा मे जानने की क्रिया निरन्तर होती रहती है। ज्ञान का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नही रुकता और वह (आत्मा) उत्पाद, व्यय के स्रोत मे बहती हुई भी ध्रुव है। बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओ एव मनुष्य, पशु आदि शरीरो का परिवर्तन होने पर भी उसका चैतन्य अक्षुण्ण रहता है। आत्मा मे रूप, आकार एव वजन नही, फिर वह द्रव्य ही क्या ? यह निराधार शका है। क्योकि वे सब पुद्गल द्रव्य के अवान्तर-लक्षण हैं। सब पदार्थों मे उनका होना आवश्यक नही होता।

पुनर्जन्म

मृत्यु के पश्चात् क्या होगा ? क्या हमारा अस्तित्व स्थायी है या वह मिट जाएगा ? इस प्रश्न पर अनात्मवादी का उत्तर यह है कि वर्तमान जीवन समाप्त होने पर कुछ भी नही है। पाच भूतो से प्राण बनता है। उनके अभाव मे प्राण-नाश हो जाता है—मृत्यु हो जाती है। फिर कुछ भी बचा नही रहता। आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं। इसलिए उन्होने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है। सक्षेप मे यही पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है।

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है—यह विश्व की स्थिति है। जीव अपने ही प्रमाद मे भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं।[1] पुनर्जन्म कर्म-सगी जीवो के ही होता है।[2]

आयुष्य-कर्म के पुद्गल-परमाणु जीव मे ऊची-नीची, तिरछी-लम्बी और

---

१ आयारो, १।२।६
२ भगवती, २।५

छोटी वडी गति की शक्ति उत्पन्न करते हैं।[1] इसी के अनुसार जीव नए जन्म-स्थान मे जा उत्पन्न होते हैं।

राग-द्वेष कर्म-वन्ध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परम्परा के कारण हैं। इस विषय मे सभी क्रियावादी एकमत हैं। भगवान् महावीर के शब्दो मे—"क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोपण देनेवाले हैं।[2] गीता कहती है—जैसे फटे हुए कपडे को छोडकर मनुष्य नया कपडा पहनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोडकर प्राणी मृत्यु के वाद नए शरीर को धारण करते हैं।"[3] यह आवर्तन प्रवृत्ति से होता है।"[4] महात्मा वुद्ध ने अपने पैर मे चुभनेवाले काटे को पूर्वजन्म मे किए हुए प्राणीवध का विपाक वताया।

नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं। उसका कारण पूर्वजन्म की स्मृति है।[5] नव-शिशु स्तन-पान करने लगता है। यह पूर्वजन्म मे किये हुए आहार के अभ्यास से ही होता है।[6] जिस प्रकार युवक का शरीर वालक शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, जैसे ही वालक का शरीर पूर्वजन्म के वाद मे होनेवाली अवस्था है। यह देह-प्राप्ति की अवस्था है। इसका जो अधिकारी है, वह आत्मा —देही है।[7]

वर्तमान के सुख-दुःख अन्य सुख-दुःखपूर्वक होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव वही कर सकता है, जो पहले उनका अनुभव कर चुका है। नव शिशु को जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह भी पूर्व अनुभव-युक्त है। जीवन का मोह और मृत्यु का भय पूर्ववद्ध सस्कारो का परिणाम है। यदि पूवजन्म मे इनका अनुभव न हुआ होता तो नवोत्पन्न प्राणियो मे ऐसी वृत्तिया नही मिलती। इस प्रकार भारतीय आत्मवादियो ने विविध युक्तियो से पूर्वजन्म का समर्थन किया है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस विषय मे मौन नही हैं।

प्राचीन दार्शनिक प्लेटो ने कहा है कि—"आत्मा सदा अपने लिए नए-नए वस्त्र बुनती है तथा आत्मा मे एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव रहेगी और

---

१ ठाण, ६।४०
२ दसवेआलिय, ८।३६
३ गीता, २।२२
४ वही, ८।२६
५ न्यायसूत्र, ३।१।११
६ वही, ३।१।१२
७ विशेषावश्यक भाष्य, गाथा—
वाल सरीर देह तरपुव्व इंदिया इमत्ताओ।
जुवदेहो वालादिव स जस्स देहो स देहित्ति

अनेक बार जन्म लेगी।"[1]

नवीन दार्शनिक शोपनहार के शब्दो मे पुनर्जन्म निसदिग्ध तत्त्व है। जैसे—"मैंने यह भी निवेदन किया कि जो कोई पुनर्जन्म के बारे मे पहले-पहल सुनता है, उसे भी वह स्पष्टरूपेण प्रतीत हो जाता है।"[2]

पुनर्जन्म की अवहेलना करनेवाले व्यक्तियो की प्राय दो प्रधान शकाए सामने आती हैं

१ यदि हमारा पूर्वभव होता तो हमे उसकी कुछ-न-कुछ तो स्मृतिया होती ?

२ यदि दूसरा जन्म होता तो आत्मा की गति एव आगति हम क्यो नही देख पाते ?

पहली शका का हम अपने वाल्य-जीवन से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनावलिया हमे स्मरण नही आती तो क्या इसका अर्थ होगा कि हमारी शैशव-अवस्था हुई नही थी ? एक-दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाए स्मरण नही होती, तो भी अपने बचपन मे किसी को सन्देह नही होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पूर्वजन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा मे उडा सकते हैं ? पूर्वजन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जागृत हो जाए। जिसे 'जाति-स्मृति ज्ञान' (पूर्वजन्म-स्मरण)हो जाता है, वह अनेक जन्मो की घटनाओ का साक्षात्कार कर सकता है।

दूसरी शका एक प्रकार से नही के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता। उसके दो कारण हैं—

१ वह अमूर्त है, दृष्टिगोचर नही होता।

२ वह सूक्ष्म है, इसलिए शरीर मे प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नही होता।

नही दीखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नही होता। सूर्य के प्रकाश मे नक्षत्र-गण नही देखा जाता। इससे उसका अभाव थोडे ही माना जा सकता है ? अन्धकार मे कुछ नही दीखता, क्या यह मान लिया जाए कि यहा कुछ भी नही है ? ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नही होता।

---

1 The soul always weaves her garment a-new—"The soul has a natural strength which will hold out and be born many times

2 I have also remarked that it is atonce obvious to every one who hears of it (rebirth) for the first time

अब हमे पुनर्जन्म की सामान्य स्थिति पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिए। दुनिया मे कोई भी ऐसा पदार्थ नही है, जो अत्यन्त-असत् मे सत् बन जाए—जिसका कोई भी अस्तित्व नही, वह अपना अस्तित्व बना ले। अभाव से भाव एव भाव से अभाव नही होता, तब फिर जन्म और मृत्यु, नाश और उत्पाद, यह क्या है ? परिवर्तन। प्रत्येक पदार्थ मे परिवर्तन होता है। परिवर्तन से पदार्थ एक अवस्था को छोडकर दूसरी अवस्था मे चला जाता है किन्तु न तो वह सर्वथा नष्ट होता है और न सवथा उत्पन्न भी। दूसरे-दूसरे पदार्थों मे भी परिवर्तन होता है, वह हमारे सामने है। प्राणियो मे भी परिवर्तन होता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं। जन्म का अथ अत्यन्त नई वस्तु की उत्पत्ति नही और मृत्यु से जीवका अत्यन्त उच्छेद नही होता। केवल वैसा ही परिवतन है, जैसे यात्री एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान मे चले जाते हैं। यह एक ध्रुव-सत्य है कि सत्ता से असत्ता एव असत्ता से सत्ता कभी नही होती। परिवर्तन को जोडनेवाली कडी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तर-जन्म दोनो उसकी अवस्थाए हैं। वह दोनो मे एकरूप रहती है। अतएव अतीत और भविष्य की घटनावलियो की शृखला जुडती है। शरीरशास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु च्युत हो जाते हैं—सब अवयव नए बन जाते हैं। इस सर्वांगीण परिवर्तन मे आत्मा का लोप नही होता। तब फिर मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व कैसे मिट जाएगा ?

अन्तर-काल

प्राणी मरता है और जन्मता है, एक शरीर को छोडता है और दूसरा शरीर बनाता है। मृत्यु और जन्म के बीच का समय अन्तर-काल कहा जाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार समय तक का है। अन्तर-काल मे स्थूल शरीर-रहित आत्मा की गति होती है। उसका नाम 'अन्तराल-गति' है। वह दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। मृत्यु-स्थान से जन्म-स्थान सरल रेखा मे होता है, वहा आत्मा की गति ऋजु होती है। और वह विषम रेखा मे होता है, वहा गति वक्र होती है। ऋजु गति मे सिर्फ एक समय लगता है। उसमे आत्मा को नया प्रयत्न नही करना पडता। क्योकि जब वह पूर्व-शरीर छोडता है तब उसे पूर्व-शरीर-जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नए जन्म-स्थान मे पहुच जाता है। वक्रगति मे घुमाव करने पडते हैं। उनके लिए दूसरे प्रयत्नो की आवश्यकता होती है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देह-जनित वेग मन्द पड जाता है और सूक्ष्म शरीर (कार्मण शरीर) द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। इसलिए उसमे समय सख्या बढ जाती है। एक घुमाव वाली वक्रगति मे दो समय, दो घुमाव वाली मे तीन समय और तीन घुमाव वाली मे चार समय लगते हैं। इसका तर्क-सगत कारण लोक-सस्थान है। सामान्यत यह लोक ऊर्ध्व, अध , तिर्यग्—इन तीन

आत्मा मे ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति अन्तरालगति मे भी होती है। त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रिया नहीं होती। उसे स्व-सवेदन का अनुभव होता है। किन्तु सहायक इन्द्रियो के अभाव मे इन्द्रिय-शक्ति का उपयोग नही होता। सहायक इन्द्रियो का निर्माण स्थूल-शरीर-रचना के समय इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति के अनुपात पर होता है। एक इन्द्रिय की योग्यतावाले प्राणी की शरीर-रचना मे त्वचा के सिवाय और इन्द्रियो की आकृतिया नही बनती। द्वीन्द्रिय-आदि जातियो मे क्रमश रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र की रचना होती है। दोनो प्रकार की इन्द्रियो के सहयोग से प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करते हैं।

स्व-नियमन

जीव स्वय-चालित है। स्वय-चालित का अर्थ पर-सहयोग-निरपेक्ष नही, किन्तु सचालक-निरपेक्ष है। जीव की प्रतीति उसी के उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम से होती है।[1] उत्थान आदि शरीर से उत्पन्न हैं। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। क्रम इस प्रकार बनता है—

जीवप्रभव शरीर,
शरीरप्रभव वीर्य,
वीर्यप्रभव योग (मन, वाणी और कर्म)।[2]

वीर्य दो प्रकार का होता है—लब्धि-वीर्य और करणवीर्य। लब्धि-वीर्य सत्तात्मक शक्ति है। उसकी दृष्टि से सब जीव सवीर्य होते हैं। करण-वीर्य क्रियात्मक शक्ति है। यह जीव और शरीर दोनो के सहयोग से उत्पन्न होती है।[3]

जीव मे सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्म का सग्रह या स्वीकरण करता है। वह पौद्गलिक कर्म का सग्रहण करता है, इसलिए उससे प्रभावित होता है।

कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व एक ही शृखला के दो सिरे हैं। कर्तृत्व स्वय का और फल-भोक्तृत्व के लिए दूसरी सत्ता का नियमन—ऐसी स्थिति नहीं बनती।

फल-प्राप्ति इच्छा-नियन्त्रित नही किन्तु क्रिया-नियन्त्रित है। हिंसा, असत्य आदि क्रिया के द्वारा कर्म-पुद्गलो का सचय कर जीव भारी बन जाते हैं।[4] इनकी

---

१ भगवती २।१०।

२ वही, १।३
से ण भते! जीए किं पवहे? गोयमा! वीरियप्पवहे। से ण भते! वीरिए किं पवहे? गोयमा! सरीरप्पवहे। से ण भते! सरीरे किं पवहे? गोयमा! जीवप्पवहे!

३ वही, १।८।

४ वही, १।९।

विरक्ति करनेवाला जीव कर्म-पुद्गलो का संचय नही करता, इसलिए वह भारी नही बनता।[1]

जीव कर्म के भार से जितना अधिक भारी होता है, वह उतनी ही अधिक निम्नगति मे उत्पन्न होता है[2] और हलका ऊर्ध्वगति मे।[3] गुरुकर्मा जीव इच्छा न होने पर भी अधोगति मे जायेगा। कर्म-पुद्गलो को, उसे कहां ले जाना है, यह ज्ञान नही होता। किन्तु पर भव-योग्य आयुष्य कर्म-पुद्गलो का जो सग्रह हुआ होता है, वह पकते ही अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देता है। पहले जीवन यानी वर्तमान आयुष्य के कर्म-परमाणुओ की क्रिया समाप्त होते ही अगले आयुष्य के कर्म-पुद्गल अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते है। दो आयुष्य के कर्म-पुद्गल जीव को एक साथ प्रभावित नही करते।[4] वे पुद्गल जिस स्थान के उपयुक्त बने हुए होते है, उसी स्थान पर जीव को घसीट ले जाते है।[5] उन पुद्गलो की गति उनकी रासायनिक क्रिया (रस-बंध या अनुभाव-बंध) के अनुरूप होती है। जीव उनसे बद्ध होता है, इसलिए उसे भी वही जाना पडता है। इस प्रकार एक जन्म से दूसरे जन्म मे गति और आगति स्व-नियमन से ही होती है।

---

१ भगवती, ११६।

२ वही, ६।३२।

३ वही, ६।३२।

४ भगवती ५,३

एगे जीवे एगेण समएणं एग आउय पडिसवेदइ—इहभवियाउय वा परभवियाउय वा।

५ वही, ५।३, २५।८।

७

कर्मवाद

कर्म

भारत के सभी आस्तिक दर्शनो मे जगत् की विभक्ति[1], विचित्रता[2] और साधन-तुल्य होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है[3]। उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या', वौद्ध 'वासना', साख्य 'क्लेश' और न्यायवैशेपिक 'अदृष्ट' तथा जैन 'कर्म' कहते हैं[4]। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशमात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओ पर विचार करते-करते वहुत आगे वढ जाते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मो का आत्मा पर सस्कार पडता है, वह अदृष्ट है। जव तक उसका फल नही मिल जाता, तव तक वह आत्मा के साथ रहता है, उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है[5]। कारण कि यदि ईश्वर कम-फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाए। साख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है[6]। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियो का प्रकृति पर सस्कार

---

१ भगवती, १२।५

कम्मओण भते ! जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभाव परिणमई।

कम्मओण जीवे णो अकम्मओ विभत्तिभाव परिणमई॥

२ अभिधम कोप, ४।१

कमज लोकवैचित्र्य चेतना मानस च तत्।

३ विशेपावश्यक भाष्य,

जो तुल्लसाहणाण फले विसेसो ण सो विणा हेउ कज्जतणओ गोयमा ! घडोव्व हेऊय सो कम्म।

४ जैन सिद्धान्त दीपिका, ४।१

आत्मप्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गला कम।

५ न्यायसूत्र, ४।१

इश्वर कारण पुरुपकर्माफलस्य दर्शनात।

६ सांख्यसूत्र, ५।२५

अन्त,करणधमत्व धर्मादीनाम्।

पडता है। उस प्रकृतिगत-सस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धो ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य-कारण-भाव के रूप मे सुख-दु ख का हेतु बनती है।

जैन-दर्शन कर्म को स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओ के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक मे जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियो के द्वारा उसके साथ बध जाते हैं, यह उनकी बध्यमान (बध) अवस्था है। बधने के बाद उनका परिपाक होता है, वह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दु खरूप तथा आवरणरूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनो मे कर्मों की क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाए बताई गई हैं। वे ठीक क्रमश बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक है। बन्ध के प्रकृति, स्थिति, विपाक और प्रदेश—ये चार प्रकार हैं।

उदीरणा—कर्म का शीघ्र फल मिलना, उद्वर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना, अपवर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक मे कमी होना, सक्रमण—कर्म की सजातीय प्रकृतियो का एक-दूसरे के रूप मे बदलना, आदि-आदि अवस्थाए जैनो के कर्म-सिद्धान्त के विकास की सूचक है।

बन्ध के कारण क्या हैं ? बधे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित ? कर्म जिस रूप मे बधते है उसी रूप मे उनका फल मिलता है या अन्यथा ? धर्म करनेवाला दु खी और अधर्म करनेवाला सुखी कैसे ? आदि-आदि विषयो पर जैन ग्रन्थकारो ने विस्तृत विवेचन किया है।

आत्मा का आन्तरिक वातावरण

पदार्थ के असयुक्त रूप मे शक्ति का तारतम्य नही होता। दूसरे पदार्थ से सयुक्त होने पर ही उसकी शक्ति न्यून या अधिक बनती है। दूसरा पदार्थ शक्ति का बाधक होता है, वह न्यून हो जाती है। बाधा हटती है, वह प्रकट हो जाती है। सयोग-दशा मे यह ह्रास-विकास का क्रम चलता ही रहता है। असयोग-दशा मे पदार्थ का सहज रूप प्रकट हो जाता है, फिर उसमे ह्रास या विकास कुछ भी नही होता।

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म है। कर्म के सयोग मे वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय (असयोग) से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आन्तरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, सीधा नही। शुद्ध या कर्म-मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नही होता। अशुद्ध या कर्म-बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है। वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। शुद्धि की मात्रा बढती है, बाहरी वातावरण का असर कम होता है। शुद्धि की

सामग्री प्राप्त होती है, बाहरी वातावरण बन जाता है। परिस्थिति ही प्रधान होती तो शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ पर समान असर होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है। परिस्थिति उत्तेजक है, कारक नहीं।

विजातीय सम्बन्ध विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म-पुद्गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है, वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुंच कर्म-संघटना तक ही है। उससे कर्म-संघटना प्रभावित होती है, फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म-संस्थान को प्रभावित न कर सके, उसका आत्मा पर कोई असर नहीं होता।

बाहरी परिस्थिति सामूहिक होती है। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है। यही कर्म की सत्ता का स्वयंभू-प्रमाण है।

परिस्थिति

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सह-स्थिति का नाम ही परिस्थिति है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है, यह एकांगी-दृष्टिकोण मिथ्या है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ होता है, यह सापेक्ष-दृष्टिकोण सत्य है।

वर्तमान के जैन साहित्य में काल-मर्यादा, क्षेत्र-मर्यादा, स्वभाव-मर्यादा, पुरुषार्थ-मर्यादा और नियति-मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त-दर्शन है, वैसा कर्म-मर्यादा का नहीं रहा है। जो कुछ होता है, वह कर्म से ही होता है—ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद सम्यक् नहीं है। आत्म-गुण का विकास कर्म से नहीं होता, कर्म के विलय से होता है। परिस्थितिवाद के एकान्त आग्रह के प्रति जैन दृष्टि यह है—रोग देश काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देश-काल की स्थिति से कर्म की उत्तेजना (उदीरणा) होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते हैं। इस प्रकार जितनी भी बाहरी परिस्थितियां हैं, वे सब कर्म-पुद्गलों में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। वह संयोग-कृत होता है तब विभाव रूप होता है और यदि दूसरे के संयोग से नहीं होता, तब उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहां संस्कार या वासनारूप मानते हैं, वहां जैन-दर्शन

उसे पौद्गलिक मानता है। 'जिस वस्तु का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नही वनता।' आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दु ख का हेतु कैसे वने ?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दु खो का हेतु है, गुणो का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नही हो मकता।

वेडी से मनुष्य वधता है। सुरापान से पागल वनता है। क्लोरोफार्म से वेभान वनता है। ये सव पौद्गलिक वस्तुए हैं। ठीक इसी प्रकार कर्म के सयोग से भी आत्मा की ये दशाए वनती है। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। ये वेडी आदि वाहरी वन्धन अल्प सामर्थ्य वाली वस्तुए हैं। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म-स्कन्ध हैं। इसीलिए उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओ का जीवात्मा पर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पडता है।

शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है तो उससे वननेवाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री से सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहार आदि से दु खानुभूति होती है। आहार और शस्त्र पौद्गलिक है, इसी प्रकार सुख-दु ख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

वन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्गल अभिन्न हैं—एकमेक है। लक्षण की अपेक्षा वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त है और पुद्गल मूर्त।

इन्द्रिय के विपय स्पर्श आदि मूर्त है। उमको भोगनेवाली इन्द्रिया मूर्त है। उनसे होनेवाला सुख-दु ख मूर्त है। इसलिए उनके कारण-भूत कर्म भी मूर्त हैं।[१]

मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से वधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाश-रूप हो जाता है।[२]

गीता, उपनिपद् आदि मे अच्छे-वुरे कार्यो को जैसे कर्म कहा है, वैसे जैन-दर्शन मे कर्म-शब्द क्रिया का वाचक नही है। उसके अनुसार वह (कर्म-शव्द) आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

आत्मा की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति

१, २ पचास्तिकाय, १४१, १४२

जम्हा कम्मस्स फल, विसय फासेहि भुजदे णियय।
जीवेण सुह दुक्ख, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि
मुत्तो फासदि मुत्त, मुत्तो मुत्तेण वधमणुहवदि।
जीवो मुत्ति विरहिदो, गाहिद तेतेहिं उग्गहदि

भगवान्—वीर्य से।

गौतम—वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—शरीर से।

गौतम—शरीर किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—जीव से।[1]

तात्पर्य यह है कि जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (काक्षा-मोहनीय) का वन्ध करता है। स्थानाग और प्रज्ञापना मे कर्मवन्ध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण वतलाए हैं।[2]

बध

माकदिक-पुत्र ने पूछा—"भगवन्! भाव-बध कितने प्रकार का है?"

भगवान् ने कहा—"माकदिक-पुत्र! भाव-बध दो प्रकार का है—

१ मूल-प्रकृति-बध।

२ उत्तर-प्रकृति-बध।"[3]

बध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। वह चार प्रकार की है—

१ प्रकृति।

२ स्थिति।

३ अनुभाग।

४ प्रदेश।[4]

१ प्रदेश

वन्ध का अर्थ है—आत्मा और कर्म का सयोग और कर्म का निर्मापण—व्यवस्थाकरण।[5] ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्मप्रदेशो के साथ एकीभूत होते हैं। यह प्रदेश-बध (या एकीभाव की व्यवस्था) है।

२ प्रकृति

वे कर्म-परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों मे वट जाते हैं। इसका नाम प्रकृति-बध (स्वभाव-व्यवस्था) है। कर्म की मूल प्रकृतिया (स्वभाव) आठ हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य,

---

१ भगवती, १।२।३४।

२ (क) ठाण, ४।६२।

(ख) प्रज्ञापना, २३।१।२९०।

३ भगवती, १८।३।

४ समावाओ, ४।५।

५ स्थानागवृत्ति, पत्र ३९५ वन्धनं—निर्मापणम्।

६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय।[1]

सक्षिप्त-विभाग—

१	ज्ञानावरण	(क) देशज्ञानावरण	(ख) सव-ज्ञानावरण
२	दर्शनावरण	(क) देश-दर्शनावरण	(ख) सर्व-दर्शनावरण
३	वेदनीय	(क) सात-वेदनीय	(ख) असात-वेदनीय
४	मोहनीय	(क) दर्शन-मोहनीय	(ख) चारित्र-मोहनीय
५	आयुष्य	(क) अद्धायु	(ख) भवायु
६	नाम	(क) शुभ-नाम	(ख) अशुभ-नाम
७	गोत्र	(क) उच्च-गोत्र	(ख) नीच-गोत्र
८	अन्तराय	(क) प्रत्युत्पन्न-विनाशी	(ख) पिहित आगामीपथ[2]

३ स्थिति

यह काल-मर्यादा की व्यवस्था है। प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकता है। स्थिति पकने पर वह आत्मा से अलग जा पडता है। यह स्थिति-बध है।

४ अनुभाग

यह फलदान-शक्ति की व्यवस्था है। इसके अनुसार उन पुद्गलो मे रस की तीव्रता और मदता का निर्माण होता है। यह अनुभाग-बध है।

बध के चारो प्रकार एक साथ ही होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारो प्रधान अग हैं। आत्मा के साथ कर्म पुद्गलो के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से 'प्रदेश-बध' सबसे पहला है। इसके होते ही उनमे स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है। इसके बाद अमुक-अमुक स्वभाव, स्थिति और रस-शक्ति वाला पुद्गल-समूह अमुक-अमुक परिमाण मे बट जाता है। यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश-बध है। बध के वर्गीकरण का मूल बिन्दु स्वभाव-निर्माण है। स्थिति और रस का निर्माण उसके साथ-साथ हो जाता है। परिमाण-विभाग इसका अन्तिम विभाग है।

कर्म स्वरूप और कार्य

इनमे चार कोटि की पुद्गल-वर्गणाए चेतना और आत्म-शक्ति की आवारक, विकारक और प्रतिरोधक हैं। चेतना के दो रूप हैं—

१ ज्ञान—जानना, वस्तु-स्वरूप का विमर्श करना।

२ दर्शन—साक्षात् करना, वस्तु का स्वरूप-ग्रहण।

---

१ प्रज्ञापना पद, २३।

२ कर्मों के विस्तृत विभाग के लिए देखें—परिशिष्ट ३।

ज्ञान और दर्शन के आवारक पुद्गल क्रमश 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' कहलाते हैं।

आत्मा को विकृत बनानेवाले पुद्गलो की सज्ञा 'मोहनीय' है।

आत्म-शक्ति का प्रतिरोध करनेवाले पुद्गल अन्तराय कहलाते हैं। ये चार घात्य-कर्म हैं।

वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—ये चार अघात्य-कर्म हैं।

घात्य कर्म के क्षय के लिए आत्मा को तीव्र प्रयत्न करना होता है। ये चारो कर्म अशुभ ही होते हैं। इनके आशिक क्षय या उपशम से आत्मा का स्वरूप आशिक मात्रा मे उदित होता है। इनके पूर्ण क्षय मे आत्म-स्वरूप का पूर्ण विकास होता है।

वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार कर्म शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के होते हैं। अशुभ-कर्म अनिष्ट-सयोग और शुभ-कर्म इष्ट-सयोग के निमित्त बनते हैं। इन दोनो का जो सगम है, वह ससार है। पुण्य-परमाणु सुख-सुविधा के निमित्त बन सकते हैं, किन्तु उनसे आत्मा की मुक्ति नही होती। ये पुण्य और पाप—दोनो बन्धन हैं। मुक्ति इन दोनो के क्षय से होती है।

वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं—सात-वेदनीय और असात-वेदनीय। ये क्रमश सुखानुभूति और दु खानुभूति के निमित्त बनते हैं। इनका क्षय होने पर अनन्त आत्मिक आनन्द का उदय होता है।

नाम-कर्म के दो प्रकार हैं—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नाम के उदय से व्यक्ति सुन्दर, आदेयवचन, यशस्वी और विशाल व्यक्तित्व वाला होता है तथा अशुभ नाम के उदय से इसके विपरीत होता है। इनके क्षय होने पर आत्मा अपने नैसर्गिक भाव—अमूर्तिक-भाव मे स्थित हो जाता है। गोत्र कर्म के दो प्रकार हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। ये क्रमश उच्चता और नीचता, सम्मान और असम्मान के निमित्त बनते हैं। इनके क्षय से आत्मा अगुरु-लघु—पूर्ण-सम बन जाता है।

आयुष्य के दो प्रकार हैं—शुभ आयु, अशुभ आयु। ये क्रमश सुखी जीवन और दु खी जीवन के निमित्त बनते हैं। इनके क्षय मे आत्मा अ-मृत और अ-जन्मा बन जाता है।

ये चारो भवोपग्राही कर्म हैं। इनके परमाणुओ का वियोग मुक्ति होने के समय एक साथ होता है।

बध की प्रक्रिया

आत्मा मे अनन्त वीर्य (सामर्थ्य) होता है। उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है। वह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका बाह्य जगत् मे कोई प्रयोग नही होता। आत्मा का बहिर्-जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्गल परमाणुओ का सगठित पुज है। आत्मा और शरीर—इन दोनो के सयोग से जो

मात्राएं पैदा होती हैं, उसे [illegible] का क्रियात्मक शक्ति कहा जाता है। शरीर-धारी जीव में यह सतत चलती रहती है। इसके द्वारा जीव में भावात्मक या चैतन्य-प्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता रहता है। कम्पन अजीव वस्तुओं में भी होता है, किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उसमें चैतन्य प्रेरित कम्पन नहीं होता। चेतना में कम्पन का प्रेरक सूक्ष्म शरीर होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक कम्पन द्वारा निमित्त कम्पन से बाहरी पौद्गलिक धाराएं खिंचकर आती और क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती हैं।

क्रियात्मक शक्ति जनित कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म-परमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया को आस्रव कहा जाता है।

आत्मा के साथ संयुक्त कर्म-योग्य परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित होते हैं। इस प्रक्रिया को बंध कहा जाता है।

आत्मा और कर्म-परमाणुओं का फिर वियोग होता है। इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

बंध आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा बाहरी पौद्गलिक धाराएं शरीर में आती हैं। निर्जरा के द्वारा वे फिर शरीर से बाहर चली जाती हैं। कर्म-परमाणुओं के शरीर में आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप में बंध कहा जाता है।

शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं, दोनों में से एक अवश्य रहता है।

कर्म-शास्त्र की भाषा में शरीर-नाम-कर्म के उदय-काल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है।[1]

कर्म कौन बांधता है ?

अकर्म के कर्म का बंध नहीं होता। पूर्व-कर्म से बंधा हुआ जीव ही नए कर्मों का बंध करता है।[2]

मोह-कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है तब वह अशुभ कर्मों का बंध करता है।[3]

---

१ (क) भगवती, ८।६।
(ख) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ८१
मणवयणकायजोया जीवपएसाण फंदण विसेसा।
मोहोदएणजुत्ता विजुदा विय आसवा होंति ॥
२ प्रज्ञापना, २३।१।२९२।
३ भगवती, ६।

बोले—भगवन् ! जीवो के किये हुए पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है ?

भगवान्—कालोदायी ! होता है।

कालोदायी—भगवन् ! यह कैसे होता है ?

भगवान्—कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व) अठारह प्रकार के व्यजनो से परिपूण विपयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसका परिणमन होता है, त्यो-त्यो उसमे दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम-भद्र नही होता। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारह प्रकार के पाप-कर्म) आपातभद्र और परिणाम-विरस होते हैं। कालोदायी ! इस प्रकार पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते हैं।

कालोदायी—भगवन् ! जीवो के किए हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?

भगवान्—कालोदायी ! होता है।

कालोदायी—भगवन् ! कैसे होता है ?

भगवान्—कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यजनो से परिपूर्ण, औपध-मिश्रित भोजन करता है, वह आपातभद्र नही लगता, किन्तु ज्यो-ज्यो उसका परिणमन होता है, त्यो-त्यो उसमे सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है। वह परिणाम भद्र होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात-विरति यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-विरति आपातभद्र नही लगती किन्तु परिणाम-भद्र होती है। कालोदायी ! इस प्रकार कल्याण कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं।[1]

कर्म के उदय से क्या होता है ?

१ ज्ञानावरण के उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नही जानता, जिज्ञासु होने पर भी नही जानता। जानकर भी नही जानता—पहले जानकर फिर नही जानता। उसका ज्ञान आवृत हो जाता है। इसके अनुभाव दस हैं—श्रोत्रावरण, श्रोत्र-विज्ञानावरण, नेत्रावरण, नेत्र-विज्ञानावरण, घ्राणावरण, घ्राण-विज्ञानावरण, रसावरण, रस-विज्ञानावरण, स्पर्शावरण, स्पर्श-विज्ञानावरण।

२ दर्शनावरण के उदय से जीव द्रष्टव्य-विपय को नही देखता, देखने का इच्छुक होने पर भी नही देखता। उसका दर्शन आच्छन्न हो जाता है। इसके अनुभाव नौ हैं—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, चक्षु-

---

१ भगवती, ७।१०

दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण।

३ क—सातवेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख की अनुभूति करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, मन सुखता, वाक्-सुखता, काय-सुखता।

(ख) असातवेदनीय कर्म के उदय से जीव दु ख की अनुभूति करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ गन्ध, अमनोज्ञ स्पर्श, मनोदु खता, वाक्-दु खता, काय-दु खता।

४ मोह-कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चारित्रहीन बनता है। इसके अनुभाव पाच हैं—सम्यक्त्व वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय, नोकषाय-वेदनीय।

५ आयु-कर्म के उदय से जीव अमुक समय तक अमुक प्रकार का जीवन जीता है। इसके अनुभाव चार हैं—नैरयिकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, देवायु।

६ क—शुभनाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गन्ध, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श, इष्ट गति, इष्ट स्थिति, इष्ट लावण्य, इष्ट यश कीर्ति, इष्ट उत्थान—कर्म-बल-वीय-पुरुषकार-पराक्रम, इष्ट स्वरता, कान्त स्वरता, प्रिय स्वरता, मनोज्ञ स्वरता।

ख—अशुभ नाम-कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह है—अनिष्ट शब्द, अनिष्ट रूप, अनिष्ट गन्ध, अनिष्ट रस, अनिष्ट स्पर्श, अनिष्ट गति, अनिष्ट स्थिति, अनिष्ट लावण्य, अनिष्ट यशो-कीर्ति, अनिष्ट उत्थान—कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम, अनिष्ट स्वरता, हीन स्वरता, दीन स्वरता, अमनोज्ञ स्वरता।

७ क—उच्च-गोत्र-कर्म के उदय से जीव विशिष्ट बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तपो-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता, ऐश्वर्य-विशिष्टता।

ख—नीच-गोत्र-कर्म के उदय से जीव हीन बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विहीनता, कुल-विहीनता, बल-विहीनता रूप-विहीनता, तपो-विहीनता, श्रुत-विहीनता, लाभ-विहीनता, ऐश्वर्य-विहीनता।

८ अन्तराय कर्म के उदय से वर्तमान लब्ध वस्तु का विनाश और लभ्य वस्तु के आगामी-पथ का अवरोध होता है। इसके अनुभाव पाच हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय।

फल की प्रक्रिया

कर्म जड़—अचेतन है तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह

प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु बना। इसीलिए उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता बताया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन-दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नही समझता। कर्म-परमाणुओ मे जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, पुद्गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन मे समर्थ हो जीवात्मा के सस्कारो को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ मे आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है, कर्म परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नही होता फिर भी आत्मा का सयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खानेवाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिल जाता है। विज्ञान के क्षेत्र मे परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगो के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान शक्ति के बारे मे कोई सन्देह नही रहता।

उदय

उदय का अर्थ है—काल-मर्यादा का परिवर्तन। वस्तु की पहली अवस्था की काल-मर्यादा पूरी होती है—यह उसका अनुदय है। दूसरी की काल-मर्यादा का आरम्भ होता है—वह उसका उदय है। बधे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने मे समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक[1] (कर्म-पुद्गलो की एक काल मे उदय होने योग्य रचना-विशेष) प्रकट होने लगते हैं, वह उदय है।

कर्म का उदय दो प्रकार का होता है—

१ प्राप्त-काल कर्म का उदय।

२ अप्राप्त-काल कर्म का उदय।

कर्म का बध होते ही उसमे विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं हो जाती। वह निश्चित अवधि के पश्चात् ही पैदा होती है। कर्म की यह अवस्था अबाधा कहलाती है। उस समय कर्म का अवस्थान-मात्र होता है किन्तु उसका कर्तृत्व प्रकट नही होता। इसलिए वह कर्म का अवस्थान काल है। अबाधा का अर्थ है—अन्तर। बध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह अबाधाकाल है।[2]

अबाधाकाल के द्वारा स्थिति के दो भाग होते हैं—

१ अवस्थानकाल

२ अनुभव या निषेक-काल।

---

१ भगवती, ६।३।२३६ वृत्ति—कर्म-निषेको नाम कर्म-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचनाविशेष।

२ वही, वृत्ति—बाधा—कर्मण उदय, न बाधा अबाधा—कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरम्।

अवाधा काल के समय कोरा अवस्थान होता है, अनुभव नही। अनुभव अवाधाकाल पूरा होने पर होता है। जितना अवाधाकाल होता है, उतना अनुभव-काल से अवस्थान-काल अधिक होता है। अवाधा-काल को छोडकर विचार किया जाए तो अवस्थान और निषेक या अनुभव—ये दोनो समकाल मर्यादा वाले होते हैं। चिरकाल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तपस्या के द्वारा विफल वना थोडे समय मे भोग लिए जाते हैं। आत्मा शीघ्र उज्ज्वल बन जाती है।

काल-मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारम्भ होता है। वह प्राप्त काल उदय है। यदि स्वाभाविक पद्धति से ही कर्म उदय मे आये तो आकस्मिक घटनाओ की सम्भावना तथा तपस्या की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है। किन्तु अपवर्तना के द्वारा कर्म की उदीरणा या अप्राप्त काल उदय होता है। इसलिए आकस्मिक घटनाए भी सिद्धान्त के प्रति सन्देह पैदा नही करती। तपस्या की सफलता का भी यही हेतु है।

सहेतुक और निर्हेतुक उदय—

कर्म का परिपाक और उदय अपने आप भी होता है और दूसरो के द्वाग भी। सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई वाहरी कारण नही मिला, क्रोध-वेदनीय-पुद्‌गलो के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आ गया—यह उनका निर्हेतुक उदय है।[1] इसी प्रकार हास्य,[2] भय, वेद (विकार) और कषाय के पुद्‌गलो का भी दोनो प्रकार का उदय होता है।[3]

अपने आप उदय मे आने वाले कर्म के हेतु

गति-हेतुक उदय—नरक गति मे असात (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक-उदय है।

स्थिति-हेतुक-उदय—मोहकर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति-हेतुक विपाक-उदय है।

भवहेतुक-उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय से नीद आती है) सवके होता है, फिर भी नीद मनुष्य और तिर्यच दोनो को आती है, देव और नरक को नही आती। यह भव (जन्म) हेतुक-विपाक-उदय है।

गति-स्थित और भय के निमित्त से कई कर्मों का अपने आप विपाक-उदय हो आता है।

---

१ ठाण, ४।७६—वृत्ति पत्न १८२—अपतिट्ठिए—आक्रोशादिकारणनिरपेक्ष केवल क्रोधवेदनीयोदयात् यो भवति सोऽप्रतिष्ठित ।

२ वही, ४।

३ वही, ४।७५-७६

दूसरो द्वारा उदय में आनेवाले कर्म के हेतु

पुद्गल-हेतुक-उदय—किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, असात का उदय हो आया—यह दूसरो के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्गल-हेतुक-विपाक-उदय है।

किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया—यह क्रोध-वेदनीय-पुद्गलो का सहेतुक विपाक-उदय है।

पुद्गल-परिणाम के द्वारा होनेवाला उदय—भोजन किया, वह पचा नही, अजीर्ण हो गया। उससे रोग पैदा हुआ, यह असात-वेदनीय का विपाक-उदय है।

मदिरा पी, उन्माद छा गया—ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल परिणमन हेतुक-विपाक-उदय है।

इस प्रकार अनेक हेतुओ से कर्मो का विपाक-उदय होता है।[1] अगर ये हेतु नही मिलते तो उन कर्मों का विपाक-रूप मे उदय नही होता। उदय का एक दूसरा प्रकार और है। वह है प्रदेश-उदय। इसमे कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नही होता। यह कर्म-वेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। जो कर्म-वन्ध होता है, वह अवश्य भोगा जाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! किये हुए पाप-कर्म भोगे विना नही छूटते, क्या यह सच है?

भगवान्—हा, गौतम! यह सच है।

गौतम—कैसे, भगवन्?

भगवान्—गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म वतलाए हैं—प्रदेश-कर्म और अनुभाग-कर्म। जो प्रदेश-कर्म हैं वे नियमत (अवश्य ही) भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं वे अनुभाग (विपाक) रूप मे कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नही भोगे जाते।[2]

पुण्य-पाप

मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्म-प्रदेशो मे कम्पन होता है। उससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर खिचते हैं।

क्रिया शुभ होती है तो शुभकर्म-परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभकर्म

---

१ प्रज्ञापना, २३।१।२९३।

२ भगवती, १।४।४० वृत्ति—

प्रदेशा कर्मपुद्गला जीव प्रदेशेष्वोतप्रोता तद्रूप कम प्रदेशकर्म।

अनुभाग तेपामेव कमप्रदेशानां सवेद्यमानता विपय रस तद्रूप कम अनुभाग-कम।

परमाणु आत्मा से आ चिपकते है। पुण्य और पाप—दोनो विजातीय तत्त्व हैं। इसलिए ये दोनो आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। आचार्यों ने पुण्य कर्म की सोने और पाप-कर्म की लोहे की बेडी से तुलना की है।[1]

स्वतन्त्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनो हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी (सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र) है। जो व्यक्ति इस तत्त्व को नही जानता वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय-दृष्टि से ये दोनो हेय हैं।[2]

पुण्य की हेयता के बारे मे जैन-परम्परा एकमत है। उसकी उपादेयता मे विचार-भेद भी है। कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्परा-हेतु मान क्वचित् उपादेय भी मानते हैं।[3] कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर हेतु मानते हुए भी उपादेय नही मानते।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का आकर्षण करनेवाली विचारधारा को पर-समय माना है।[4]

योगीन्दु कहते हैं—"पुण्य से वैभव, वैभव से अहकार, अहकार से बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाश से पाप होता है। इसलिए हमे वह नही चाहिए।"[5]

टीकाकार के अनुसार यह क्रम उन्ही के लिए है, जो पुण्य की आकाक्षा-(निदान) पूर्वक तप तपने वाले हैं। आत्म-शुद्धि के लिए तप तपने वालो के अवाछित पुण्य का आकर्षण होता है। उनके लिए यह क्रम नही है—वह उन्हे बुद्धि-विनाश की ओर नही ले जाता।[6]

पुण्य काम्य नही है। योगीन्दु के शब्दो मे—"वे पुण्य किस काम के, जो राज्य देकर जीव को दु ख-परम्परा की ओर ढकेल दे। आत्म-दर्शन की खोज मे लगा हुआ व्यक्ति मर जाए—यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन के विमुख होकर पुण्य

---

१ परमात्मप्रकाश, २।५३।

२ पुरुपार्थसिद्धयुपाय, २।५३।

३ वही, २।११।

४ पचास्तिकाय, १६४-१६६, १७५।

५ परमात्मप्रकाश, २।६०
पुण्णेण होई विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पाव ता पुण्ण अम्ह मा होऊ।।

६ वही, टीका, पृ० २०१, २०२
इद पूर्वोक्त पुण्य भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगा-कांक्षारूपनिदानब घ-परिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जित पूर्वभवे तदेव मदमहकार जनयति, बुद्धिविनाशश्च करोति न च पुन सम्यक्त्वादि गुणसहितम्।

७ वही, २।६०

चाहे—वह अच्छा नही है।"[1]

आत्म-साधना के क्षेत्र मे पुण्य की सीधी उपादेयता नही है, इस दृष्टि से पूर्ण सामजस्य है।

कुन्दकुन्दाचाय ने शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा प्रतिक्रमण (आत्मालोचन), प्रायश्चित्त को पुण्यवन्ध का हेतु होने के कारण विप कहा है।[2]

आचार्य भिक्षु ने कहा है—"पुण्य की इच्छा करने से पाप का वन्ध होता है।"[3] आगम कहते हैं—"इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म-शुद्धि के लिए धर्म करो।"[4] यही वात वेदान्त के आचार्यों ने कही है कि "मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म मे प्रवृत्त नही होना चाहिए।"[5] क्योकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य ससार भ्रमण के हेतु है। भगवान् महावीर ने कहा है—"पुण्य और पाप—इन दोनो के क्षय से मुक्ति मिलती है।"[6] "जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा ससार मे परिभ्रमण करता है।"[7] गीता भी यही कहती है—"वुद्धिमान् सुकृत और दुष्कृत दोनो को छोड देता है।"[8] अभयदेव सूरि ने आस्रव, वन्ध, पुण्य और पाप को ससार-भ्रमण का हेतु कहा है। आचार्य भिक्षु ने इसे इस प्रकार समझाया है—"पुण्य से भोग मिलते हैं। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगो की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से ससार वढता है।"[9]

इसका निगमन यह है कि अयोगी-अवस्था (पूर्ण-समाधि-दशा) से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्य-वन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृत्ति नही करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए—मोक्ष—आत्म-विकास। भारतीय दर्शनो का वही चरम लक्ष्य है। लौकिक

---

१ परमात्मप्रकाश २।५७, ५८

२ समयसार, ३० मोक्षाधिकार।

३ नवपदाथ चौपई ७२

४ दसवेआलिय, ६।४

५ वेदात सार, पृ० ४
मोक्षार्थी न प्रवतते तत्र काम्यनिषिद्धयो
काम्यानि—स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि, निषिद्धानि—नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि।

६ उत्तरज्झयणाणि, २१।२४

७ वही, १०।१५

८ गीता, २।५०

६ नवपदाथ चौपई, ६०
जिण पुण्य तणी वाछा करी, तिण वाछ्या काम ने भोग।
ससार वधै कामभोग स्यू पामै जम-मरण ने सोग॥

अभ्युदय धर्म का आनुसगिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलनेवाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य नही है। इसी सिद्धान्त को लेकर कई व्यक्ति भारतीय दर्शनो पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होने लौकिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा की, पर सही अर्थ मे वात यह नही है। सामाजिक व्यक्ति अभ्युदय की उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं। यह सच है कि भारतीय एकान्त-भौतिकता से वहुत वचे हैं। उन्होने प्रेय और श्रेय को एक नही माना।[1] अभ्युदय को ही सब कुछ मानने वाले भौतिकवादियो ने युग को कितना जटिल वना दिया, इसे कौन अनुभव नही करता।

मिश्रण नही होता

पुण्य और पाप के परमाणुओ के आकर्षण-हेतु अलग-अलग हैं। एक ही हेतु से दोनो के परमाणुओ का आकर्षण नही होता। आत्मा के परिणाम या तो शुभ होते हैं या अशुभ। किन्तु शुभ और अशुभ दोनो एक साथ नही होते।

कोरा पुण्य

कई आचार्य पाप-कर्म का विकर्षण किए विना ही पुण्य-कर्म का आकर्पण होना मानते हैं। किन्तु यह चिन्तनीय है। प्रवृत्ति मात्र मे आकर्पण और विकर्षण दोनो होने हैं। श्वेताम्वर आगमो मे इसका पूर्ण समर्थन मिलता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! श्रमण को वदन करने से क्या लाभ होता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! श्रमण को वदन करनेवाला नीच-गोत्र कर्म को खपाता है और उच्च-गोत्र-कर्म का वन्ध करता है।[2] यहा एक शुभ प्रवृत्ति से पाप-कर्म का क्षय और पुण्य-कर्म का वन्ध—इन दोनो कार्यों की निष्पत्ति मानी गई है। तर्क-दृष्टि से भी यह मान्यता अधिक सगत लगती है।

धर्म और पुण्य

जैन दर्शन मे धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व है। शाब्दिक-दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमासा मे ये कभी एक नही होते। धर्म आत्मा की राग-द्वेषहीन परिणति है[3] और पुण्य शुभकर्ममय पुद्गल

---

१ कठोपनिषद्, १।२।१

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुप सिनीत।
तयो श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥

२ उत्तरज्झयणाणि, २९।१०

३ वत्थुसहावो धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिदिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो॥

है।[1] दूसरे शब्दों में—धर्म आत्मा का पर्याय है और पुण्य पुद्‌गल का पर्याय है।

दूसरी बात—निर्जरा-धर्म सत्क्रिया है और पुण्य उसका फल है।[2]

तीसरी बात—धर्म आत्म-शुद्धि—(आत्म-मुक्ति) का साधन है[3] और पुण्य आत्मा के लिए बन्धन है।[4]

अधर्म और पाप की भी यही स्थिति है। ये दोनों धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे सत्प्रवृत्तिरूप धर्म के साहचर्य से पुण्य की उत्पत्ति होती है, वैसे अधर्म और पाप के साहचर्य से पाप की उत्पत्ति होती है। पुण्य-पाप फल हैं। जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उसके साथ चिपटनेवाले पुद्‌गल हैं और ये दोनों धर्म और अधर्म के लक्षण हैं—गमक हैं।

जीव की क्रिया दो भागों में विभक्त होती है—धर्म या अधर्म, सत् या असत्। अधर्म से आत्मा के संस्कार विकृत होते हैं, पाप का बन्ध होता है। धर्म से आत्म-शुद्धि होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य-पाप कर्म का ग्रहण होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय—परिणाम पर निर्भर है।[5] शुभयोग तपस्या-धर्म है और वही शुभयोग पुण्य का आस्रव है।[6] अनुकम्पा, क्षमा, सराग-संयम, अल्प-परिग्रह, योग-ऋजुता आदि-आदि पुण्य-बन्ध के हेतु हैं।[7] ये सत्प्रवृत्ति रूप होने के कारण धर्म हैं।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने शुभभावयुक्त जीव को पुण्य और अशुभभावयुक्त जीव को पाप कहा है।[8] अहिंसा आदि व्रतों का पालन करना शुभोपयोग है। इसमें प्रवृत्त जीव के शुभ कर्म का जो बन्ध होता है, वह पुण्य

---

१ प्रशमरतिप्रकरण, गाथा २१९
पुद्‌गलकर्म शुभं यत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।

२ भगवती, १।७ वृत्ति
धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्म।

३ जैन सिद्धान्त दीपिका, ८।३
आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः।

४ समयसार, गाथा १४६
सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥

५ प्रज्ञापना पद २२, वृत्ति—
पुण्यपापकर्मोपादानानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात्।

६ सूत्रकृतांग २।५।१७, वृत्ति—
योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः।

७ भगवती, ८।२

८ द्रव्यसंग्रह, ३८

है। अभेदोपचार से पुण्य के कारणभूत शुभोपयोग प्रवृत्त जीव को ही पुण्यरूप कहा गया है।

कही-कही पुण्य-हेतुक सत्प्रवृत्तियो को भी पुण्य कहा गया है। यह कारण मे कार्य का उपचार, विवक्षा की विचित्रता अथवा सापेक्ष-दृष्टिकोण है।

योगसूत्र के अनुसार भी पुण्य की उत्पत्ति धर्म के साथ ही होती है। जैसे—धर्म और अधर्म—ये क्लेशमूल हैं। इन मूलसहित क्लेशाशय का परिपाक होने पर उनके तीन फल होते हैं—जाति, आयु और भोग। ये दो प्रकार के हैं—सुखद और दु खद। जिनका हेतु पुण्य होता है, वे सुखद और जिनका हेतु पाप होता है, वे दु खद होते हैं।[1]

तुलना के लिए देखें—
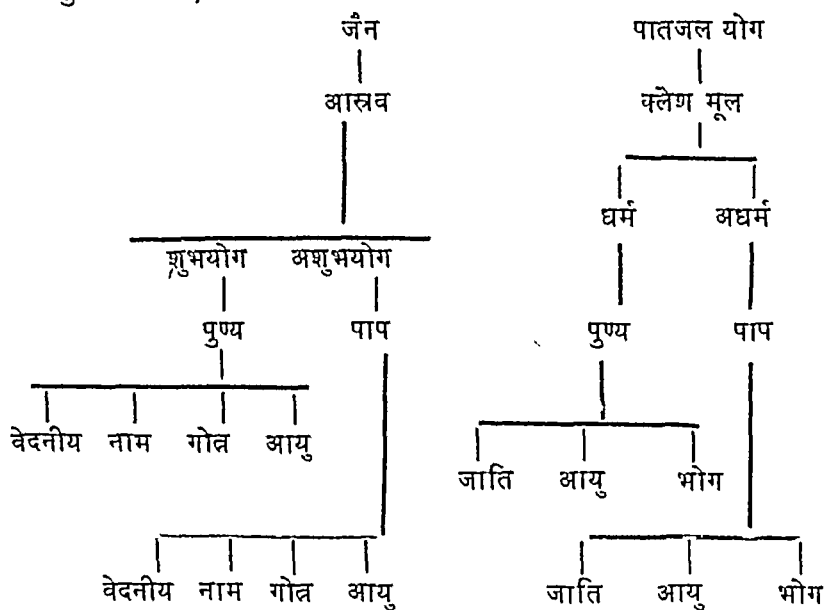
पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है

वर्तमान की दृष्टि से पुरुषार्थ अवन्ध्य कभी नही होता। अतीत की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नही भी। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नही कर सकता। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।

---

१ पातञ्जलयोग, २।१४
सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा ।
ते आह्लादपरितापफला पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।

कर्म की बन्ध और उदय—ये दो ही अवस्थाएं होती तो कर्मों का बन्ध होता और वेदना के बाद वे निर्वीर्य हो आत्मा से अलग हो जाते। परिवर्तन को कोई अवकाश नहीं मिलता। कर्म की अवस्थाएं इन दो के अतिरिक्त और भी हैं—

१ अपवर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थिति-घात) और रस का मन्दीकरण (रस-घात) होता है।

२ उद्वर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।

३ उदीरणा के द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आनेवाले कर्म तत्काल और मन्द-भाव से उदय में आ जाते हैं।

४ एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है, उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है, उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है। जो कर्म शुभ रूप में ही बंधता है और शुभ रूप में ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ विपाक वाला होता है। जो कर्म शुभ रूप में बंधता है और अशुभ रूप में उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है। जो कर्म अशुभ रूप में बंधता है और शुभ रूप में उदित होता है, वह अशुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो कर्म अशुभ रूप में बंधता है और अशुभ रूप में ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ-विपाक वाला है। कर्म के बंध और उदय में जो यह अन्तर आता है, उसका कारण संक्रमण (बध्यमान कर्म में कर्मान्तर का प्रवेश) है।

जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—वह संक्रमण है।

संक्रमण के चार प्रकार हैं—१ प्रकृति-संक्रम, २ स्थिति-संक्रम, ३ अनुभाव-संक्रम, ४ प्रदेश-संक्रम।[1]

प्रकृति-संक्रम से पहले बंधी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान में बंधने वाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है।

अपवर्तन, उद्वर्तन, उदीरणा और संक्रमण—ये चारों उदयावलिका (उदय क्षण) के बहिर्भूत कर्म-पुद्गलों के ही होते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के उदय में कोई परिवर्तन नहीं होता। अनुदित कर्म के उदय में परिवर्तन होता

---

१ ठाण, ४।२९७।

है। पुरुषार्थ के सिद्धान्त का यही ध्रुव आधार है। यदि यह नही होता तो कोरा नियतिवाद ही होता।

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन ?

कर्म की मुख्य दो अवस्थाए हैं—वन्ध और उदय। दूसरे शब्दो मे ग्रहण और फल। "कर्म ग्रहण करने मे जीव स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने मे परतन्त्र। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढता है, वह चढने मे स्वतन्त्र है—इच्छानुसार चढता है। प्रमादवश गिर जाए तो वह गिरने मे स्वतन्त्र नही है।"[1] इच्छा से गिरना नही चाहता, फिर भी गिर जाता है, इसलिए गिरने मे परतन्त्र है। इसी प्रकार विप खाने मे स्वतन्त्र है और उसका परिणाम भोगने मे परतन्त्र। एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किन्तु उसके फलस्वरूप होनेवाले अजीर्ण से नही वच सकता। कर्म-फल भोगने मे जीव स्वतन्त्र नही है, यह कथन प्रायिक है। कही-कही जीव उसमे स्वतन्त्र भी होते है। जीव और कर्म का सघर्ष चलता रहता है।[2] जीव के काल आदि लब्धियो की अनुकूलता होती है, तव वह कर्मों को पछाड देता है और कर्मों की वहुलता होती है, तव जीव उनसे दव जाता है। इसलिए यह मानना होता है कि कही जीव कर्म के अधीन है और कही कर्म जीव के अधीन।

कर्म दो प्रकार के होते है—

१ निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नही हो सकता।

२ दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है।

दूसरे शब्दो मे—१ निरूपक्रम—इसका कोई प्रतिकार नही होता, इसका उदय अन्यथा नही हो सकता। २ सोपक्रम—यह उपचार-साध्य होता है।

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनो वातें हैं—जहा जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नही करता, वहा वह उस कर्म के अधीन होता है और जहा जीव प्रवल धृति, मनोवल, शरीरवल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है, वहा कर्म उसके अधीन होता है। उदयकाल से पूर्व कर्म को उदय मे ला, तोड डालना, उसकी स्थिति और रस को मन्द कर देना, यह सव इस स्थिति मे हो सकता है। यदि यह न होता तो तपस्या करने का कोई अर्थ नही रहता। पहले वधे हुए कर्मों की स्थिति और

---

१ विशेषावश्यक भाष्य, १/३
कम्म चिणति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होन्ति।
रुक्ख दु रुहइ सवसो, विगलसपरवसो तत्तो॥

२ गणधरवाद, २/२५
कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुति वलियाइ।
जीवस्स य कम्मस य, पुव्व विरुद्धाई वैराइ॥

फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हे शीघ्र तोड डालने के लिए ही तपस्या की जाती है। पातजल योगभाष्य मे भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतिया बताई हैं। उनमे कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा न ट हो जाते हैं। एक गति यह है।[1] इसी को जैन-दृष्टि मे उदीरणा कहा है।

उदीरणा

गौतम ने पूछा—

भगवन् । जीव उदीर्ण कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?
जीव अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?
जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?
जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

भगवान् ने कहा—

गौतम । जीव उदीर्ण की उदीरणा नही करता।
जीव अनुदीर्ण की उदीरणा नही करता।
जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य की उदीरणा करता है।
जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत-कर्म की उदीरणा नही करता।[2]

१ उदीर्ण कर्म-पुद्गलो की फिर से उदीरणा करे तो उस उदीरणा की कही भी परिसमाप्ति नही होती। इसलिए उदीर्ण की उदीरणा का निषेध किया गया है।

२ जिन कर्म-पुद्गलो की उदीरणा सुदूर भविष्य मे होने वाली है, अथवा जिनकी उदीरणा नही ही होने वाली है, उन अनुदीर्ण-कर्म-पुद्गलो की भी उदीरणा नही हो सकती।

३ जो कर्म-पुद्गल उदय मे आ चुके (उदयानन्तर पश्चात्कृत), वे सामर्थ्यहीन वन गए, इसलिए उनकी भी उदीरणा नही होती।

४ जो कर्म-पुद्गल वतमान मे उदीरणा-योग्य (अनुदीण, किन्तु उदीरणा-योग्य) हैं, उन्ही की उदीरणा होती है।

उदीरणा का हेतु

कम के स्वाभाविक उदय मे नए पुरुषार्थ की आवश्यकता नही होती। वन्ध-

---

१ पाजलयोग, २/१३ भाष्य—
कृतस्याऽविपक्वस्य नाश —अदत्तफलस्य कस्यचित् पापकर्मण
प्रायश्चित्तादिना नाश इत्येका गतिरित्यय ।

२ भगवती, १।३।३५।

स्थिति पूरी होती है, कर्म-पुद्गल अपने आप उदय में आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा उन्हे स्थिति-क्षय से पहले उदय मे लाया जाता है। इसलिए इसमे विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलो की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नही करता।"[1]

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ द्वारा कर्म मे परिवर्तन किया जा सकता है, यह स्पष्ट है।

कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है। करण का अर्थ है 'योग'। योग के तीन प्रकार हैं—

१ शारीरिक व्यापार।
२ वाचिक व्यापार।
३ मानसिक व्यापार।

उत्थान आदि इन्ही के प्रकार हैं। योग शुभ और अशुभ—दोनो प्रकार का होता है। आस्रव-चतुष्टय-रहित योग शुभ और आस्रव-चतुष्टय-सहित योग अशुभ। शुभ योग तपस्या है, सत् प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। क्रोध, मान, माया, और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है।[2]

वेदना

गौतम—भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवम्भूत वेदना (जैसे कर्म बाधा वैसे ही) भोगते हैं—यह कैसे है?

भगवान्—गौतम! अन्ययूथिक जो एकान्त कहते है, वह मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हू—कुछ जीव एवम्भूत-वेदना भोगते हैं और कुछ अन-एवम्भूत वेदना भी भोगते हैं।

गौतम—भगवन्! यह कैसे?

भगवान्—गौतम! जो जीव किये हुए कर्मो के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवम्भूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मो से अन्यथा भी वेदना

---

१ भगवती, १।३।३५।
२ वही, १।३।३५।

भोगते हैं वे अन-एवम्भूत वेदना भोगते हैं।[1]

उस काल और उस समय की बात है। भगवान् राजगृह के (ईशानकोणवर्ती) गुणशीलक नाम के चैत्य (व्यन्तरायतन) मे समवसृत हुए। परिषद् एकत्रित हुई। भगवान् ने धर्म-देशना की। परिषद् चली गई।

उस समय भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति गौतम को श्रद्धा, सशय या कुतूहल उत्पन्न हुआ। वे भगवान् के पास आए। वन्दना-नमस्कार कर न अति दूर और न अति निकट बैठकर विनयपूर्वक बोले—भगवन्! नैरयिक जीव कितने प्रकार के पुद्गलो का भेद और उदीरणा करते हैं?

भगवान् ने कहा—गौतम! नैरयिक जीव कर्म-पुद्गल की अपेक्षा अणु और बाह्य (सूक्ष्म और स्थूल) इन दो प्रकार के पुद्गलो का भेद और उदीरणा करते हैं। इसी प्रकार चय, उपचय, वेदना, निर्जरा, अपवर्तन, सक्रमण, निधत्ति और निकाचन करते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण पुद्गलो का ग्रहण अतीत काल मे करते हैं? वर्तमान काल मे करते हैं? अनागत काल मे करते हैं?

भगवन् ने कहा—गौतम! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण पुद्गलो का ग्रहण अतीत काल मे नही करते, वर्तमान काल मे करते हैं, अनागत काल मे नही करते।

गौतम ने पूछा—भगवन्! नैरयिक जीव अतीत मे ग्रहण किए हुए तैजस और कार्मण पुद्गलो की उदीरणा करते हैं? वर्तमान मे ग्रहण किए जानेवाले पुद्गलो की उदीरणा करते हैं? ग्रहण-समय-पुरस्कृत—वर्तमान से अगले समय मे ग्रहण किए जानेवाले पुद्गलो की उदीरणा करते हैं?

भगवान् ने कहा—गौतम! वे अतीत काल मे ग्रहण किए हुए पुद्गलो की उदीरणा करते हैं। वे न वर्तमान काल मे ग्रहण किए जानेवाले पुद्गलो की उदीरणा करते हैं और न ग्रहण-समय-पुरस्कृत पुद्गलो की उदीरणा करते हैं।

इसी प्रकार वेदना और निर्जरा भी अतीत काल मे गृहीत पुद्गलो की होती है।

निर्जरा

सयोग का अतिम परिणाम वियोग है। आत्मा और परमाणु—ये दोनो भिन्न हैं। वियोग मे आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु। इनका सयोग होता है तब आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म।

---

१ भगवती, ५/५।

कर्म-प्रायोग्य परमाणु आत्मा से चिपट कर्म बन जाते है। उस पर अपना प्रभाव डालने के बाद वे अकर्म बन जाते हैं। अकर्म बनते ही वे आत्मा से विलग हो जाते हैं। इस विलगाव की दशा का नाम है—निर्जरा।

निर्जरा कर्मों की होती है—यह औपचारिक सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि कर्मों की वेदना—अनुभूति होती है, निर्जरा नही होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओ का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है।[1]

कोई फल डाली पर पककर टूटता है, और किसी फल को प्रयत्न से पकाया जाता है। पकते दोनो हैं, किन्तु पकने की प्रक्रिया दोनो की भिन्न है। जो सहज गति से पकता है, उसका पाक-काल लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकता है, उसका पाक-काल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से जो कर्म-परिपाक होता है, उसकी निर्जरा को विपाकी-निर्जरा कहा जाता है। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिए कोई नया प्रयत्न नही करना पडता, इसलिए इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म।

निश्चित काल-मर्यादा से पहले शुभ-योग के व्यापार से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे अविपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ-प्रयत्न है। वह धर्म है। धर्म-हेतुक निर्जरा नव-तत्त्वो मे सातवा तत्त्व है। मोक्ष इसी का उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनो मे मात्रा-भेद है, स्वरूप-भेद नही। निर्जरा का अर्थ है—आत्मा का विकास या स्वभावोदय।[2] अभेदोपचार की दृष्टि से स्वभावोदय के साधनो को भी निर्जरा कहा जाता है। इसके बारह प्रकार इसी दृष्टि के आधार पर किये गये हैं। इसके सकाम और अकाम—इन दो भेदो का आधार भी वही दृष्टि है।[3] वस्तुत सकाम और अकाम तप होता है, निर्जरा नही। निर्जरा आत्म-शुद्धि है। उसमे मात्रा का तारतम्य होता है, किन्तु स्वरूप का भेद नही होता।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया

कर्म-परमाणुओ के विकर्षण के साथ-साथ दूसरे कर्म-परमाणुओ का आकर्षण होता रहता है। किन्तु इससे मुक्ति होने मे कोई बाधा नही आती।

कर्म-सम्बन्ध के प्रधान साधन दो हैं—कषाय और योग। कषाय प्रबल होता

---

१ भगवती, ७।३।

२ जैनसिद्धान्तदीपिका, ५।१६।

३ वही, ५।१७।

है, तब कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय के मन्द होते ही उनकी स्थिति कम और फल-शक्ति मन्द हो जाती है।

जैसे-जैसे कषाय मन्द होता है, वैसे-वैसे निर्जरा अधिक होती है और पुण्य का बध शिथिल होता जाता है। वीतराग के केवल दो समय की स्थिति का बध होता है। पहले क्षण मे कर्म-परमाणु उसके साथ सम्बन्ध करते है, दूसरे क्षण मे भोग लिए जाते है और तीसरे क्षण मे वे उससे बिछुड जाते हैं।

चौदहवी भूमिका मे मन, वाणी और शरीर की सारी प्रवृत्तिया रुक जाती हैं। वहा केवल पूर्व-सचित कर्म का निजरण होता है, नये कर्म का बध नही होता। अबन्ध-दशा मे आत्मा शेष कर्मो को खपा मुक्त हो जाता है।[1]

मुक्त होनेवाले साधक एक ही श्रेणी के नही होते। स्थूल-दृष्टि से उनकी चार श्रेणिया प्रतिपादित हैं—

१ प्रथम श्रेणी के साधनो के कर्म का भार अल्प होता है। उनका साधना-काल दीर्घ हो सकता है। पर उनके लिए कठोर तप करना आवश्यक नहीं होता और न उन्हे असह्य कष्ट सहना होता है। वे सहज जीवन बिता मुक्त हो जाते हैं।

इस श्रेणी के साधको मे भरत चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।

२ दूसरी श्रेणी के साधको के कर्म का भार अल्पतर होता है। उनका साधना-काल भी अल्पतर होता है। वे अत्यल्प तप और अत्यल्प कष्ट का अनुभव कर सहज भाव से मुक्त हो जाते हैं।

इस श्रेणी के साधको मे भगवान् ऋषभ की माता मरुदेवा का नाम उल्लेखनीय है।

३ तीसरी श्रेणी के साधको के कर्म-भार महान् होता है। उनका साधना-काल अल्प होता है। वे घोर तप और घोर कष्ट का अनुभव कर मुक्त होते हैं।

इस श्रेणी के साधको मे वासुदेव कृष्ण के भाई गजसुकुमार का नाम उल्लेखनीय है।

४ चौथी श्रेणी के साधको के कर्म-भार महत्तर होता है। उनका साधना-काल दीर्घतर होता है। वे घोर तप और घोर कष्ट सहन कर मुक्त होते हैं।

इस श्रेणी के साधको मे सनत्कुमार चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।[2]

---

१ तुलना—द्वे शरीरस्य प्रकृती—व्यक्ता च अव्यक्ता च। तत्र अव्यक्तताया कर्म समाख्याताया प्रकृतेरुपभोगात् प्रक्षय। प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति—इति उपपन्नोऽपवर्ग।

—न्याय वा० ३।२।६८

२ तुलना के लिए देखें—अगुत्तर निकाय, भाग २, पृ० १७१

अनादि का अन्त कैसे ?

जो अनादि होता है, उसका अन्त नही होता, ऐसी दशा मे अनादि-कालीन कर्म-सम्बन्ध का अन्त कैसे हो सकता है ? यह ठीक है, किन्तु इसमे बहुत कुछ समझने जैसा है । अनादि का अन्त नहीं होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है । व्यक्ति विशेष पर यह लागू नही भी होता । प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है । स्वर्ण और मृत्तिका का, घी और दूध का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं । ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध का अन्त होता है । यह ध्यान रहे कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है, व्यक्तिश नही । आत्मा से जितने कर्म पुद्गल चिपटते है, वे सब अवधि-सहित होते हैं । कोई भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नही रहता । आत्मा मोक्षोचित सामग्री पा, अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मो का प्रवाह रुक जाता है, सचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते है, आत्मा मुक्त बन जाती है ।

लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के ससर्ग से उत्पन्न होनेवाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार । आत्मा चेतन है, अचेतनस्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी ससार-दशा मे इसका अचेतन (पुद्गल) के साथ गहरा ससर्ग रहता है, इसीलिए अचेतन द्रव्य से उत्पन्न परिणामो का जीव पर असर हुए बिना नही रहता । जिन पुद्गलो से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी लेश्या कहलाते हैं । लेश्याए पौद्गलिक है, इसलिए इनमे वर्ण, गन्ध रस और स्पर्श होते हैं । लेश्याओ का नामकरण पौद्गलिक लेश्याओ के रग के आधार पर हुआ है, जैसे कृष्णलेश्या, नीललेश्या आदि-आदि ।

पहली तीन लेश्याए अप्रशस्त लेश्याए हैं । इनके वर्ण आदि चारो गुण अशुभ होते हैं । उत्तरवर्ती तीन लेश्याओ के वर्ण आदि शुभ होते है, इसलिए वे प्रशस्त होती है ।

खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एव वायुमण्डल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्राय सर्वसम्मत-सी बात है । 'जैसा अन्न वैसा मन' यह उक्ति निराधार नही है । शरीर और मन, दोनो परस्परापेक्ष हैं । इनमे एक-दूसरे की क्रिया का एक-दूसरे पर असर हुए बिना नही रहता । 'जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है—इस सिद्धान्त से उक्त विषय की पुष्टि होती है ।'[1] व्यावहारिक जगत मे भी यही बात पाते है । प्राकृतिक

---

१ प्रज्ञापना (लेश्या पद)

"जल्लेसाइं दव्वाइं आदियन्ति तल्लेसे परिणामे भवइ" ।

चिकित्सा-प्रणाली मे मानस-रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रगो की किरणो का या विभिन्न रगो की बोतलो के जलो का प्रयोग किया जाता है। योग-प्रणाली मे पृथ्वी, जल आदि तत्त्वो के रगो के परिवर्तन के अनुसार मानस परिवर्तन का क्रम बतलाया गया है।

पौद्गलिक विचार (द्रव्यलेश्या) के साथ चैतसिक विचार (भावलेश्या) का गहरा सम्बन्ध है। चैतसिक विचार के अनुरूप पौद्गलिक विचार होते हैं अथवा पौद्गलिक विचार के अनुरूप चैतसिक विचार होते हैं, यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान के लिए हमे लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। चैतसिक विचार की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह के उदय से या उसके विलय से।[1] औदयिक चैतसिक विचार अप्रशस्त होते हैं और विलयजनित चैतसिक विचार प्रशस्त होते हैं।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त और तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याए हैं। पहली तीन लेश्याए बुरे अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याए भले अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं।[2]

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म लेश्याए और तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म लेश्याए हैं।[3]

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय होने का मूल कारण मोह का अभाव या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायो के सहकारी कारण बनते हैं। मात्र काले, नीले आदि पुद्गलो से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नही बनते। केवल पौद्गलिक विचारो के अनुरूप ही चैतसिक विचार नही बनते। मोह का भाव-अभाव तथा पौद्गलिक विचार—इन दोनो के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम बनते हैं।

---

१ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ३४।

२ प्रज्ञापना, १७।४

तओ दुग्गइगामिणिआ, तओ सुगइगामिणिओ।

३ उत्तरज्झयणाणि, ३४।५६ ५७।

पौद्गलिक विचारो (द्रव्य लेश्याओ) के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण का विवरण इस प्रकार है—

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के ममान काला	नीम से अनन्त गुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्तगुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभ से अनन्तगुण कर्कश।
नील	नीलम के समान नीला	सोठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान रग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजस्	हिंगलु-सिन्दूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्तगुण मधुर	सुरभि-कुसम की गन्ध से अनन्तगुण इष्ट गन्ध	मक्खन से अनन्तगुण सुकुमार।[1]
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्तगुण मिष्ट		
शुक्ल	शख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त-गुण मिष्ट		

१ विशेष जानकारी के लिए देखें—प्रज्ञापना पद १७ और उत्तराध्ययन सूत्र का ३४वा अध्ययन।

जैनेतर ग्रन्थो मे भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवो की कई अवस्थाए बतलाई गई हैं। पातजलयोग मे वर्णित कर्म की कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण—ये चार जातिया भाव-लेश्या की श्रेणी मे आती हैं।[1] साख्यदर्शन[2] तथा श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] मे रज सत्त्व और तमोगुण को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है। यह द्रव्य लेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरजित करता है, इसलिए वह लोहित है। सत्त्व गुण से मन मल-रहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमोगुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

कर्मों का सयोग और वियोग आध्यात्मिक विकास और ह्रास

इस विश्व मे जो कुछ है, वह होता रहता है। 'होना' वस्तु का स्वभाव है। 'नही होना' ऐसा जो है, वह वस्तु ही नही है। वस्तुए तीन प्रकार की हैं—

१ अचेतन और अमूत—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

२ अचेतन और मूर्त—पुद्गल।

३ चेतन और अमूर्त—जीव।

पहली प्रकार की वस्तुओ का होना—परिणमन स्वाभाविक ही होता है और वह सतत प्रवहमान रहता है।

पुद्गल मे स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त जीव-कृत प्रायोगिक परिणमन भी होता है। उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा जाता है। शरीर और उसके प्रयोग में परिणत पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये अजीवोदय-निष्पन्न हैं। यह जितना दृश्य ससार है, वह सव या तो जीवत्-शरीर है या जीव-मुक्त शरीर। जीव मे स्वाभाविक और पुद्गलकृत प्रायोगिक परिणमन होता है।

स्वाभाविक परिणमन अजीव और जीव दोनो मे समरूप होता है। पुद्गल में जीवकृत परिवतन होता है, वह केवल उसके सस्थान—आकार का होता है। वह चेतनाशील नही, इसलिए इससे उसके विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति का क्रम नहीं बनता। पुद्गलकृत जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-पतन का क्रम अवलम्वित रहता हैं। इसी प्रकार उससे नानाविध अवस्थाए और अनुभूतिया बनती हैं। वह दार्शनिक चिन्तन का एक मौलिक विषय वन जाता है।

---

१ पातञ्जल योग ४।७

२ साख्यकौमुदी, पृ० २००

३ श्वेताश्वतर उपनिषद, ४।५

८

स्यादवाद

स्याद्वाद

जैन दर्शन के चिन्तन की शैली का नाम अनेकान्त-दृष्टि और प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। जानना ज्ञान का काम है, वोलना वाणी का। ज्ञान की शक्ति अपरिमित है, वाणी की परिमित। ज्ञेय अनन्त, ज्ञान अनन्त, किन्तु वाणी अनन्त नही, इसलिए नही कि एक क्षण मे अनन्त ज्ञान अनन्त ज्ञेयो को जान सकता है, किन्तु वाणी के द्वारा कह नही सकता।

एक तत्त्व (परमार्थ सत्य) अभिन्न अनन्त सत्यो की समष्टि होता है।

एक शव्द एक क्षण मे एक सत्य को वता सकता है। इस आधार पर वस्तु के दो रूप होते हैं—

१ अनभिलाप्य—अवाच्य।

२ अभिलाप्य—वाच्य।

अनभिलाप्य का अनन्तवा भाग अभिलाप्य होता है और अभिलाप्य का अनन्तवा भाग वाणी का विपय वनता है।[१]

प्रज्ञापनीय भावो का निरूपण वाणी के द्वारा होता है। वह श्रोता के ज्ञान का साधन बनता है। यहा एक समस्या उत्पन्न होती है—हम जानें कुछ और ही और कहे कुछ और ही अथवा सुनें कुछ और ही और जानें कुछ और ही, यह कैसे ठीक हो सकता है ?

इसका उत्तर जैनाचार्य स्यात् शव्द के द्वारा देते हैं। 'मनुष्य स्यात् है'—इस शव्दावली मे सत्ता धर्म की अभिव्यक्ति है। मनुष्य केवल 'अस्ति-धर्म' मात्र नही है। उसमे 'नास्ति-धर्म' भी है। 'स्यात्' शव्द यह वताता है कि अभिव्यक्त सत्याश

---

१ विशेपावश्यक भाष्य गाथा, ३४१

पण्णवणिज्जा भावा, अणतभागो तु अणभिलप्पाण।
पण्णवणिज्जाण पुण, अणतभागो सुयनिवद्धो॥

को ही पूर्ण सत्य मत समझो। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही सत्य है। ज्ञान अपने आप मे सत्य ही है। उसके सत्य और असत्य—ये दो रूप प्रमेय के सम्बन्ध से बनते हैं। प्रमेय का यथार्थग्राही ज्ञान सत्य और अयथार्थग्राही ज्ञान असत्य होता है। जैसे प्रमेय-सापेक्ष ज्ञान सत्य या असत्य बनता है, वैसे ही वचन भी प्रमेय-सापेक्ष होकर सत्य या असत्य बनता है। शब्द न सत्य है और न असत्य। वक्ता दिन को दिन कहता है, तब वह यथार्थ होने के कारण सत्य होता है और यदि रात को दिन कहे तब वही अयथार्थ होने के कारण असत्य बन जाता है। 'स्यात्' शब्द पूर्ण सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। एक धर्म की मुख्यता से वस्तु को बताते हुए भी हम उसकी अनन्तधर्मात्मकता को ओझल नही करते। इस स्थिति को सभालनेवाला 'स्यात्' शब्द है। यह प्रतिपाद्य धर्म के साथ शेष अप्रतिपाद्य धर्मों की एकता बनाए रखता है। इसीलिए इसे प्रमाण-वाक्य या सकलादेश कहा जाता है।

स्याद्वाद स्वरूप, समालोचना और समीक्षा

'स्यात्' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त, सशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैन-दर्शन मे इसका प्रयोग अनेकान्त के अर्थ मे भी होता है। स्याद्वाद अर्थात्—अनेकान्तात्मक वाक्य।

स्याद्वाद की नीव है अपेक्षा। अपेक्षा वहा होती है, जहा वास्तविक एकता और ऊपर से विरोध दीखे। विरोध वहा होता है, जहा निश्चय होता है। दोनो सशयशील हो, उस दशा मे विरोध नही होता।

स्याद्वाद का उद्गम अनेकान्त वस्तु है। तत्स्वरूप वस्तु के यथार्थ-ग्रहण के लिए अनेकान्त-दृष्टि है। स्यादवाद उस दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है। वह निमित्त भेद या अपेक्षाभेद से निश्चित विरोधी धर्मयुगलों का विरोध मिटानेवाला है। जो वस्तु सत् है, वही असत् भी है, किन्तु जिस रूप से सत् है, उसी रूप से असत् नही है। स्व-रूप की दृष्टि से सत् है और पर-रूप की दृष्टि से असत्। दो निश्चित दृष्टि-बिन्दुओ के आधार पर वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाला वाक्य सशयरूप हो ही नही सकता। स्याद्वाद को अपेक्षावाद या कथचिद्वाद भी कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की पद्धति से अनेक प्रश्नो का समाधान किया है। उसे आगम युग का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहा जाता है। दार्शनिक युग मे उसी का विस्तार हुआ, किन्तु उसका मूल रूप नही बदला। परिव्राजक स्कन्दक के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने बताया—एक जीव—

द्रव्य-दृष्टि से सान्त है,
क्षेत्र-दृष्टि से सान्त है,

काल-दृष्टि से अनन्त है,

भाव-दृष्टि से अनन्त है।[1]

इसमे द्रव्य-दृष्टि के द्वारा जीव की स्वतन्त्र सत्ता का निर्देश किया गया है। योजना करते-करते जीव अनन्त वनते हैं, किन्तु अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता की दृष्टि से जीव एक-एक है—सान्त हैं।

दूसरी वात—अनन्त गुणो के समुदय से एक गुणी वनता है। गुणो से गुणी अभिन्न होता है। इसलिए अनन्त गुण होने पर भी गुणी अनन्त नही होता, एक या सान्त होता है। जीव असख्य प्रदेश वाला है या आकाश के असख्य प्रदेशो मे अवगाह पाता है, इसलिए क्षेत्र-दृष्टि से भी वह अनन्त नही है, सर्वत्र व्याप्त नही है। वह काल-दृष्टि से अनन्त है—वह सदा था, है और रहेगा। वह ज्ञान, दर्शन और अगुरुलघु पर्यायो की दृष्टि से अनन्त है। भगवान् महावीर की उत्तर-पद्धति मे ये चार दृष्टिया मिलती हैं, वैसे ही अर्पित-अनर्पित दृष्टि या व्याख्या पद्धति और मिलती हैं, जिसके द्वारा स्याद्वाद विरोध मिटाने मे समर्थ होता है।[2] जमाली को उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—"जीव शाश्वत है। वह कभी भी नही था, नही है और नही होगा—ऐसा नही होता। वह था, है और होगा, इसलिए वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित है। जीव अशाश्वत है—वह नैरयिक होकर तिर्यञ्च हो जाता है, तिर्यञ्च होकर मनुष्य और मनुष्य होकर देव। यह अवस्था-चक्र वदलता रहता है। इस दृष्टि से जीव अशाश्वत है।"

विविध अवस्थाओ मे परिवर्तित होने के उपरान्त भी उसकी जीवरूपता नष्ट नही होती। इस दृष्टि से वह शाश्वत है। इस प्रतिपादन का आधार द्रव्य और पर्याय—ये दो दृष्टिया हैं।

भगवान् ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—

गौतम ! जीव स्यात् शाश्वत है, स्यात् अशाश्वत।

द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत।

ये दोनो धर्म वस्तु मे प्रतिपल समस्थितिक रहते हैं, किन्तु अर्पित मुख्य और अनर्पित गौण होता है।

'जीव शाश्वत है'—इसमे शाश्वत धर्म मुख्य है और अशाश्वत धर्म गौण।

'जीव अशाश्वत है' इसमे अशाश्वत धर्म मुख्य है और शाश्वत धर्म गौण।

यह द्विरूपता वस्तु का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। काल-भेद या एकरूपता हमारे वचन से उत्पन्न है। शाश्वत और अशाश्वत का काल भिन्न नही होता। फिर भी हम पदार्थ को शाश्वत या अशाश्वत कहते हैं—यह अर्पितानर्पित व्याख्या है। पदार्थ

---

१ भगवती, २।१।९०।

२ ठाण, १०।४६।

आगामी काल मे स्याद्वाद का दूसरा रूप हो गया, जो हमारे आलोचकों के समक्ष है और अब उस पर विशेष विचार करने की किसी को आवश्यकता प्रतीत नही होती।'[1]

(समीक्षा) अगर हमारा झुकाव व्यक्तिवाद की ओर नही है तो हमे यह समझने मे कोई कठिनाई नही होगी कि शकराचार्य ने स्याद्वाद का जिस रूप मे खण्डन किया है, उसका वह रूप जैन-दर्शन मे कभी भी नही रहा है। बादरायण के 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सूत्र मे जैन-दर्शन द्वारा एक पदार्थ मे अनेक विरोधी धर्मो के स्वीकार की बात मिलती है, सशय की नही। फिर भी शकराचार्य ने स्याद्वाद का सशयवाद की भित्ति पर निराकरण किया, वह जैन-दर्शन की मान्य दृष्टि को हृदयगम किये बिना किया—यह कहते हुए हमारी तटस्थ बुद्धि मे कोई कम्पन नही होता।

डॉ० देवराज ने लिखा है—'स्याद्वाद का वाच्यार्थ है—'शायदवाद'। 'अग्रेजी मे इसे प्रोबेबिलिज्म (Probabilism) कह सकते हैं। अपने अतिरजित रूप मे स्याद्वाद सदेहवाद का भाई है। वास्तव मे जैनियो को भगवान् बुद्ध की तरह तत्त्व दर्शन सम्बन्धी प्रश्नो पर मौन धारण करना था। जिसके आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि पर निश्चित सिद्धान्त हो, उसके मुख से स्याद्वाद की दुहाई शोभा नही देती।''[2]

(समीक्षा) 'महात्मा बुद्ध की भाति भगवान् महावीर के तात्त्विक प्रश्नो पर मौन रखने की सम्मति देते हुए भी विद्वान् लेखक यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् महावीर के आत्मा आदि विषयक सिद्धान्त निश्चित हैं। उन्हे आपत्ति इस पर है—एक ओर निश्चित सिद्धान्त और दूसरी ओर स्याद्वाद—वे इन दोनो को एक साथ देखना नही चाहते। यह ठीक भी है। निश्चित सिद्धान्त के लिए अनिश्चय-वाद की दुहाई शोभा नही देती। किन्तु जैन-दृष्टि ऐसी नही है। वह पदार्थ के अनेक विरोधी धर्मों को निश्चित किन्तु अनेक बिन्दुओ द्वारा ग्रहण करती है। आश्चर्य की बात यह है कि आलोचक विद्वान् स्याद्वाद की अनेक-विरोधी धर्म-ग्राहक स्थिति देखते हैं, वैसे उसकी निश्चित अपेक्षा को नही देखते। यदि दोनों पहलू समदृष्टि से देखे जाते तो स्याद्वाद को सशयवाद कहने का मौका ही नही मिलता। विद्वान् लेखक ने अपनी दूसरी पुस्तक—'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' मे 'स्यात्' का अर्थ 'कदाचित्' किया है।[3] इसमे कोई सदेह नही—'स्यात्' का अर्थ

---

१ Article on the 'Under Current of Jainism' in Jain Sahitya Sansodhak, 1920, Vol I, p 23

२ दर्शन का इतिहास, पृ० १३५।

३ वही, पृ० ६४-६५

सशय एक-रूप पदार्थ मे अनेक-रूपो की कल्पना करता है। इसलिए वह अनिर्णायिक विकल्प है।

स्याद्वाद अनेक धर्मात्मक पदार्थों मे अनेक धर्मों की निश्चित स्थिति बताता है। वह निर्णायिक विकल्प है।

भजना कालोपक्ष है, जैसे—वह वहा कदाचित् होता है, कदाचित् नही होता। सशय दोषपूर्ण सामग्री-सापेक्ष है। पदार्थ का स्वरूप निश्चित होता है किन्तु दोषपूर्ण सामग्री से आत्मा का सशय ज्ञान अनिश्चित बन जाता है। स्याद्वाद पदार्थगत और ज्ञानगत—उभय है। पदार्थ का स्वरूप भी अनेकान्तात्मक है और हमारे ज्ञान मे भी वह अनेकान्तात्मक प्रतिभासित होता है।

डॉ० बलदेव उपाध्याय ने स्याद्वाद को सशयवाद का रूपान्तर नही माना है। परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन उन्हे अनेक अशो मे त्रुटिपूर्ण लगता है। वे लिखते हैं—"यह अनेकान्तवाद सशयवाद का रूपान्तर नही है। परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन अनेक अशो मे त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो रहा है। जैन-दर्शन ने वस्तु-विशेष के विषय मे होनेवाली विविध लौकिक कल्पनाओ के एकीकरण का श्लाघ्य प्रयत्न किया है, परन्तु उसका उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष ही माना जाएगा। यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय-दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपो का समीकरण करता जाता तो समग्र विश्व मे अनुस्यूत परम-तत्त्व तक अवश्य ही पहुच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान मे रखकर शकराचाय ने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरिक भाष्य (२-२-३३) मे प्रबल युक्तियो के सहारे किया है।[1]

(समीक्षा) स्याद्वाद का एकीकरण वेदान्त के दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल नही, इसीलिए वह उपाध्यायजी को त्रुटिपूर्ण लगता हो तब तो दूसरी बात है अन्यथा हमे कहना होगा कि स्याद्वाद मे वह त्रुटि नहीं जो दिखाई गई है। अनेकान्त दृष्टि को पर-सग्रह की दृष्टि से 'विश्वमेकम्' तक का एकीकरण मान्य है। किन्तु यही दृष्टि सर्वतोभद्र सत्य है, यह बात मान्य नही है। महा सत्ता की दृष्टि से सबका एकीकरण हो सकता है, सब दृष्टियो से नही। चैतन्य की दृष्टि से चेतन और अचेतन की मूल सत्ता एक नही हो सकती। यदि अचेतन का उपादान या मूल स्रोत चेतन बन सकता है तब 'अचेतन चेतन का उपादान या आदिस्रोत बनता है'—यह भूतवादी धारणा असम्भव नही मानी जा सकती।

अनेकान्त के अनुसार एक परम तत्त्व ही परमार्थ सत्य नही है। चेतन-अचेतन—द्वयात्मक जगत् परमार्थ सत्य है।

विद्वान् लेखक ने अनेकान्त को आपातत उपादेय और मनोरजक बताते हुए

---

१ भारतीय दर्शन, पृ० १७३।

'संशय' भी होता है और 'कदाचित्' भी। किन्तु 'स्याद्वाद', जो अनेकान्त दृष्टि का प्रतिनिधि है, मे 'स्यात्' को कथचित् या अपेक्षा के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। स्याद्वाद का अर्थ है—कथचित्वाद या अपेक्षावाद। आलोचको की दृष्टि स्याद्वाद मे प्रयुक्त 'स्यात्' का सशय और कदाचित् अर्थ करने की ओर दौडती है तो कथचित् और अपेक्षा की ओर क्यो नही दौडती ?

अपेक्षा-दृष्टि से विरोध होना एक वात है और अपेक्षा-दृष्टि को सशय-दृष्टि या कदाचित् दृष्टि दिखाकर विरोध करना दूसरी वात।

हा, जैन-आगम मे कदाचित् के अर्थ मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] किन्तु वह स्याद्वाद नही, उसकी सज्ञा 'भजना' है। भजना 'नियम' की प्रतिपक्षी है। दो धर्मी या धर्मों का साहचर्य निश्चित होता है, वह नियम है। और वह कभी होता है, कभी नही होता—यह भजना है।

व्याप्य के होने पर व्यापक के, कार्य के होने पर कारण के, उत्तरवर्ती के होने पर पूर्ववर्ती के और सहभावी रूप मे एक के होने पर दूसरे के होने का नियम होता है। व्यापक मे व्याप्य की, कारण मे कार्य की, पूर्ववर्ती मे उत्तरवर्ती की और सयोग की भजना (विकल्प) होती है। इसलिए स्याद्वाद सशय और भजना (कदाचिद्वाद) दोनो से पृथक् है। इनकी आकृति-रचना भी एक-सी नही है। जैसे—

१ भजना—

अग्नि कदाचित् सधूम होती है अग्नि कदाचित् निर्धूम होती है	निष्कर्ष—अमुक सयोग दशा मे सधूम, अन्यथा निर्धूम।

२ सशय—

पदार्थ नित्य है या पदार्थ अनित्य है	निष्कर्ष—कुछ पता नही।

३ स्याद्वाद—

पदार्थ नित्य भी है, पदार्थ अनित्य भी है।	निष्कर्ष—पदार्थ नित्यानित्य है।

भजना अनेको की एकत्र स्थिति या अ-स्थिति वताती है। इसलिए वह साहचर्य का विकल्प है।

---

१ (क) भगवती, ८।१०
जस्स आउय तस्स अतराइय सिय अत्थि, सिय नत्थि। जस्स पुण अतराइय तस्स आउय नियम अत्थि।
(ख) भगवती, १२।१०

और अभेद-अन्वित भेद भी सत्य है। एक शब्द में भेदाभेद सत्य है।[1]

सत्य की मीमासा मे पूर्ण या अपूर्ण यह भेद नही होता। यह भेद हमारी प्रतिपादन पद्धति का है। सत्य स्वरूप-दृष्टि से अविभाज्य है। ध्रौव्य से उत्पाद-व्यय तथा उत्पाद-व्यय से ध्रौव्य कभी पृथक् नही हो सकता। अनन्त धर्मों की एकरूपता नही, इस दृष्टि से कथचित् विभाज्य भी है। इसी स्थिति के कारण वह शब्द या वर्णन का विषय बनता है। यही सापेक्ष सत्यता है। पदाथ निरपेक्ष सत्य है। उसके लिए सापेक्ष सत्यता की कोई कल्पना नही की जा सकती। सापेक्ष सत्यता, एक पदार्थ मे अनेक विरोधी धर्मों की स्थिति से हमारे ज्ञान में जो विरोध की छाया पड़ती है उसको मिटाने के लिए है। जैन-दर्शन जितना अनेकवादी है, उतना ही एकवादी है। वह सर्वथा एकवादी या अनेकवादी नही है। वेदान्त जैसे व्यवहार मे अनेकवादी और परमार्थ मे एकवादी है, वैसे जैन एक या अनेकवादी नही है। जैन दृष्टि के अनुसार एकता और अनेकता दोनो वास्तविक हैं। अनन्त धर्मों की अपृथक्-भाव सत्ता समन्वित सत्य है। यह सत्य की एकता है। ऐसे सत्य अनन्त हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। वे किसी एक सामान्य सत्य के अश या प्रतिबिम्ब नही हैं। वेदान्त की विश्व-विषयक कल्पना की जैन की एक-पदार्थ-विषयक कल्पना से तुलना होती है। दूसरे शब्दो मे यो कहना चाहिए कि जैन दर्शन एक पदार्थ के बारे मे वैसे एकवादी है जैसे वेदान्त विश्व के बारे मे। अनन्त सत्यो का समीकरण या वर्गीकरण एक मे या दो मे किया जा सकता है, किन्तु वे एक नही किये जा सकते। अस्तित्व (है) की दृष्टि से समूचा विश्व एक और स्वरूप की दृष्टि से समूचा विश्व दो (चेतन, अचेतन) रूप है। यह निश्चित है कि अनन्त पदार्थों मे व्यक्तिगत एकता न होने पर भी विशेष-गुणगत समानता और सामान्यगुणगत एकता है। अनन्त चेतन-व्यक्तियो मे चैतन्य गुण-कृत समानता और अनन्त अचेतन व्यक्तियो मे अचेतन-गुण-कृत समानता है। वस्तुत्व गुण की दृष्टि से चेतन और अचेतन दोनो एक हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से न सर्वथा भिन्न है, न सर्वथा अभिन्न है। सर्वथा अभिन्न नही है, इसलिए पदार्थों की नानात्मक सत्ता है और सर्वथा भिन्न नही है, इसलिए एकात्मक सत्ता है। विशेष गुण की दृष्टि से पदार्थ निरपेक्ष है। सामान्य गुण की

---

१ उत्पादादि सिद्धी, २१-२३

न हि द्रव्यातिरेकेण, पर्याया सन्ति केचन।
द्रव्यमेव तत सत्यम्, भ्रान्तिरन्या तु चित्रवत्॥
पर्यायव्यतिरेकेण, द्रव्य नास्तीह किंचन।
भेद एव तत सत्यो, भ्रान्तिस्तद् ध्रौव्यकल्पना॥
नाभेदमेव पश्यामो, भेद नापि च केवलम्।
जात्यन्तर तु पश्याम-स्तेनानेकान्त साधनम्॥

मूलभूत तत्त्व का स्वरूप समझाने मे नितान्त असमर्थ वताया है और इसी कारण वह परमार्थ के वीचोवीच तत्त्व-विचार को "कतिपय क्षण के लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्राम-गृह से वढकर अधिक महत्त्व नही रखता।"[1]

(समीक्षा) अनेकान्त-दृष्टि—'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थ ईश्वर' नही है, जो कि मूलभूत तत्त्व वना डाले। वह यथार्थ वस्तु को यथार्थतया जाननेवाली दृष्टि है। वस्तुवृत्या मूलभूत तत्त्व ही दो हैं। यदि अचेतन तत्त्व चेतन की भाति मूल तत्त्व नही होता—परमब्रह्म की ही माया या रूपान्तर होता तो अनेकान्तभाव को वहा तक पहुचने मे कोई आपत्ति नही होती। किन्तु वात ऐसी नही है, तव अनेकान्त-दृष्टि सर्व-दृष्टि से परम तत्त्व की एकात्मक सत्ता कैसे स्वीकार करे ?

डॉ० देवराज ने स्याद्वाद की समीक्षा करते हुए लिखा है—"विभिन्न दृष्टिकोणो अथवा विभिन्न अपेक्षाओ से किये गए एक पदार्थ के विभिन्न वर्णनो मे सामजस्य या किसी प्रकार की एकता कैसे स्थापित की जाये, यह जैन दर्शन नही वतलाता। प्रत्येक सत् पदार्थ मे ध्रुवता या स्थिरता रहती है, और प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद और व्यय वाला अथवा परिवर्तनशील है, इन दो तथ्यो पर जैन दर्शन अलग-अलग और समान गौरव देता है। क्या इन दोनो सत्यो को किसी प्रकार एक करके, एक सामजस्य के रूप मे नही देखा जा सकता ? तत्त्व मीमासा (Ontology) मे ही नही सत्य-मीमासा (Theory of Truth) मे भी जैन-दर्शन अनेकवादी है। विशिष्ट सत्य एक सामान्य सत्य के अश या अग नही हैं। परमाणुओ की भाति उनका भी अलग-अलग अस्तित्व है। सत्य एक नही अनेक हैं, यही पर 'सगतिवाद' और 'अनेकान्तवाद' मे भेद है। अनेक सत्यवादी होने के कारण ही जैन दर्शन सापेक्ष सत्यो से निरपेक्ष सत्य तक पहुचने का रास्ता नही वना पाता। वह यह मानता प्रतीत होता है कि पूर्ण सत्य अपूर्ण सत्यो का योगमात्र है, उनकी समष्टि नही।[2]

(समीक्षा) जैन-दर्शन ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय को पृथक्-पृथक् सत्य नही मानता। सत्य के दो रूप नही हैं। पदार्थ की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्ता ही सत्य है। यह दो सत्यो का योग नही, किन्तु एक ही सत्य के अनेक अभिन्न रूप हैं। तात्पर्य यह है कि न भेद सत्य है और न अभेद सत्य है—भेदाभेद सत्य है। द्रव्य के बिना पर्याय नही मिलते, पर्याय के विना द्रव्य नही मिलता, जात्यन्तर मिलता है—द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ मिलता है, इसलिए भेद-अन्वित अभेद भी सत्य है

---

१ भारतीय दर्शन, पृ० १७३
२ पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ६६-६७

डॉ० सर राधाकृष्णन् ने स्याद्वाद को अर्धसत्य बताते हुए लिखा है—"स्याद्वाद हमें अर्ध-सत्यो के पास लाकर पटक देता है। निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्यो का योग पूर्ण सत्य नही हो सकता।"[1]

(समीक्षा) इस पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि स्याद्वाद पूर्णसत्य को देश-काल की परिधि से मिथ्यारूप बनने से बचानेवाला है। सत् की अनन्त पर्यायें हैं, वे अनन्तसत्य हैं। वे विभक्त नही होती, इसलिए सत् अनन्त सत्यो का योग नही होता, किन्तु उन (अनन्त सत्यो) की विरोधात्मक सत्ता को मिटाने वाला होता है। दूसरी बात अनिश्चित सत्य स्याद्वाद को छूते ही नही। स्याद्वाद प्रमाण की कोटि मे है। अनिश्चित अप्रमाण है। यह सही है—पूर्ण सत्य शब्द द्वारा नही कहा जा सकता, इसीलिए 'स्यात्' को सकेत बनाना पडा। स्याद्वाद निरुपचरित अखण्ड सत्य को कहने का दावा नही करता। वह हमे सापेक्ष सत्य की दिशा मे ले जाता है।

राहुलजी स्याद्वाद को सजय के विक्षेपवाद का अनुकरण बताते हुए लिखते हैं—"आधुनिक जैन-दर्शन का आधार स्याद्वाद है, जो मालूम होता है, सजय-वेलट्ठिपुत्त के चार अग वाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अग वाला किया गया है। सजय ने तत्त्वो (परलोक, देवता) के बारे मे कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इनकार करते हुए उस इनकार को चार प्रकार कहा है—

१ है नही कह सकता।

२ नही है नही कह सकता।

३ है भी और नही भी नही कह सकता।

४ न है और न नही है नही कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनो के सात प्रकार के स्याद्वाद से—

१ है हो सकता है (स्याद्-अस्ति)

२ नही है नही भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)

३ है भी और नही भी हो सकता है और नही भी हो सकता है।
(स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनो उत्तर क्या कहे जा सकते (वक्तव्य) हैं?

इसका उत्तर जैन 'नही' मे देते हैं—

४ 'स्याद्' (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है? नही 'स्याद्' अवक्तव्य है।

५ 'स्याद् अस्ति' क्या यह वक्तव्य है? नही, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।

६ 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है? नही, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

---

1 Indian Philosophy, Vol 1, pp 305-306।

दृष्टि से पदार्थ सापेक्ष है। पदार्थों की एकता और अनेकता स्वयसिद्ध या सायोगिक है, इसलिए वह सदा रही है और रहेगी। इसलिए हमारा वैसा ज्ञान कभी सत्य नही हो सकता, जो अनेक को अवास्तविक मानकर एक को वास्तविक माने अथवा एक को अवास्तविक मानकर अनेक को वास्तविक माने।

जैन दर्शन का प्रसिद्ध वाक्य 'जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ''[1]—जो एक को जानता है वह सबको जानता है, अद्वैत का बहुत बडा पोषक है। किन्तु यह अद्वैत ज्ञेयत्व या प्रमेयत्व गुण की दृष्टि से है। जो ज्ञान एक ज्ञेय की अनन्त पर्यायो को जानता है, वह ज्ञेय मात्र को जानता है। जो एक ज्ञेय को सर्वरूप से नही जानता, वह सब ज्ञेयो को भी नही जानता। यही बात एक प्राचीन श्लोक बताता है—

"एको भाव सर्वथा येन दृष्ट, सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टा।
सर्वे भावा, सर्वथा येन दृष्टा, एको भाव सर्वथा तेन दृष्ट।"

एक को जान लेने पर सबको जान लेने की बात अथवा सबको जान लेने पर एक को जान लेने की बात सर्वथा अद्वैत मे तात्त्विक नही है। कारण कि उनमे एक ही तात्त्विक है, सब तात्त्विक नही। अनेकान्त-सम्मत ज्ञेय-दृष्टि से जो अद्वैत है, उसी मे—'एक और सब—दोनो तात्त्विक हैं, इसलिए जो एक को जानता है, वही सबको और जो सबको जानता है, वही एक को जानता है'—इसका पूर्ण सामजस्य है।

तर्कशास्त्र के लेखक गुलाबराय ने स्याद्वाद को अनिश्चय-सत्य मानकर एक काल्पनिक भय की रेखा खीची है। जैसे—"जैनो के अनेकान्तवाद ने एक प्रकार से मनुष्य की दृष्टि को विस्तृत कर दिया है, किन्तु व्यवहार मे हमको निश्चयता के आधार पर ही चलना पडता है। यदि हम पैर बढाने से पूर्व पृथ्वी की दृढता के 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' के फेर मे पड जाए तो चलना ही कठिन हो जाएगा।"[2]

(समीक्षा) लेखक ने सही लिखा है। अनिश्चय-दशा मे वैसा ही बनता है। किन्तु विद्वान् लेखक को यह आशका स्याद्वाद को सशयवाद समझने के कारण हुई है। इसलिए स्याद्वाद का सही रूप जानने के साथ-साथ यह अपने आप मिट जाती है—'शायद घडा है, शायद घडा नही है'— इससे दृष्टि का विस्तार नही होता प्रत्युत जाननेवाला कुछ जान ही नही पाता। दृष्टि का विस्तार तब होता है, जब हम अनन्त दृष्टिबिन्दु-ग्राह्य सत्य को एकदृष्टि-ग्राह्य ही न मानें। सत्य की एक रेखा को भी हम निश्चयपूर्वक न माप सकें, यह दृष्टि का विस्तार नही, उसकी बुराई है।

---

१ आयारो, ३।७४।
२ तर्क मीमांसा, (तीसरा भाग), पृ० २०८

एकान्त ।[1] एकान्त भी स्याद्वाद के अकुश से परे नही हो सकता। एकान्त असत् एकान्त न बन जाय - 'यह भी है' को छोडकर 'यही है' का रूप न ले ले, इसलिए वह जरूरी भी है।

भगवान् महावीर का युग दर्शन-प्रणयन का युग था। आत्मा, परलोक, स्वर्ग, मोक्ष है या नही—इन प्रश्नो की गूज थी। सामान्य विषय भी बहुत चर्चे जाते थे। प्रत्येक दर्शन-प्रणेता की अपने-अपने ढग की उत्तरशैली थी। महात्मा बुद्ध मध्यम प्रतिपदावाद या विभज्यवाद के द्वारा समझाते थे। सजय वेलट्ठिपुत्त विक्षेपवाद या अनिश्चयवाद की भाषा मे बोलते थे। भगवान् महावीर का प्रतिपादन स्याद्वाद के सहारे होता था। इन्हे एक-दूसरे का बीज मानना आग्रह से अधिक और कुछ नही लगता।

सजय की उत्तर-प्रणाली को अनेकान्तवादी कहना अनेकान्तवाद के प्रति घोर अन्याय है। भगवान् महावीर ने यह कभी नही कहा कि 'मैं समझता होऊ कि अमुक है तो आपको बतलाऊ।' वे निर्णय की भाषा मे बोलते। उनके अनेकान्त मे अनन्त धर्मों को परखनेवाली अनन्त दृष्टिया और अनन्त वाणी के विकल्प हैं। किन्तु याद रखिए, वे सब निर्णायक है। सजय के भ्रमवाद की भाति लोगो को भूलभुलैया मे डालनेवाले नही हैं। अनन्त धर्मों के लिए अनन्त दृष्टिकोणो और कुछ भी निर्णय न करनेवाले दृष्टिकोणो को एक कोटि मे रखने का आग्रह धूप-छाह को मिलाने जैसा है। इसे 'हा' और 'नही' का भेद नही कहा जा सकता। यह मौलिक भेद है। 'अस्तीति न भणामि'—'है' नही कह सकता और 'नास्तीति च न भणामि'—'नही है' नही कह सकता। सजय की इस सशयशीलता के विरुद्ध अनेकान्त कहता है—'स्यात् अस्ति'—अमुक अपेक्षा से यह है ही। 'स्यात् नास्ति'—अमुक अपेक्षा से यह नही ही है।

'घट यहा हो सकता है'—यह स्याद्वाद की उत्तर-पद्धति नही है। उसके अनुसार 'घट है—अपनी अपेक्षा से निश्चित है' यह रूप होगा।

ब्रह्मसूत्रकार व्यास और भाष्यकार शकराचार्य से लेकर आज तक स्याद्वाद के बारे मे जो दोष बताए गये हैं, उनकी सख्या लगभग आठ होती है, जैसे—

१ विरोध
२ वैयधिकरण्य
३ अनवस्था
४ सकर
५ व्यतिकर
६ सशय
७ अप्रतिपत्ति
८ अभाव

---

१ स्वयभूस्तोत्र (अरजिन स्तुति) १८
अनेकान्तोऽप्यनेकान्त प्रमाण-नयसाधन ।
अनेकान्त प्रमाप्रमाणते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥

७ 'स्याद् अस्ति च नास्ति च'—क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' अवक्तव्य है।

दोनो के मिलाने से मालूम होगा कि जैनो ने सजय के पहलेवाले तीन वाक्यो (प्रश्न और उत्तर-दोनो) को अलग-अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भगिया बनाई और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नही है' को छोडकर 'स्याद्' भी वक्तव्य है, यह सातवा भग तैयार कर अपनी सप्तभगी पूरी की।

उपलब्ध सामग्री से मालूम होता है कि सजय अपने अनेकान्तवाद का प्रयोग—परलोक, देवता, कर्म-फल मुक्त पुरुप जैसे परोक्ष विपयो पर करता था। जैन सजय की युक्ति को प्रत्यक्ष वस्तुओ पर भी लागू करते हैं। उदाहरणार्थ सामने मौजूद घट की सत्ता के बारे मे जैन दर्शन से यदि प्रश्न पूछा जाए तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

१. घट यहा है ?—हो सकता है। (स्याद् अस्ति)

२ घट यहा नही है ?—नही भी हो सकता है। (स्यान्नास्ति)

३ क्या यहा घट है भी और नही भी है ?—है भी और नही भी हो सकता है। (स्याद् अस्ति च नास्ति च)

४ हो सकता है (स्याद्) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है ? नही, 'स्याद्' यह अवक्तव्य है।

५ 'घट यहा हो सकता है' (स्याद् अस्ति) क्या यह कहा जा सकता है ? नही, 'घट यहा हो सकता है', यह नही कहा जा सकता।

६ 'घट यहा नही हो सकता' (स्याद् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है ? नही, घट यहा नही हो सकता, यह नही कहा जा सकता।

७ 'घट यहा हो भी सकता है, नही भी हो सकता है'—क्या यह कहा जा सकता है ? नही, घट यहा हो भी सकता है, नही भी हो सकता। यह नही कहा जा सकता—

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (वाद) की स्थापना न करना, जो कि सजय का वाद था, उसी को सजय के अनुयायियो के लुप्त हो जाने पर जैनो ने अपना लिया और उसकी चतुर्भङ्ग को न्याय की सप्तभगी मे परिणत कर दिया।[1]

(समीक्षा) सजय के अनिश्चयवाद का स्याद्वाद से कोई सम्बन्ध नही है। फिर भी पिसा आटा बार-बार पीसा जा रहा है। सजय का वाद न सद्भाव बताता है और न असद्भाव।[2] अनेकान्त विधि और प्रतिपेध—दोनो का निश्चय-पूर्वक प्रतिपादन करता है। अनेकान्त सिर्फ अनेकान्त ही नही, वह एकान्त भी है। प्रमाण-दृष्टि को मुख्य मानने पर अनेकान्त फलता है और नय-दृष्टि को मुख्य

---

१ दर्शन दिग्दर्शन, अध्याय १५, पृ० ४६८

२ अष्टसहस्री, पृ० १२६

नही छटते, इस अपेक्षा से परभव-गामी जीव शरीर-सहित जाता है। स्थूल शरीर एक जन्म-सम्बन्ध होते है, इस दृष्टि से वह अ-शरीर जाता है। एक ही प्राणी की स-शरीर और अ-शरीर गति विरोधी लगती है किन्तु अपेक्षा समझने पर वह वैसी नही लगती।

विरोध तीन प्रकार के है—१ वध्य-घातक-भाव २ सहानवस्थान, ३ प्रतिवन्ध्य-प्रतिवन्धक भाव।

पहला विरोध बलवान् और दुबल के बीच होता है। वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म तुल्यहेतुक और तुल्यबली है, इसलिए वे एक-दूसरे को बाध नही सकते।

दूसरा विरोध वस्तु की क्रमिक पर्यायो मे होता है। बाल्य और यौवन क्रमिक है, इसलिए वे एक साथ नही रह सकते। किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व क्रमिक नही है, इसलिए इनमे यह विरोध भी नही आता।

आम डठल मे बधा रहता है, तब तक गुरु होने पर भी नीचे नही गिरता। इनमे 'प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव' होता है। अस्तित्व-नास्तित्व के प्रयोजन का प्रतिबन्धक नही है। अस्ति-काल मे ही पर की अपेक्षा नास्ति-बुद्धि और नास्तिकाल मे ही स्व की अपेक्षा अस्ति-बुद्धि होती है, इसलिए इनमे प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव भी नही है। अपेक्षा-भेद से इनमे विरोध नही रहता।

स्याद्वाद विरोध लाता नही किन्तु अविरोधी धर्मो मे जो विरोध लगता है, उसे मिटाता है।[1]

१ जिस रूप से वस्तु सत् है, उसी रूप से वस्तु असत् मानी जाए तो विरोध आता है।[2] जैन-दर्शन यह नही मानता। वस्तु को स्व-रूप से सत् और पर-रूप से असत् मानता है। शंकराचार्य और भास्कराचार्य ने जो एक ही वस्तु को एक ही रूप से सत्-असत् मानने का विरोध किया है, वह जैन-दर्शन पर लागू नही होता।[3]

पंडित अम्बादासजी शास्त्री ने स्याद्वाद मे दीखनेवाले विरोध को आपातत सन्देह बताते हुए लिखा है—'यहा पर आपातत प्रत्येक व्यक्ति को यह शंका हो सकती है कि इस प्रकार परस्पर-विरोधी धर्म एक स्थान पर कैसे रह सकते है और

---

१ न्यायखण्डन खाद्य, श्लोक ४२
नह्ये वय नानाविरुद्धधर्मप्रतिपादक स्याद्वाद किन्त्वपेक्षाभेदेन तदविरोधद्योतकस्यात्पद-समभिव्याहृतवाक्यविशेष।

२, प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ५
यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैव असत्त्व, येनैव च असत्त्व, तेनैव सत्त्वमभ्युपेयेत तदा स्याद विरोध।

३ ब्रह्मसूत्र, २।२।३३ (शांकरभाष्य)

१ ठड और गर्मी मे विरोध है, वैसे ही 'है' और 'नही' मे विरोध है।[1] 'जो वस्तु है, वही नही है'—यह विरोध है।

२ जो वस्तु 'है' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है, वही 'नही' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त बनने की स्थिति मे सामानाधिकरण्य नही हो सकता। भिन्न निमित्तो से प्रवर्तित दो शब्द एक वस्तु मे रहे, तब सामानाधिकरण्य होता है।[2] सत् वस्तु में असत् की प्रवृत्ति का निमित्त नही मिलता, इसलिए सत् और असत् का अधिकरण एक वस्तु नही हो सकती।

३ पदार्थ मे सात भग जोडे जाते हैं, वैसे ही 'अस्ति' भग मे भी सात-भग जोडे जा सकते हैं—अस्ति भग मे जुडी सप्त-भगी मे अस्ति-भग होगा, उसमे फिर सप्त-भगी होगी। इस प्रकार सप्त-भगी का कही अन्त न आएगा।

४ 'है' और 'नही' दोनो एक स्थान मे रहेगे तो जिस रूप मे 'है' है उसी रूप मे 'नही' होगा—यह सकर दोष आएगा।

५ जिस रूप से 'है' है, उसी रूप से 'नही' हो जाएगा और जिस रूप से 'नही' है उसी रूप से 'है' हो जाएगा। विषय अलग-अलग नही रह सकेंगे।

६, ७, ८ सशय से पदार्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नही होगी और प्रतिपत्ति हुए विना पदार्थ का अभाव होगा।

जैन आचार्यो ने इनका उत्तर दिया है। सचमुच स्याद्वाद मे ये दोष नही आते। यह कल्पना उसका सही रूप न समझने का परिणाम है। इसके पीछे एक तथ्य है। मध्ययुग मे अजैन विद्वानो को जैन-ग्रन्थ पढने मे झिझक थी। क्यो थी पता नही, पर थी अवश्य। जैन आचार्य खुले दिल से अन्य दर्शन के ग्रन्थ पढते थे। अजैन ग्रन्थो पर उन द्वारा लिखी गई टीकाए इसका स्पष्ट प्रमाण हैं।

स्याद्वाद का निराकरण करते समय पूर्वपक्ष यथार्थ नही रखा गया। स्याद्वाद मे विरोध तब आता, जब कि एक ही दृष्टि से वह दो धर्मो को स्वीकार करता। पर बात ऐसी नही है। जैन-आगम पर दृष्टि डालिए। भगवान् महावीर से पूछा गया कि—भगवन्! जीव मरकर दूसरे जन्म मे जाता है, तब शरीर-सहित जाता है या शरीर-रहित?[3] 'भगवान् कहते हैं—'स्यात् शरीर-सहित और स्यात् शरीर-रहित।' उत्तर मे विरोध लगता है पर अपेक्षा दृष्टि के सामने आते ही वह मिट जाता है।

शरीर दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। शरीर मोक्ष-दशा मे पहले

---

१ ब्रह्मसूत्र, २।२।३३, (शांकरभाष्य)

२ नील-कमल—यह सामानाधिकरण्य है। कमल में नील गुण के निमित्त से 'नील' शब्द की और कमल-जाति के निमित्त से 'कमल' शब्द की प्रवृत्ति होती है।

३ भगवती, २।१
सिय ससरीरी निक्खमई सिय असरीरी निक्खमई।

मे। किन्तु अस्तित्व नास्तित्व रूप मे और नास्तित्व अस्तित्व रूप मे परिणत नही होता।[1] 'है' 'नहीं' नही वनता और 'नही' 'है' नही वनता, इसलिए व्यतिकरदोप भी नही आनेवाला है।[2]

६ स्याद्वाद मे अनेक धर्मों का निश्चय रहता है, इसलिए वह सशय भी नहीं है। प्रो० आनन्दशकर वापू भाई ध्रुव के शब्दो मे—'महावीर के सिद्धान्त मे वताये गए स्याद्वाद को कितने ही लोग सशयवाद कहते हैं, इसे मैं नही मानता। स्यादवाद सशयवाद नही है किन्तु वह एक दृष्टिविन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिए, यह हमे सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टिविन्दुओ द्वारा निरीक्षण किये विना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण रूप मे आ नही सकती। स्याद्वाद (जैन-धर्म) पर आक्षेप करना अनुचित है।'

७-८ सशय नही तव निश्चित ज्ञान का अभाव—अप्रतिपत्ति नही होगी। अप्रतिपत्ति के विना वस्तु का अभाव भी नही होगा।

विकलादेश और सकलादेश

वस्तु-प्रधान ज्ञान सकलादेश और गुण-प्रधान ज्ञान विकलादेश होता है। इसके सम्वन्ध मे तीन मान्यताए हैं। पहली के अनुसार सप्तभगी का प्रत्येक भग सकलादेश और विकलादेश दोनो होता है।

दूसरी मान्यता के अनुसार प्रत्येक भग विकलादेश होता है और सम्मिलित सातो भग सकलादेश कहलाते हैं।

तीसरी मान्यता के अनुसार पहला, दूसरा और चौथा भग विकलादेश और शेष सव सकलादेश होते हैं।

द्रव्य-नय की मुख्यता और पर्याय-नय की अमुख्यता से गुणो की अभेदवृत्ति वनती है। इससे स्याद्वाद सकलादेश या प्रमाणवाक्य वनता है।

पर्याय-नय की मुख्यता और द्रव्य-नय की अमुख्यता से गुणो की भेदवृत्ति वनती है। उससे स्याद्वाद-विकलादेश या नय-वाक्य वनता है।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सकलादेश और विकलादेश। अनन्त धर्म वाली वस्तु के अखण्ड रूप का प्रतिपादन करनेवाला वाक्य सकलादेश होता है। वाक्य मे यह शक्ति अभेद-वृत्ति की मुख्यता और अभेद का उपचार—इन दो कारणो से आती है। अनन्त धर्मों को अभिन्न वनानेवाले आठ कारण हैं—

---

१ भगवती, १।३।१२३

२ परस्परविपयगमन व्यतिकर ।

—एक विपय का दूसरे विपय में सक्रमण होना 'व्यतिकर दोप' है।

इसी से वेदान्त सूत्र मे व्यासजी ने एक स्थान पर लिखा है—'नैकस्मिन्नसम्भवात्' —अर्थात् एक पदार्थ मे परस्पर विरुद्ध नित्यानित्यत्वादि नही रह सकते। परन्तु जैनाचार्यों ने स्याद्वाद-सिद्धान्त से इन परस्पर-विरोधी धर्मों का एक स्थान मे भी रहना सिद्ध किया है और वह युक्तियुक्त भी है, क्योकि वे विरोधी धर्म विभिन्न अपेक्षाओ से एक वस्तु मे रहते हैं, न कि एक ही अपेक्षा से।"[1]

प्रो० फणिभूपण अधिकारी (अध्यक्ष—दर्शनशास्त्र, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय) के शब्दो मे—'विद्वान् शकराचार्य ने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह वात अन्य योग्यतावाले पुरुपो मे क्षम्य हो सकती थी किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मै भारत के इस महान् विद्वान् को सर्वथा अक्षम्य ही कहूगा। यद्यपि मैं इस महर्पि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हू। ऐसा जान पडता है कि उन्होंने इस धर्म के, जिसके लिए अनादर से 'विवसन-समय' अर्थात् नग्न लोगो का सिद्धान्त ऐसा नाम वे रखते है, दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थो के अध्ययन की परवाह नही की।'

२ वस्तु के 'सत्' अश से उसमे 'है' शब्द की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही उसके असत् अश से उसमे 'नही शब्द की प्रवृत्ति होने का निमित्त वनता है। 'है' और 'नही' ये दोनो एक ही वस्तु के दो भिन्न धर्मो द्वारा प्रवर्तित होते है। इसलिए वैयधिकरण्य दोष भी स्याद्वाद को नही छूता।

३ किसी वस्तु मे अनन्त विकल्प होते है, इसीलिए अनवस्था-दोप[2] नही वनता। यह दोष तव वने, जब कि कल्पनाए अप्रामाणिक हो। सप्तभगिया प्रमाण-सिद्ध हैं। इसलिए एक पदार्थ मे अनन्त-सप्तभगी होने पर भी यह दोप नही आता। धर्म मे धर्म की कल्पना होती ही नही। अस्तित्व धर्म है, उसमे दूसरे धर्म की कल्पना ही नही होती, तव अनवस्था कैसे ?

४ वस्तु जिस रूप से 'अस्ति' है, उसी रूप से 'नास्ति' नही है। इसलिए सकर-दोप[3] भी नही आएगा।

५ अस्तित्व अस्तित्व रूप मे परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व रूप

---

१ मेरी जीवन गाथा

२ अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था अथवा अव्यवस्थितपरम्परोपाधीनानिष्टप्रसग अनवस्था।

—अप्रामाणिक कल्पनाओ से अनन्त पदार्थो की परिकल्पना करने से कही विश्राम नही मिलता। ऐसी अवस्था को 'अनवस्था दोप, कहा जाता है।

—(अथवा) अव्यवस्थित परम्परा के कारण जो अनिष्ट प्रसग उत्पन्न होता है, उसे 'अनवस्था दोप' कहा जाता है।

३ सर्वेषां युगपत् प्राप्ति सकर।

—वस्तु मे रहे हुए सभी धर्मो की एक साथ प्राप्ति को 'सकर-दोप' कहा जाता है।

७ वस्त्वात्मा का 'है' के साथ जो ससर्ग होता है, वही अन्य धर्मों के साथ होता है—इस ससर्ग की दृष्टि से भी सब धर्म भिन्न नही हैं। आम का मिठास के साथ होनेवाला सम्बन्ध उसके पीलेपन के साथ होनेवाले सम्बन्ध से भिन्न नहीं होता। इसलिए वे दोनो अभिन्न हैं। धर्म और धर्मी भिन्नाभिन्न होते हैं। अविष्वग्भाव सम्बन्ध मे अभेद प्रधान होता है और भेद गौण।

८ जो 'है' शब्द अस्तित्व धर्म वाली वस्तु का वाचक है, वह शेष अनन्त धर्म वाली वस्तु का भी वाचक है—इस शब्द-दृष्टि से भी सब धर्म अभिन्न हैं।

काल आदि की दृष्टि से भिन्न धर्मों का अभेद-उपचार

१ समकाल एक मे अनेक गुण हो, यह सम्भव नही। यदि हो तो उनका आश्रय भिन्न होगा।

२ अनेकविध गुणो का आत्मरूप एक हो, यह सम्भव नही, यदि हो तो उन गुणो मे भेद नही माना जाएगा।

३ अनेक गुणो के आश्रयभूत अर्थ अनेक होंगे, यह न हो तो एक अनेक गुणो का आश्रय कैसे बने ?

४ अनेक सम्बन्धियो का एक के साथ सम्बन्ध नही हो सकता।

५ अनेक गुणो के उपकार अनेक होंगे—एक नही हो सकता।

६ गुणी का क्षेत्र—प्रत्येक भाग प्रतिगुण के लिए भिन्न होना चाहिए नही तो दूसरे गुणी के गुणो का भी इस गुणी-देश से भेद नही हो सकेगा।

७ ससर्ग प्रतिससर्गी का भिन्न होगा।

८ प्रत्येक विषय के शब्द पृथक् होंगे। सब गुणो को एक शब्द बता सके तो सब अर्थ एक शब्द के वाच्य बन जाएगे और दूसरे शब्दो का कोई अर्थ नही होगा।

त्रिभगी या सप्तभगी

अपनी सत्ता का स्वीकार और पर-सत्ता का अस्वीकार ही वस्तु का वस्तुत्व है।[1] यह स्वीकार और अस्वीकार दोनो एकाश्रयी होते हैं। वस्तु मे 'स्व' की सत्ता की भाति 'पर' की असत्ता नही हो तो उसका स्वरूप ही नही बन सकता। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय अनेक विकल्प करने आवश्यक हैं। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नही है, स्यात् अवक्तव्य है।'[2] स्व की अपेक्षा वह आत्मा (अस्तित्व) है, पर की अपेक्षा वह आत्मा नही है, युगपत् दोनो की अपेक्षा वह अवक्तव्य है। ये तीन विकल्प हैं, इनके सयोग से चार विकल्प और बनते हैं—

---

१ स्वपरसत्ताव्युदासोपादानापाद्य हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।

२ भगवती, १२।१०

१ काल	५ उपकार
२ आत्म-रूप	६ गुणी-देश
३ अर्थ-आधार	७ ससर्ग
४ सम्बन्ध	८ शब्द

वस्तु और गुण-धर्मो के सम्बन्ध की जानकारी के लिए इनका प्रयोग किया जाता है।

हम वस्तु के अनन्त गुणो को एक-एक कर वताए और फिर उन्हे एक धागे मे पिरोए, यह हमारा अनन्त जीवन हो तब बनने की वात है। बिखेरने के वाद समेटने की वात ठीक बैठती नही, इसलिए एक ऐसा द्वार खोलें या एक ऐसी प्रकाश-रेखा डालें, जिसमे से या जिसके द्वारा समूची वस्तु दीख जाय। यह युक्ति हमे भगवान् महावीर ने सुझाई। वह है, उनकी वाणी मे 'सिय' शब्द। उसी का सस्कृत अनुवाद होता है 'स्यात्'। कोई एक धर्म 'स्यात्' से जुडता है और वह वाकी के सव धर्मों को अपने मे मिला लेता है। 'स्यात् जीव है'—यहा हम 'है' इसके द्वारा जीव की अस्तिता बताते हैं और 'है' स्यात् से जुडकर आया है, इसलिए यह अखण्ड रूप मे नही, किन्तु अखण्ड वनकर आया है। एक धर्म मे अनेक धर्मों की अभिन्नता वास्तविक नही होती, इसलिए यह अभेद एक धर्म की मुख्यता या उपचार से होता है।

१ जिस समय वस्तु मे 'है' है, उस समय अन्य धर्म भी हैं, इसलिए काल की दृष्टि से 'है' और वाकी के सव धर्म अभिन्न हैं।

२ 'है' धर्म जैसे वस्तु का आत्मरूप है, वैसे अन्य धर्म भी उसके आत्मरूप हैं। इस आत्मरूप की दृष्टि मे प्रतिपाद्य धर्म का अप्रतिपाद्य धर्मों से अभेद है।

३ जो अर्थ 'है' का आधार है, वही अन्य धर्मों का है। जिसमे एक है, उसी मे सव हैं—इस अर्थदृष्टि या आधारभूत द्रव्य की दृष्टि से सब धर्म एक हैं—समानाधिकरण हैं।

४ वस्तु के साथ 'है' का जो अविष्वग्भाव या अपृथग्भाव सम्बन्ध है, वही अन्य धर्मों का है—इस तादात्म्य सम्वन्ध की दृष्टि से भी सव धर्म अभिन्न हैं।

५ जैसे वस्तु के स्वरूप-निर्माण मे 'है' अपना योग देता है, वैसे ही दूसरे धर्मों का भी उसके स्वरूप-निर्माण मे योग है। इस योग या उपचार की दृष्टि से भी सवमे अभेद है। पके हुए आम मे मिठास और पीलापन का उपचार भिन्न नही होता। यही स्थिति शेष सव धर्मों की है।

६ जो वस्तु सम्बन्धी क्षेत्र 'है' का होता है, वही अन्य धर्मों का होता है—इस गुणी-देश की दृष्टि से भी सव धर्मों मे भेद नही है। उदाहरणस्वरूप आम के जिस भाग मे मिठास है, उसी मे पीलापन है। इस प्रकार वस्तु के देश—भाग की दृष्टि से वे दोनो एकरूप है।

के द्वारा वस्तु का प्रतिपादन नही हो सकता, इसलिए युगपत् एक शब्द से समस्त वस्तु के प्रतिपादन की विवक्षा होती है, तब वह अवक्तव्य बन जाती है।

वस्तु-प्रतिपादन के ये मौलिक विकल्प तीन ही हैं। अपुनरुक्त रूप मे इनके चार विकल्प और हो सकते हैं, इसलिए सात विकल्प बनते हैं। बाद के भगो मे पुनरुक्ति आ जाती है। उनमे कोई नया बोध नही मिलता, इसलिए उन्हे प्रमाण मे स्थान नही मिलता। इसका फलित रूप यह है कि वस्तु के अनन्त धर्मो पर अनन्त सप्तभगिया होती हैं किन्तु एक धर्म पर सात से अधिक भग नही बनते।

४ अपुनरुक्त-विकल्प—सत् द्रव्याश होता है और असत् पर्यायाश। द्रव्याश की अपेक्षा वस्तु सत् है और अभाव रूप पर्यायाश की अपेक्षा वस्तु असत् है। एक साथ दोनो की अपेक्षा अवक्तव्य है। क्रम-विवक्षा मे उभयात्मक है।

५-६-७ अवक्तव्य का सद्भाव की प्रधानता से प्रतिपादन हो तब पाचवा, असद्भाव की प्रधानता से हो तब छठा और क्रमश दोनों की प्रधानता से हो तब सातवा भग बनता है।

प्रथम तीन असायोगिक विकल्पो मे विवक्षित धर्मो के द्वारा अखण्ड वस्तु का ग्रहण होता है, इसलिए ये सकलादेशी हैं। शेप चारो का विपय देशावच्छिन्न धर्मी होता है, इसलिए वे विकलादेशी हैं।[1]

एक विद्यार्थी मे योग्यता, अयोग्यता, सक्रियता और निष्क्रियता—ये चार धर्म मान सात भगो की परीक्षा करने पर इनकी व्यावहारिकता का पता लग सकेगा। इनमे दो गुण सद्भावरूप हैं और दो उनके प्रतियोगी।

किसी व्यक्ति ने अध्यापक से पूछा—'अमुक विद्यार्थी पढने मे कैसा है ?'

अध्यापक ने कहा—'बडा योग्य है।'

१ यहा पढ़ाई की अपेक्षा से उसका योग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेप सब धर्म उसके अन्दर छिप गए—गौण बन गए।

दूसरे ने पूछा—'विद्यार्थी नम्रता मे कैसा है ?'

अध्यापक ने कहा—'बडा अयोग्य है।'

२ यहा उद्दण्डता की अपेक्षा से उसका अयोग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेप सब धर्म गौण बन गए ?

किसी तीसरे व्यक्ति ने पूछा—'वह पढने मे और विनय-व्यवहार मे कैसा है ?'

अध्यापक ने कहा—'क्या कहें यह बडा विचित्र है। इसके बारे मे कुछ कहा नही जा सकता।'

---

१ नय रहस्य, पृ० २१
अत्र च सकलधर्मिविपयत्वात् त्रयो भगा अविकलादेशा, चत्वारश्च देशावच्छिन्नधर्मिविपयत्वात् विकलादेशा।

४ स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति— रत्नप्रभा पृथ्वी स्व की अपेक्षा है, पर की अपेक्षा नही है—यह दो अशो की क्रमिक विवक्षा है।

५ स्यात्-अस्ति, स्यात्-अवक्तव्य— स्व की अपेक्षा है, युगपत् स्व पर की अपेक्षा अवक्तव्य है।

६ स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—पर की अपेक्षा नही है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा अवक्तव्य है।

७ स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—एक अश स्व-की अपेक्षा है, एक अश पर की अपेक्षा नही है, युगपत् दोनो की अपेक्षा अवक्तव्य है।

प्रमाण-सप्तभगी

सत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन (१) इसलिए—अस्ति।

असत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन (२) इसलिए—नास्ति।

उभय धर्म की प्रधानता से क्रमश वस्तु का प्रतिपादन (३) इसलिए—अस्ति-नास्ति।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नही हो सकता (४) इसलिए—अवक्तव्य।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नही हो सकता—सत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (५) इसलिए—अवक्तव्य-अस्ति।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नही हो सकता—असत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (६) इसलिए—अवक्तव्य-नास्ति।

उभय धर्म की प्रधानता के साथ उभय धर्म की प्रधानता से क्रमश वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (७) इसलिए—अवक्तव्य-अस्ति-नास्ति।

सप्तभगी ही क्यो ?

वस्तु का प्रतिपादन क्रम और यौगपद्य, इन दो पद्धतियो से होता है। वस्तु मे 'अस्ति' धर्म भी होता है और 'नास्ति' धर्म भी।

१-२ 'वस्तु है'—यह अस्तिधर्म का प्रतिपादन है। 'वस्तु नही है'—यह नास्ति धर्म का प्रतिपादन है। यह क्रमिक प्रतिपादन है। अस्ति और नास्ति एक साथ नही कहे जा सकते, इसलिए युगपत् अनेक धर्म-प्रतिपादन की अपेक्षा पदार्थ अवक्तव्य है। यह युगपत् प्रतिपादन है।

३ क्रम-पद्धति मे जैसे एक काल मे एक शब्द से एक गुण के द्वारा समस्त वस्तु का प्रतिपादन हो जाता है, वैसे एक काल मे एक शब्द से दो प्रतियोगी गुणो

है, एक नहीं। एक घड़े की मिट्टी के परमाणु दूसरे घड़े की मिट्टी के परमाणुओं से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार अवगाह, परिणमन और गुण भी एक नहीं होते।

वस्तु के अनन्त धर्म पर विधि-निषेध की कल्पना करने से अनन्त त्रिभंगियां या सप्तभंगियां होती हैं किन्तु उसके एक धर्म पर विधि-निषेध की कल्पना करने से त्रिभंगी या सप्तभंगी ही होती है।

वस्तु के धर्म सात हैं, इसलिए सात प्रकार के सन्देह, सात प्रकार के सन्देह हैं इसलिए सात प्रकार की जिज्ञासा, सात प्रकार की जिज्ञासा से सात प्रकार के पर्यनुयोग और सात प्रकार के पर्यनुयोग से सात प्रकार के विकल्प बनते हैं।[1]

अहिंसा-विकास में अनेकान्तदृष्टि का योग

जैन धर्म का नाम याद आते ही अहिंसा साकार हो आखों के सामने आ जाती है। अहिंसा की अर्थात्मा जैन शब्द के साथ इस प्रकार घुली-मिली हुई है कि इनको विभाजित नहीं किया जा सकता। लोक-भाषा में यही प्रचलित है कि जैन धर्म यानी अहिंसा, अहिंसा यानी जैन धर्म।

धर्म मात्र अहिंसा को आगे किये चलते हैं। कोई भी धर्म ऐसा नहीं मिलता, जिसका मूल या पहला तत्त्व अहिंसा न हो। तब फिर जैन धर्म के साथ अहिंसा का ऐसा तादात्म्य क्यों? यहां विचार कुछ आगे बढ़ता है।

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओं पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के बारे में अनेक धर्मों में विभिन्न धाराएं मिलती हैं। स्थूल रूप से समानता के बीज भी न मिलते हों, ऐसी बात नहीं, किन्तु बौद्धिक अहिंसा के क्षेत्र में भगवान् महावीर से जो अनेकान्त-दृष्टि मिली, वही उसका कारण है कि जैन धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो चला।

भगवान् महावीर ने देखा कि हिंसा की जड़ विचारों की विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है। जड़ में हिंसा-अहिंसा के भाव नहीं होते। इसकी उद्भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकाएं अनन्त हैं।

प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं। उनको जानने के लिए अनन्त दृष्टियां हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है। सब धर्मों का वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु और सत्यांशों का वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

---

1 अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक २३

अपर्ययं वस्तु समस्यमान-मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।

आदेशभेदोदितसप्तभंगमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥

३ यह विचार उस समय निकलता है, जब उसकी पढाई और उच्छृंखलता, ये दोनो एक साथ मुख्य बन दृष्टि के सामने नाचने लग जाती हैं। और कभी-कभी ऐसा भी उत्तर होता है, 'भाई ! अच्छा ही है, पढने मे योग्य है किन्तु वैसे व्यवहार मे योग्य नही है।'

पाचवा उत्तर—'योग्य है, फिर भी बडा विचित्र है, उसके बारे मे कुछ कहा नही जा सकता।'

छठा उत्तर—'योग्य नही है, फिर भी बडा विचित्र है, उसके बारे मे कुछ कहा नही जा सकता।'

सातवा उत्तर—'योग्य भी है, नही भी। अरे, क्या पूछते हो, बडा विचित्र लडका है, उसके बारे मे कुछ कहा नही जा सकता।'

उत्तर देनेवाले की भिन्न-भिन्न मन स्थितिया होती हैं। कभी उसके सामने योग्यता की दृष्टि प्रधान हो जाती है और कभी अयोग्यता की। कभी एक साथ दोनो और कभी क्रमश। कभी योग्यता का बखान होते-होते योग्यता-अयोग्यता दोनो प्रधान बनती हैं, तब आदमी उलझ जाना है। कभी अयोग्यता का बखान होते-होते दोनो प्रधान बनती है और उलझन आती है। कभी योग्यता और अयोग्यता दोनो का क्रमिक बखान चलते-चलते दोनो पर एक साथ दृष्टि दौडते ही 'कुछ कहा नही जा सकता'—ऐसी वाणी निकल पडती है।

जीव की सक्रियता और निष्क्रियता पर स्याद्-अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य का प्रयोग—

मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार जीव और पुद्गल के सयोग से होता है। एकान्त निश्चयवादी के अनुसार जीव निष्क्रिय और अजीव सक्रिय है। साख्य दर्शन की भाषा मे पुरुष निष्क्रिय और प्रकृति सक्रिय है। एकान्त व्यवहारवादी के अनुसार जीव सक्रिय है और अजीव निष्क्रिय। विज्ञान की भाषा मे जीव सक्रिय और अजीव निष्क्रिय है। स्याद्वाद की दृष्टि से जीव सक्रिय भी है, निष्क्रिय भी है और अवाच्य भी।

लब्धि-वीर्य या शक्ति की अपेक्षा से जीव की निष्क्रियता सत्य है, करण-वीर्य या क्रिया की अपेक्षा से जीव की सक्रियता सत्य है, उभय धर्मों की अपेक्षा से अवक्तव्यता सत्य है।

गुण-समुदाय को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य के प्रदेशो—अवयवो को क्षेत्र कहते है। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार द्रव्य का आधार भी क्षेत्र कहलाता है। द्रव्य के परिणमन को काल कहते हैं। जिस द्रव्य का जो परिणमन है, वही उसका काल है। घडी, मुहूर्त आदि काल व्यावहारिक कल्पना है। द्रव्य के गुण—शक्ति-परिणमन को भाव कहते हैं। प्रत्येक वस्तु का द्रव्यादि चतुष्टय भिन्न-भिन्न रहता है। एक जैसे, एक क्षेत्र मे रहे हुए, एक साथ बने, एक रूप-रग वाले सौ घडो मे सादृश्य हो सकता

मैंने क्या ?" गणधर ने भगवान् को वन्दन किये, तब उन्होंने बोला—"यह मोह-व्याक्षिप्त है, इसलिए यह ऐसा अपना काम करता है। मैं मोह-व्याक्षिप्त नहीं हूं, इसलिए मुझे बाध करना उचित नहीं।"

भगवान् ने चण्डकौशिक और अपने भक्तों को समान दृष्टि से देखा, इसलिए देखा कि उनकी विषमता की अपेक्षा दोनों समरूप मित्र थे।

चण्डकौशिक अपनी उग्रता की अपेक्षा भगवान् का शत्रु माना जा सकता है किन्तु भगवान् की मैत्री की अपेक्षा वह उनका शत्रु नहीं माना जा सकता। इस बौद्धिक अहिंसा का विकास होने की आवश्यकता है।

स्कन्दक संन्यासी को उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—विश्व सान्त भी है, अनन्त भी। यह अनेकान्त दार्शनिक क्षेत्र में उपयुक्त है। दार्शनिक समस्या इस दृष्टि से बहुत सरलता से सुलझाई जा सकती है, किन्तु इसका क्षेत्र सिर्फ मतवाद ही नहीं है। कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनीतिक झगड़े समस्याओं के लिए सदा खुले रहते हैं। उनमें अनेकान्त दृष्टिलभ्य बौद्धिक अहिंसा का विकास किया जाए तो बहुत सारे संघर्ष टल सकते हैं। जो कहीं भय या ईर्ष्याभाव बढ़ता है, उसका कारण ऐकान्तिक आग्रह ही है। एक रोगी कहे, मिठाई बहुत हानिकारक वस्तु है, इस स्थिति में स्वस्थ व्यक्ति को एकाएक झेंपना नहीं चाहिए। उसे सोचना चाहिए—"कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभकारक या हानिकारक नहीं होती।" उसकी लाभ और हानि की वृत्ति किसी व्यक्ति-विशेष के साथ जुड़ने से बनती है। ज़हर किसी के लिए ज़हर है, वही किसी के लिए अमृत होता है। परिस्थिति के परिवर्तन से ज़हर जिसके लिए ज़हर होता है, उसी के लिए अमृत भी बन जाता है। साम्यवाद पूंजीवाद को बुरा लगता है और पूंजीवाद साम्यवाद को, इनमें ऐकान्तिकता ठीक नहीं हो सकती। किसी में कुछ और किसी में कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते हैं। इस प्रकार हर क्षेत्र में जैन धर्म अहिंसा को साथ लिए चलता है।

तत्त्व और आचार पर अनेकान्तदृष्टि

एकान्तवाद आग्रह या संक्लिष्ट मनोदशा का परिणाम है, इसलिए वह हिंसा है। अनेकान्त दृष्टि में आग्रह या संक्लेश नहीं होता, इसलिए वह अहिंसा है। साधक को उसी का प्रयोग करना चाहिए।

एकान्तदृष्टि में व्यवहार भी नहीं चलता, इसलिए उसका स्वीकार अनाचार है। अनेकान्तदृष्टि से व्यवहार का भी लोप नहीं होता, इसलिए उसका स्वीकार आचार है। इनके अनेक स्थानों का वर्णन करते हुए सूत्रकृताग में बताया है—

१ पदार्थ नित्य ही है या अनित्य ही है—यह मानना अनाचार है। पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य—यह मानना आचार है।

२ शास्ता—तीर्थंकर, उनके शिष्य या भव्य, इनका सर्वथा उच्छेद हो

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय मे कही नही जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमे वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू है, उतने ही सत्य हैं, जितने सत्य हैं, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही अपेक्षाए हैं। जितनी अपेक्षाए हैं, उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-विन्दु है। उसके चारो ओर विवाद-सवाद, सघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिंसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुडते हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खडे होने लगते हैं। वस यही से विचारो का स्रोत दो धाराओ मे वह चलता है—अनेकान्त या सत्-एकान्त-दृष्टि—अहिंसा, असत्-एकान्त-दृष्टि—हिंसा।

कोई वात या कोई शब्द सही है या गलत इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि की अनेक धाराए चाहिए। वक्ता ने जो शब्द कहा, तव वह किस अवस्था मे था ? उसके आस-पास की परिस्थितिया कैसी थी ? उसका शब्द किस शब्द-शक्ति से अन्वित था ? विवक्षा मे किसका प्राधान्य था ? उसका उद्देश्य क्या था ? वह किस साध्य को लिए चलता था ? उसकी अन्य निरूपण-पद्धतिया कैसी थी ? तत्कालीन सामयिक स्थितिया कैसी थी ? आदि-आदि अनेक छोटे-वडे वाट मिल-कर एक-एक शब्द को सत्य की तराजू मे तोलते हैं।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसे प्रकाश मे लाने का एकमात्र साधन है—शब्द। उसके सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आप मे सत्य या असत्य कुछ भी नही है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य या असत्य से जुडता है। 'रात' एक शब्द है, वह अपने आप मे सही या झूठ, कुछ भी नही। वक्ता अगर रात को रात कहे तो वह शब्द सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है, तव कैसे कोई व्यक्ति केवल उसी के सहारे सत्य को ग्रहण कर सकता है ?

इसीलिए भगवान् महावीर ने वताया—"प्रत्येक धर्म (वस्त्वश) को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्याश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्याशो को ठुकराकर कोई उसे पकडना चाहे तो वह सत्याश भी उसके सामने असत्याश वनकर आता है।"

'दूसरो के प्रति ही नही किन्तु उनके विचारो के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरो को समझने की भी चेष्टा करो। यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसी का नाम है—वौद्धिक अहिंसा।'

भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा, इसे जीवन-व्यवहार मे भी उतारा। चण्डकौशिक साप ने भगवान् के डक मारे, तव उन्होंने सोचा—"यह अज्ञानी है, इसीलिए मुझे काट रहा है, इस दशा मे मैं इस पर क्रोध

का हेतु बनता है। अहिंसा और सक्लेश का जन्मजात विरोध है। इसलिए अहिंसा को पल्लवित करने के लिए अनेकान्तदृष्टि परम आवश्यक है। आत्मवादी दर्शनों का मुख्य लक्ष्य है—बंध और मोक्ष की मीमांसा करना। बंध, बंध कारण, मोक्ष और मोक्ष-कारण—यह चतुष्टय अनेकान्त को माने बिना घट नहीं सकता। अनेकान्तात्मकता के साथ क्रम अक्रम व्याप्त है। क्रम-अक्रम से अर्थ-क्रिया व्याप्त है। अर्थ-क्रिया मे अस्तित्व व्याप्त है।

स्याद्वाद की प्रशस्ति

स्याद्वादाय नमस्तस्मै, य विना सकला क्रिया ।
लोकद्वितयभाविन्यो, नैव साङ्गत्यमासते ॥

जिसकी शरण लिए विना लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार की क्रियाए सगत नही होती, उस स्याद्वाद को नमस्कार है।

जेन विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघडइ।
तस्स भुवणेकगुरुणो, णमो अणेगतवायस्स ॥

जिसके विना लोक-व्यवहार भी सगत नही होता, उस जगद्गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

उत्पन्न दधिभावेन, नष्ट दुग्धतया पय ।
गोरसत्वात् स्थिर जानन्, स्याद्वादद्विड् जनोऽपि क ॥

दही बनता है, दूध मिटता है, गोरस स्थिर रहता है। उत्पाद और विनाश के पौर्वापर्य मे भी जो अपूर्वापर है, परिवर्तन मे भी जो अपरिवर्तित है, इसे कौन अस्वीकार करेगा।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

एक प्रधान होता है, दूसरा गौण हो जाता है—यह जैन दर्शन का नय है। इस सापेक्ष नीति से सत्य उपलब्ध होता है। नवनीत तब मिलता है, जब एक हाथ आगे बढ़ता है और दूसरा हाथ पीछे सरक जाता है।

जाएगा—संसार भव्य जीवन शून्य हो जाएगा, या मोक्ष होता ही नही—यह मानना अनाचार है। भवस्थ केवली मुक्त होते हैं, इसलिए वे शाश्वत नही हैं और प्रवाह की अपेक्षा केवली सदा रहते हैं, इसलिए शाश्वत भी हैं—यह मानना आचार है।

३ सब जीव विसदृश ही है या सदृश ही हैं—यह मानना अनाचार है। चैतन्य, अमूर्तत्व आदि की दृष्टि से प्राणी आपस मे समान भी हैं और कर्म, गति, जाति, विकास आदि की दृष्टि से विलक्षण भी हैं—यह मानना आचार है।

४ सब जीव कर्म की गाठ से बधे हुए ही रहेगे अथवा सब छूट जाएगे—यह मानना अनाचार है। काल, लब्धि, वीर्य, पराक्रम आदि सामग्री पानेवाले मुक्त होगे भी और नही पानेवाले नही भी होंगे—यह मानना आचार है।

५ छोटे और बड़े जीवो को मारने मे पाप सरीखा होता है अथवा सरीखा नही होता—यह मानना अनाचार है। हिंसा मे वध की दृष्टि से सादृश्य भी है और वध की मन्दता, तीव्रता की दृष्टि से असादृश्य भी—यह मानना आचार है।

६ आधाकर्म आहार खाने मे मुनि कर्म से लिप्त होते ही है या नही ही होते—यह मानना अनाचार है। जान-बूझकर आधाकर्म आहार खाने मे लिप्त होते हैं और शुद्ध नीति से व्यवहार मे शुद्ध जानकर लिया हुआ आधाकर्म आहार खाने से लिप्त नही भी होते—यह मानना आचार है।

७ स्थूल और सूक्ष्म शरीर अभिन्न ही है, या भिन्न ही है—यह मानना अनाचार है। इन शरीरो की घटक वर्गणाए भिन्न हैं, इस दृष्टि से ये भिन्न भी हैं और एक देश-काल मे उपलब्ध होते हैं, इसलिए अभिन्न भी हैं—यह मानना आचार है।

८ सर्वत्र वीर्य है, सब सब जगह है, सर्व सर्वात्मक है, कारण मे कार्य का सर्वथा सद्भाव है या सब मे सबकी शक्ति नही है—कारण मे काय का सर्वथा अभाव है—यह मानना अनाचार है। अस्तित्व आदि सामान्य धर्मो की अपेक्षा पदार्थ एक सर्वात्मक भी है और कार्य-विशेष गुण आदि की अपेक्षा अ-सर्वात्मक—भिन्न भी है। कारण मे कार्य का सद्भाव भी है और असद्भाव भी—यह मानना आचार है।

९ कोई पुरुष कल्याणवान् ही है या पापी ही है—यह नही कहना चाहिए। एकान्तत कोई भी व्यक्ति कल्याणवान् या पापी नही होता।

१० जगत् दु ख रूप ही है—यह नही कहना चाहिए। मध्यस्थदृष्टि वाले इस जगत् मे परम सुखी भी होते हैं।

भगवान् महावीर ने तत्त्व और आचार दोनो पर अनेकान्त-दृष्टि से विचार किया। इन पर एकान्तदृष्टि से किया जानेवाला विचार मानस-सक्लेश या आग्रह

तात्पर्य यह है कि सत्ता वही जहा अर्थ-क्रिया, अर्थ-क्रिया वही जहा क्रम-अक्रम और क्रम-अक्रम वही जहा अनेकान्त होता है। एकान्तवादी व्यापक—अनेकान्त को नही मानते, तब व्याप्य-क्रम-अक्रम नही, क्रम-अक्रम के विना क्रिया और कारक नहीं, क्रिया और कारक के विना वध आदि चारो (वध, वध कारण, मोक्ष, मोक्ष कारण) नही होते।[1] इसलिए समस्याओ से मुक्ति पाने के लिए अनेकान्त दृष्टि ही शरण है। काठ के टुकडे के मूल्य पर जो हमने विचार किया, वह अवस्था-भेद से उत्पन्न अपेक्षा है। यदि हम इस अवस्था-भेद से उत्पन्न होनेवाली अपेक्षा की उपेक्षा कर दें तो भिन्न मूल्यो का समन्वय नही किया जा सकता।

आम की ऋतु मे रुपये के दो सेर आम मिलते हैं। ऋतु वीतने पर सेर आम का मूल्य दो रुपये हो जाता है। कोई भी व्यवहारी एक ही वस्तु के इन विभिन्न मूल्यो के लिए झगडा नही करता। उसकी सहज बुद्धि मे काल-भेद की अपेक्षा समाई हुई रहती है।

कश्मीर मे मेवे का जो भाव होता है, वह राजस्थान मे नही होता। कश्मीर का व्यक्ति राजस्थान मे आकर यदि कश्मीर-सुलभ मूल्य मे मेवा लेने का आग्रह करे तो वह बुद्धिमानी नही होती। वस्तु एक है, यह अन्वय की दृष्टि है किन्तु वस्तु की क्षेत्राश्रित पर्याय एक नही है। जिसे आम की आवश्यकता है वह सीधा आम के पास ही पहुचता है। उसकी अपेक्षा यही तो है कि आम के अतिरिक्त सब वस्तुओ के अभाव धमवाला और आम्र-परमाणु सद्भावी आम उसे मिले। इस सापेक्ष दृष्टि के विना व्यावहारिक समाधान भी नही मिलता।

भगवान् महावीर की अपेक्षा-दृष्टिया

अव्युच्छेद की दृष्टि से वस्तु नित्य है, व्युच्छेद की दृष्टि से अनित्य। भगवान् ने अविच्छेद और विच्छेद दोनो का समन्वय किया। फलस्वरूप ये निर्णय निकलते हैं कि—

१ वस्तु न नित्य, न अनित्य किन्तु नित्य-अनित्य का समन्वय है।

२ वस्तु न भिन्न, न अभिन्न किन्तु भेद-अभेद का समन्वय है।

३ वस्तु न एक, न अनेक किन्तु एक-अनेक का समन्वय है।

---

१ तत्त्वानुशासन, २४६-२५।

अनेकान्तात्मकत्वेन, व्याप्तावत्र क्रमाक्रमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता, तयास्तित्व चतुष्टये॥
मलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु, क्रमाक्रमनिवृत्तित।
क्रिया - कारकयोर्भ्रंशान्नस्यादेतच्चतुष्टयम्॥
ततो व्याप्ता (व्या०) समस्तस्य प्रसिद्धश्चप्रमाणत।
चतुष्टय सद्-इच्छद्भिरनेकान्तोवगम्यताम्॥

९

नयवाद

सापेक्ष-दृष्टि

प्रत्येक वस्तु मे अनेक विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं। अपेक्षा के बिना उनका विवेचन नही किया जा सकता। अखण्ड द्रव्य को जानते समय उसकी समग्रता जान ली जाती है, किन्तु इससे व्यवहार नही चलता। उपयोग अखण्ड ज्ञान का ही हो सकता है। अमुक समय मे अमुक कार्य के लिए अमुक वस्तु धर्म का ही व्यवहार या उपयोग होता हैं, अखण्ड वस्तु का नही। हमारी सहज अपेक्षाए भी ऐसी ही होती हैं। विटामिन 'डी' की कमी वाला व्यक्ति सूर्य का आताप लेता है, वह वाल-सूर्य की किरणो का लेगा। शरीर-विजय की दृष्टि से सूर्य का ताप सहने-वाला तरुणसूर्य की धूप मे आताप लेगा। भिन्न-भिन्न अपेक्षा के पीछे पदार्थ का भिन्न-भिन्न उपयोग होता है। प्रत्येक उपयोग क पीछे हमारी निश्चय अपेक्षा जुडी हुई होती है। यदि अपेक्षा न हो तो प्रत्येक वचन और व्यवहार आपस मे विरोधी वन जाता है।

एक काठ के टुकडे का मूल्य एक रुपया होता है, उसका उत्कीर्णन के वाद दस रुपया मूल्य हो जाता है, यह क्यो ? काठ नही वदला, फिर भी उसकी स्थिति वदल गई। उसके साथ-साथ मूल्य की अपेक्षा वदल गई। काठ की अपेक्षा से उसका अव भी वही एक रुपया मूल्य है किन्तु खुदाई की अपेक्षा मूल्य वह नही, नौ रुपये और वढ गया। एक और दस का मूल्य विरोधी है पर अपेक्षा-भेद समझने पर विरोध नही रहता।

अपेक्षा हमारा बुद्धिगत धर्म है। वह भेद से पैदा होता है। भेद मुख्यवृत्त्या चार हाते है—

१ वस्तु-भेद।

२ क्षेत्र-भेद या आश्रय-भेद।

३ काल-भेद।

४ अवस्था-भेद।

समन्वय की दिशा बतानेवाले आचार्य नही हुए, ऐसा भी नहीं। अनेक आचार्य हुए हैं, जिन्होने दार्शनिक विवादो को मिटाने के लिए प्रचुर श्रम किया। इनमे हरिभद्र आदि अग्रस्थानीय हैं।

आचार्य हरिभद्र ने कर्तृत्ववाद का समन्वय करते हुए लिखा है—"आत्मा में परम ऐश्वर्य, अनन्त शक्ति होती है, इसलिए वह ईश्वर है और वह कर्त्ता है। इस प्रकार कर्तृत्ववाद अपने आप व्यवस्थित हो जाता है।"[1]

जैन ईश्वर को कर्त्ता नही मानता, नैयायिक आदि मानते हैं। अनाकार ईश्वर का प्रश्न है, वहा तक दोनों मे कोई मतभेद नही। नैयायिक ईश्वर के साकार रूप मे कर्तृत्व बतलाते हैं और जैन मनुष्य मे ईश्वर बनने की क्षमता बतलाते हैं। नैयायिको के मतानुसार ईश्वर का साकार अवतार कर्त्ता और जैन-दृष्टि में ऐश्वर्य शक्ति-सम्पन्न मनुष्य कर्त्ता, इस बिन्दु पर सत्य अभिन्न हो जाता है, केवल विचार-पद्धति का भेद रहता है।

परिणाम, फल या निष्कर्ष हमारे सामने होते हैं, उनमे विशेष विचार-भेद नही होता। अधिकाश मतभेद निमित्त, हेतु या परिणाम-सिद्धि की प्रक्रिया मे होते हैं। उदाहरण के लिए एक तथ्य ले लीजिए—ईश्वर कर्तृत्ववादी ससार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय मानते है। जैन, बौद्ध आदि ऐसा नही मानते। दोनों विचार-धाराओ के अनुसार जगत् अनादि-अनन्त है। जैन-दृष्टि के अनुसार असत् से सत् और बौद्ध-दृष्टि के अनुसार सत्-प्रवाह के बिना सत् उत्पन्न नही होता। यह स्थिति है। इसमे सब एक हैं। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश बराबर चल रहे हैं, इन्हे कोई अस्वीकार नही कर सकता। अब भेद रहा सिर्फ इनकी निमित्त प्रक्रिया मे। सृष्टिवादियो के सृष्टि, पालन और सहार के निमित्त हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जैन पदार्थ-मात्र मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मानते हैं। पदार्थ-मात्र की स्थिति स्व-निमित्त से ही होती है। उत्पाद और व्यय स्व-निमित्त से होने ही हैं और पर-निमित्त से भी होते हैं। बौद्ध उत्पाद और नाश मानते हैं, स्थिति सीधे शब्दो मे नही मानते किन्तु सन्तति-प्रवाह के रूप मे स्थिति भी उन्हें स्वीकार करनी पडती है।

जगत् का सूक्ष्म या स्थूल रूप मे उत्पाद, नाश और ध्रौव्य चल रहा है, इसमे कोई मतभेद नही। जैन-दृष्टि के अनुसार सत् पदार्थ त्रिरूप हैं,[2] और वैदिक दृष्टि

---

१ शास्त्रवार्ता समुच्चय,
पारमैश्वर्ययुक्तत्वाद् आत्मैव मत ईश्वर ।
स च कर्तेति निर्दोष, कर्तृवादो व्यवस्थित ॥

२ तत्त्वार्थसूत्र, ५।२९
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत ।

इन्हे बुद्धिगम्य बनाने के लिए उन्होंने अनेक वर्गीकृत अपेक्षाए प्रस्तुत की। वे कुछ इस प्रकार हैं—

१ द्रव्य।
२ क्षेत्र।
३ काल।
४ भाव-पर्याय या परिणमन।
५ भव।
६ सस्थान।
७ गुण।
८ प्रदेश-अवयव।
९ सख्या।
१० ओघ।
११ विधान।

काल और विशेषगुणकृत अविच्छिन्न नित्य तथा काल और क्रमभावी धर्मकृत विच्छिन्न अनित्य होता है।

क्षेत्र और सामान्यगुणकृत अविच्छिन्न अभिन्न तथा क्षेत्र और विशेष गुणकृत विच्छिन्न भिन्न होता है।

वस्तु और सामान्यगुणकृत अविच्छिन्न एक तथा वस्तु और विशेषगुणकृत विच्छिन्न अनेक होता है।

वस्तु के विशेष गुण (स्वतन्त्र सत्ता स्थापक धर्म) का कभी नाश नही होता, इसलिए वह नित्य और उसके क्रम भावी धर्म बनते-बिगडते रहते हैं, इसलिए वह अनित्य है। "वह अनन्त धर्मात्मक है, इसलिए उसका एक ही क्षण मे एक स्वभाव से उत्पाद होता है, दूसरे स्वभाव से विनाश और तीसरे स्वभाव से स्थिति।" वस्तु मे इन विरोधी धर्मों का सहज सामजस्य है। ये अपेक्षा-दृष्टिया वस्तु के विरोधी धर्मों को मिटाने के लिए नही हैं। ये उस विरोध को मिटाती हैं, जो तर्कवाद मे उद्भूत होता है।

समन्वय की दिशा

अपेक्षावाद समन्वय की ओर गति है। इसके आधार पर परस्पर विरोधी मालूम पडने वाले विचार सरलतापूर्वक सुलझाए जा सकते हैं। मध्ययुगीन दर्शन-प्रणेताओ की गति इस ओर कम रही। यह दु ख का विषय है। जैन दार्शनिक नयवाद के ऋणी होते हुए भी अपेक्षा का खुलकर उपयोग नही कर सके, यह अत्यन्त खेद की बात है। यदि ऐसा हुआ होता तो सत्य का मार्ग इतना कटीला नही होता।

अधिकारी कैसे बने । अचेतन अपनी परिधि मे पूर्ण है। अपनी परिधि मे अन्तिम विकास हो जाए, उसी का नाम पूर्णता है । जैन धर्म जो मोक्ष-पुरुषार्थ है, मोक्ष की दिशा बताए, इसी में उसकी पूर्णता है और इसी अपेक्षा से वह उपादेय है । ससार चलाने की अपेक्षा से जैन धर्म की स्थिति ग्राह्य नही बनती । तात्पर्य यह है कि ससार मे जितना मोक्ष है, उसकी जैन धर्म को अपेक्षा है किन्तु जो कोरा ससार है, उसकी अपेक्षा से जैन धर्म का अस्तित्व नही बनता । समाज की अपेक्षा सिर्फ मोक्ष ही नही, इसलिए उसे अनेक धर्मों की परिकल्पना आवश्यक हुई ।

धर्म और समाज की मर्यादा और समन्वय

'आत्मा अकेली है । अकेली आती है और अकेली जाती है । अपने किये का अकेली ही फल भोगती है ।' यह मोक्ष-धर्म की अपेक्षा है । समाज की अपेक्षा इससे भिन्न है । उसका आधार है सहयोग । उसकी अपेक्षा है, सब कुछ सहयोग से बने । सामान्यत ऐसा प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति दोनो विचार लिए चल नही सकता, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है । जो व्यक्ति मोक्ष-धर्म की अपेक्षा आत्मा का अकेलापन और समाज की अपेक्षा उसका सामुदायिक रूप समझकर चले तो कोई विरोध नही आता । इसी अपेक्षा-दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने बताया—"ससार और मोक्ष का मार्ग पृथक्-पृथक् है ।" मोक्ष-दर्शन की अपेक्षा व्यक्ति का अकेलापन सत्य है और समाज-दर्शन की अपेक्षा उसका सामुदायिक रूप । सामुदायिकता और आत्म-साधना एक व्यक्ति मे होती है किन्तु उनके उपादान और निमित्त एक नही होते । वे भिन्नहेतुक होती हैं, इसलिए उनकी अपेक्षाए भी भिन्न होती हैं । अपेक्षाए भिन्न होती हैं, इसलिए उनमे अविरोध होता है । आत्मा के अकेलेपन का दृष्टिकोण समाज-विरोधी है और आत्मा के सामूहिक कर्म या फल-भोग का दृष्टिकोण धर्मविरोधी । किन्तु वास्तव मे दोनो मे कोई विरोधी नही । अपनी स्वरूप-मर्यादा मे कोई विरोध होता नही । दूसरे के सयोग से जो विरोध की प्रतीति बनती है, वह अपेक्षा-भेद से मिट जाती है । किसी भी वस्तु मे विरोध तब लगने लगता है, जब हम अपेक्षा को भुलाकर दो वस्तुओ को एक ही दृष्टि से समझने की चेष्टा करते हैं ।

समय की अनुभूति का तारतम्य और सामजस्य

प्रिय वस्तु के सम्पर्क मे वर्ष दिन जैसा और अप्रिय वस्तु के साहचर्य मे दिन वर्ष जैसा लगता है, यह अनुभूति-सापेक्ष है । सुख-दु ख का समान समय काल-स्वरूप की अपेक्षा समान बीतता है किन्तु अनुभूति की अपेक्षा उसमे तारतम्य होता है । अनुभूति के तारतम्य का हेतु है—सुख और दु ख का सयोग । इस अपेक्षा से समान काल का तारतम्य सत्य है । कालगति की अपेक्षा तुल्यकाल तुल्यअवधि मे ही पूरा

के अनुसार ईश्वर त्रिरूप है।[1] मतभेद सिर्फ इसकी प्रक्रिया मे है। निमित्त के विचार-भेद से इस प्रक्रिया को नैयायिक 'सृष्टिवाद,' जैन 'परिणामि-नित्यवाद' और बौद्ध 'प्रतीत्य-समुत्पादवाद' कहते है। यह कारण-भेद प्रतीकपरक है, सत्य-परक नही। प्रतीक के नाम और कल्पनाए भिन्न हैं किन्तु तथ्य की स्वीकारोक्ति भिन्न नही है। इस प्रकार अनेक दार्शनिक तथ्य हैं, जिन पर विचार किया जाए तो उनके केन्द्र-विन्दु पृथक्-पृथक् नही जान पडते।

भौगोलिक क्षेत्र मे चलिए। प्राच्य भारतीय ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना जाता है। सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथ्वी चर। कोपरनिकस पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर मानता था। वर्तमान विज्ञान के अनुसार सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को चर माना जाता है। आइन्स्टीन के अपेक्षावाद के अनुसार पृथ्वी चर है, सूर्य स्थिर या सूर्य चर है और पृथ्वी स्थिर, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। व्यवहार मे जो सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को चर माना जाता है, वह उनकी दृष्टि मे गणित की सुविधा है, इसलिए वे कहते हैं—यह हमारा निश्चयवाद नही किन्तु सुविधावाद है। ग्रहण आदि निष्कर्ष दोनो गणित-पद्धतियो से समान निकलते हैं, इसलिए वस्तु-स्थिति का निश्चय इन्द्रियज्ञान से सम्भव नही वनता। किन्तु भावी प्रत्यक्ष परिणाम को व्यक्त करने की पद्धति की अपेक्षा से किसी को भी असत्य नही माना जा सकता।

धर्म-समन्वय

धर्म-दर्शन के क्षेत्र मे समन्वय की ओर सकेत करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—"समाज व्यवहार या दैनिक व्यवहार की अपेक्षा वैदिक धर्म, अहिंसा या मोक्षार्थ आचरण की अपेक्षा जैन धर्म, श्रुति-माधुर्य या करुणा की अपेक्षा बौद्ध धर्म और उपासना-पद्धति या योग की अपेक्षा शैव धर्म श्रेष्ठ है।" यह सही वात है। कोई भी तत्त्व सव अर्थों मे परिपूर्ण नही होता। पदार्थ की पूर्णता अपनी मर्यादा मे ही होती है और उस मर्यादा की अपेक्षा से ही वस्तु को पूर्ण माना जाता है। निरपेक्ष पूर्णता हमारी कल्पना की वस्तु है, वस्तुस्थिति नही। आत्मा चरम विकास पा लेने के वाद भी अपने रूप मे पूर्ण होती है। किन्तु अचेतन पदार्थ की अपेक्षा उसकी पूर्णता नही होती। अचेतन रूप मे वह पूर्ण तव वने, जवकि वह सर्व-भाव मे अचेतन वन जाए, ऐसा होता नही, इसलिए अचेतन की सत्ता की

---

१ (क) विष्णुपुराण, १।२।६६
सृष्टि स्थित्यन्तकरणी, ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका।
स सज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दन ॥
(ख) ऋग्वेद, १।१७४
एक सत् विप्रा वहुधा वदन्ति।

दशा मे वह बुरा नही होता। शीतकाल मे गर्म कोट उपयोगी होता है, वह गर्मी मे नही होता। गर्मी मे ठडाई उपयोगी होती है, वह सर्दी मे नही होती। शान्तिकाल मे एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति जो कर्तव्य होता है, वह युद्धकाल मे नही होता। समाज की अपेक्षा से विवाह कर्तव्य है, किन्तु आत्म-साधना की अपेक्षा वह कर्तव्य नही होता। कोई कार्य एक देश, एक काल, एक स्थिति मे एक अपेक्षा से कर्तव्य और अकर्तव्य नही बनता। वैसे ही एक कार्य सब दृष्टियो से कर्तव्य या अकर्तव्य बने, ऐसा भी नही होता। कार्य का कर्तव्य और अकर्तव्य भाव भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से परखा जाए, तभी उसमे सामजस्य आ सकता है।

एक गृहस्थ के लिए कठिनाई के समय भिक्षा जीवन-निर्वाह की दृष्टि से उपयोगी हो सकती है किन्तु वैसा करना अच्छा नही। योग-विद्या का अभ्यास मानसिक स्थिरता की दृष्टि से अच्छा है किन्तु जीविका कमाने के लिए उपयोगी नही है।

भक्ष्य और अभक्ष्य, खाद्य और अखाद्य, ग्राह्य और अग्राह्य का विवेक भी सापेक्ष होता है। आयुर्वेदशास्त्र मे ऋतु आदेश के अनुसार पथ्य और अपथ्य का विशद विवेचन और अनुपान के द्वारा प्रकृति-परिवर्तन का जो महान् सिद्धान्त मिलता है, वह भी काल और वस्तु-योग की अपेक्षा का आभारी है।

राजनीतिकवाद और अपेक्षादृष्टि

राजनीति के क्षेत्र मे अनेक वाद चलते हैं। एकतन्त्र पद्धति दृढ-शासन की अपेक्षा निर्दोष है। वह शासक की स्वेच्छाचारिता की अपेक्षा निर्दोष नही मानी जा सकती।

जनतन्त्र मे स्वेच्छाचारिता का प्रतिकार है, परन्तु वहा दृढ-शासन का अभाव होता है, इस अपेक्षा से वह त्रुटिपूर्ण माना जाता है।

साम्यवाद जीवन-यापन की पद्धति को सुगम बनाता है, वह उसका उज्ज्वल पक्ष है। तो दूसरी ओर व्यक्ति उसमे यन्त्र बनकर चलता है। वाणी और विचार-स्वातन्त्र्य की अपेक्षा से वह रुचिगम्य नही बनता।

राष्ट्र-हित की अपेक्षा से जहा राष्ट्रीयता अच्छी मानी जाती है किन्तु दूसरे राष्ट्रो के प्रति घृणा या न्यूनता उत्पन्न करने की अपेक्षा से वह अच्छी नही होती। यही बात जाति, समाज और व्यक्तित्व के लिए है।

पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, सदाचार-असदाचार, अहिंसा-हिंसा, न्याय-अन्याय यह सब सापेक्ष होते हैं। एक की अपेक्षा जो पुण्य या धर्म होता है, वही दूसरे की अपेक्षा पाप या अधर्म बन जाता है। पूजीवादी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा भिखारी को दान देना पुण्य या धर्म माना जाता है किन्तु साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से भिखारी को दान देना पुण्य या धर्म नही माना जाता। लोक-व्यवस्था की दृष्टि से

होता है—यह सत्य है।

उपनिषद् में ब्रह्म को अणु से अणु और महत् से महत् कहा गया है। वह सत् भी है और असत् भी। उससे न कोई पर है और न कोई अपर, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा।[1]

अपेक्षा के बिना महाकवि कालिदास की निम्न प्रकारोक्ति सत्य नहीं बनती—"प्रिया के पास रहते हुए दिन अणु से अणु लगता है और उसके वियोग में बड़े से भी बड़ा।"[2]

प्रसिद्ध गणितज्ञ आइन्स्टीन की पत्नी ने उनसे पूछा—"अपेक्षावाद क्या है?" आइन्स्टीन ने उत्तर में कहा—"सुन्दर लड़की के साथ बातचीत करनेवाले व्यक्ति को एक घंटा एक मिनट के बराबर लगता है और वही गर्म स्टोव के पास बैठता है तब उसे एक मिनट भी एक घंटा जितना लम्बा लगता है—यह है अपेक्षावाद।"[3]

विवेक और समन्वय-दृष्टि

अमुक कर्तव्य है या अकर्तव्य? अच्छा है या बुरा? उपयोगी है या अनुपयोगी?—ये प्रश्न हैं। इनका विवेक अपेक्षा-दृष्टि के बिना हो नहीं सकता। अमुक देश, काल और वस्तु की अपेक्षा जो कर्तव्य होता है, वही भिन्न देश, काल और वस्तु की अपेक्षा अकर्तव्य बन जाता है। निरपेक्ष दृष्टि से कोई पदार्थ अच्छा-बुरा, उपयोगी-अनुपयोगी नहीं बनता। किसी एक अपेक्षा से ही हम किसी पदार्थ को उपयोगी या अनुपयोगी कह सकते हैं। यदि हमारी दृष्टि में कोई विशेष अपेक्षा न हो तो हम किसी वस्तु के लिए कुछ विशेष बात नहीं कह सकते।

धन-संग्रह की अपेक्षा से वस्तुओं को दुर्लभ कहना अच्छा है किन्तु नैतिकता की दृष्टि से अच्छा नहीं है। सन्निपात में दूध-मिश्री पीना बुरा है किन्तु स्वस्थ

---

१ कठोपनिषद्, १।२।२०
अणोरणीयान् महतो महीयान्।

२ पर्यं॰स्वीव परम पवित्र, करुण-मूर्त्या, शपथ करोमि।
योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया, अणोरणीयान् महतो महीयान्॥

३ One interesting story is told about the explanation of Relativity
Mrs Enstein did not understand her husband's theories One day she asked, "What shall I say is Relativity?" The thinker replied with an unexpected parable, 'When a man talks to a pretty girl for an hour it seems to him only a minute but let him sit on a hot stove for only a minute and it is longer than an hour That is Relativity'

इसलिए उसे लोक-दृष्टि का बहुनाश में समर्थन मिलता है, किन्तु असयम-प्रेरित प्रवृत्ति मोक्ष-सिद्धि का पक्ष नहीं है, इसलिए उसे मोक्ष-दृष्टि का एकाश में भी समर्थन नही मिलता।

सयम-प्रेरित प्रवृत्ति वैभाविक इसलिए है कि वह शरीर, वाणी और मन, जो आत्मा के स्वभाव नही विभाव हैं, के सहारे होती है। साधक दशा समाप्त होते ही यह स्थिति समाप्त हो जाती है, या यो कहिए शरीर, वाणी और मन के सहारे होनेवाली सयम-प्रेरित प्रवृत्ति मिटते ही साध्य मिल जाता है। यह अपूर्ण से पूर्ण की ओर गति है। पूर्णता के क्षेत्र मे इनका कार्य समाप्त हो जाता है।

असयम का अर्थ है—राग, द्वेष और मोह की परिणति। जहा राग, द्वेष और मोह की परिणति नही वहा सयम होता है। निवृत्ति का अर्थ सिर्फ 'निषेध' या 'नही करना' ही नही है। 'नही करना'—यह प्रवृत्ति की निवृत्ति है किन्तु प्रवृत्ति करने की जो आन्तरिक प्रवृत्ति (अविरति) है, उसकी निवृत्ति नही है। क्रिया के दो पक्ष होते हैं—अविरति और प्रवृत्ति। अविरति उसका अन्तरग पक्ष है, जिसे शास्त्रीय परिभाषा मे अत्याग या असयम कहा जाता है। प्रवृत्ति उसका बाहरी या स्थूल रूप है। यह योगात्मक क्रिया है—शरीर, भाषा और मन के द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति है। जो प्रवृत्ति अविरति-प्रेरित होती है (जहा अविरति और प्रवृत्ति दोनो सयुक्त होती हैं) वहा निवृत्ति का प्रश्न ही नही उठता और जहा अविरति होती है, प्रवृत्ति नही होती वहा प्रवृत्ति की अपेक्षा (मानसिक, वाचिक, कायिक कर्म की अपेक्षा) निवृत्ति होती है, और जहा अविरति नही होती केवल प्रवृत्ति होती है वहा अविरति की अपेक्षा निवृत्ति और मन, भाषा और शरीर की अपेक्षा प्रवृत्ति होती है। अपूर्ण दशा मे पूर्ण निवृत्ति होती नही। अविरति-निवृत्तिपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है, वहा निवृत्ति सयम है। अविरति के भाव मे स्थूल प्रवृत्ति की निवृत्ति होती है, वहा प्रवृत्ति नही होती, उससे असयम को पोषण नही मिलता किन्तु मूलत असयम का अभाव नही, इसलिए वह (निवृत्ति) सयम नही बनती।

श्रद्धा और तर्क

अति श्रद्धावाद और अति तर्कवाद—ये दोनो मिथ्या हैं। प्रत्येक तत्त्व की यथार्थता अपने-अपने क्षेत्र मे होती है। इनकी भी अपनी-अपनी मर्यादाए हैं।

भाव दो प्रकार के हैं—

१ हेतु-गम्य।

२ अहेतु-गम्य।

हेतुगम्य तर्क का विषय है और अहेतुगम्य श्रद्धा का। तक का क्षेत्र सीमित है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष जो है, वही चरम या पूर्ण सत्य है, यह बात सत्यान्वेषक नही मानता। एक व्यक्ति को अपने जीवन मे जो स्वय ज्ञात होता है, वह उतना ही

विवाह सदाचार माना जाता है किन्तु आत्म-साधना की अपेक्षा वह सदाचार नहीं है। उसकी दृष्टि में सदाचार है—पूर्ण ब्रह्मचर्य। दूसरे शब्दों में—समाज-व्यवस्था की दृष्टि से गृहवास के उपयोगी सभी व्यावहारिक नियम पुण्य, धर्म या सदाचार माने जाते हैं। किन्तु मोक्ष-साधना की दृष्टि से ऐसा नहीं है। उसकी अपेक्षा में धर्म, सदाचार या पुण्य-कार्य वही है जो अहिंसात्मक है।

समाज की दृष्टि में व्यापार, खेती, शिल्पकारी आदि अल्प हिंसा या अनिवार्य हिंसा को अहिंसा माना जाता है किन्तु आत्म-धर्म की दृष्टि से यह अहिंसा नहीं है। दण्ड-विधान की अपेक्षा से अपराधी को अपराध के अनुरूप दण्ड देना न्याय माना जाता है किन्तु अध्यात्म की अपेक्षा से वह न्याय नहीं है। वह दूसरे व्यक्ति को दण्ड देने के अधिकार को स्वीकार नहीं करता। पापी ही अपने अन्तःकरण से पाप का प्रायश्चित्त कर सकता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों आत्माश्रित धर्म हैं। परापेक्ष प्रवृत्ति और निवृत्ति वैभाविक होती है और सापेक्ष प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वाभाविक। आत्मा की करण—वीर्य या शरीर—योग सहकृत जितनी प्रवृत्ति होती है, वह वैभाविक होती है। एक क्रियाकाल में दूसरी क्रिया की निवृत्ति होती है, यह स्वाभाविक निवृत्ति नहीं है। स्वाभाविक निवृत्ति है आत्मा की विभाव से मुक्ति—संयम। सहज प्रवृत्ति है आत्मा की पुद्गल-निरपेक्ष क्रिया, चित् और आनन्द का सहज उपयोग।

शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सहज होती हैं। पदार्थ के जो सहज धर्म हैं उनमें अच्छाई-बुराई, हेय-उपादेय का प्रश्न नहीं बनता। यह प्रश्न परपदार्थ से प्रभावित धर्मों के लिए होता है। बद्ध आत्मा की प्रवृत्ति परपदार्थ से प्रभावित भी होती है, तब प्रश्न होता है 'प्रवृत्ति कैसी है'—अच्छी है या बुरी? हेय है या उपादेय? निवृत्ति कैसी है—अप्रवृत्तिरूप या विरतिरूप? अपेक्षादृष्टि के बिना इनका समाधान नहीं मिलता।

सहज प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति न हेय है और न उपादेय। वह आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप न छूटता है और न बाहर से आता है। इसलिए वह हेय और उपादेय कैसे बने?

वैभाविक प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—संयम-प्रेरित और असंयम-प्रेरित। संयम-प्रेरित प्रवृत्ति आत्मा को संयम की ओर अग्रसर करती है, इसलिए वह साधना की अपेक्षा उपादेय बनती है, वह भी सर्वांश में मोक्ष दृष्टि की अपेक्षा से। लोक-दृष्टि सर्वांश में उसे समर्थन न भी दे। असंयम-प्रेरित प्रवृत्ति आत्मा को बन्धन की ओर ले जाती है, इसलिए मोक्ष की अपेक्षा वह उपादेय नहीं है। लोक-दृष्टि को इसकी उपादेयता स्वीकार्य है। संयम-प्रेरित प्रवृत्ति शुद्धि का पक्ष है,

का प्रत्येक पहलू अपेक्षापूर्वक समझा जाए तो दुराग्रह की गति सहज शिथिल हो जाती है।

समन्वय के दो स्तम्भ

समन्वय केवल वास्तविक दृष्टि से ही नही किया जाता। निश्चय और व्यवहार दोनो उसके स्तम्भ वनते हैं। व्यवहार वस्तु शरीरगत सत्य होता है और निश्चय वस्तु आत्मगत सत्य। ये दोनो मिलकर सत्य को पूर्ण वनाते हैं। निश्चय नय वस्तु-स्थिति जानने के लिए है। व्यवहार नय वस्तु के स्थूल रूप मे होनेवाली आग्रह-बुद्धि को मिटाता है। वस्तु के स्थूलरूप, जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, को ही अन्तिम सत्य मानकर न चलें, यही समन्वय की दृष्टि है। पदार्थ एक रूप मे पूर्ण नही होता। वह स्वरूप से सत्तात्मक, पररूप से असत्तात्मक होकर पूर्ण होता है। केवल सत्तात्मक या केवल असत्तात्मक रूप मे कोई पदार्थ पूर्ण नही होता। सर्वसत्तात्मक या सर्व-अ-सत्तात्मक जैसा कोई पदार्थ है ही नहीं। पदार्थ की स्थिति है, तव नय निरपेक्ष वनकर उसका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? इसका अर्थ यह नही होता कि नय पूर्ण सत्य तक ले नही जाते। वे ले जाते अवश्य हैं किन्तु सव मिलकर एक नय पूण सत्य का एक अश होता है। वह अन्य नय-सापेक्ष रहकर सत्याश का प्रतिपादक वनता है।

नय या सद्वाद

१ एक धर्म का सापेक्ष प्रतिपादन करनेवाला नय वाक्य—सद्वाद।

२ एक धर्म का निरपेक्ष प्रतिपादन करनेवाला वाक्य—दुर्नय।

अनुयोग द्वार मे चार प्रमाण वतलाए हैं—

१ द्रव्य-प्रमाण।

२ क्षेत्र-प्रमाण।

३ काल-प्रमाण।

४ भाव-प्रमाण।

भाव-प्रमाण के तीन भेद होते हैं—

१ गुण-प्रमाण।

२ नय-प्रमाण।

३ सख्या-प्रमाण।

एक धर्म का ज्ञान और एक धर्म का वाचक शब्द—ये दोनो नय कहलाते हैं।[1]

---

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

सर्वे शब्दनयास्तेन, पदार्थप्रतिपादने।
स्वार्थप्रकाशने मातु-रिमे ज्ञाननया स्थिता।

१ व्यवहार दृष्टि ।
२ निश्चय-दृष्टि ।
३ रासायनिक-दृष्टि ।
४ भौतिक विज्ञान-दृष्टि ।
५ शब्द-दृष्टि ।
६ अर्थ-दृष्टि । आदि-आदि ।

व्यवहार-दृष्टि मे चीटी का शरीर त्वक्, रस, रक्त जैसे पदार्थों से बना होता है। रासायनिक विश्लेषण इन पदार्थों के भीतर सत्त्वमूल कई प्रकार के अम्ल और क्षार, जल, नमक आदि बताता है। शुद्ध रासायनिक दृष्टि के अनुसार चीटी का शरीर आइजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, गन्धक, फासफोरस और कार्बन के परमाणुओ का समूह है। भौतिक विज्ञानी उसे पहले तो घन और ऋण विद्युत्कणो का पुञ्ज और फिर शुद्ध वायु तत्त्व का भेद बताता है। निश्चय-दृष्टि मे वह पाच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस और आठ स्पर्श-युक्त औदारिक वर्गणा के पुद्गलो का समुदाय है।

एक ही वस्तु के ये जितने विश्लेषण हैं, उतने ही उनके हेतु हैं—अपेक्षाए हैं। इन्हे अपनी-अपनी अपेक्षा से देखें तो सब सत्य हैं और यदि निरपेक्ष विश्लेपण को सत्य मानें तो वह फिर दुर्नय बन जाता है। सापेक्ष नय मे विरोध नही आता और ज्यो ही ये निरपेक्ष बन जाते हैं, त्यो ही ये असत्-एकान्त के पोषक बन मिथ्या बनजाते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, वातावरण आदि के सहारे वस्तुस्थिति को सही पकडा जा सकता है, उसका मौलिक दृष्टि-बिन्दु या हार्द समझा जा सकता है। द्रव्य आदि से निरपेक्ष वस्तु को समझने का प्रयत्न हो तो कोरा कलेवर हाथ आ जाता है किन्तु उसकी सजीवता नही आती। मार्क्स ने इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर समाज के आर्थिक ढाचे की जो छानबीन की और निष्कर्ष निकाले, उन्हे आर्थिक पहलू की अपेक्षा मिथ्या कैसे माना जाए ? किन्तु आर्थिक व्यवस्था ही समाज के लिए सब कुछ है, यह आत्मशान्ति-निरपेक्षदृष्टि है, इसलिए सत्य नही है।

शरीर के बाहरी आकार-प्रकार मे क्रमिक परिवर्तन होता है, इस दृष्टि से डारविन के क्रम-विकासवाद को मिथ्या नही माना जा सकता किन्तु उन्होंने आन्तरिक योग्यता की अपेक्षा रखे बिना केवल बाहरी स्थितियो को ही परिवर्तन का मुख्य हेतु माना, यह सच नही है।

इसी प्रकार यदृच्छावादी यदृच्छा को, आकस्मिकवादी आकस्मिकता को, कालवादी काल को, स्वभाववादी स्वभाव को, नियतिवादी नियति को, दैववादी दैव को और पुरुषार्थवादी पुरुषार्थ को ही कार्य-सिद्धि का कारण बतलाते हैं, यह मिथ्यावाद है। सापेक्षदृष्टि से सब कार्य-सिद्धि के प्रयोजक हैं और सब सच हैं।

ज्ञानात्मक नय को 'नय' और वचनात्मक नय को 'नय-वाक्य' या 'सद्वाद' कहा जाता है।

नय-ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है, इसलिए यह मानसिक ही होता है, ऐन्द्रियक नही होता। नय से अनन्त धर्मक वस्तु के एक धर्म का बोध होता है। इससे जो बोध होता है वह यथार्थ होता है, इसीलिए यह प्रमाण है किन्तु इससे अखण्ड वस्तु नही जानी जाती। इसलिए यह पूर्ण प्रमाण नही बनता। वह एक समस्या बन जाती है। दार्शनिक आचार्यों ने इसे यो सुलझाया कि अखण्ड वस्तु के निश्चय की अपेक्षा नय प्रमाण नही है। वह वस्तु-खण्ड को यथार्थ रूप से ग्रहण करता है, इसलिए अप्रमाण भी नही है। अप्रमाण तो है ही नही, पूर्णता की अपेक्षा प्रमाण भी नही है, इसलिए इसे प्रमाणाश कहना चाहिए।

अखण्ड वस्तुग्राही यथार्थ ज्ञान प्रमाण होता है, इस स्थिति मे वस्तु को खण्डश जाननेवाला विचार 'नय'। प्रमाण का चिह्न है—'स्यात्', नय का चिह्न है—'सत्'। प्रमाणवाक्य को स्याद्वाद कहा जाता है और नय वाक्य को सद्वाद। वास्तविक दृष्टि से प्रमाण स्वार्थ होता है और नय स्वार्थ और परार्थ—दोनो। एक साथ अनेक धर्म कहे नही जा सकते, इसलिए प्रमाण का वाक्य नही बनता। वाक्य बने विना परार्थ कैसे बने ? प्रमाणवाक्य जो परार्थ बनता है उसके दो कारण हैं—

१ अभेदवृत्ति-प्राधान्य।

२ अभेदोपचार।

द्रव्यार्थिक नय के अनुसार धर्मों मे अभेद होता है और पर्यायार्थिक की दृष्टि से उनमे भेद होने पर भी अभेदोपचार किया जाता है।[1] इन दो निमित्तो से वस्तु के अनन्त धर्मों को अभिन्न मानकर एक गुण की मुख्यता से अखण्ड वस्तु का प्रतिपादन विवक्षित हो, तब प्रमाणवाक्य बनता है। यह सकलादेश है, इसलिए इसमे वस्तु को विभक्त करनेवाले अन्य गुणो की विवक्षा नही होती।

वस्तु-प्रतिपादन के दो प्रकार हैं—क्रम और यौगपद्य। इनके सिवाय तीसरा मार्ग नहीं। इनका आधार है—भेद और अभेद की विवक्षा। यौगपद्य-पद्धति प्रमाणवाक्य है। भेद की विवक्षा मे एक शब्द एक काल मे एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकता है। यह अनुपचरित पद्धति है। यह क्रम की मर्यादा मे परिवर्तन नही ला सकती, इसलिए इसे विकलादेश कहा जाता है।

विकलादेश का अर्थ है—निरश वस्तु मे गुण-भेद से अश की कल्पना करना। अखण्डवस्तु मे काल आदि की दृष्टि से विभिन्न अशो की कल्पना करना अस्वाभाविक नही है।

वस्तु-विश्लेषण की प्रक्रिया का आधार यही बनता है। विश्लेषण की अनेक दृष्टिया हैं—

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक ४।४२.

इसीलिए कहा गया है—"जितने वचनपथ हैं, उतने ही नय हैं।"[1]

पर प्रतीति के लिए अनुमान या प्रत्यक्ष किसी के द्वारा ज्ञात अर्थ कहा जाए, वह परार्थ श्रुत ही होगा।

जैनेतर दर्शन केवल अनुमान वचन को ही परार्थ मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष वचन को भी परार्थ माना है। "धूम है, इसलिए अग्नि है"—यह बताना जैसे परार्थ है, वैसे ही "देख, यह राजा जा रहा है"—यह भी परार्थ है।[2] पहला अनुमान वचन है, दूसरा प्रत्यक्ष वचन। जहा वचन बनता है, वहा परार्थता अपने आप बन जाती है।

वचन-व्यवहार का वर्गीकरण

वचन-व्यवहार के अनन्त मार्ग हैं किन्तु उनके वर्ग अनन्त नही हैं। उनके मौलिक वर्ग दो हैं—

१ भेद-परक।

२ अभेद-परक।

भेद और अभेद—ये दोनो पदार्थ के भिन्नाभिन्न धर्म हैं। न अभेद से भेद सर्वथा पृथक् होता है और न भेद से अभेद। नाना रूपो में वस्तु—सत्ता एक है और एक वस्तु—सत्ता के नाना रूप हैं। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु है, वह सत् है और जो सत् नही, वह अवस्तु है—कुछ भी नही है। सत् है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की मर्यादा। इसका अतिक्रमण करे, ऐसी कोई वस्तु नही है। इसलिए सत् की दृष्टि से सब एक हैं—उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं। विशेष धर्मों की अपेक्षा से एक नही हैं। चेतन और अचेतन मे अनैक्य है—भेद है। चेतन की देश-काल-कृत अवस्थाओ मे भेद है फिर भी चेतनता की दृष्टि से सब चेतन एक हैं। यू ही अचेतन के लिए समझिए।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सत्ता प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है किन्तु वह वस्तुओ की उत्पादक या नियामक सत्ता नहीं है। वस्तु मात्र मे उसकी उपलब्धि है, इसीलिए वह एक है। वस्तु-स्वरूप से अतिरिक्त दशा मे व्याप्त होकर वह एक नही है। अनेकता भी एक सत्ता के विशेष स्वरूप से उद्भूत विविध रूप वाली

---

१ सर्वार्थसिद्धि

श्रुत स्वार्थं भवति परार्थं च, ज्ञानात्मक स्वार्थं, वचनात्मक परार्थं, तद् भेदा नया।

२ न्यायावतार टीका, ११

प्रत्यक्षेणानुमानेन, प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्व द्वयोरपि॥

अनुमान-प्रतीतं प्रत्याययन्नेव वचनयति—"अग्निरत्र धूमात्" प्रत्यक्षप्रतीत पुनर्दर्शयन्नेतावद् वक्ति—पश्य राजा गच्छति।

काल वस्तु के परिवर्तन का हेतु है। स्वभाव वस्तु का स्वरूप या वस्तुत्व है। नियति वस्तु का ध्रुव-सत्य नियम है। दैव वस्तु के पुरुषार्थ का परिणाम है। पुरुषार्थ वस्तु की क्रियाशीलता है।

पुरुषार्थ तव हो सकता है, जव कि वस्तु मे परिवर्तन का स्वभाव हो। स्वभाव होने पर भी तव तक परिवर्तन नही होता, जव तक उसका कोई कारण न मिले। परिवर्तन का कारण भी विश्व के शाश्वतिक नियम की उपेक्षा नही कर सकता और परिवर्तन क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप मे ही होगा, अन्यथा नही। इस प्रकार ये सव एक-दूसरे से सापेक्ष वन कार्य-सिद्धि के निमित्त वनते हैं।

नय-दृष्टि के अनुसार न दैव को सीमातिरेक महत्त्व दिया जा सकता है और न पुरुषार्थ को। दोनो तुल्य हैं। आत्मा के व्यापार से कर्म-सचय होता है, वही दैव या भाग्य कहलाता है। पुरुषार्थ के द्वारा ही कर्म का सचय होता है और उसका भोग (विपाक) भी पुरुषार्थ के विना नही होता। अतीत का दैव वर्तमान पुरुषार्थ पर प्रभाव डालता है और वर्तमान पुरुषार्थ से भविष्य के कर्म सचित होते हैं। वलवान् पुरुषार्थ सचित कर्म को परिवर्तित कर सकता है और वलवान् कर्म पुरुषार्थ को भी निष्फल वना सकते हैं। ससारोन्मुख दशा मे ऐसा चलता ही रहता है।

आत्म-विवेक जगने पर पुरुषार्थ मे सत् की मात्रा वढती है, तव वह कर्म को पछाड देता है और पूर्ण निर्जरा द्वारा आत्मा को उससे मुक्ति भी दिला देता है। इसलिए कर्म या भाग्य को ही सव कुछ मान जो पुरुषार्थ की अवहेलना करते हैं, वह दुर्नय है और जो व्यक्ति अतीत-पुरुषार्थ के परिणाम रूप भाग्य को स्वीकार नही करते, वह भी दुर्नय है।

स्वार्थ और परार्थ

पाच ज्ञानो मे चार ज्ञान मूक हैं और श्रुतज्ञान अमूक। जितना वाणी व्यवहार है, वह सव श्रुत ज्ञान का है।[1] इसके तीन भेद हैं—

१ स्याद्वाद-श्रुत।

२ नय-श्रुत।

३. मिथ्या-श्रुत या दुर्नय-श्रुत।

चार ज्ञान स्वार्थ ही होते हैं। श्रुत स्वार्थ और परार्थ दोनो होता है, ज्ञानात्मकश्रुत स्वार्थ और वचनात्मक श्रुत परार्थ। नय वचनात्मक श्रुत के भेद हैं,

---

१ अनुयोगद्वार, सूत्र २

तत्थ चत्तारि नाणाइ ठप्पाइ ठवणिज्जाइ। णो उद्दिसति, णो समुद्दिसति, णो अणुण्णाविज्जति। सुयनाणस्स उद्देसो, समुद्दसो, अणुण्णा, अणुयोगो य पवत्तइ।

और भेद का सवलित रूप सत्य है। आधार भी सत्य है, आधेय भी सत्य है, द्रव्य भी सत्य है, पर्याय भी सत्य है, जगत् भी सत्य है, ब्रह्म भी सत्य है विभाव भी सत्य है, स्वभाव भी सत्य है। जो त्रिकाल-अवाधित है, वह सब सत्य है।

सत्य के दो रूप हैं, इसलिए परखने की दो दृष्टिया हैं—द्रव्य-दृष्टि और पर्याय-दृष्टि। सत्य के दोनो रूप सापेक्ष हैं, इसलिए ये भी सापेक्ष हैं। द्रव्य-दृष्टि का अर्थ होगा द्रव्य-प्रधान दृष्टि और पर्याय दृष्टि का अर्थ पर्याय-प्रधान दृष्टि। द्रव्य-दृष्टि मे पर्याय-दृष्टि का गौण रूप और पर्याय-दृष्टि मे द्रव्य-दृष्टि का गौण रूप अन्तर्हित होगा। द्रव्य-दृष्टि अभेद का स्वीकार है और पर्याय-दृष्टि भेद का। दोनो ही सापेक्षता-भेदाभेदात्मक सत्य का स्वीकार है।

अभेद और भेद का विचार आध्यात्मिक और वस्तुविज्ञान—इन दो दृष्टियो से किया जाता है। जैसे—

साख्य—प्रकृति पुरुष का विवेक—भेद ज्ञान करना सम्यग् दर्शन, इनका एकत्व मानना मिथ्या दर्शन।

वेदान्त—प्रपच और ब्रह्म को एक मानना सम्यग् दर्शन, एक तत्त्व को नाना समझना मिथ्या दर्शन।

जैन—चेतन और अचेतन को भिन्न मानना सम्यग् दर्शन, इनको अभिन्न मानना मिथ्या दर्शन।

भेद-अभेद का यह विचार आध्यात्मिक दृष्टिपरक है। वस्तु-विज्ञान की दृष्टि से वस्तु उभयात्मक (द्रव्य-पर्यायात्मक) है। इसके आधार पर दो दृष्टिया वनती हैं—

१ निश्चय।

२ व्यवहार।

निश्चय दृष्टि द्रव्याश्रयी या अभेदाश्रयी है। व्यवहार-दृष्टि पर्यायाश्रयी या भेदाश्रयी है।

वेदान्त और वौद्ध सम्मत व्यवहार-दृष्टि से जैन सम्मत व्यवहार-दृष्टि का नामसाम्य है किन्तु स्वरूप-साम्य नही। वेदान्त व्यवहार, माया या अविद्या को और वौद्ध सवृत्ति को अवास्तविक मानता है किन्तु जैन दृष्टि के अनुसार वह अवास्तविक नही है। नैगम, सग्रह और व्यवहार—ये तीन निश्चय-दृष्टिया हैं, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत—ये चार व्यवहार-दृष्टिया।[1] व्यवहार और निश्चय—ये दो दृष्टिया प्रकारान्तर से भी मिलती हैं।[2]

---

१ सन्मति टीका, २७२

शुद्ध द्रव्य समाश्रित्य, सग्रहस्तदशुद्धित।
नैगम-व्यवहारौ स्त, शेषा पर्यायमाश्रिता॥

२ भगवती, १८।६।

नही है। वह सत्तात्मक विशेष स्वरूपवाली वस्तुओं की विविध अवस्थाओं से उत्पन्न होती है, इसीलिए वस्तु का स्वरूप सर्वथा एक या अनेक नही बनता। नय-वाक्य वस्तु-प्रतिपादन की पद्धति है। सत्तात्मक अखण्ड वस्तु 'जगत्' और विशेष-स्वरूपात्मक अखण्ड वस्तु 'द्रव्य' वस्तुवृत्या अवक्तव्य है। इसलिए नय के द्वारा क्रमिक प्रतिपादन होता है। कभी वह सत्तात्मक या द्रव्यात्मक सामान्यधर्म का प्रतिपादन करता है और कभी विशेष स्वरूपात्मक पर्याय-धर्म का। सामान्य-विशेष दोनो पृथक् होते नही, इसलिए सामान्य की विवक्षा मुख्य होने पर विशेष और विशेष की विवक्षा मुख्य होने पर सामान्य गौण बन जाते है। देखिए, जागतिक व्यवस्था की कितनी सामजस्यपूर्ण स्थिति है। इसमे सबको अवसर मिलता है। दोनो प्रधान रहे, यह विरोध की स्थिति है। दोनो अप्रधान बन जाए, तब काम नही बनता। अविरोध की स्थिति यह है कि एक दूसरे को अवसर दे, दूसरे की मुख्यता मे सहिष्णु बने। नयवाद इसी प्रक्रिया मे सम्पन्न हुआ है।

नयवाद की पृष्ठभूमि

विभिन्न विचारो के सघर्ष से स्फुलिङ्ग बनते है, ज्योतिपुज से विलग हो नभ को छूते है, क्षण मे विलीन हो जाते है—यह एकागी दृष्टि-बिन्दु का चित्र है। नय एकागी दृष्टि है। किन्तु ज्योतिपुज से पृथक् जा पडनेवाला स्फुलिङ्ग नही। वह समग्र मे व्याप्त रहकर एक का ग्रहण या निरूपण करता है।

बौद्ध कहते है—रूप आदि अवस्था ही वस्तु—द्रव्य है। रूप आदि से भिन्न सजातीय क्षण परम्परा से अतिरिक्त द्रव्य—नही है।[1] वेदान्त का अभिमत है—द्रव्य ही वस्तु है, रूप आदि गुण तात्त्विक नही है।[2] बौद्ध की दृष्टि से गुणो का आधार-द्रव्य तात्त्विक नही, इसलिए भेद सत्य है। वेदान्त की दृष्टि से द्रव्य के आधेय गुण तात्त्विक नही, इसलिए अभेद सत्य है। प्रमाण-सिद्ध अभेद का लोप नही किया जा सकता, इसलिए बौद्धो को सत्य के दो रूप मानने पडे—सवृत्ति और परमार्थ। भेद की दिशा मे वेदान्त की भी यही स्थिति है। उसके अनुसार जगत् या प्रपच प्रातीतिक सत्य है और ब्रह्म वास्तविक सत्य। भेद और अभेद के द्वन्द्व का यह एक निदर्शन है। यही नयवाद की पृष्ठभूमि है।

नयवाद अभेद और भेद—इन दो वस्तु-धर्मों पर टिका हुआ है। इसके अनुसार वस्तु अभेद और भेद की समष्टि है। इसलिए अभेद भी सत्य है और भेद भी। अभेद से भेद और भेद से अभेद सर्वथा भिन्न नही है, इसलिए कहना होगा कि स्वतन्त्र अभेद भी सत्य नही है, स्वतन्त्र भेद भी सत्य नही है किन्तु सापेक्ष अभेद

---

१ प्रमाणवार्तिक, १।१७

२ ब्रह्मसूत्र (शाकरभाष्य), २।२।१७

विचारात्मक नय अर्थाश्रित और प्रतिपादनात्मक नय आगम या शब्द-ज्ञान का कारण होता है, इसलिए श्रोता की अपेक्षा वह शब्दाश्रित होना चाहिए किन्तु यहा यह अपेक्षा नही है। यहा वाच्य मे वाचक की प्रवृत्ति को गौण-मुख्य मानकर विचार किया गया है। अर्थनय मे अर्थ की मुख्यता है और उसके वाचक की गौणता। शब्दनय मे शब्द-प्रयोग के अनुसार अर्थ का वोध होता है, इसलिए यहा शब्द मुख्य ज्ञापक बनता है, अर्थ गौण रह जाता है।

१ वास्तविक दृष्टि को मुख्य माननेवाला अभिप्राय निश्चय नय कहलाता है।

२ लौकिक दृष्टि को मुख्य माननेवाला अभिप्राय व्यवहार नय कहलाता है।

सात नय निश्चय नय के भेद हैं। व्यवहार नय को उपनय भी कहा जाता है। व्यवहार उपचरित है। अच्छा मेघ वरसता है, तव कहा जाता है, 'अनाज वरस रहा है।' यहा कारण मे कार्य का उपचार है। मेघ तो अनाज का कारण है, उसे अपेक्षावश धान्योत्पादक वृष्टि की अनुकूलता वताने के लिए अनाज समझा या कहा जाए, यह उचित है किन्तु उसे अनाज ही समझ लिया जाए, वह सही दृष्टि नही। व्यवहार की वात को निश्चय की दृष्टि से देखा जाए, वहा वह मिथ्या वन जाती है। अपनी मर्यादा मे यह सत्य है। सात नय मे जो व्यवहार है, उसका अर्थ उपचार या स्थूल दृष्टि नही है। उसका अर्थ है—विभाग या भेद। इसलिए इन दोनो मे शब्द-साम्य होने पर भी अर्थ-साम्य नही है।

१ ज्ञान को मुख्य माननेवाला अभिप्राय ज्ञाननय कहलाता है।

२ क्रिया को मुख्य माननेवाला अभिप्राय क्रियानय कहलाता है, आदि-आदि।

इस प्रकार अनेक, असख्य या अनन्त अपेक्षाए वनती हैं। वस्तु के जितने सहभावी और क्रमभावी, सापेक्ष और परापेक्ष धर्म हैं, उतनी ही अपेक्षाए हैं। अपेक्षाए स्पष्ट वोध के लिए होती हैं। जो स्पष्ट वोध होगा, वह सापेक्ष ही होगा।

सत्य का व्याख्याद्वार

सत्य का साक्षात् होने के पूर्व सत्य की व्याख्या होनी चाहिए। एक सत्य के अनेक रूप होते हैं। अनेक रूपो की एकता और एक की अनेकरूपता ही सत्य है। उसकी व्याख्या का जो साधन है, वही नय है। सत्य एक और अनेक भाव का अविभक्त रूप है, इसलिए उसकी व्याख्या करनेवाले नय भी परस्पर-सापेक्ष हैं।

सत्य अपने आप मे पूर्ण होता है। न तो अनेकता-निरपेक्ष एकता सत्य है और न एकता-निरपेक्ष अनेकता। एकता और अनेकता का समन्वित रूप ही पूर्ण सत्य है। सत्य की व्याख्या वस्तु, क्षेत्र, काल और अवस्था की अपेक्षा से होती है। एक के लिए जो गुरु है, वही दूसरे के लिए लघु, एक के लिए जो दूर है, वही दूसरे के

व्यवहार—स्थूल पर्याय का स्वीकार, लोक-सम्मत तथ्य का स्वीकार।

निश्चय—वस्तुस्थिति का स्वीकार।

पहली मे इन्द्रियगम्य तथ्य का स्वीकार है, दूसरी मे प्रज्ञागम्य सत्य का। व्यवहार तर्कवाद है और निश्चय अन्तरात्मा से उद्भूत होनेवाला अनुभव।

चार्वाक की दृष्टि मे सत्य इन्द्रियगम्य है और वेदान्त की दृष्टि मे सत्य अतीन्द्रिय है।[1] जैन-दृष्टि के अनुसार दोनो सत्य हैं। निश्चय वस्तु के सूक्ष्म और पूर्ण स्वरूप का अगीकार है और व्यवहार उसके स्थूल और अपूर्ण स्वरूप का अगीकार। मात्रा-भेद होने पर भी दोनो मे सत्य का ही अगीकार है, इसलिए एक को अवास्तविक और दूसरे को वास्तविक नही माना जा सकता।

मुण्डकोपनिषद् (१।४।५) मे विद्या के दो भेद हैं—अपरा और परा। पहली का विषय वेद-ज्ञान और दूसरी का शाश्वत ब्रह्म-ज्ञान है। इन्हे तार्किक और आनुभविक ज्ञान के दो रूप मे व्यवहार और निश्चय नय कहा जा सकता है। व्यवहार-दृष्टि से जीव सवर्ण है और निश्चय-दृष्टि से वह अवर्ण।[2] जीव अमूर्त है, इसलिए वह वस्तुत वर्णयुक्त नही होता—यह वास्तविक सत्य है। शरीरधारी जीव कथचित् मूर्त होता है—शरीर मूर्त होता है। जीव उमसे कथचित् अभिन्न है, इसलिए वह भी सवर्ण है, यह औपचारिक सत्य है।

एक भौंरा जो काला दीख रहा है, वह सफेद भी है, हरा भी है और-और रग भी उसमे हैं—यह पूर्ण तथ्योक्ति है।

'भौंरा काला है'—यह सत्य का एकदेशीय स्वीकार है।

इन प्रकारान्तर से निरूपित व्यवहार और निश्चय-दृष्टियो का आधार नयवाद की आधार-भित्ति से भिन्न है। उसका आधार अभेद-भेदात्मक वस्तु ही है। इसके अनुसार नय एक ही है—'द्रव्य-पर्यायार्थिक'। वस्तु-स्वरूप भेदाभेदात्मक है, तब नय द्रव्य-पर्यायात्मक ही होगा।

नय सापेक्ष होता है, इसलिए इसके दो रूप वन जाते हैं—

१ जहा पर्याय गौण और द्रव्य मुख्य होता है, वह द्रव्यार्थिक।

२ जहा द्रव्य गौण तथा पर्याय मुख्य होता है, वह पर्यायार्थिक।

वस्तु के सामान्य और विशेष रूप की अपेक्षा से नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो भेद किए, वैसे ही इसके दो भेद और वनते हैं—

१ शब्दनय।

२ अर्थनय।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—शब्दाश्रयी और अर्थाश्रयी। उपयोगात्मक या

---

१ छान्दोग्य उपनिषद्, ६।१।४

२ भगवती, १७।२

नया का स्वरूप

कथनीय वस्तु दो हैं

१ पदार्थ—द्रव्य।

२ पदार्थ की अवस्थाए—पर्याय।

अभिप्राय व्यक्त करने के साधन दो हैं

१ अर्थ।

२ शब्द।

अर्थ के प्रकार दो हैं

१ सामान्य।

२ विशेष।

शब्द की प्रवृत्ति के हेतु दो हैं

१ रूढि।

२ व्युत्पत्ति।

व्युत्पत्ति-प्रयोग के कारण दो हैं

१ सामान्य निमित्त।

२ तत्कालभावी निमित्त।

सात नय

१ नैगम—सामान्य-विशेष के सयुक्त रूप का निरूपण नैगम नय है।

२ सग्रह—केवल सामान्य का निरूपण सग्रह नय है।

३ व्यवहार—केवल विशेष का निरूपण व्यवहार नय है।

४ ऋजुसूत्र—क्षणवर्ती विशेष का निरूपण ऋजुसूत्र नय है।

५ शब्द—रूढि से होनेवाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय शब्द नय है।

६ समभिरूढ—व्युत्पत्ति से होनेवाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय समभिरूढ़ नय है।

७ एवम्भूत—वार्तमानिक या तत्कालभावी व्युत्पत्ति से होनेवाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय एवम्भूत नय है।

इस प्रकार सात नयो मे शाब्दिक और आर्थिक, वास्तविक और व्यावहारिक, द्राव्यिक और पार्यायिक—सभी प्रकार के अभिप्राय सगृहीत हो जाते हैं, इसलिए प्रत्येक नय का विशद रूप समझना आवश्यक है।

नैगम

तादात्म्य की अपेक्षा से ही सामान्य-विशेष की भिन्नता का समर्थन किया

लिए निकट, एक के लिए जो ऊर्ध्व है, वही दूसरे के लिए निम्न, एक के लिए जो सरल है, वही दूसरे के लिए वक्र। अपेक्षा के विना इनकी व्याख्या नही हो सकती। गुरु और लघु क्या है ? दूर और निकट क्या है ? ऊर्ध्व और निम्न क्या है ? सरल और वक्र क्या है ?—वस्तु, क्षेत्र आदि की निरपेक्ष स्थिति मे इसका उत्तर नही दिया जा सकता। यह स्थिति पदार्थ का अपने से वाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध होने पर वनती है किन्तु उसकी वाह्य-जगत्-निरपेक्ष अपनी स्थिति भी अपेक्षा से मुक्त नही है। कारण कि पदार्थ अनन्त गुणो का सहज सामञ्जस्य है। उसके सभी गुण, धर्म या शक्तिया अपेक्षा की शृखला मे गुथे हुए हैं। एक गुण की अपेक्षा पदार्थ का जो स्वरूप है, वह उसकी अपेक्षा से है, दूसरे की अपेक्षा से नही। चेतन पदार्थ चैतन्य गुण की अपेक्षा से चेतन है किन्तु उसके सहभावी अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुणो की अपेक्षा से चेतन पदार्थ की चेतनशीलता नही है। अनन्त शक्तियो और उनके अनन्त कार्य या परिणामो की जो एक सकलना, समन्वय या शृखला है वही पदार्थ है। इसलिए विविध शक्तियो और तज्जनित विविध परिणामो का अविरोधभाव सापेक्ष स्थिति मे ही हो सकता है।

नय का उद्देश्य

कोई भी व्यक्ति सदा पदार्थ को एक ही दृष्टि से नही देखता। देश, काल और स्थितियो का परिवर्तन होने पर दर्शक की दृष्टि मे भी परिवर्तन होता है। यही स्थिति निरूपण की है। वक्ता का झुकाव पदार्थ की ओर होगा तो उसकी वाणी का आकर्षण भी उसी की ओर होगा। यही वात पदार्थ की अवस्था के विपय मे है। सुननेवाले को वक्ता की विवक्षा समझनी होगी। उसे समझने के लिए उसके पारिपार्श्विक वातावरण, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समझना होगा। विवक्षा के पाच रूप वनते हैं—

१ द्रव्य की विवक्षा दूध मे ही मिठास और रूप आदि होते हैं।
२ पर्याय की विवक्षा मिठास और रूप आदि ही दूध है।
३ द्रव्य के अस्तिव मात्र की विवक्षा दूध है।
४ पर्याय के अस्तित्व मात्र की विवक्षा मिठास है, रूप आदि है।
५ धर्म-धर्मी-सम्बन्ध की विवक्षा दूध का मिठास, रूप आदि।

इनके वर्गीकरण से दो दृष्टिया वनती हैं—

१ द्रव्य-प्रधान या अभेद-प्रधान।
२ पर्याय-प्रधान या भेद-प्रधान।

नयो का रहस्य यह है कि हम दूसरे व्यवित के विचारो को उसी के अभिप्राय के अनुकूल समझने का यत्न करें।

सर्वथा एक माना जाए तो वे वस्तु नही हो सकते। यदि उन्हे सर्वथा दो माना जाए तो उनमें कोई सम्बन्ध नही रहता। वे दो हैं—यह भी प्रतीति-सिद्ध है, उनमें सम्बन्ध है—यह भी प्रतीति-सिद्ध है। किन्तु इन दोनो को शब्दाश्रयी ज्ञान द्वारा एक साथ जान सकें या कह सकें—यह प्रतीति-सिद्ध नही, इसलिए नैगमदृष्टि है, जो अमुक धर्म के साथ अमुक धर्म का सम्बन्ध बताकर यथासमय एक-दूसरे की मुख्य स्थिति को ग्रहण कर सकती है। 'पराक्रमी हनुमान्', इस वर्णन शैली मे हनुमान् की मुख्यता होगी। हनुमान् के पराक्रम का वर्णन करते समय उसकी (पराक्रम की) मुख्यता अपने आप हो जाएगी। वर्णन की यह सहज शैली ही इस दृष्टि का आधार है।

इसका दूसरा आधार लोक-व्यवहार है। लोक-व्यवहार मे शब्दो के जितने और जैसे अर्थ माने जाते हैं, उन सबको यह दृष्टि मान्य करती है।

इसका तीसरा आधार सकल्प है। सकल्प की सत्यता नैगम दृष्टि पर निर्भर है। भूत को वर्तमान मानना—जो कार्य हो चुका, उसे हो रहा है—ऐसा मानना सत्य नही है। किन्तु सकल्प या आरोप की दृष्टि से सत्य हो सकता है।

इसके तीन रूप बनते हैं

१ भूत पर्याय का वर्तमान पर्याय के रूप मे स्वीकार (अतीत मे वतमान का सकल्प) भूत नैगम।

२ अपूर्ण वतमान का पूर्ण वतमान के रूप मे स्वीकार (अनिष्पन्नक्रिय वर्तमान मे निष्पन्नक्रिय वर्तमान का सकल्प) वर्तमान नैगम।

३ भविष्य पर्याय का भूत पर्याय के रूप मे स्वीकार (भविष्य मे भूत का सकल्प) भावी नैगम।

जन्मदिन मनाने की सत्यता भूत नैगम की दृष्टि से है। रोटी पकानी शुरू की है। किसी ने पूछा—'आज क्या पकाया है?' उत्तर मिलता है—'रोटी पकायी है।' रोटी पकी नही, पक रही है, फिर भी वर्तमान नैगम की अपेक्षा 'पकाई है' ऐसा कहना सत्य है।

क्षमता और योग्यता की अपेक्षा अकवि को कवि, अविद्वान् को विद्वान् कहा जाता है। यह तभी सत्य होता है जब हम, भावी का भूत मे उपचार है, इस अपेक्षा को न भूलें।

नैगम के तीन भेद होते हैं

१ द्रव्य नैगम।

२ पर्याय नैगम।

३ द्रव्य-पर्याय नैगम।

इसके कार्य का क्रम यह है

१ दो वस्तुओ का ग्रहण।

जाता है । यह दृष्टि नैगमनय है। यह उभयग्राही दृष्टि है। सामान्य और विशेष, दोनो इसके विषय हैं। इससे सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के एक देश का बोध होता है। सामान्य और विशेष स्वतन्त्र पदार्थ हैं—इस कणाददृष्टि को जैन दर्शन स्वीकार नही करता। कारण, सामान्य रहित विशेष और विशेष रहित सामान्य की कही भी प्रतीति नही होती। ये दोनो पदार्थ के धर्म हैं। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ, देश और काल मे जो अनुवृत्ति होती है, वह सामान्य-अश है और जो व्यावृत्ति होती है, वह विशेष-अश। केवल अनुवृत्ति-रूप या केवल व्यावृत्ति-रूप कोई पदार्थ नही होता। जिस पदार्थ की जिस समय दूसरो से अनुवृत्ति मिलती है, उसकी उसी समय दूसरो से व्यावृत्ति भी मिलती है।

सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ का ज्ञान प्रमाण से हो सकता है। अखण्ड वस्तु प्रमाण का विषय है। नय का विषय उसका एकाश है। नैगमनय बोध कराने के अनेक मार्गों का स्पर्श करनेवाला है, फिर भी प्रमाण नही है। प्रमाण मे सब धर्मों को मुख्य स्थान मिलता है। यहा सामान्य के मुख्य होने पर विशेष गौण रहेगा और विशेष के मुख्य बनने पर सामान्य गौण । दोनो को यथास्थान मुख्यता और गौणता मिलती है। सग्रहनय केवल सामान्य अश का ग्रहण करता है और व्यवहारनय केवल विशेष अश का। नैगमनय दोनो (सामान्य-विशेष) की एकाश्रयता का साधक है।

प्रमाण की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय मे कथचित् भेद और कथचित् अभेद है। उससे भेदाभेद का युगपत् ग्रहण होता है।

नैगमनय के अनुसार द्रव्य और पर्याय का सम-स्थिति मे युगपत् ग्रहण नही होता। अभेद का ग्रहण भेद को गौण बना डालता है और भेद का ग्रहण अभेद को। मुख्य प्ररूपणा एक की होगी, प्रमाता जिसे चाहेगा उसकी होगी। आनन्द चेतन का धर्म है । चेतन मे आनन्द है—इस विवक्षा मे आनन्द मुख्य बनता है, जो कि भेद है—चेतन की ही एक विशेष अवस्था है। 'आनन्दी जीव की बात छोडिए'—इस विवक्षा मे जीव मुख्य है, जो कि अभेद है—आनन्द जैसी अनन्त सूक्ष्म-स्थूल विशेष अवस्थाओ का अधिकरण है।

नैगमनय भावो की अभिव्यजना का व्यापक स्रोत है। 'आनन्द छा रहा है'—यह ऋजुसूत्र नय का अभिप्राय है। इसमे केवल धर्म या भेद की अभिव्यक्ति होती है। 'आनन्द कहा ?'—यह उससे व्यक्त नही होता। 'द्रव्य एक है'—यह सग्रहनय का अभिप्राय है किन्तु द्रव्य मे क्या है ?—यह नही जाना जाता। "आनन्द चेतन मे होता है' और उसका अधिकरण चेतन ही है, यह दोनो के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है। यह नैगमनय का अभिप्राय है। इस प्रकार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-कारक, जाति-जातिमान् आदि मे जो भेदाभेद-सम्बन्ध होता है, उसकी व्यजना इसी दृष्टि से होती है। पराक्रम और पराक्रमी को

२ अशुद्धरूप है—अवान्तर-विशेप।

सग्रह समन्वय की दृष्टि है और व्यवहार विभाजन की। ये दोनो दृष्टिया समानान्तर रेखा पर चलनेवाली हैं किन्तु इनका गति-क्रम विपरीत है। सग्रह-दृष्टि सिमटती चलती है, चलते-चलते एक हो जाती है। व्यवहार-दृष्टि खुलती चलती है—चलते-चलते अनन्त हो जाती है।
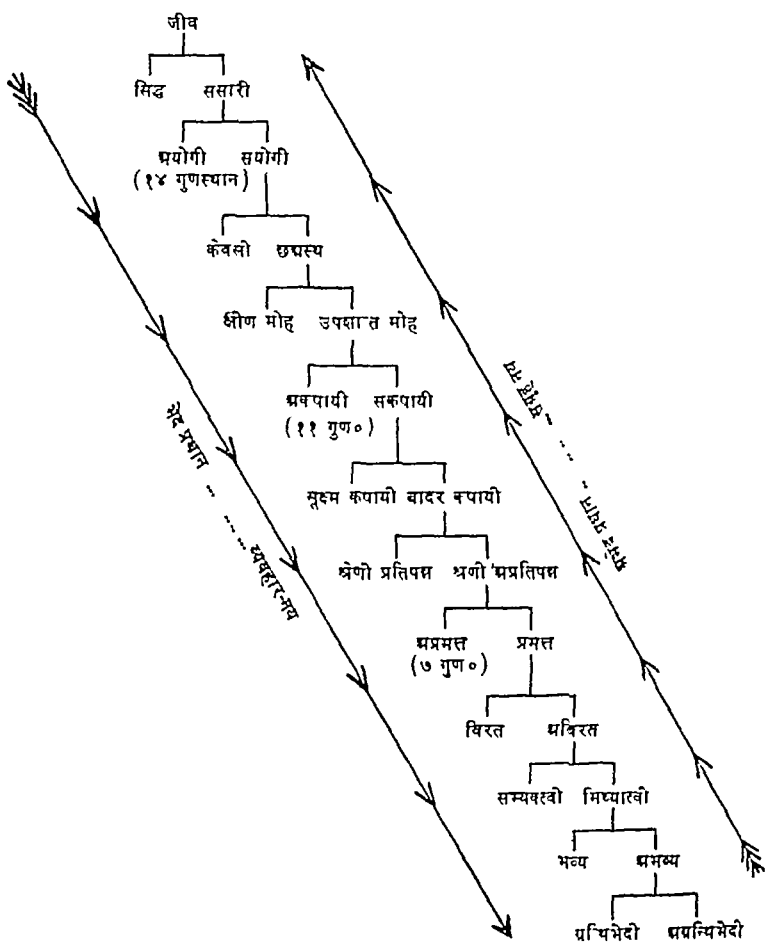
यदि सब पदार्थों मे सर्वथा अभेद ही होता—वास्तविक एकता ही होती तो व्यवहार नय की (भेद को वास्तविक मानने की) बात त्रुटिपूर्ण होती। इसी प्रकार सब पदार्थों मे सर्वथा भेद ही होता, वास्तविक अनेकता ही होती तो सग्रह-दृष्टि की (अभेद को वास्तविक मानने की) बात सत्य नही होती।

२ दो अवस्थाओ का ग्रहण।

३ एक वस्तु और एक अवस्था का ग्रहण।

नैगमनय जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि का प्रतीक है। जैन दर्शन के अनुसार नानात्व और एकत्व दोनो सत्य हैं। एकत्व-निरपेक्ष नानात्व और नानात्व-निरपेक्ष एकत्व—ये दोनो मिथ्या हैं। एकत्व आपेक्षिक सत्य है। 'गोत्व' की अपेक्षा से सब गायो मे एकत्व है। पशुत्व की अपेक्षा से गायो और अन्य पशुओ मे एकत्व है। जीवत्व की अपेक्षा से पशु और अन्य जीवो मे एकत्व है। द्रव्यत्व की अपेक्षा से जीव और अजीव मे एकत्व है। अस्तित्व की अपेक्षा से समूचा विश्व एक है। आपेक्षिक सत्य से हम वास्तविक सत्य की ओर जाते हैं, तव हमारा दृष्टिकोण भेदवादी वन जाता है। नानात्व वास्तविक सत्य है। जहा अस्तित्व की अपेक्षा है, वहा विश्व एक है किन्तु चैतन्य और अचैतन्य, जो अत्यन्त विरोधी धर्म हैं, की अपेक्षा विश्व एक नही है। उसके दो रूप हैं—चेतन जगत् और अचेतन जगत्। चैतन्य की अपेक्षा चेतन जगत् एक है किन्तु स्व-स्थ चैतन्य की अपेक्षा चेतन एक नही है। वे अनन्त हैं। चेतन का वास्तविक रूप है—स्वात्म-प्रतिष्ठान। प्रत्येक पदार्थ का शुद्ध रूप, यही स्वप्रतिष्ठान है। वास्तविक रूप भी निरपेक्ष सत्य नही है। स्व मे या व्यक्ति मे चैतन्य की पूर्णता है। वह एक व्यक्ति—चेतन अपने समान अन्य चेतन व्यक्तियो से सर्वथा भिन्न नही होता, इसलिए उनमे सजातीयता या सापेक्षता है। यही तथ्य आगे वढता है।

चेतन और अचेतन मे भी सर्वथा भेद ही नही, अभेद भी है। भेद है वह चैतन्य और अचैतन्य की अपेक्षा से है। द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, परस्परानुगमत्व आदि-आदि असख्य अपेक्षाओ से उनमे अभेद है।

दूसरी दृष्टि से उनमे सर्वथा अभेद ही नही, भेद भी है। अभेद अस्तित्व आदि की अपेक्षा से है, चैतन्य की अपेक्षा से भेद भी है। उनमे स्वरूप-भेद है, इसलिए दोनो की अर्थक्रिया भिन्न होती है। उनमे अभेद भी है, इसलिए दोनो मे ज्ञेय-ज्ञायक, ग्राह्य-ग्राहक आदि-आदि सम्वन्ध है।

सग्रह और व्यवहार

अभेद और भेद मे तादात्म्य सम्वन्ध है, एकात्मकता है। सम्वन्ध दो से होता है। केवल भेद या केवल अभेद मे कोई सम्वन्ध नही हो सकता।

अभेद का—

शुद्धरूप है—सत्तारूप सामान्य या निर्विकल्पक महासत्ता।

अशुद्धरूप है—अवान्तर सामान्य (सामान्यविशेषोभयात्मक सामान्य)।

भेद का—

१ शुद्धरूप है—अन्त्यस्वरूप—व्यावृत्ति।

स्वीकार नही करती । अतीत की क्रिया नष्ट हो चुकती है। भविष्य की क्रिया प्रारम्भ नही होती। इसलिए भूतकालीन वस्तु और भविष्यकालीन वस्तु न तो अथक्रिया-समर्थ (अपना काम करने मे समर्थ) होती है और न प्रमाण का विषय बनती है। वस्तु वही है जो अर्थक्रिया-समर्थ हो, प्रमाण का विषय बने। ये दोनो बातें वार्तमानिक वस्तु मे ही मिलती हैं। इसलिए वही तात्त्विक सत्य है। अतीत और भविष्य मे 'तुला' तुला नही है। 'तुला' उसी समय तुला है, जब उससे तोला जाता है।

इसके अनुसार क्रियाकाल और निष्ठाकाल का आधार एक द्रव्य नही हो सकता। साध्य-अवस्था और साधन-अवस्था का काल भिन्न होगा, तब भिन्न काल का आधारभूत द्रव्य अपने आप भिन्न होगा। दो अवस्थाए समन्वित नहीं होती। भिन्न अवस्थावाचक पदार्थों का समन्वय नही होता। इस प्रकार यह पौर्वापर्य, कार्य-कारण आदि अवस्थाओ की स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन करनेवाली दृष्टि है।

शब्दनय

शब्दनय भिन्न-भिन्न लिङ्ग, वचन आदि युक्त शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। यह शब्द, रूप और उसके अर्थ का नियामक है। व्याकरण की लिङ्ग, वचन आदि की अनियामकता को यह प्रमाण नही करता। इसका अभिप्राय यह है—

१ पुलिङ्ग का वाच्य-अर्थ स्त्रीलिङ्ग का वाच्य-अर्थ नही बन सकता। 'पहाड' का जो अर्थ है वह 'पहाडी' शब्द व्यक्त नही कर सकता। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग का वाच्य-अर्थ पुलिङ्ग का वाच्य नही बनता। 'नदी' के लिए 'नद' शब्द का प्रयोग नही किया जा सकता। फलित यह है—जहा शब्द का लिङ्ग-भेद होता है, वहा अर्थ-भेद होता है।

२ एक वचन का जो वाच्य-अर्थ है, वह बहुवचन का वाच्यार्थ नही होता। बहुवचन का वाच्य-अर्थ एकवचन का वाच्यार्थ नही बनता। 'मनुष्य है' और 'मनुष्य हैं'—ये दोनो एक ही अर्थ के वाचक नही बनते। एकत्व की अवस्था बहुत्व की अवस्था से भिन्न है। इस प्रकार काल, कारक, रूप का भेद अर्थ-भेद का प्रयोजक बनता है।

यह दृष्टि शब्द-प्रयोग के पीछे छिपे हुए इतिहास को जानने मे बडी सहायक है। सकेत-काल मे शब्द, लिङ्ग आदि की रचना प्रयोजन के अनुरूप बनती है। वह रूढ जैसी बाद मे होती है। सामान्यत हम 'स्तुति' और 'स्तोत्र' का प्रयोग एकार्थक करते हैं किन्तु वस्तुत ये एकार्थक नही हैं। एकश्लोकात्मक भक्तिकाव्य

चैतन्य गुण जैसे चेतन व्यक्तियो मे सामंजस्य स्थापित करता है, वैसे ही यदि यही गुण अचेतन व्यक्तियो का चेतन व्यक्तियो के साथ सामजस्य स्थापित करता तो चैतन्य धर्म की अपेक्षा चेतन और अचेतन को अत्यन्त विरोधी मानने की स्थिति नही आती। चेतन और अचेतन मे अन्य धर्मों द्वारा सामजस्य होने पर भी चेतन धर्म द्वारा सामजस्य नही होता। इसलिए भेद भी तात्त्विक है। सत्ता, द्रव्यत्व आदि धर्मों के द्वारा चेतन और अचेतन मे यदि किसी प्रकार का सामजस्य नही होता तो दोनो का अधिकरण एक जगत् नही होता। वे स्वरूप से एक नही हैं, अधिकरण से एक हैं, इसलिए अभेद भी तात्त्विक है।

अभेद और भेद की तात्त्विकता के कारण भिन्न-भिन्न हैं। सत्ता या अस्तित्व अभेद का कारण है, यह कभी भेद नही डालता। हमारी अभेदपरक-दृष्टि इसके सहारे बनती है।

विशेष धर्म या नास्तित्व (जैसे चेतन का चैतन्य) भेद का कारण है। इसके सहारे भेदपरक दृष्टि चलती है।

वस्तु का जो समान परिणाम है, वही सामान्य है। समान परिणाम असमान परिणाम के बिना हो नही सकता।

असमानता के बिना एकता होगी, समानता नही। वह असमान परिणाम ही विशेष है।[1]

नैगम-दृष्टि अभेद और भेद शक्तियो की एकाश्रयता के द्वारा पदार्थ को अभेदक और भेदक धर्मों का समन्वय मानकर अभेद और भेद की तात्त्विकता का समर्थन करती है। सग्रह और व्यवहार—ये दोनो क्रमश अभेद और भेद को मुख्य मानकर इनकी वास्तविकता का समर्थन करनेवाली दृष्टिया हैं।

व्यवहार नय

यह दो प्रकार का होता है

१ उपचार-बहुल—यहा गौण-वृत्ति से उपचार प्रधान होता है। जैसे—पर्वत जल रहा है, यहा प्रचुर-दाह प्रयोजन है। मार्ग चल रहा है—यहा नैरन्तर्य प्रतीति प्रयोजन है।

२ लौकिक—भौंरा काला है।

ऋजुसूत्र

यह वर्तमानपरक दृष्टि है। यह अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता

---

१ आवश्यक, मलयगिरि वृत्ति पत्र ३७३
वस्तुन एव समानपरिणाम स एव सामान्यम्।
असमानस्तु विशेषो, वस्त्वेकमुभयरूप तु॥

समभिरूढ मे फिर भी स्थितिपालकता है। वह अतीत और भविष्य की क्रिया को भी शब्द-प्रयोग का निमित्त मानता है। यह नय अतीत और भविष्य की क्रिया से शब्द और अर्थ के प्रति नियम को स्वीकार नही करता। सिर पर रखा जाएगा, रखा गया इसलिए वह घट है, यह नियम क्रिया-शून्य है। घट वह है, जो माथे पर रखा हुआ है। इसके अनुसार शब्द अर्थ की वर्तमान-चेष्टा का प्रतिविम्ब होना चाहिए। यह शब्द को अथ का और अर्थ को शब्द का नियामक मानता है। घट शब्द का वाच्य अर्थ वही है, जो पानी लाने के लिए मस्तक पर रखा हुआ है—वर्तमान प्रवृत्तियुक्त है। घट शब्द भी वही है, जो घट-क्रियायुक्त अर्थ का प्रतिपादन करे।

विचार की आधारभित्ति

विचार निराश्रय नही होता। उसके अवलम्बन तीन है—ज्ञान, अर्थ और शब्द।

१ जो विचार सकल्प-प्रधान होता है, उसे ज्ञानाश्रयी कहते हैं। नैगमनय ज्ञानाश्रयी विचार है।

२ अर्थाश्रयी विचार वह होता है, जो अर्थ को मानकर चले। सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—यह अर्थाश्रयी विचार है। यह अर्थ के अभेद और भेद की मीमासा करता है।

३ शब्दाश्रयी विचार वह है, जो शब्द की मीमासा करे। शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत—ये तीनो शब्दाश्रयी विचार हैं।

इनके आधार पर नयो की परिभाषा यो होती है

१ नैगम—सकल्प या कल्पना की अपेक्षा से होनेवाला विचार।

२ सग्रह—समूह की अपेक्षा से होने वाला विचार।

३ व्यवहार—व्यक्ति की अपेक्षा से होनेवाला विचार।

४ ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होनेवाला विचार।

५ शब्द—यथाकाल, यथाकारक शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होनेवाला विचार।

६ समभिरूढ—शब्द की उत्पत्ति के अनुरूप शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होने-वाला विचार।

७ एवम्भूत—व्यक्ति के कार्यानुरूप शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होनवाला विचार।

'स्तुति' और बहुश्लोकात्मक-भक्तिकाव्य 'स्तोत्र' कहलाता है।[1] 'पुत्र' और 'पुत्री' के पीछे जो लिङ्ग-भेद की, 'तुम' और 'आपके' पीछे जो वचन-भेद की भावना है, वह शब्द के लिङ्ग और वचन-भेद द्वारा व्यक्त होती है। शब्द-नय शब्द के लिङ्ग, वचन आदि के द्वारा व्यक्त होनेवाली अवस्था को ही तात्त्विक मानता है। एक ही व्यक्ति को स्थायी मानकर कभी 'तुम' और कभी 'आप' शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है किन्तु नय उन दोनो को एक ही व्यक्ति स्वीकार नही करता। 'तुम' का वाच्य व्यक्ति लघु या प्रेमी है, जब कि 'आप' का वाच्य गुरु या सम्मान्य है।

समभिरूढ

एक वस्तु का दूसरी वस्तु मे सक्रमण नही होता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप मे निष्ठ होती है। स्थूल दृष्टि से हम अनेक वस्तुओ के मिश्रण या सहस्थिति को एक वस्तु मान लेते हैं किन्तु ऐसी स्थिति मे भी प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूप मे होती है।

जैन दर्शन की भाषा मे अनेक वर्गणाए और विज्ञान की भाषा मे अनेक गैसें आकाश-मण्डल मे व्याप्त हैं किन्तु एक साथ व्याप्त रहने पर भी वे अपने-अपने स्वरूप मे हैं। समभिरूढ का अभिप्राय यह है कि जो वस्तु जहा आरूढ है, उसका वही प्रयोग करना चाहिए। यह दृष्टि वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए बहुत उपयोगी है। स्थूल दृष्टि मे घट, कुट, कुम्भ का अर्थ एक है। समभिरूढ इसे स्वीकार नही करता। इसके अनुसार 'घट' शब्द का ही अर्थ घट वस्तु है, कुट शब्द का अर्थ घट वस्तु नही, घट का कुट मे सक्रमण अवस्तु है। 'घट' वह वस्तु है, जो माथे पर रखा जाए। कही बडा, कही चौडा और कही सकरा—इस प्रकार जो कुटिल आकार वाला है, वह 'कुट' है। माथे पर रखी जाने योग्य अवस्था और कुटिल आकृति की अवस्था एक नही है। इसलिए दोनो को एक शब्द का अर्थ मानना भूल है। अर्थ की अवस्था के अनुरूप शब्दप्रयोग और शब्दप्रयोग के अनुरूप अर्थ का बोध हो, तभी सही व्यवस्था हो सकती है। अर्थ की शब्द के प्रति और शब्द की अर्थ के प्रति नियामकता न होने पर वस्तु-साकर्य हो जाएगा। फिर कपडे का अर्थ घडा और घडे का अर्थ कपडा न समझने के लिए नियम क्या होगा ? कपडे का अर्थ जैसे तन्तु-समुदाय है, वैसे ही मृण्मय पात्र भी हो जाए और सब कुछ हो जाए तो शब्दानुसारी प्रवृत्ति-निवृत्ति का लोप हो जाता है, इसलिए शब्द को अपने वाच्य के प्रति सच्चा होना चाहिए। घट अपने अर्थ के प्रति सच्चा रह सकता है, पट या कुट के अर्थ के प्रति नही। यह नियामकता या सच्चाई ही इसकी मौलिकता है।

---

१ स्तुतिश्चैकश्लोकप्रमाणा, स्तोत्र तु बहुश्लोकमानम् ।

तब ऋजुसूत्र अलग क्यो ? सग्रह के अपर और पर—ये दो भेद हुए, वैसे ही व्यवहार के भी दो भेद हो जाते—अपर-व्यवहार और पर-व्यवहार।

इस प्रश्न का समाधान ढूढने के लिए चलते हैं, तब हमे दूसरी दृष्टि का आलोक अपने आप मिल जाता है। अर्थ का अन्तिम भेद परमाणु या प्रदेश है। उस तक व्यवहारनय चलता है। चरम भेद का अर्थ होता है—वर्तमानकालीन अर्थ-पर्याय—क्षणमात्रस्थायी पर्याय। पर्याय पर्यायार्थिक नय का विषय बनता है। व्यवहार ठहरा द्रव्यार्थिक। द्रव्यार्थिक-दृष्टि के सामने पर्याय गौण होती है, इस-लिए पर्याय उसका विषय नही बनती। यही कारण है कि व्यवहार से ऋजुसूत्र को स्वतन्त्र मानना पडा। नय के विषय-विभाग पर दृष्टि डालिए, यह अपने आप स्पष्ट हो जाएगा। द्रव्यार्थिक नय तीन हैं—नैगम, सग्रह और व्यवहार।

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत—ये चार पर्यायार्थिक नय हैं। ऋजुसूत्र ; व्य-पर्यायार्थिक विभाग मे जहा पर्यायार्थिक मे जाता है, वहा अर्थ-शब्द-विभाग मे अर्थ नय मे रहता है। व्यवहार दोनो जगह एक कोटिक है।

दो परम्पराए

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के विभाग मे दो परम्पराए बनती हैं, एक सैद्धान्तिको की और दूसरी तार्किको की। सैद्धान्तिक परम्परा के अग्रणी 'जिनभद्रगणी' क्षमाश्रमण हैं। उनके अनुसार पहले चार नय द्रव्यार्थिक हैं और शेप तीन पर्यायार्थिक। दूसरी परम्परा के प्रमुख हैं 'सिद्धसेन'। उनके अनुसार पहले तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शेप चार पर्यायार्थिक।[1]

सैद्धान्तिक ऋजुसूत्र को द्रव्यार्थिक मानते हैं।

ऋजुसूत्र की दृष्टि मे उपयोग-शून्य व्यक्ति द्रव्यावश्यक है। सैद्धान्तिक परम्परा का मत यह है कि यदि ऋजुसूत्र को द्रव्यग्राही न माना जाए तो उक्त सूत्र मे विरोध आयेगा।

तार्किक मत के अनुसार अनुयोग द्वार मे वर्तमान आवश्यक पर्याय मे द्रव्य पद का उपचार किया गया है।[2] इसलिए वहा कोई विरोध नही आता। सैद्धान्तिक गौण द्रव्य को द्रव्य मानकर इसे द्रव्यार्थिक मानते हैं और तार्किक वर्तमान पर्याय का द्रव्य रूप मे उपचार और वास्तविक दृष्टि मे वर्तमान पर्याय मान उसे पर्यायार्थिक मानते हैं। मुख्य द्रव्य कोई नही मानता। एक दृष्टि का विषय है—गौण द्रव्य और एक का विषय है पर्याय। दोनो मे अपेक्षाभेद है, तात्त्विक विरोध

१ न्यायोपदेश, १८
तार्किकाणा त्रयो भेदा, आद्या द्रव्यार्थतो मता।
सैद्धान्तिकानां चत्वार., पर्यायार्थगता परे॥

२ नयरहस्य, पृ० १२।

अर्थाश्रित ज्ञान के चार रूप बनते हैं

१ सामान्य-विशेष (उभयात्मक) अर्थ—नैगम-दृष्टि ।

२ सामान्य या अभिन्न अर्थ—सग्रह-दृष्टि ।

३ विशेष या भिन्न अर्थ—व्यवहार-दृष्टि ।

४ वर्तमानवर्ती विशेष अर्थ—ऋजुसूत्र-दृष्टि ।

पहली दृष्टि के अनुसार अभेदशून्य भेद और भेदशून्य अभेद रूप अर्थ नही होता। जहा अभेदरूप प्रधान वनता है, वहा भेदरूप गौण वन जाता है और जहा भेदरूप मुख्य वनता है, वहा अभेदरूप गौण। भेद और अभेद, जो पृथक् प्रतीत होते हैं, उसका कारण दृष्टि का गौण-मुख्य-भाव है, किन्तु उनके स्वरूप की पृथक्ता नही ।

दूसरी दृष्टि मे केवल अर्थ के अनन्त धर्मो के अभेद की विवक्षा मुख्य होती है। यह भेद से अभेद की ओर गति है। इसके अनुसार पदार्थ मे सहभावी और क्रमभावी अनन्त-धर्म होते हुए भी वह एक माना जाता है। सजातीय पदार्थ सख्या मे अनेक, असख्य या अनन्त होने पर भी एक माने जाते है। विजातीय पदार्थ पृथक् होते हुए भी पदार्थ की सत्ता मे एक वन जाते है। यह मध्यम या अपर सग्रह वनता है। पर या उत्कृष्ट सग्रह मे विश्व एक वन जाता है। अस्ति-सामान्य से परे कोई पदार्थ नही। अस्तित्व की सीमा मे सव एक वन जाते हैं, फलत विश्व एक सद्-अविशेष या सत्-सामान्य वन जाता है।

यह दृष्टि दो धर्मो की समानता से प्रारम्भ होती है और समूचे जगत् की समानता मे इसकी परिसमाप्ति होती है। अभेद चरम कोटि तक नही पहुचता, तव तक अपर-सग्रह चलता है।

तीसरी दृष्टि ठीक इससे विपरीत चलती है। वह अभेद से भेद की ओर जाती है। इन दोनो का क्षेत्र तुल्य है। केवल दृष्टि-भेद रहता है। दूसरी दृष्टि सवमे अभेद ही अभेद देखती है और इसे सव मे भेद ही भेद दीख पडता है। दूसरी अभेदाश-प्रधान या निश्चय-दृष्टि है। वह है भेदाश या उपयोगिता-प्रधान दृष्टि। द्रव्यत्व से कुछ नही वनता, उपयोग द्रव्य का होता है। गोत्व दूध नही देता, दूध गाय देती है।

चौथी दृष्टि चरम भेद की दृष्टि है। जैसे पर-सग्रह मे अभेद चरम कोटि तक पहुच जाता है—विश्व एक वन जाता है, वैसे ही इसमे भेद चरम वन जाता है। अपर-सग्रह और व्यवहार के ये दोनो सिरे हैं। यहा से उनका उद्गम होता है।

यहा एक प्रश्न के लिए अवकाश है। अपर-सग्रह को अलग नय नही माना

साथ एक रूप मे नही।[1] यदि एक साथ धर्म-धर्मी दोनो को या अनेक धर्मों को मुख्य मानता तो यह प्रमाण वन जाता किन्तु ऐसा नही होता। इस दृष्टि मे मुख्यता एक की ही रहती है, दूसरा सामने रहता है किन्तु प्रधान वनकर नही। कभी धर्मी मुख्य वन जाता है, और कभी धर्म। दो धर्मो की भी यही गति है। इसके राज्य मे किसी एक के ही मस्तक पर मुकुट नही रहता। वह अपेक्षा या प्रयोजन के अनुसार वदलता रहता है।

ऋजुसूत्र का आधार है—चरमभेद। यह पहले और पीछे को वास्तविक नहीं मानता। इसका सूत्र वडा सरल है। यह सिर्फ वर्तमान पर्याय को ही वास्तविक मानता है।

शब्द के भेद-रूप के अनुसार अर्थ का भेद होता है—यह शब्दनय का आधार है।

प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न है। एक अर्थ के दो वाचक नही हो सकते—यह समभिरूढ की मूल भित्ति है।

शब्दनय प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न नहीं मानता। उसके मत मे एक शब्द के जो अनेक रूप वनते हैं, वे तभी वनते है जव कि अर्थ मे भेद होता है। यह दृष्टि उससे सूक्ष्म है। इसके अनुसार—शब्दभेद के अनुसार अर्थभेद होता ही है।

एवम्भूत का अभिप्राय विशुद्धतम है। इसके अनुसार अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग उसकी प्रस्तुत क्रिया के अनुसार होना चाहिए। समभिरूढ अर्थ की क्रिया मे अप्रवृत्त शब्द को उसका वाचक मानता है—वाच्य और वाचक के प्रयोग को त्रैकालिक मानता है किन्तु यह केवल वाच्य-वाचक के प्रयोग को वर्तमान काल मे ही स्वीकार करता है। क्रिया हो चुकने पर और क्रिया की सभाव्यता पर अमुक अर्थ का अमुक वाचक है—ऐसा हो नही सकता। फलित रूप मे सात नयो के विषय इस प्रकार वनते हैं—

१ नैगम — अर्थ का अभेद और भेद तथा दोनो।
२ सग्रह — अभेद।
 (क) परसग्रह — चरम-अभेद।
 (ख) अपरसग्रह — अवान्तर-अभेद।
३ व्यवहार — भेद-अवान्तर-भेद।
४ ऋजुसूत्र — चरम-भेद।
५ शब्द — भेद।
६ समभिरूढ — भेद।
७ एवम्भूत — भेद।

---

१ अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्।
विशेषोप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नय ॥

नही ।

द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को ही मानता है, पर्याय को नही मानता, तब ऐसा लगता है—यह दुर्नय होना चाहिए। नय मे दूसरे का प्रतिक्षेप नही होना चाहिए। वह मध्यस्थ होता है। बात सही है, किन्तु ऐसा है नही। द्रव्यार्थिक नय पर्याय को अस्वीकार नही करता, पर्याय की प्रधानता को अस्वीकार करता है। द्रव्य के प्राधान्यकाल मे पर्याय की प्रधानता होती नही, इसलिए यह उचित है। यही बात पर्यायार्थिक के लिए है। वह पर्याय-प्रधान है, इसलिए वह द्रव्य का प्राधान्य अस्वीकार करता है। यह अस्वीकार मुख्य दृष्टि का है, इसलिए यहा असत्-एकान्त नही होता।

पर्यायार्थिक नय

ऋजुसूत्र का विषय है—वर्तमानकालीन अर्थपर्याय। शब्दनय काल आदि के भेद से अर्थभेद मानता है। इस दृष्टि के अनुसार अतीत और वर्तमान की पर्याय एक नही होती।

समभिरूढ निरुक्ति-भेद से अर्थ-भेद मानता है। इसकी दृष्टि मे घट और कुम्भ दो हैं।

एवम्भूत वर्तमान क्रिया मे परिणत अर्थ को ही तद्शब्द-वाच्य मानता है। ऋजुसूत्र वर्तमान पर्याय को मानता है। तीनो शब्दनय शब्दप्रयोग के अनुसार अर्थभेद स्वीकार करते हैं, इसलिए ये चारो पर्यायार्थिक नय हैं। इनमे द्रव्याश गौण रहता है और पर्यायाश मुख्य।

अर्थनय और शब्दनय

नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—ये चार अर्थनय हैं। शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत—ये तीन शब्दनय है। यो तो सातो नय ज्ञानात्मक और शब्दात्मक दोनो है किन्तु यहा उनकी शब्दात्मकता से प्रयोजन नही। पहले चार नयो मे शब्द का काल, लिङ्ग, निरुक्त आदि बदलने पर अर्थ नही बदलता, इसलिए वे अर्थनय हैं। शब्दनयो मे शब्द का काल आदि बदलने पर अर्थ बदल जाता है, इसलिए ये शब्दनय कहलाते हैं।

नयविभाग का आधार

अभेद सग्रहदृष्टि का आधार है और भेद व्यवहारदृष्टि का। सग्रह भेद को नही मानता और व्यवहार अभेद को।

अभेद और भेद एक पदार्थ मे रहते हैं। ये सर्वथा दो नही हैं, किन्तु गौण-मुख्य भाव से दो हैं। नैगमनय अभेद और भेद दोनो को स्वीकार करता है, एक

कार्य बन जाता है।

नय की शब्द-योजना

प्रमाणवाक्य और नयवाक्य के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग करने मे सभी आचार्य एकमत नही हैं। आचार्य अकलक ने दोनो जगह 'स्यात्' शब्द जोड़ा है—'स्यात् जीव एव' और 'स्यात् अस्त्येव जीव'। पहला प्रमाण-वाक्य है, दूसरा नय-वाक्य। पहले मे अनन्त-धर्मात्मक जीव का बोध होता है, दूसरे मे प्रधानतया जीव के अस्तित्वधर्म का। पहले मे 'एवकार' धर्मी के वाचक के साथ जुड़ता है, दूसरे मे धर्म के वाचक के साथ।

आचार्य मलयगिरि नयवाक्य को मिथ्या मानते हैं।[1] इनकी दृष्टि मे नयान्तर-निरपेक्ष नय अखण्ड वस्तु का ग्राहक नही होने के कारण मिथ्या है। नयान्तर-सापेक्ष-नय 'स्यात्' शब्द से जुड़ा हुआ होगा, इसलिए वह वास्तव मे नय-वाक्य नही, प्रमाण-वाक्य है। इसलिए उनके विचारानुसार 'स्यात्' शब्द का प्रयोग प्रमाण-वाक्य के साथ ही करना चाहिए।

सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा मे भी नय-वाक्य का रूप 'स्यादस्त्येव' यही मान्य रहा है।[2]

आचार्य हेमचन्द्र और वादिदेव सूरि ने नय को केवल 'सत्' शब्द-गम्य माना है। उन्होंने 'स्यात्' का प्रयोग केवल प्रमाण-वाक्य के साथ किया है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार—

सत् एव—दुर्नय

सत्—नय।

स्यात् सत्—प्रमाणवाक्य।[3]

'प्रमाणनयतत्त्वालोक' मे नय, दुर्नय का रूप 'द्वात्रिंशिका' जैसा ही है। प्रमाण-वाक्य के साथ 'एव' शब्द जोड़ा है, इतना-सा अन्तर है। पचास्तिकाय की टीका मे 'एव' शब्द को दोनो वाक्य-पद्धतियो से जोड़ा है, जबकि प्रवचनसार की टीका मे सिर्फ नय-सप्तभगी के लिए 'एवकार' का निर्देश किया है।[4] वास्तव में 'स्यात्'

---

१ आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पत्र ३७१।

२ सन्मति प्रकरण, वृत्ति, पृ० ४४६।

३ अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक २८
सदेव सत् स्यात सदिति त्रिधार्थो, मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणै।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथस्त्वमास्य॥

४ पचास्तिकाय टीका पृ० ३२
स्याज्जीव एव इत्युक्तेनैवैकान्तविषय स्याच्छब्द।
स्यादस्त्येव जीव इत्युक्ते एकान्तविषय स्याच्छब्द।
स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाणवाक्यम्।
स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यम्।

इनमे एक अभेददृष्टि है, भेददृष्टिया पाच हैं और एक दृष्टि सयुक्त है। सयुक्त दृष्टि इस वात की सूचक है कि अभेद मे ही भेद और भेद मे ही अभेद है। ये दोनो सर्वथा दो या सर्वथा एक या अभेद तात्त्विक और भेद काल्पनिक अथवा भेद तात्त्विक और अभेद काल्पनिक, यो नही होता। जैन दर्शन को अभेद मान्य है किन्तु भेद के अभाव मे नही। चेतन और अचेतन (आत्मा और पुद्गल) दोनो पदार्थ सत् हैं, इसलिए एक हैं—अभिन्न हैं। दोनो मे स्वभाव-भेद है, इसलिए वे अनेक हैं—भिन्न हैं। यथार्थ यह है कि अभेद और भेद—दोनो तात्त्विक हैं। कारण यह है—भेद-शून्य अभेद मे अर्थक्रिया नही होती—अर्थ की क्रिया विशेष दशा मे होती है और अभेद-शून्य भेद मे भी अर्थक्रिया नही होती। कारण और कार्य का सम्बन्ध नही जुडता। पूर्व-क्षण उत्तर-क्षण का कारण तभी वन सकता है जव कि दोनो मे एक अन्वयी माना जाए (एक ध्रुव या अभेदाश माना जाए)। इसलिए जैन दर्शन अभेदाश्रित-भेद और भेदाश्रित-अभेद को स्वीकार करता है।

नय के विषय का अल्प-बहुत्व

ये सातो दृष्टिया परस्पर-सापेक्ष हैं, एक ही वस्तु के विभिन्न रूपो को विविध रूप से ग्रहण करनेवाली हैं। इनका चिन्तन क्रमश स्थूल से सूक्ष्म की ओर आगे वढता है, इसलिए इनका विषय क्रमश भूयस् से अल्प होता चलता है।

नैगम सकल्पग्राही है। सकल्प सत् और असत् दोनो का होता है, इसलिए भाव और अभाव—ये दोनो इसके गोचर वनते हैं।

सग्रह का विषय इससे थोडा है, केवल सत्ता मात्र है।

व्यवहार का विषय सत्ता का एक अश—भेद है।

ऋजुसूत्र का विषय भेद का चरम अश—वर्तमान क्षण है, जवकि व्यवहार का त्रिकालवर्ती वस्तु है।

शब्द का विषय काल आदि के भेद से भिन्न वस्तु है, जवकि ऋजुसूत्र काल आदि का भेद होने पर भी वस्तु को अभिन्न मानता है।

समभिरूढ का विषय व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्येक पर्यायवाची शब्द का भिन्न अर्थ है, जवकि शब्दनय व्युत्पत्ति भेद होने पर भी पर्यायवाची शब्दो का एक अर्थ मानता है।

एवम्भूत का विषय क्रिया-भेद के अनुसार भिन्न अर्थ है, जवकि समभिरूढ क्रिया-भेद होने पर भी अर्थ को अभिन्न स्वीकार करता है।

इस प्रकार क्रमश इनका विषय परिमित होता गया है। पूर्ववर्ती नय उत्तर-वर्ती नय के गृहीत अश को लेता है, इसलिए पहला नय कारण और दूसरा नय

बनती है। आचार्य अकलंक, क्षमाश्रमण जिनभद्र आदि ने नय के सातों भङ्ग माने हैं।

एकान्तिक आग्रह या मिथ्यावाद

अपने अभिप्रेत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का निराकरण करनेवाला विचार दुर्नय होता है, क्योंकि एक धर्म वाली कोई वस्तु है ही नहीं। प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। इसलिए एक-धर्मात्मक वस्तु का आग्रह सम्यग् नहीं है। नय इसलिए सम्यग्-ज्ञान हैं कि वे एक धर्म का आग्रह रखते हुए भी अन्य-धर्म-सापेक्ष रहते हैं। इसीलिए कहा गया है—सापेक्ष नय और निरपेक्ष दुर्नय। वस्तु की जितने रूपों में उपलब्धि है उतने ही नय हैं। किन्तु वस्तु एक-रूप नहीं है, सब रूपों की जो एकात्मकता है, वह वस्तु है।

जैन दर्शन वस्तु की अनेकरूपता के प्रतिपादन में अनेक दर्शनों के साथ समन्वय करता है, किन्तु उसकी एकरूपता फिर उसे दूर या विलग कर देती है।

जैन दर्शन अनेकान्त-दृष्टि की अपेक्षा स्वतन्त्र है और अन्य दर्शन की एकान्त-दृष्टियों की अपेक्षा उनका संग्रह है।

'सन्मति' और 'अनेकान्त-व्यवस्था' के अनुसार नयाभास के उदाहरण इस प्रकार हैं—

१ नैगम-नयाभास नैयायिक, वैशेषिक।
२ संग्रह नयाभास वेदान्त, सांख्य।
३ व्यवहार-नयाभास सांख्य, चार्वाक।[1]
४ ऋजुसूत्र-नयाभास सैद्धान्तिक।
५ शब्द-नयाभास शब्द ब्रह्मवाद, वैभाषिक।
६ समभिरूढ-नयाभास योगाचार।
७ एवम्भूत-नयाभास माध्यमिक।[2]

१ जानने वाला व्यक्ति सामान्य, विशेष—इन दोनों में से किसी को, जिस समय जिसकी अपेक्षा होती है, उसी को मुख्य मानकर प्रवृत्ति करता है। इसलिए सामान्य और विशेष की भिन्नता का समर्थन करने में जैन-दृष्टि न्याय, वैशेषिक से मिलती है, किन्तु सर्वथा भेद के समर्थन में उनसे अलग हो जाती है। सामान्य और विशेष में अत्यन्त भेद की दृष्टि दुर्नय है और तादात्म्य की अपेक्षा भेद की दृष्टि नय है।

विशेष का व्यापार गौण, सामान्य मुख्य अभेद।

---

१ अनेकान्त व्यवस्था पृ० ३१।
२ वही, पृ० ५५ सन्मति,, पृ० ३१८।

शब्द अनेकान्त-द्योतन के लिए है और 'एव' शब्द अन्य धर्मों का व्यवच्छेद करने के लिए। केवल 'एवकार' के प्रयोग मे ऐकान्तिकता का दोष आता है। उसे दूर करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक बनता है। नयवाक्य मे विवक्षित धर्म के अतिरिक्त धर्मों मे उपेक्षा की मुख्यता होती है, इसलिए कई आचार्य उसके साथ 'स्यात्' और 'एव' का प्रयोग आवश्यक नही मानते। कई आचार्य विवक्षित धर्म की निश्चायकता के लिए 'एव' और शेष धर्मों का निराकरण न हो, इसलिए 'स्यात्'—इन दोनो के प्रयोगो को आवश्यक मानते हैं।

नय की त्रिभगी या सप्तभगी ?

१ सोना एक है (द्रव्यार्थिक-नय की दृष्टि से)

२ सोना अनेक है·· (पर्यायार्थिक-नय की दृष्टि से)

३ सोना क्रमश एक है· ·(दो धर्मों का क्रमश प्रतिपादन)।

४ सोना युगपत् 'एक अनेक है'—यह अवक्तव्य है (दो धर्मों का एक साथ प्रतिपादन असम्भव)।

५ सोना एक है—अवक्तव्य है।
६ सोना अनेक है—अवतव्य है।
७ सोना एक, अनेक—अवक्तव्य है।

} एक साथ दो धर्म नही कहे जाते, फिर भी उनके साथ एकता-अनेकता का प्रतिपादन हो सकता है।

प्रकारान्तर से[1]—

१ कुम्भ है एक देश मे स्व-पर्याय से।

२ कुम्भ नही है एक देश मे पर-पर्याय से।

३ कुम्भ अवक्तव्य है एक देश मे स्व-पर्याय से, एक देश मे पर-पर्याय से, युगपत् दोनो कहे नही जा सकते।

४ कुम्भ अवक्तव्य है।

५ कुम्भ है, कुम्भ अवक्तव्य है।

६ कुम्भ नही है, कुम्भ अवक्तव्य है।

७ कुम्भ है, कुम्भ नही है, कुम्भ अवक्तव्य है।

प्रमाण-सप्तभङ्गी मे एक धर्म की प्रधानता से धर्मी—वस्तु का प्रतिपादन होता है और नय-सप्तभङ्गी मे केवल धर्म का प्रतिपादन होता है। यह दोनो मे अन्तर है। सिद्धसेनगणी आदि के विचार मे अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य—ये तीन ही भङ्ग विकलादेश हैं, शेष चार भङ्ग अनेक धर्मवाली वस्तु के प्रतिपादक होते हैं, इसलिए वे विकलादेश नही होते। इसके अनुसार नय की त्रिभङ्गी ही

---

१ विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २२३२।

शब्द अर्थ का वाचक है किन्तु यह शब्द इसी अर्थ का वाचक है, दूसरे का नही—यह नियम नही बनता। देश, काल और सकेत आदि की विचित्रता से सब शब्द दूसरे-दूसरे पदार्थों के वाचक बन सकते हैं। अर्थ मे भी अनन्त धर्म होते हैं, इसलिए वे भी दूसरे-दूसरे शब्दो के वाच्य बन सकते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि शब्द अपनी सहज शक्ति से सब पदार्थों के वाचक हो सकते हैं किन्तु देश, काल, क्षयोपशम आदि की अपेक्षावश उनसे प्रतिनियत प्रतीति होती है। इसलिए शब्दो की प्रवृत्ति कही व्युत्पत्ति के निमित्त की अपेक्षा किये बिना मात्र रूढि से होती है, कही सामान्य व्युत्पत्ति की अपेक्षा और कही तत्कालवर्ती व्युत्पत्ति की अपेक्षा से। इसलिए वैयाकरण शब्द मे नियत अर्थ का आग्रह करते हैं, वह सत्य नही है।

एकान्तवाद प्रत्यक्षज्ञान का विपर्यय

जैसे परोक्ष-ज्ञान विपरीत या मिथ्या होता है, वैसे प्रत्यक्ष-ज्ञान भी विपरीत या मिथ्या हो सकता है। ऐसा होने का कारण एकान्तवादी दृष्टिकोण है। कई बाल-तपस्वियो (अज्ञानपूर्वक तप करने वालो) को तपोबल से प्रत्यक्ष ज्ञान का लाभ होता है। वे एकान्तवादी दृष्टि से उसे विपर्यय या मिथ्या रूप से परिणत कर लेते हैं। उसके सात निदर्शन बतलाए गए हैं

१ एक-दिशि-लोकाभिगमवाद।
२ पञ्च-दिशि-लोकाभिगमवाद।
३ जीव-क्रियावरणवाद।
४ मुयग्ग-पुद्गल जीववाद।
५ अमुयग्ग-पुद्गल-वियुक्त जीववाद।
६ जीव-रूपीवाद।
७ सर्व-जीववाद।

एक दिशा को प्रत्यक्ष जान सके, वैसा प्रत्यक्ष-ज्ञान किसी को मिले और वह ऐसा सिद्धान्त स्थापित करे कि 'लोक इतना ही है और लोक सब दिशाओ मे है, जो यह कहते हैं वह मिथ्या है'—यह एक-दिशि-लोकाभिगमवाद है।

पाच दिशाओ को प्रत्यक्ष जाननेवाला विश्व को उतना ही मान्य करता है 'और एक दिशा मे ही लोक है, जो यह कहते हैं' वह मिथ्या है—यह पञ्च-दिशि-लोकाभिगमवाद है।

जो जीव की क्रिया को साक्षात् देखता है पर क्रिया के हेतुभूत कर्म परमाणुओ को साक्षात् नही देख पाता, इसलिए वह ऐसा सिद्धान्त स्थापित करता है—'जीव क्रिया प्रेरित ही है, क्रिया ही उसका आवरण है। जो लोग क्रिया को कर्म कहते हैं, वह मिथ्या है'—यह जीव-क्रियावरणवाद है।

सामान्य का व्यापार गौण, विशेष मुख्य भेद।

२ सत् और असत् मे तादात्म्य सम्बन्ध है। सत्-असत् अश धर्मी रूप से अभिन्न हैं—सत्-असत् रूप वाली वस्तु एक है। धर्म-रूप मे वे भिन्न हैं। विशेष को गौण मान सामान्य को मुख्य मानने वाली दृष्टि नय है, केवल सामान्य को स्वीकार करनेवाली दृष्टि दुर्नय। भावैकान्त का आग्रह रखनेवाले दर्शन साख्य और अद्वैत हैं। सग्रहदृष्टि मे भावैकान्त और अभावैकान्त (शून्यवाद) दोनो का सापेक्ष स्वीकरण है।

३ व्यवहार-नय—'लोक व्यवहार सत्य है', यह दृष्टि जैन-दर्शन को मान्य है। उसी का नाम है व्यवहार-नय। किन्तु स्थिर-नित्य वस्तु-स्वरूप का लोपकर, केवल व्यवहार-साधक, स्थूल और कियत्कालभावी वस्तुओ को ही तात्त्विक मानना मिथ्या आग्रह है। जैन दृष्टि वहा चार्वाक से पृथक् हो जाती है। वर्तमान पर्याय, आकार या अवस्था को ही वास्तविक मानकर उनकी अतीत या भावी पर्यायो को और उनकी एकात्मकता को अस्वीकार कर चार्वाक निर्हेतुक वस्तुवादी वन जाता है। निर्हेतुक वस्तु या तो सदा रहती है या रहती ही नही। पदार्थों की जो कादाचित्क स्थिति होती है, वह कारण-सापेक्ष ही होती है।[1]

४ पर्याय की दृष्टि से ऋजुसूत्र का अभिप्राय सत्य है किन्तु बौद्ध दर्शन केवल पर्याय को ही परमार्थ सत्य मानकर पर्याय के आधार अन्वयी द्रव्य को अस्वीकार करता है। यह अभिप्राय सर्वथा ऐकान्तिक है, इसलिए सत्य नही हैं।

५-६-७ शव्द की प्रतीति होने पर अर्थ की प्रतीति होती है, यह सत्य है, किन्तु शव्द की प्रतीति के विना अर्थ की प्रतीति होती ही नही, यह एकान्तवाद मिथ्या है।

शव्दाद्वैतवादी ज्ञान को शव्दात्मक ही मानते हैं। उनके मतानुसार 'ऐसा कोई ज्ञान नही, जो शब्द ससर्ग के विना हो सके। जितना ज्ञान है, वह सव शव्द से अनुविद्ध होकर ही भासित होता है।[2]

जैन दृष्टि के अनुसार—"ज्ञान शव्द-सश्लिष्ट ही होता है"—यह उचित नही।[3] क्योकि शव्द अर्थ से सर्वथा अभिन्न नही है। अवग्रह-काल मे शव्द के विना भी वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुमात्र सवाचक भी नही है। सूक्ष्म-पर्यायो के सकेत-ग्रहण का कोई उपाय नही होता, इसलिए वे अनभिलाप्य होती है।

---

१ नित्य सत्वमसत्व वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावाना, कादाचित्कत्वसभव ॥

२ वाक्यप्रदीप, १२४
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, य शब्दानुगमदृते।
अनुविद्धमिवज्ञान, सर्वं शब्देन भासते।

३ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २३९-४०।

होती हैं।[1]

अकन-प्रमाद

वस्तु का जो स्वरूप है, जो क्षेत्र है, जो काल और भाव-पर्यायें हैं, उन्हे छोड-कर कोरी वस्तु को समझने की चेष्टा होती है, तब वस्त का स्वरूप आकने मे भूलें होती हैं।

कार्य-कारण-प्रमाद

जो पहले होता है, वही कारण नही होता। कारण यह होता है, जिसके विना कार्य पैदा न हो सके। पहले होने मात्र से कारण मान लिया जाए अथवा कारण-सामग्री के एकाश को कारण मान लिया जाए अथवा एक वात को अन्य सब वातो का कारण मान लिया जाए—तब कार्य-कारण-सम्बन्धी भूलें होती हैं।

प्रमाण-प्रमाद

जितने प्रमाणाभास हैं, वे सब प्रमाण का प्रमाद होने से वनते हैं। जैसे—प्रत्यक्ष-प्रमाद, परोक्ष-प्रमाद, स्मृति-प्रमाद, प्रत्यभिज्ञा-प्रमाद, तर्क प्रमाद, अनुमान-प्रमाद, आगम-प्रमाद, व्याप्ति-प्रमाद, हेतु-प्रमाद, लक्षण-प्रमाद।

झुकाव-जनित-प्रमाद

क्रम-विकाम का सिद्धान्त गलत ही है यह नही, यथार्थ ही है, यह भी नही। फिर भी मानसिक झुकाव के कारण कोई उसे सर्वथा त्रुटिपूर्ण कहता है, कोई सोलह आना सही मानता है।

---

१ विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति,
विद्यमान पदार्थ की अनुपलब्धि के इक्कीस कारण हैं। इनसे पदाथ की उपलब्धि होती ही नहीं अथवा वह यथार्थ नही होती।

१ अति दूर	२ अति समीप	३ अति सूक्ष्म
४ मन की अस्थिरता	५ इन्द्रिय का अपाटव	६ बुद्धिमान्ध
७ अशक्य-ग्रहण	८ आवरण	९ अभिभूत
१० समानजातीय	११ अनुपयोग दशा	१२ उचित उपाय का अभाव
१३ विस्मरण	१४ दुरागम—मिथ्या उपदेश	१५ मोह
१६ दृष्टि शक्ति का अभाव	१७ विकार	१८ क्रिया का अभाव
१९ अनधिगम—शास्त्र सुने विना	२० काल-व्यवधान	२१ स्वभाव से इन्द्रिय-अगोचर

देवो के बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलो की सहायता से भांति-भांति के रूप देख जो इस प्रकार सोचता है कि 'जीव पुद्गल-रूप ही है। जो लोग कहते हैं कि जीव पुद्गल-रूप नही है, वह मिथ्या है'—यह मुयग्ग-पुद्गल जीववाद है।

जो देवो के द्वारा निर्मित विविध रूपो को देखता है किन्तु बाह्याभ्यन्तर पुद्गलो के द्वारा उन्हे निर्मित होते नही देख पाता। वह सोचता है कि 'जीव का शरीर बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलो से रचित नही है। जो लोग कहते हैं कि जीव का शरीर बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलो से रचित है, वह मिथ्या है'—यह अमुयग्ग-पुद्गल-वियुक्त जीववाद है।

देवो को विक्रियात्मक शक्ति के द्वारा नाना जीव-रूपो की सृष्टि करते देख जो सोचता है कि 'जीव मूर्त है और जो लोग जीव को अमूर्त कहते हैं, यह मिथ्या है'—यह जीव-रूपीवाद है।

सूक्ष्म वायुकाय के पुद्गलो मे एजन, व्येजन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उदीरण आदि विविध भावो मे परिणमन होते देख वह सोचता है कि सब जीव ही जीव हैं। जो श्रमण जीव और अजीव—ये दो विभाग करते हैं, वह मिथ्या है। जिनमे एजन यावत् विविध भावो की परिणति है, उनमे से केवल पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु को जीव मानना और शेष (गतिशील तत्त्वो) को जीव न मानना मिथ्या है—यह सर्व-जीववाद है।

ऐकान्तिक आग्रह के हेतु

भाषा-प्रमाद

एकान्त भाषा, निरपेक्ष—एक धर्म को अखण्ड वस्तु कहने वाली भाषा दोषपूर्ण है। निश्चयकारिणी भाषा, जैसे—'अमुक काम करूगा', आगे वह काम न कर सके, इसलिए यह भी सत्य की बाधक है। आवेश, क्रोध, अभिमान, छल, लोभ-लालच की उग्र दशा मे व्यक्ति ठीक-ठीक नही सोच पाता, इसलिए ऐसी स्थितियो मे अयथार्थ बातें बढा-चढाकर या तोड-मोडकर कही जाती हैं।

ईक्षण-प्रमाद

वस्तु अधिक दूर होती है या अधिक निकट, मन चचल होता है, वस्तु अति सूक्ष्म होती है अथवा किसी दूसरी चीज़ से व्यवहृत होती है, दो वस्तुए मिली हुई होती हैं, क्षेत्र की विषमता होती है, कुहासा होता है, काल की विषमता होती है, स्थिति की विषमता होती है, तब दर्शन का प्रमाद होता है—देखने की भूलें

१०

जैन दर्शन और बौद्ध

श्रमण-परम्परा

श्रमण-परम्परा की सारी शाखाए दो विशाल शाखाओ मे सिमट गई। जैन और बौद्ध-दर्शन के आश्चर्यकारी साम्य को देख—'एक ही सरिता की दो धाराए वही हो'—ऐसा प्रतीत होने लगता है।

भगवान् पार्श्व की परम्परा अनुस्यूत हुई हो—यह मानना कल्पना-गौरव नहीं होगा।

शब्दो, गाथाओ और भावनाओ की समता इन्हें किसी एक उत्स के दो प्रवाह मानने को विवश किए देती है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध—दोनो श्रमण, तीर्थ तथा धर्म-चक्र के प्रवर्तक, लोक-भाषा के प्रयोक्ता और दु ख-मुक्ति की साधना के सगम-स्थल थे।

भगवान् महावीर कठोर तपश्चर्या और ध्यान के द्वारा केवली वने। महात्मा बुद्ध छह वर्ष की कठोर-चर्या से सन्तुष्ट नही हुए, तब ध्यान मे लगे। उससे सम्वोधि-लाभ हुआ।

कैवल्य-लाभ के वाद भगवान् महावीर ने जो कहा, वह द्वादशाग—गणिपिटक मे गुथा हुआ है।

वोधि-लाभ के वाद महात्मा बुद्ध ने जो कहा, वह त्रिपिटक मे गथा हुआ है।

तत्त्व—तथ्य या आर्य सत्य

भगवान् महावीर ने—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध, मोक्ष—इन नव तत्त्वो का निरूपण किया।

महात्मा बुद्ध ने—दु ख, दु ख-समुदय, निरोध, मार्ग—इन चार आर्य-सत्यो का निरूपण किया।

ऊपर की कुछ पंक्तियां सूत्र-रूप में हैं। इनसे हमारी दृष्टि विशाल बनती है, स्याद्वाद की मर्यादा समझने मे भी सहारा मिलता है। वस्तु का स्थूल रूप देख हम उसे सही-सही समझ लें, यह बात नही। उसके लिए बडी सावधानी बरतनी पडती है। ऊपर के सूत्र सावधानी के सूत्र हैं। वस्तु को समझते समय सावधानी मे कमी रहे तो दृष्टि मिथ्या बन जाती है और आगे चल वह हिंसा का रूप ले लेती है और यदि सावधानी बरती जाए—आस-पास के सब पहलुओं पर ठीक-ठीक दृष्टि डाली जाए तो वस्तु का असली रूप समझ मे आ जाता है।

वेदना

अनुकूल वेदना के छह प्रकार हैं

१ चक्षु-सुख, २ श्रोत्र-सुख, ३ घ्राण-सुख, ४ जिह्वा-सुख, ५ स्पर्शन-सुख, ६ मन-सुख।

प्रतिकूल वेदना के छह प्रकार हैं

१ चक्षु-दुःख, २ श्रोत्र-दुःख, ३ घ्राण-दुःख, ४ जिह्वा-दुःख, ५ स्पर्शन-दुःख ६ मन-दुःख।

सज्ञा

सज्ञा का अर्थ है—पूर्वानुभूत विषय की स्मृति और अनागत की चिन्ता या विषय की अभिलाषा। वे चार हैं

१ आहार-सज्ञा, २ भय-सज्ञा, ३ मैथुन-सज्ञा, ४ परिग्रह-सज्ञा।

सस्कार

इसका अर्थ है—वासना। यह पाच इन्द्रिय और मन की धारणा के बाद की दशा है।

उपादान

महात्मा बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ! जिस प्रकार काठ, वल्ली, तृण तथा मिट्टी मिलकर 'आकाश' को घेर लेते हैं और उसे घर कहते हैं, इसी प्रकार हड्डी, रगें, मास तथा चर्म मिलकर आकाश को घेर लेते हैं और उसे 'रूप' कहते हैं।

आख और रूप से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह चक्षु-विज्ञान कहलाता है। कान और शब्द से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह श्रोत्र-विज्ञान कहलाता है। नाक और गन्ध से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह घ्राण-विज्ञान कहलाता है। काय (स्पर्शेन्द्रिय) और स्पृशतव्य से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह काय-विज्ञान कहलाता है।

मन तथा धर्म (मन-इन्द्रिय के विषय) से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह मनोविज्ञान कहलाता है।

उस विज्ञान मे का जो रूप है, वह रूप-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।[1]

उस विज्ञान मे की जो वेदना है, वह वेदना-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।

---

१ मज्झिमनिकाय, २८

दुःख

भगवान् महावीर ने कहा—पुण्य-पाप का बन्ध ही संसार है। संसार दुःखमय है। जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मरण दुःख है।[1]

पाप-कर्म किया हुआ है तथा किया जा रहा है, वह सब दुःख है।[2]

महात्मा बुद्ध ने कहा—पैदा होना दुःख है, बूढ़ा होना दुःख है, व्याधि दुःख है, मरना दुःख है।[3]

विज्ञान

भगवान् महावीर ने कहा—

१ जितने स्थूल अवयवी हैं, वे सब पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाले हैं—मूर्त या रूपी हैं।

२ चक्षु रूप का ग्राहक है और रूप उसका ग्राह्य है।
कान शब्द का ग्राहक है और शब्द उसका ग्राह्य है।
नाक गन्ध का ग्राहक है और गन्ध उसका ग्राह्य है।
जीभ रस की ग्राहक है और रस उसका ग्राह्य है।
काय (त्वक्) स्पर्श का ग्राहक है और स्पर्श उसका ग्राह्य है।
मन भाव (अभिप्राय) का ग्राहक है और भाव उसका ग्राह्य है।
चक्षु और रूप के उचित सामीप्य से चक्षु-विज्ञान होता है।
कान और शब्द के स्पर्श से श्रोत्र-विज्ञान होता है।
नाक और गन्ध के सम्बन्ध से घ्राण-विज्ञान होता है।
जीभ और रस के सम्बन्ध से रसना-विज्ञान होता है।
काय और स्पर्श के सम्बन्ध से स्पर्शन-विज्ञान होता है।
चिन्तन के द्वारा मनोविज्ञान होता है।

इन्द्रिय-विज्ञान रूपी का ही होता है। मनोविज्ञान रूपी और अरूपी दोनों का होता है।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, १९।१५
जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणाणि य।

२ भगवती, ७।८

३ महावग्ग, १।६।१९
जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा, व्याधिपि दुक्खा मरणं पि दुक्खं।

चोरी करने वाले के माया-मृषा और लोभ बढते हैं, वह दु ख-मुक्ति नहीं पा सकता।[1]

प्रिय विषयो मे अतृप्त व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढते हैं, वह दु ख-मुक्ति नही पा सकता ।

परिग्रह मे आसक्त व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढते हैं, वह दु ख-मुक्ति नही पा सकता।

दु ख आरम्भ से पैदा होता है ।

दु ख हिंसा से पैदा होता है।

दु ख कामना से पैदा होता है ।

जहा आरम्भ है, हिंसा है, कामना है, वहा राग-द्वेष है। जहा राग-द्वेष है—वहा क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, हर्ष, विषाद, हास्य, भय, शोक और वासनाए हैं। जहा ये सब हैं, वहा कर्म (बन्धन) है। जहा कर्म है, वहा ससार है, जहा ससार है, वहा जन्म है। जहा जन्म है, वहा जरा है, रोग है, मौत है। जहा ये हैं, वहा दु ख है।

भव-तृष्णा विषैली बेल है। यह भयकर है और इसके फल बडे डरावने होते हैं।

महात्मा बुद्ध ने कहा—'मनुष्य अपनी आख से रूप देखता है। प्रियकर लगे तो उसमे आसक्त हो जाता है, अप्रियतर लगे तो उससे दूर भागता है। कान से शब्द सुनता है, प्रियकर लगे तो उसमे आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। घ्राण से गन्ध सूघता है, प्रियकर लगे तो उसमे आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। जिह्वा से रस चखता है, प्रियकर लगे तो उसमे आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। काय से स्पर्श करता है, प्रियकर लगे तो उसमे आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। मन से मन के विषय (धर्म) का चिन्तन करता है, प्रियकर लगे तो उसमे आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है।'

'इस प्रकार आसक्त होनेवाला तथा दूर भागनेवाला जिस दु ख-सुख या अदु ख-असुख, किसी भी प्रकार की वेदना-अनुभूति का अनुभव करता है, वह उस वेदना मे आनन्द लेता है, प्रशसा करता है, उसे अपनाता है। वेदना को जो अपना बनाना है, वही उसमे राग उत्पन्न होना है। वेदना मे जो राग है, वही उपादान है। जहा उपादान है, वहा भव है, जहा भव है, वहा पैदा होना है, जहा पैदा होना है, वहा बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना,

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ३२।३०

उस विज्ञान में की जो संज्ञा है, वह संज्ञा-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है। उस विज्ञान में के जो संस्कार हैं, वह संस्कार—उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत हैं। उस विज्ञान (चित्त) में का जो विज्ञान (भाव) है, वह विज्ञान-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।

भिक्षुओ! यदि कोई कहे कि बिना रूप के, बिना वेदना के, बिना संज्ञा के, बिना संस्कार के, विज्ञान—चित्त-मन की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, उत्पन्न होना, वृद्धि तथा विपुलता को प्राप्त होना—हो सकता है, तो यह असम्भव है।[1]

दुःखवाद भारतीय दर्शन का पहला आकर्षण है। जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापे को दुःख[2] और अज, अमर, अजर, अरुज को सुख माना गया है।[2]

विचार-बिन्दु

जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापा—ये परिणाम हैं। महात्मा बुद्ध ने इन्हीं के निर्मूलन पर बल दिया। उसमें से करुणा का स्रोत बहा।

भगवान् महावीर ने दुःख के कारणों को भी दुःख माना और उनके उन्मूलन की दिशा में ही जनता का ध्यान खींचा। उसमें से संयम और अहिंसा का स्रोत बहा।

दुःख का कारण

भगवान् महावीर ने कहा—बलाका अण्डे से और अण्डा बलाका से पैदा होता है, वैसे ही मोह तृष्णा से और तृष्णा मोह से पैदा होती है।[3]

प्रिय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव राग को उभारते हैं।

अप्रिय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव द्वेष को उभारते हैं।

प्रिय-विषयों में आदमी फंस जाता है। अप्रिय-विषयों से दूर भागता है। प्रिय-विषयों में अतृप्त आदमी परिग्रह में आसक्त बनता है। असन्तोष के दुःख से दुःखी बनकर वह चोरी करता है।[4]

तृष्णा से पराजित व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता।[5]

---

1 मज्झिमनिकाय, २८।

2 (क) छान्दोग्य उपनिषद ४।८।१
न जरा, न मृत्यु न शोकः।
(ख) वही, ७।२६।२
न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगम्।

3 उत्तराध्ययन ३२।६

4 वही, ३२।२९

5 वही, ३२।३०

दुश्चर है। वह अनुत्तर है विशुद्ध है, सब दु खो का अन्त करनेवाला है। उसके चार अग हैं—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र, सम्यक्-तप।

इसकी अल्प आराधना करनेवाला अल्प-दु खो से मुक्त होता है।

इसकी मध्यम आराधना करनेवाला बहु-दु खो से मुक्त होता है।

इसकी पूर्ण आराधना करनेवाला सब दु खो से मुक्त होता है।

यह जो कामोपभोग का हीन, ग्राम्य, अशिष्ट, अनार्य, अनर्थकर जीवन है और यह जो अपने शरीर को व्यर्थ क्लेश देने का दु खमय, अनार्य, अनर्थकर जीवन है इन दोनो सिरे की बातो से बचकर तथागत ने मध्यम-मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया जो कि आख खोल देनेवाला है, ज्ञान करा देनेवाला है, शमन के लिए, अभिज्ञा के लिए, बोध के लिए, निर्वाण के लिए होता है।

यही आर्य अष्टागिक मार्ग दु ख-निरोध की ओर ले जानेवाला है, जो कि इस प्रकार है—

१	सम्यक् दृष्टि	प्रज्ञा
२	सम्यक् सकल्प	
३	सम्यक् वाणी	शील
४	सम्यक् कर्मान्त	
५	सम्यक् आजीविका	
६	सम्यक् व्यायाम	समाधि
७	सम्यक् स्मृति	
८	सम्यक् समाधि	

निर्मल ज्ञान की प्राप्ति के लिए यही एक मार्ग, है और कोई मार्ग नहीं। इस मार्ग पर चलने से तुम दु ख का नाश करोगे।'

विचार-बिन्दु

महात्मा बुद्ध ने केवल मध्यम-मार्ग का आश्रय लिया। उसमे आपद्-धर्मों या अपवादो का प्राचुर्य रहा। भगवान् महावीर आपद्-धर्मों से दूर होकर चले। काय-क्लेश को उन्होंने अहिसा के विकास के लिए आवश्यक माना। किन्तु साथ-साथ यह भी कहा कि बल, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल की मर्यादा को समझकर ही आत्मा को तपश्चर्या मे लगाना चाहिए।

गृहस्थ-श्रावको के लिए जो मार्ग है, वह मध्यम-मार्ग है।

चार सत्य

महात्मा बुद्ध ने चार सत्यो का निरूपण व्यवहार की भूमिका पर किया जब

परेशान होना—सब हैं। इस प्रकार इस सारे के सारे दु ख का समुदय होता है।'

दु ख-निरोध

भगवान् महावीर ने कहा—'ये अर्थ—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—प्रिय भी नही है, अप्रिय भी नही हैं, हितकर भी नही हैं, अहितकर भी नही हैं। ये प्रियता और अप्रियता के निमित्तमात्र हैं। उनके उपादान राग और द्वेष हैं। इस प्रकार अपने मे छिपे राग को जो पकड लेता है, उसमे समता या मध्यस्थ-वृत्ति पैदा होती है। उसकी तृष्णा क्षीण हो जाती है। विरक्ति आने के बाद ये अर्थ प्रियता भी पैदा नही करते, अप्रियता भी पैदा नही करते।

जहा विरक्ति है, वहा विरति है। जहा विरति है, वहा शान्ति है। जहा शान्ति है, वहा निर्वाण है।

सब द्वन्द्व मिट जाते हैं—आधि-व्याधि, जन्म-मौत आदि का अन्त होता है, वह शान्ति है।

द्वन्द्व के कारणभूत कर्म विलीन हो जाते हैं, वह निरोध है। यही दु ख निरोध है।'[1]

महात्मा बुद्ध ने कहा—'काम-तृष्णा और भव-तृष्णा से मुक्त होने पर प्राणी फिर जन्म ग्रहण नही करता।[2] क्योकि तृष्णा के सम्पूर्ण निरोध से उपादान निरुद्ध हो जाता है। उपादान निरुद्ध हुआ तो भव निरुद्ध। भव निरुद्ध हुआ तो पैदा होना निरुद्ध। पैदा होना निरुद्ध हुआ तो बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना—यह सब निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दु ख-स्कन्ध का निरोध होता है।'

'भिक्षुओ! यह जो रूप का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है—यही दु ख का निरोध है, रोगो का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है। यह जो वेदना का निरोध है, सज्ञा का निरोध है, सस्कारो का नरोध है तथा विज्ञान का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है, यही दु ख का निरोध है, रोगो का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है।

यही शान्ति है। यही श्रेष्ठता है। यह जो सभी सस्कारो का शमन, सभी चित्त-मलो का त्याग, तृष्णा का क्षय, विराग-स्वरूप, निरोध-स्वरूप निर्वाण है।

दु ख-निरोध का मार्ग

भगवान् महावीर ने ऋजु मार्ग को देखा। वह ऋजु है, इसलिए महाघोर है,

१ सूयगडो, १।१४।१६।
२ अगुत्तरनिकाय, ३२।

आत्मा है, वह नित्य है, कर्त्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है—ये छह सम्यक् दृष्टि के स्थान हैं।[1]

जीव और अजीव—ये दो मूल तत्त्व हैं। यह विश्व का निरूपण है।[2]

पुण्य, पाप और बन्ध—यह दु ख (ससार) है।[3] आस्रव दु ख (ससार) का हेतु है। मोक्ष दु ख (ससार) का निरोध है। सवर और निर्जरा दु ख-निरोध (मोक्ष) के उपाय हैं।

जीव और अजीव—ये दो मूलभूत सत्य हैं। अजीव से जीव के विश्लेषण की प्रक्रिया का अर्थ है—साधना। शेष सात तत्त्व साधना के अग हैं। सक्षिप्त रूप मे ये सात तत्त्व और चार आर्य-सत्य सर्वथा भिन्न नही हैं।

---

१ वही, ३।५५

२ उत्तरज्झयणाणि ३६।२

३ वही, १०।१५

कि भगवान् महावीर के नव तत्त्वो का निरूपण अधिक दार्शनिक है।

ससार, ससार-हेतु, मोक्ष और मोक्ष का उपाय—ये चार सत्य पातजल भाष्यकार ने भी माने हैं।

उन्होंने इसकी चिकित्सा-शास्त्र के चार अगो—रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य से तुलना की है।

महात्मा बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओ! 'जीव (आत्मा) और शरीर भिन्न-भिन्न हैं'—ऐसा मत रहने से श्रेष्ठ-जीवन व्यतीत नही किया जा सकता। और 'जीव (आत्मा) तथा शरीर दोनो एक हैं'—ऐसा मत रहने से भी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नही किया जा सकता।

इसलिए भिक्षुओ! इन दोनो सिरे की बातो को छोडकर तथागत बीच के धर्म का उपदेश देते हैं—

अविद्या के होने से सस्कार, सस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नाम-रूप, नाम-रूप के होने से छह आयतन, छह आयतनो के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दु ख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है। इस प्रकार इस सारे के सारे दु ख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भिक्षुओ! इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं।

अविद्या के ही सम्पूर्ण विराग से, निरोध से सस्कारो का निरोध होता है। सस्कारो के निरोध से विज्ञान का निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध, नामरूप के निरोध से छह आयतनो का निरोध, छह आयतनो के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादन के निरोध से भव-निरोध, भव-निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से बुढापा, शोक, रोने-पीटने, दु ख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी का निरोध होता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दु ख-स्कन्ध का निरोध होता है।

भगवान् महावीर ने जीव और अजीव का स्पष्ट व्याकरण किया। उन्होंने कहा—जीव शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। जीव चेतन है, शरीर जड है—इस दृष्टि से दोनो भिन्न भी हैं। ससारी जीव शरीर से बधा हुआ है, उसी के द्वारा अभिव्यक्त और प्रवृत्त होता है, इसलिए वह अभिन्न भी हैं।

आत्मा नही है, वह नित्य नही है, कर्त्ता नही है, भोक्ता नही है, मोक्ष नही है, मोक्ष का उपाय नही है—ये छह मिथ्या-दृष्टि के स्थान हैं।[1]

---

१. सन्मति तर्क प्रकरण ३।५४

(२) मुक्त।

बद्ध जीव अपने देह के परिमाण मे व्याप्त रहता है। मुक्त जीव जिस देह को छोडकर मुक्त होता है, उसके एक तिहाई कम आकाश मे व्याप्त रहता है।

पुद्‌गल दो प्रकार के होते हैं—

(१) परमाणु।

(२) स्कन्ध—परमाणु-समुदाय।

परमाणु आकाश के एक प्रदेश (अविभाज्य- अवयव) मे व्याप्त रहता है।

स्कन्ध अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे—

द्वि-प्रदेशी—दो परमाणुओ का स्कन्ध।

त्रि-प्रदेशी—तीन परमाणुओ का स्कन्ध।

इस प्रकार सख्यात, असख्यात और अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। ये स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश से लेकर असख्यात प्रदेशो तक व्याप्त होते हैं। अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध असख्य प्रदेशो मे व्याप्त हो जाता है।

जितने प्रदेशो का स्कन्ध होता है वह उतने ही आकाश-प्रदेशो मे व्याप्त हो जाता है और सूक्ष्म परिणति होने पर वह एक आकाश-प्रदेश मे भी व्याप्त हो जाता है।

काल अव्यापक और व्यापक—दोनो है। उसके दो प्रकार हैं—

(१) व्यावहारिक—सूर्य, चन्द्र आदि की क्रिया से नापा जाने वाला।

(२) नैश्चयिक परिवर्तन का हेतु।

व्यावहारिक काल केवल मनुष्य-लोक मे होता है। नैश्चयिक-काल लोक और अलोक—दोनो मे होता है।

५ धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्‌गल और जीव मे प्रदेशो (अवयवो) का विस्तार है, इसलिए वे अस्तिकाय हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार काल के अवयव नही हैं, वह औपचारिक या द्रव्य का पर्याय मात्र है। इसलिए वह अस्तिकाय नही है—विस्तार वाला नही है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार काल अणुरूप है। इसलिए वह विस्तार-शून्य है।

६ धर्म, अधर्म और आकाश गतिशून्य है, जीव और पुद्‌गल गतिमान।

७ धर्म, अधर्म और आकाश मे केवल सजातीय परिवर्तन होता है, जीव और पुद्‌गल मे सजातीय और विजातीय—दोनो परिवर्तन होते हैं।

विश्व अनादि-अनन्त है। फलत सब द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। जीव और पुद्‌गल मे विजातीय परिवर्तन होते हैं—वे एक अवस्था को छोडकर दूसरी अवस्था मे चले जाते हैं। इसलिए वे सादि-सान्त भी हैं। यह जीव और पुद्‌गल का विजातीय परिवर्तन ही सृष्टि है। वह सादि-सान्त है।

११

जैन दर्शन और वेदान्त

दर्शन मनुष्य का दिव्य-चक्षु है। मनुष्य अपने चरम चक्षु से जो नही देख सकता, वह दर्शन-चक्षु से देख सकता है। सत्य जितना विराट् है उतना ही आवृत है। अनेक दर्शनो ने समय-समय पर उसे निरावृत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जो देखा वह दर्शन वन गया। अनेक द्रष्टा हुए हैं। इसलिए अनेक दर्शन है। उनमे से दो दर्शन ये हैं—जैन और वेदान्त। जैन द्वैतवादी है और वेदान्त अद्वैतवादी।

जैन दर्शन और विश्व

जैन-दर्शन के अनुसार यह विश्व छह द्रव्यो का समुदाय है—

धर्म—गति-सहायक द्रव्य।

अधर्म—स्थिति-सहायक द्रव्य।

आकाश—अवगाहदायक द्रव्य।

काल—परिवर्तन-हेतु द्रव्य।

पुद्गल—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णात्मक द्रव्य।

जीव—चेतनात्मक द्रव्य।

१ इनमे जीव चेतन है। शेप पाच अचेतन हैं।

२ पुद्गल मूर्त है। शेप पाच अमूर्त हैं।

३ धर्म-अधर्म और आकाश व्यक्तिश एक हैं। शेष तीन व्यक्तिश अनन्त हैं।

४ धर्म, अधर्म और आकाश व्यापक हैं, जीव और पुद्गल अव्यापक।

जीव दो प्रकार के होते हैं—

(१) वद्ध।

१ निश्चय—द्रव्य-स्पर्शी नय।

२ व्यवहार—पर्याय या विस्तार-स्पर्शी नय।

पहली अभेद-प्रधान दृष्टि है और दूसरी भेद-प्रधान। यह विश्व न अभेदात्मक है और न भेदात्मक, किन्तु अभयात्मक है।

वेदान्त और विश्व

शकराचार्य के शब्दो मे जो सदा समरूप होता है वही सत्य है। विश्व के पदार्थ परिवर्तनशील हैं—सदा समरूप नहीं हैं, इसलिए वे सत्य नही हैं। ब्रह्म सदा समरूप है। तीनो कालो (भूत, वर्तमान और भविष्य) तथा तीनो दशाओ (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) मे एक रूप है इसलिए वह सत्य है। फलित की भाषा मे ब्रह्म सत्य है, जगत् असत्य है।

सत्य त्रिकालावाधित होता है, इसलिए वह पारमार्थिक सत्ता है। असत्य के दो रूप हैं—

१ व्यावहारिक—नाम-रूपात्मक वस्तुओ की सत्ता।

२ प्रातिभासिक—रज्जु मे सर्प की सत्ता।

जगत् के विकारात्मक पदार्थ व्यवहार-काल मे सत्य होने हैं, किन्तु वे ब्रह्मानुभव के द्वारा वाधित हो जाते हैं, इसलिए व्यावहारिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नही है।

रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आदि प्रतीतिकाल मे सत्य प्रतिभासित होते हैं, किन्तु उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा वे वाधित हो जाने हैं, इसलिए प्रातिभासिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नही हैं।

व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थ त्रिकालावाधित नही होने के कारण पारमार्थिक सत्य नही हैं, किन्तु वे आकाश-कुसुम की भाति निराश्रय नही हैं, इसलिए सर्वथा असत्य भी नही हैं।

वेदान्त के अनुसार अज्ञान की दो शक्तिया हैं—

१ आवरण-शक्ति।

२ विक्षेप-शक्ति।

आवरण-शक्ति भेद-वुद्धि उत्पन्न करती है। इसलिए ससार का कारण है। इसी शक्ति के प्रभाव से मनुष्य मे 'मैं कर्ता हू', 'भोक्ता हू', 'सुखी हू', 'दु खी हू'—आदि-आदि भावनाए उत्पन्न होती हैं। तम प्रधान विक्षेप शक्तियुक्त तथा अज्ञान घटित चैतन्य से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।

इन सूक्ष्म भूतो से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूतो की उत्पत्ति हुई। सूक्ष्म शरीर के सतरह अवयव होते हैं—

साधना-पथ

काल, पुरुषार्थ आदि समवायो का परिपाक होने पर जीव मे आत्म-स्वरूप को उपलब्ध करने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्न करता है और क्रमश विजातीय परिवर्तन के हेतुओ (पुण्य, पाप और आश्रव) का निरोध (सवर) और क्षय (निर्जरा) कर मुक्त हो जाता है—आत्मस्थ हो जाता है।

मोक्ष के साधन तीन है—

१ सम्यक् दर्शन।

२ सम्यग्-ज्ञान।

३ सम्यग्-चारित्र।

कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकागी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनो नही, वह श्रेयस् की विराधना है, आराधना है ही नही। ज्ञान और शील दोनो की सगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है।

प्रमाण और नयवाद

विश्व और सृष्टि की प्रक्रिया जानने के लिए जैन आचार्यों ने अनेकान्त दृष्टि की स्थापना की। उनका अभिमत था कि द्रव्य अनन्त-धर्मात्मक है। उसे एकान्त-दृष्टि से नही जाना जा सकता। उसे जानने के लिए अनन्त दृष्टिया चाहिए। उन सव दृष्टियो के सकल रूप को प्रमाण और विकल रूप को नय कहा जाता है। प्रमाण दो हैं—

१ प्रत्यक्ष—आत्मा को किसी माध्यम के विना द्रव्य का सीधा ज्ञान होना।

२ परोक्ष—आत्मा को इन्द्रिय आदि के माध्यम से द्रव्य का ज्ञान होना।

नय सात हैं—

१ नैगम—द्रव्य और पर्याय—उभयाश्रयी दृष्टिकोण।

२ सग्रह—द्रव्याश्रयी दृष्टिकोण।

३ व्यवहार—पर्यायाश्रित दृष्टिकोण।

४ ऋजुसूत्र—वर्तमान पर्यायाश्रयी दृष्टिकोण।

५ शब्द—शब्दप्रयोगाश्रित दृष्टिकोण।

६ समभिरूढ—शब्द की उत्पत्ति के आश्रित दृष्टिकोण।

७ एवम्भूत—क्रियापरिणति के अनुरूप शब्द प्रयोगाश्रयी दृष्टिकोण।

वस्तु-विज्ञान की दृष्टि से वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। इसके आधार पर दो दृष्टिया वनती हैं—

प्रमाण मान्य करता है—

१ प्रत्यक्ष
२ अनुमान
३ उपमान
४ आगम
५ अर्थापत्ति

तुलनात्मक मीमासा

जैन दर्शन के द्वारा दो सत्ताए स्वीकृत हैं—

१ पारमार्थिक।
२ व्यावहारिक।

वेदान्त के द्वारा तीन सत्ताए स्वीकृत है—

१ पारमार्थिक
२ व्यावहारिक।
३ प्रातिभासिक।

जैन दर्शन के अनुसार चेतन और अचेतन—दोनो पारमार्थिक सत्य हैं, दोनो की वास्तविक सत्ता है। जैन दर्शन अचेतन जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करता है, इसलिए वह यथार्थवादी है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। वह एक है। शेष जो नानात्व है, वह वास्तविक नहीं है। वेदान्त दर्शन ब्रह्म से भिन्न जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करता इसलिए वह आदर्शवादी है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन मे अचेतन की और अचेतन में चेतन की सज्ञा करना मिथ्या-दर्शन है और चेतन में चेतन की और अचेतन मे अचेतन की सज्ञा करना सम्यग्-दर्शन है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन या ब्रह्म से भिन्न अचेतन की सत्ता स्वीकार करना मिथ्या-दर्शन है और ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य मानना सम्यग्-दर्शन है।

जैन-दर्शन का द्वैतवाद

वेदान्त के अनुसार जैसे एकत्व पारमार्थिक और प्रपच (या नानात्व) व्यावहारिक हैं वैसे ही अनेकान्त की भाषा मे कहा जा सकता है कि द्रव्यत्व पारमार्थिक और पर्यायत्व (या विस्तार) व्यावहारिक है। शाश्वत सत्ता चेतन है।

पांच ज्ञानेन्द्रिया—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण।
६ बुद्धि—अन्त करण की निश्चयात्मिका प्रवृत्ति।
७ मन—अन्त करण की सकल्प-विकल्पात्मिका प्रवृत्ति।
८-१२ पाच कर्मेन्द्रिया—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।
१३-१७ पाच वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान।

तीन प्रकार के कोश—

ज्ञानेन्द्रिया सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहा जाता है। यही व्यावहारिक जीव है। ज्ञानेन्द्रिया सहित मन को मनोमय कोश कहा जाता है। कर्मेन्द्रिया सहित पाच वायुओ को प्राणमय कोश कहा जाता है। विज्ञानमय कोश ज्ञान-शक्तिमान् है। वह कर्ता है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति रूप है। वह करण (साधन) है। प्राणमय कोश क्रिया-शक्तिमान् है। वह कार्य है। इन तीनो कोशो का मिलित रूप सूक्ष्म शरीर है।

साधना-पथ

वेदान्त के आचार्यो के अनुसार जीव मे तीन अज्ञानगत शक्तिया होती है। प्रथम शक्ति से अभिभूत जीव प्रपच को पारमार्थिक मानता है। वेदान्त के ज्ञान से जब प्रथम अज्ञान-शक्ति क्षीण होती है तब वह दूसरी अज्ञान-शक्ति के उदित होने पर प्रपच को व्यावहारिक मानता है। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर जब दूसरी अज्ञान-शक्ति भी क्षीण हो जाती है तब वह तीसरी अज्ञान-शक्ति के कारण प्रपच को प्रतिभासित मानता है। तीसरी अज्ञान-शक्ति बन्ध-मोक्ष के साथ-साथ क्षीण होती है। उसके साथ प्रपच को प्रतिभासित मानना भी समाप्त हो जाता है। फलित की भाषा मे प्रपच को व्यावहारिक प्रगति तथा प्रतिभासित मानना बन्ध-मुक्ति की प्रक्रिया है। जीव जब तक बन्ध दशा मे रहता है तब तक वह 'ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है'—इसे जानते हुए भी व्यावहारिक या प्रातिभासिक प्रतीति से मुक्त नही हो सकता।

वेदान्त के अनुसार साधना के तीन साधन हैं—

१ श्रवण—वेदान्त के वचनो को आचार्य के मुख से सुनना।
२ मनन—श्रुत-विषय पर तर्क-बुद्धि से मनन करना।
३ निदिध्यासन—मनन किए हुए विषय पर सतत चिन्तन करना।

ऐसा करते-करते आत्मा और ब्रह्म की एकता का बोध सुदृढ हो जाता है। और अन्त मे साधक को मोक्ष उपलब्ध हो जाता है।

प्रमाणवाद

पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओ के सम्यग् ज्ञान के लिए वेदान्त पाच

वास्तविकता को भ्रान्ति मानकर झुठलाया नही जा सकता। इस दृष्टि से विश्व अनेक भी है। विस्तार की व्याख्या-पद्धति को जैन-दर्शन व्यवहार नय कहता है।

सत्य की व्याख्या इन दोनो नयों से ही की जा सकती है। निश्चय नय से इस सत्य का रहस्योद्घाटन होता है कि विश्व के मूल मे अभेद की प्रधानता है और व्यवहार नय से इस सत्य की व्याख्या होती है कि विश्व के विस्तार मे भेद की प्रधानता है।

जैन-दर्शन द्रव्य और पर्याय (मूल और विस्तार) को सर्वथा एक नही मानता, इस दृष्टि मे ही द्वैतवादी नही है किन्तु वह इस दृष्टि से द्वैतवादी है कि वह विश्व के मूल मे चेतन और अचेतन का भिन्न-भिन्न अस्तित्व स्वीकार करता है। वह इस अर्थ मे बहुत्ववादी भी है कि उसके अनुसार जीव और परमाणु व्यक्तिश अनन्त हैं। जब नित्यता मे अनित्यता की ओर तथा अशुद्धता (विस्तार) से शुद्धता (मूल) की ओर बढते हैं तब हमे अभेद-प्रधान विश्व की उपलब्धि होती है और जब हम नित्यता से अनित्यता की ओर तथा शुद्धता से अशुद्धता की ओर बढते है तब हमे भेद-प्रधान विश्व उपलब्ध होता है। जो दर्शन एकान्त दृष्टि से देखता है, उसे एक सत्य लगता है और दूसरा मिथ्या। वेदान्त की दृष्टि मे भेदात्मक विश्व मिथ्या है और बौद्ध-दर्शन की दृष्टि मे अभेदात्मक विश्व मिथ्या है। जैन-दर्शन अनेकान्तवादी है इसलिए उसकी दृष्टि मे विश्व के दोनो रूप सत्य हैं।

इस उभयात्मक सत्य की स्वीकृति वेदान्त के प्राचीन आचार्यो ने भी की है। भर्तृप्रपच भेदाभेदवादी थे। उनका अभिमत है कि ब्रह्म अनेकात्मक है। जैसे वृक्ष अनेक शाखाओ वाला होता है वैसे ही ब्रह्म अनेक शक्ति तथा प्रवृत्तियुक्त है। इसलिए एकत्व और नानात्व दोनों ही सत्य हैं—पारमार्थिक हैं। 'वृक्ष' यह एकत्व है। 'शाखाए' यह अनेकत्व है। 'समुद्र' यह एकत्व है। 'उर्मिया' यह अनेकत्व है। 'मृत्तिका' यह एकत्व है। 'घडा' आदि अनेकत्व हैं। एकत्व अश के ज्ञान से कर्मकाण्डाश्रित लौकिक और वैदिक व्यवहारो की सिद्धि होगी।

शकराचार्य ने भर्तृप्रपच को मान्यता नही दी पर उन्होंने नानात्व को भी मृगमरीचिका की भाति सर्वथा असत्य नही माना।

भाषा के आवरण मे जैन और वेदान्त से साधना-पथ भिन्न-भिन्न लगते हैं किन्तु तात्पर्य की दृष्टि से उनमे विशेष भिन्नता नही है। आत्मा का श्रवण, मनन और साक्षात्कार—यह वेदान्त की साधना-विधि है और जैन-दर्शन की साधना-विधि है—आत्म-दर्शन, आत्म-ज्ञान और आत्म-रमण।

वेदान्त ज्ञानमार्गी है। जैन-दर्शन ज्ञानमार्गी भी है और कर्ममार्गी भी। कोरा ज्ञान-मार्ग और कोरा कर्म-मार्ग दोनो अपूर्ण हैं। परिपूर्ण पद्धति है—दोनो का समुच्चय। मोक्ष की उपलब्धि के लिए वे कर्म अप्रयोजनीय हैं, जो आत्म-चिन्तन से शून्य हैं। इस अपेक्षा-दृष्टि से प्रयोजनीय कर्म आत्म-ज्ञान मे समाहित हो जाते हैं।

मनुष्य, तिर्यंच आदि उसके विस्तार है। वे शाश्वत नही है। मनुष्य शाश्वत नही है इसलिए वह पारमार्थिक नही है। एक ही चेतन के अनन्त रूपो मे मनुष्य एक रूप है, जो उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है। उसके उत्पन्न या विलीन होने पर भी चेतन चेतन ही रहता है, इसलिए वह पारमार्थिक है।

पारमार्थिक सत्ता को जाननेवाली दृष्टि को निश्चय नय और व्यावहारिक सत्ता को जाननेवाली दृष्टि को व्यवहार नय कहा जा सकता है। निश्चय नय के अनुसार विश्व के मूल मे दो तत्त्व हैं—चेतन और अचेतन। यह नय पर्याय या विस्तार को मौलिक तत्त्व नही मानता। वेदान्त प्रपच को व्यावहारिक या प्राति-भासिक ही मानता है, उसका हेतु यही है कि वह जगत् के मूल तत्त्व की व्याख्या केवल निश्चय नय से करता है। जैन दर्शन के अनुसार विस्तार मिथ्या या असत् नही है। सत् के तीन अश हैं—

१ ध्रौव्य
२ उत्पाद्
३ विनाश

ध्रौव्य शाश्वत अश है। उत्पाद और विनाश अशाश्वत अश हैं। ध्रौव्य एक है और उत्पाद-विनाश अनेक हैं। ध्रौव्य सक्षेप है और उत्पाद-विनाश विस्तार है। ध्रौव्य की व्याख्या निश्चय नय से की जाती है और उत्पाद-विनाश की व्याख्या व्यवहार नय से। ध्रौव्य से भिन्न उत्पाद-विनाश और उत्पाद-विनाश से भिन्न ध्रौव्य कभी और कही भी नही मिलता। जहा ध्रौव्य है वही उत्पाद-विनाश है और जहा उत्पाद-विनाश है वही ध्रौव्य है। इसलिए ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश—ये तीनो सत् के अपरिहार्य अश है। वेदान्त यह कब मानता है कि मूल से भिन्न विस्तार और विस्तार से भिन्न मूल है। मूल और विस्तार दोनो सर्वत्र सम-व्याप्त हैं।

वेदान्त विस्तार को मिथ्या या असत् मानता है और जैन दर्शन उसे अनित्य मानता है। अनित्य अन्तिम सत्य नही है, इस दृष्टि से वेदान्त अन्तिम को मिथ्या मानता है। अनित्य अन्तिम सत्य की परिधि से बाहर नही है, इस दृष्टि से जैन दर्शन अनित्य को सत् का अश मानता है। दोनो मे जितना भाषा-भेद है उतना तात्पर्य-भेद नही है।

स्याद्वाद और क्या है, भाषा के आवरण मे जो सत्य छिपा हुआ है, उसे अनावृत करने का जो प्रबल माध्यम है वही तो स्याद्वाद है। स्याद्वाद की भाषा मे कोई भी दर्शन सर्वथा द्वैतवादी या सर्वथा अद्वैतवादी नही हो सकता।

सत्ता की दृष्टि से विश्व एक है। सत्ता से भिन्न कुछ भी नही है, इसलिए यह एक है। इस व्याख्या पद्धति को जैन-दर्शन सग्रह-नय कहता है।

जगत् की व्याख्या एक ही नय से नही की जा सकती। दृश्य जगत् की

उपसंहार

जैन और वेदान्त दोनो आध्यात्मिक दर्शन हैं इसीलिए इनके गर्भ मे समता के बीज छिपे हुए हैं। अकुरित और पल्लवित दशा मे भाषा और अभिव्यक्ति के आवरण मौलिक समता को ढाककर उसमे भेद किए हुए हैं। भाषा के आवरण को चीरकर झाक सकें तो हम पाएगे कि दुनिया के सभी दर्शनो के अन्त स्तल उतने दूर नही हैं, जितने दूर उनके मुख हैं। अनेकान्त का हृदय यही है कि हम केवल मुख को प्रमुखता न दें, अन्तस्तल का भी स्पर्श करें।

वेदान्त का दृष्टिकोण यही होना चाहिए। जैन दर्शन इस तथ्य को इस भाषा में प्रस्तुत करता है कि कर्म से कर्म क्षीण नही होते, अकर्म से कर्म क्षीण होते हैं। मोक्ष पूर्ण सवर होने पर ही उपलब्ध होता है। पूर्ण सवर अर्थात् कर्म-निवृत्त अवस्था।

जैन-दर्शन का प्रसिद्ध श्लोक है—

'आस्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपचनम्॥"

—'आस्रव (वाह्य-निष्ठा) भव का हेतु और सवर (आत्म-निष्ठा) मोक्ष का हेतु है। अर्हत् की दृष्टि का सार-अश इतना ही है, शेप सारा प्रपच है।'

वेदान्त के आचार्यों ने भी इन्ही स्वरो मे गाया है—

अविद्या बन्धहेतु स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तु, न ममेति विमुच्यते।'

—'अविद्या (कर्म-निष्ठा) बन्ध का हेतु है और विद्या (ज्ञान-निष्ठा) मोक्ष का हेतु है। जिसमे ममकार होता है, वह वधता है और ममकार का त्याग करने वाला मुक्त हो जाता है।'

एक दृष्टि मे प्रमाण का वर्गीकरण दोनो दर्शनो का भिन्न है। दूसरी दृष्टि मे उतना भिन्न नही है जितना कि प्रथम दर्शन मे दीखता है। प्रत्यक्ष दोनो द्वारा सम्मत है। जैन प्रमाणविदो ने परोक्ष प्रमाण के पाच विभाग किए—

१ स्मृति
२ प्रत्यभिज्ञा
३ तर्क
४ अनुमान
५ आगम

वेदान्त की प्रमाण-मीमासा मे अप्रत्यक्ष प्रमाण के विभागो का सग्राहक कोई शब्द व्यवहृत नही हुआ, इसलिए वहा अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति को स्वतन्त्र स्थान मिला।

जैन दर्शन की प्रमाण-मीमासा मे अनुमान आदि के लिए एक परोक्ष शब्द व्यवहृत हुआ, इसलिए वहा उनकी स्वतन्त्र गणना नही हुई। अनुमान और आगम वेदान्त पद्धति मे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे और जैन-पद्धति मे परोक्ष प्रमाण के विभाग के रूप मे स्वीकृत हैं। वेदान्त के उपमान और जैन के सादृश्य प्रत्यभिज्ञा मे कोई अर्थ-भेद नही है। अर्थापत्ति का अर्थ है—दृश्य अर्थ की सिद्धि के लिए जिस अर्थ के विना उसकी सिद्धि न हो, उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना। यदि दृष्ट और अदृष्ट अर्थ की व्याप्ति निश्चित न हो तो यह प्रमाण नही हो सकती और यदि उसकी व्याप्ति निश्चित हो तो जैन प्रमाणविदो के अनुसार इसमे और अनुमान मे कोई अर्थ-भेद नही होता।

३

आचार-मीमांसा

१ गति है, गति का हेतु या उपकारक 'धर्म' नामक द्रव्य है।
२ स्थिति है, स्थिति का हेतु या उपकारक 'अधर्म' नामक द्रव्य है।
३ आधार है, आधार का हेतु या उपकारक 'आकाश' नामक द्रव्य है।
४ परिवर्तन है, परिवर्तन का हेतु या उपकारक 'काल' नामक तत्त्व है।
५ जो मूर्त है वह 'पुद्गल' द्रव्य है।
६ जिसमे चैतन्य है वह 'जीव' है।

इनकी क्रिया या उपकारो की जो समष्टि है वह जगत् है। यह भी उपयोगितावाद है।

पदार्थों के अस्तित्व के बारे मे विचार करना अस्तित्ववाद या वास्तविकतावाद कहलाता है। अस्तित्व की दृष्टि से पदार्थ दो हैं—चेतन और अचेतन।

उपयोगिता के दो रूप हैं—आध्यात्मिक और जागतिक। नव तत्त्व की व्यवस्था आत्म-कल्याण के लक्ष्य से की हुई है, इसलिए यह आध्यात्मिक है। यह आत्म-मुक्ति के साधक बाधक तत्त्वो का विचार है। कर्मबद्ध आत्मा को जीव और कर्म-मुक्त आत्मा को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष साध्य है। जीव के वहा तक पहुचने मे पुण्य, पाप, बन्ध और आस्रव—ये चार तत्त्व बाधक हैं। सवर और निर्जरा—ये दो तत्त्व साधक हैं। अजीव उसका प्रतिपक्षी तत्त्व है।

षड्द्रव्य की व्यवस्था विश्व के सहज-सचलन या सहज-नियम की दृष्टि से हुई है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के लिए क्या उपयोग है, यह जानकारी हमे इससे मिलती है।

वास्तविकतावाद मे पदार्थ के उपयोग पर कोई विचार नही होता, केवल उसके अस्तित्व पर ही विचार होता है, इसलिए वह 'पदार्थवाद' या 'आधिभौतिकवाद' कहलाता है।

दर्शन का विकास अस्तित्व और उपयोग—दोनो के आधार पर हुआ है। अस्तित्व और उपयोग दोनो प्रमाण द्वारा साधे गए हैं। इसलिए प्रमाण, न्याय या तर्क के विकास के आधार भी ये ही दोनो हैं।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—तर्क्य (हेतु-गम्य) और अतर्क्य (हेतु-अगम्य)। न्यायशास्त्र का मुख्य विषय है—प्रमाण-मीमासा। तर्कशास्त्र इससे भिन्न नही है। वह ज्ञान-विवेचन का ही एक अग है। प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। तर्क-गम्य पदार्थों की जानकारी के लिए जो अनुमान है, वह परोक्ष के पाच रूपो मे से एक है।

पूर्व-धारणा की यथार्थ-स्मृति आती है, उसे तर्क द्वारा साधने की आवश्यकता नही होती। वह अपने आप सत्य है—प्रमाण है। यथार्थ पहचान (प्रत्यभिज्ञा) के लिए भी यही बात है। मैं जब अपने पूर्व-परिचित व्यक्ति को साक्षात् पाता हू तब मुझे उसे जानने के लिए तर्क आवश्यक नही होता।

१

साधना-पथ

अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

हम क्या हैं ? हमे क्या करना है ? हम कहा से आते हैं और कहा चले जाते हैं ? जैन दर्शन इन प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत करता है। इसके समाधान के साथ-साथ हमे यह निर्णय कर लेना होगा कि जगत् का स्वरूप क्या है और उसमे हमारा क्या स्थान है।

हमे अपनी जानकारी के लिए आत्मा, धर्म और कर्म की समस्याओ पर विचार करना होगा। आत्मा की स्वाभाविक या विशुद्ध दशा धर्म है। उसके दो प्रवाह हैं—'सवर' और 'निर्जरा'। 'सवर' आत्मा की वह दशा है, जिसमे विजातीय तत्त्व (कर्म-पुद्गल) का उसके साथ सश्लेष होना छूट जाता है। पहले लगे हुए विजातीय तत्त्व का आत्मा से विश्लेष या विसबध होता है, वह दशा है' निर्जरा'। विजातीय तत्त्व थोडा अलग होता है, वह आशिक या अपूर्ण निर्जरा है। विजातीय तत्त्व सर्वथा अलग हो जाता है, उसका नाम है मोक्ष।

आत्मा का अपना रूप मोक्ष है। विजातीय द्रव्य के प्रभाव से उसकी जो दशा वनती है, वह 'वैभाविक' दशा कहलाती है। इसके पोषक चार तत्त्व हैं—आस्रव, वन्ध, पुण्य और पाप। आत्मा के साथ विजातीय तत्त्व एक रूप वनता है। इसे वन्ध कहा जा सकता है। इसके दो रूप हैं—शुभ और अशुभ। शुभ पुद्गल-स्कन्ध (पुण्य) जब आत्मा पर प्रभाव डालते हैं, तब उसे पौद्गलिक सुख की अनुभूति होती है। अशुभ पुद्गल-स्कन्धो (पाप) का प्रभाव इससे विपरीत होता है। उससे अप्रिय, अमनोज्ञ भाव बनते हैं, दु ख की अनुभूति होती है। आत्मा मे विजातीय तत्त्व के स्वीकरण का जो हेतु है, उसकी सज्ञा 'आस्रव' है।

विभाव से स्वभाव मे आने के लिए ये तत्त्व उपयोगी हैं। इनकी उपयोगिता के वारे मे विचार करना उपयोगितावाद है।

३. चारित्र

चारित्र के दो प्रकार हैं—

१. सवर (क्रियानिरोध या अक्रिया)।

२ निर्जरा—अक्रिया द्वारा क्रिया का विशोधन। इस दृष्टि से धर्म के चार प्रकार वन जाते हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

चारित्र-धर्म के दस प्रकार भी होते हैं—

१ क्षमा	६ सत्य
२ मुक्ति	७ सयम
३ आर्जव	८ तप
४ मार्दव	९ त्याग
५ लाघव	१० ब्रह्मचर्य

इनमे सर्वाधिक प्रयोजकता रत्न-त्रयी—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की है। इस त्रयात्मक श्रेयोमार्ग (मोक्ष-मार्ग) की आराधना करनेवाला ही मोक्ष-गामी होता है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र का त्रिवेणी-सगम प्राणिमात्र में होता है। पर उससे साध्य सिद्ध नही होता। ये तीनो यथाथ और अयथार्थ—दोनो प्रकार के होते हैं। श्रेयस् की साधना यथार्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र से होती है।

साधना की दृष्टि से सम्यक्-दर्शन का स्थान पहला है, सम्यक्-ज्ञान का दूसरा और सम्यक्-चारित्र का तीसरा दर्शन के विना ज्ञान, ज्ञान के विना चारित्र, चारित्र के विना कर्म-मोक्ष और कर्म-मोक्ष के विना निर्वाण नही होता।[1]

जव ये तीनो पूर्ण होते है तव साध्य सध जाता है, आत्मा कर्म-मुक्त हो परम-आतमा वन जाता है।

महात्मा बुद्ध ने तपस्या की अपेक्षा की। ध्यान को ही निर्वाण का मुख्य साधन माना। भगवान् महावीर ने ध्यान और तपस्या—दोनो को स्थान दिया। ध्यान भी तपस्या है, किन्तु महावीर ने आहार-त्याग को भी गौण नही किया। उसका जैन साधको मे पर्याप्त विकास हुआ।

तपस्या आत्म-शुद्धि के लिए है। इसीलिए तपस्या की मर्यादा यही है कि वह इन्द्रिय और मानस-विजय की साधक रहे, तव तक की जाए। तपस्या कितनी लम्बी हो—इसका मानदण्ड अपनी-अपनी शक्ति और विरक्ति है। मन खिन्न न हो, आर्त्त-ध्यान न बढे, तव तक तपस्या हो—यही उसकी मर्यादा है। विरक्ति-

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २८।३०
नादसणिस्स नाण
नाणेण विणा नहु न्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

मैं जिसके यथार्थ-ज्ञान और यथार्थ-वाणी का अनुभव कर चुका, उसकी वाणी को प्रमाण मानते समय मुझे हेतु नही ढूढना पडेगा। यथार्थ जाननेवाला भी कभी और कही भूल कर सकता है, यथार्थ कहनेवाला भी कभी और कही असत्य बोल सकता है— इस सभावना से यदि मैं उसकी प्रत्येक वाणी को तर्क की कसौटी पर कसे बिना प्रमाण न मानू तो वह मेरी भूल होगी। मेरा विश्वासी मुझे ठगना चाहे, वहा मेरे लिए वह प्रमाणाभास होगा। किन्तु तर्क का सहारा लिए बिना कही भी वह मेरे लिए प्रमाण न बने, यह कैसे माना जाए? यदि यह न हो तो जगत् का अधिकाश व्यवहार ही न चले। व्यवहार मे जहा व्यावहारिक आप्त की स्थिति है, वहा परमार्थ मे पारमार्थिक आप्त—वीतराग की। किन्तु तर्क से आगे प्रामाण्य है अवश्य।

आख से जो मैं देखता हू, कान से जो सुनता हू, उसके लिए मुझे तर्क नही चाहिए।

सत्य आख और कान से परे भी है। वहा तर्क की पहुच ही नही है।

तर्क का क्षेत्र केवल कार्य-कारण की नियमबद्धता, दो वस्तुओ का निश्चित साहचर्य है। एक के बाद दूसरे के आने का नियम और व्याप्त मे व्यापक के रहने का नियम है। एक शब्द मे वह व्याप्ति है। वह सार्वदिक और सार्वत्रिक होती है। वह अनेक काल और अनेक देश के अनेक व्यक्तियो के समान अनुभव द्वारा सृष्ट नियम है। इसलिए उसे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाण-परम्परा से ऊचा या एकाधिकार स्थान नही दिया जाता। वह अतर्क्य—आगम-गम्य होता है।

धर्म

श्रेयस् की साधना ही धर्म है। साधना ही चरम रूप तक पहुचकर सिद्धि बन जाती है। श्रेयस् का अर्थ है—आत्मा का पूर्ण-विकास या चैतन्य का निर्द्वन्द्व प्रकाश। चैतन्य सब उपाधियो से मुक्त हो, चैतन्यस्वरूप हो जाए, उसका नाम श्रेयस् है। श्रेयस् की साधना भी चैतन्य की आराधनामय है, इसलिए वह भी श्रेयस् है। उसके दो, तीन, चार और दस—इस प्रकार अनेक अपेक्षाओ से अनेक रूप हैं। पर वह सब विस्तार है। सक्षेप मे आत्मरमण ही धर्म है।

ज्ञानमय और चारित्रमय आत्मा ही धर्म है। इस प्रकार धर्म दो रूपो मे बट जाता है—ज्ञान और चारित्र।

ज्ञान के दो पहलू हैं—दर्शन और जानकारी। सत्य का दर्शन हो तभी सत्य का ज्ञान और सत्य का ज्ञान हो तभी उसका स्वीकरण हो सकता है।

इस दृष्टि से धर्म के तीन रूप बन जाते हैं—

१ दर्शन
२ ज्ञान

जैन-धर्म के केन्द्र में आत्मा है और आत्मा की स्वाभाविक परिणति ही अहिंसा है।

शील और श्रुत का समन्वय

एक समय भगवान् राजगृह में समवसृत थे। गौतम स्वामी आए। भगवान् को वन्दना कर बोले—'भगवन्! कुछ दार्शनिक कहते हैं—

१ शील ही श्रेय है।

२ कुछ कहते हैं—श्रुत ही श्रेय है।

३ कुछ कहते हैं—शील श्रेय है और श्रुत भी श्रेय है।

४ कुछ कहते हैं—न श्रुत श्रेय है और न शील श्रेय है।

इनमें कौन-सा अभिमत ठीक है, भगवन्?'

भगवान् बोले—'गौतम! वे दार्शनिक जो कहते हैं वह एकान्तवाद है, इसलिए अपूर्ण है। मैं इस प्रकार कहता हूं—

चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

१ शीलसम्पन्न, श्रुतसम्पन्न नहीं।

२ श्रुतसम्पन्न, शीलसम्पन्न नहीं।

३ शीलसम्पन्न और श्रुतसम्पन्न।

४ न शीलसम्पन्न और न श्रुतसम्पन्न।

पहला पुरुष शीलसम्पन्न है—उपरत (पाप से निवृत्त) है, किन्तु अश्रुतवान् है—अविज्ञातधर्मा है, इसलिए वह मोक्ष मार्ग का देश-आराधक है।

दूसरा श्रुत-सम्पन्न है—विज्ञातधर्मा है, किन्तु शील-सम्पन्न नहीं—उपरत नहीं, इसलिए वह देशविराधक है।

तीसरा शीलवान् भी है और श्रुतवान् भी है। इसलिए वह सर्व-आराधक है।

चौथा शीलवान् भी नहीं है और श्रुतवान् भी नहीं है। इसलिए वह सर्व-विराधक है।'

भगवान् ने बताया कि कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं, वह श्रेयस् की विराधना है, आराधना है ही नहीं। ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है।[1]

बन्धन से मुक्ति की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, बाह्य-दर्शन से अन्तर्-दर्शन की ओर जो गति है, वह आराधना है। उसके तीन प्रकार हैं—

१ ज्ञान-आराधना, २ दर्शन-आराधना, ३ चरित्र-आराधना।[2] इनमें से

---

१ भगवती, ८।१०

२ वही, ८।१०।

काल मे उपवास से अनशन तक की तपस्या आदेय है। उसके बिना वह आत्म-वचना या आत्महत्या का साधन बन जाती है।

धर्म की शाश्वत धारा

इस विश्व मे कुछ तत्त्व शाश्वत हैं और कुछ अशाश्वत। धर्म शाश्वत के सगीत का मधुर लय है। महावीर ने शाश्वत सत्यो की व्याख्या शाश्वत धर्म के माध्यम से की और सामयिक सत्यो की व्याख्या सामयिक धर्म के माध्यम से। महावीर की भाषा मे ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म—ये सामयिक धर्म हैं। इनके द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्र की परिवर्तनशील व्यवस्थाओ की व्याख्या होती है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाए स्थायी नही होती। वे देश-काल के अनुसार बदलती रहती हैं। इसीलिए वे किसी शाश्वत नियम के द्वारा अनुशासित नही हो सकती। जैन धर्म मे सामाजिक व्यवस्था को अनुशासित करने का कोई प्रत्यक्ष नियम नही है। कुछ लोग इसे धर्म की अपूर्णता मानते हैं। मैं इसे यथार्थ के अधिक निकट मानता हू। समाज, अर्थ और राजनीति की व्यवस्थाओ का प्रतिपादन करना समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और राजनीतिशास्त्री का कार्य है। उनके कार्यो मे धर्म का हस्तक्षेप क्यो होना चाहिए ? धर्म की अपनी मर्यादा है। उनकी अपनी मर्यादा है। सब अपनी-अपनी मर्यादा मे कार्य करें तभी सबकी व्यवस्था सुसपादित हो सकती है। महावीर से पूछा गया—'भते ! शाश्वत धर्म क्या है ?' भगवान् ने कहा—'किसी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, परि-तप्त मत करो, अधीन मत करो—यह शाश्वत धर्म है।' फलित की भाषा मे शाश्वत धर्म है—अहिसा।

सर्वोदय और आत्मोदय

अहिसा के दो पहलू हैं—सर्वोदय और आत्मोदय। सर्वोदय उसका व्यावहारिक पहलू है और उसका नैश्चयिक पहलू है आत्मोदय। अहिसा की मर्यादा मे कोई भी जीव हिसनीय नही है। सब जीव अहिस्य है, इसलिए वह सर्वोदय है।

आचार्य समतभद्र ने इसी आशय से भगवान् महावीर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा है—

> सर्वान्तवद् तद्गुण-मुख्यकल्प,
> सर्वान्तशून्यञ्च मिथोऽनपेक्षम्।
> सर्वापदामन्तकर निरन्त,
> सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव।[1]

अहिसा की आन्तरिक परिणति आत्मा मे होती है, इसलिए वह आत्मोदय है।

---

1 युक्त्यनुशासन, ६१।

प्राय सभी दर्शन सम्यग्-ज्ञान या सम्यग्-दर्शन को मुक्ति का मुख्य कारण मानते हैं। बौद्धो की दृष्टि मे क्षणभगुरता का ज्ञान या चार आर्य-सत्यो का ज्ञान विद्या या सम्यग्-दर्शन है। नैयायिक तत्त्व-ज्ञान[1], साख्य[2] और योग-दर्शन[3] भेद या विवेक-ख्याति को सम्यग्-दर्शन मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार तत्त्वो के प्रति यथार्थ रुचि जो होती है, वह सम्यग्-दर्शन है।[4]

सम्यग्-दर्शन

एक चक्षुष्मान् वह होता है, जो रूप और सस्थान को ज्ञेयदृष्टि से देखता है। दूसरा चक्षुष्मान् वह होता है, जो वस्तु की ज्ञेय, हेय और उपादेय दशा को विपरीत दृष्टि से देखता है। तीसरा उसे अविपरीत दृष्टि से देखता है। पहला स्थूल-दर्शन है, दूसरा बहिर्दर्शन और तीसरा अन्तर्-दर्शन।

स्थूल-दर्शन जगत् का व्यवहार है, केवल वस्तु की ज्ञेय दशा से सम्बन्धित है। अगले दोनो का आधार मुख्यवृत्त्या वस्तु की हेय और उपादेय दशा है। अन्तर्-दर्शन मोह के पुद्गलो से ढका होता है तब वह सही नही होता इसलिए मिथ्या-दर्शन कहलाता है। तीव्र कषाय के उदय मे अन्तर्-दर्शन सम्यक् नही बनता, आग्रह या आवेश नही छूटता। इस विजातीय द्रव्य के दूर हो जाने पर आत्मा मे एक प्रकार का शुद्ध परिणमन पैदा होता है। उसकी सज्ञा सम्यग्-दर्शन है।

सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन

मिथ्यादर्शन के दस प्रकार है—

१ अधर्म मे धर्म सज्ञा।
२ धर्म मे अधर्म सज्ञा।
३ अमार्ग मे मार्ग सज्ञा।
४ मार्ग मे अमार्ग सज्ञा।
५ अजीव मे जीव सज्ञा।
६ जीव मे अजीव सज्ञा।
७ असाधु मे साधु सज्ञा।
८ साधु मे असाधु सज्ञा।
९ अमुक्त मे मुक्त सज्ञा।
१० मुक्त मे अमुक्त सज्ञा।

सम्यग् दर्शन के दस प्रकार हैं—

---

१ न्यायसूत्र, ४।१।३-६।
२ सांख्यकारिका, ६४।३
३ योगदर्शन, २।१३
४ उत्तरज्झयणाणि, ८।१५।

होता। सम्यक्-चारित्र के बिना मोक्ष नही होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता[1]।

चारित्र-मोह आचरण की शुद्धि नही होने देता। इससे राग-द्वेष तीव्र बनते हैं, राग-द्वेष से कर्म और कम से ससार--इस प्रकार यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है।
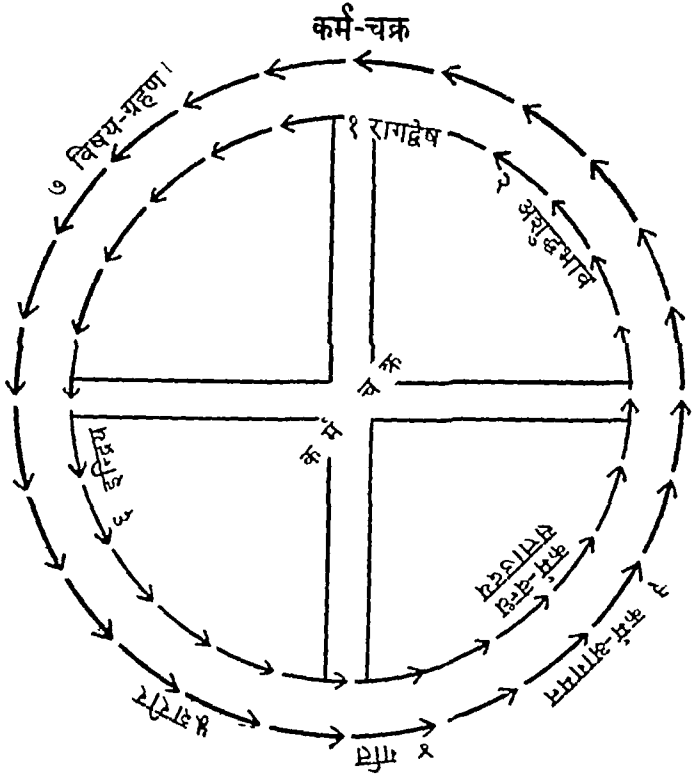
बौद्ध दर्शन भी ससार का मूल राग-द्वेष और मोह या अविद्या—इन्ही को मानता है।[2] नैयायिक भी राग-द्वेष और मोह या मिथ्याज्ञान को ससार-बीज मानते हैं[3]। साख्य पाच विपर्यय और पतजलि क्लेशो को ससार का मूल मानते हैं। ससार प्रकृति है, जो प्रीति-अप्रीति और विषाद या मोह धर्म वाले सत्त्व, रजस् और तमस् गुणयुक्त है—त्रिगुणात्मिका है।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २८।३०।

२ बुद्धवचन, पृ० २२।

३ न्यायसूत्र, ४।१।३-६।

४ साख्यकारिका, ४४।

प्रायोगिक आरोग्य-लाभ है।

अनादि काल से जीव ससार मे भ्रमण करता रहा। सम्यग्-दर्शन नही हुआ—आत्म-विकास का मार्ग नही मिला। ससार-भ्रमण की स्थिति पकी। घिसते-घिसते पत्थर चिकना, गोल वनता है, वैसे थपेडे खाते-खाते कर्मावरण शिथिल हुआ, आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह नैसर्गिक सम्यग्-दर्शन है।

मनुष्य कष्टो से तिलमिला उठा। त्रिविध ताप से सतप्त हो गया। शान्ति का उपाय नही सूझा। मार्ग-द्रष्टा का योग मिला, प्रयत्न किया। कर्म का आवरण हटा। आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह आधिगमिक सम्यग्-दर्शन है।

रुचि

किसी भी वस्तु के स्वीकरण की पहली अवस्था रुचि है। रुचि से श्रुति होती है या श्रुति से रुचि—यह वडा जटिल प्रश्न है। ज्ञान, श्रुति, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन—ये रुचि के कारण है, ऐसा माना गया है। दूसरी ओर यथार्थ रुचि के विना यथार्थ ज्ञान नही होता—यह भी माना गया है। इनमे पौर्वापर्य है या एक साथ उत्पन्न होते हैं? इस विचार से यह मिला कि पहले रुचि होती है और फिर ज्ञान होता है। सत्य की रुचि होने के पश्चात् ही उसकी जानकारी का प्रयत्न होता है। इस दृष्टि-विन्दु से रुचि या सम्यक्त्व जो है, वह नैसर्गिक ही होता है। दर्शन-मोह के परमाणुओ का विलय होते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है। निसर्ग और अधिगम का प्रपच जो है, वह सिर्फ उसकी अभिव्यक्ति के निमित्त की अपेक्षा से है। जो रुचि अपने आप किसी वाहरी निमित्त के विना भी व्यक्त हो जाती है, वह नैसर्गिक और जो वाहरी निमित्त (उपदेश-अध्ययन आदि) से व्यक्त होती है, वह आधिगमिक है।

ज्ञान से रुचि का स्थान पहला है। इसलिए सम्यक्-दर्शन के विना ज्ञान भी सम्यक् नही होता। जहा मिथ्या-दर्शन है वहा मिथ्या ज्ञान और जहा सम्यग्-दर्शन है वहा सम्यग् ज्ञान—ऐसा क्रम है। दर्शन सम्यक् वनते ही ज्ञान सम्यक् वन जाता है। दर्शन और ज्ञान का सम्यक्त्व युगपत् होता है। उसमे पौर्वापर्य नही है। वास्तविक कार्य-कारण भाव भी नही है। ज्ञान का कारण ज्ञानावरण का विलय और दर्शन का कारण दर्शन-मोह का विलय है। इसम साहचर्य-भाव है।

मिथ्या-दृष्टि के रहते वुद्धि मे सम्यग् भाव नही आता। यह प्रतिवन्ध दूर होते ही ज्ञान का प्रयोग सम्यक् हो जाता है। इस दृष्टि से सम्यग् दृष्टि को सम्यग् ज्ञान का कारण या उपकारक भी कहा जा सकता है।

दृष्टि-शुद्धि श्रद्धा-पक्ष है। सत्य की रुचि ही इसकी सीमा है। वुद्धि-शुद्धि ज्ञान-पक्ष है। उसकी मर्यादा है—सत्य का ज्ञान। क्रिया-शुद्धि उसका आचरण-पक्ष है। उसका विषय है—सत्य का आचरण। तीनो मर्यादित हैं, इसलिए असहाय है।

प्राणिमात्र में मिलनेवाले योग्यता के तरतमभाव और उनके कारण होनेवाले रुचि-वैचित्र्य के आधार पर यह वर्गीकरण हुआ है।

सम्यग्-दर्शन की प्रक्रिया

सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के तीन कारण हैं—

१ दर्शन-मोह के परमाणुओ का पूर्ण उपशमन। इससे औपशमिक सम्यग्-दर्शन प्राप्त होता है।

२ दर्शन-मोह के परमाणुओ का अपूर्ण विलय। इससे क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन प्राप्त होता है।

३ दर्शन-मोह के परमाणुओ का पूर्ण विलय। इससे क्षायिक सम्यग्-दर्शन प्राप्त होता है।

आचार और अतिचार

सम्यग्-दर्शन मे पोप लानेवाली प्रवृत्ति उसका आचार और दोप लानेवाली प्रवृत्ति उसका अतिचार होती है। ये व्यावहारिक निमित्त हैं, सम्यग्-दर्शन का स्वरूप नही है।

सम्यग्-दर्शन के आचार आठ हैं[1]—

१ नि शकित—सत्य मे निश्चित आस्था।

२ नि काक्षित—मिथ्या विचार के स्वीकार की अरुचि।

३ निर्विचिकित्सा—सत्याचरण के फल मे विश्वास।

४ अमूढ-दृष्टि—असत्य और असत्याचरण की महिमा के प्रति अनाकर्पण, अव्यामोह।

५ उपवृ हण—आत्म-गुण की वृद्धि।

६ स्थिरीकरण—सत्य से डगमगा जाए, उन्हे फिर से सत्य मे स्थापित करना।

७ वात्सल्य—सत्य धर्मो के प्रति सम्मान-भावना, सत्याचरण का सहयोग।

८ प्रभावना—प्रभावक ढग से सत्य के माहात्म्य का प्रकाशन।

पाच अतिचार

१ शका—सत्य मे सदेह।

२ काक्षा—मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलापा।

३ विचिकित्सा—सत्याचरण की फल-प्राप्ति मे सदेह।

४ परपापण्ड-प्रशसा—मिथ्या सिद्धान्त की प्रशसा।

---

१ (क) उत्तरज्झयणाणि, २८।३१

(ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।११।१८।

केवल रुचि या आस्था-बन्ध होने मात्र से जानकारी नही होती, इसलिए रुचि को ज्ञान की अपेक्षा होती है। केवल जानने मात्र से साध्य नही मिलता, इसलिए ज्ञान को क्रिया की अपेक्षा होती है। सक्षेप मे, रुचि ज्ञान-सापेक्ष है और ज्ञान क्रिया-सापेक्ष। ज्ञान और क्रिया के सम्यग् भाव का मूल रुचि है, इसलिए वे दोनो रुचि-सापेक्ष हैं। यह सापेक्षता ही मोक्ष का पूर्ण योग है। इसलिए रुचि, ज्ञान और क्रिया को सर्वथा तोडा नही जा सकता। इनका विभाग केवल उपयोगितापरक है या निरपेक्ष-दृष्टिकृत है। इनकी सापेक्ष स्थिति मे कहा जा सकता है—रुचि ज्ञान को आगे ले जाती है। ज्ञान से रुचि को पोषण मिलता है, ज्ञान से क्रिया के प्रति उत्साह बढता है, क्रिया से ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है, रुचि और आगे बढ जाती है।

इस प्रकार तीनो आपस मे सहयोगी, पोषक और उपकारक हैं। इस विशाल दृष्टि से रुचि के दस प्रकार बतलाए गए हैं[1]—

१ निसर्ग-रुचि
२ अधिगम-रुचि
३ आज्ञा-रुचि
४ सूत्र-रुचि,
५ बीज-रुचि
६ अभिगम-रुचि
७ विस्तार-रुचि
८ क्रिया-रुचि
९ सक्षेप-रुचि
१० धर्म-रुचि

१ जिस व्यक्ति को वीतराग प्ररूपित चार तथ्यो—बन्ध, बन्ध-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु पर सहज श्रद्धा होती है वह निसर्ग-रुचि है।

२ सत्य की वह श्रद्धा जो दूसरो के उपदेश से मिलती है, वह अधिगम-रुचि या उपदेश-रुचि है।

३ जिसमे राग, द्वेष, मोह, अज्ञान की कमी होती है और दुराग्रह से दूर रहने के कारण वीतराग की आज्ञा को सहज स्वीकार करता है, उसकी श्रद्धा आज्ञा-रुचि है।

४ सूत्र पढने से जिसे श्रद्धा-लाभ होता है, वह सूत्र-रुचि है।

५ थोडा जानने मात्र से जो रुचि फैल जाती है, वह बीज-रुचि है।

६ अर्थ सहित विशाल श्रुत-राशि को पाने की श्रद्धा अभिगम-रुचि है।

७ सत्य के सब पहलुओ को पकडनेवाली सर्वांगीण दृष्टि विस्तार-रुचि है।

८ क्रिया—आचार की निष्ठा क्रिया-रुचि है।

९ जो व्यक्ति असत्-मतवाद मे फसा हुआ भी नही है और सत्यवाद मे विशारद भी नही है, उसकी सम्यग्दृष्टि को सक्षेप-रुचि कहा जाता है।

१० धर्म (श्रुत और चारित्र) मे जो आस्था-बन्ध होता है, वह धर्म-रुचि है।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २८।१६-२७।

महत्त्व

भगवान् महावीर का दर्शन गुण पर आश्रित था। उन्होंने बाहरी सम्पदा के कारण किसी को महत्त्व नहीं दिया। परिवर्तित युग में जैन-धर्म भी जात्याश्रित होने लगा। जाति-मद से मदोन्मत्त बने लोग समानधर्मी भाइयों की भी अवहेलना करने लगे। ऐसे समय में व्यावहारिक सम्यग्-दर्शन की व्याख्या और विशाल बनी। आचार्य सामन्तभद्र ने मद के साथ उसकी विसंगति बताते हुए कहा है—'जो धार्मिक व्यक्ति अष्टमद—१ जाति, २ कुल, ३ बल, ४ रूप, ५ श्रुत, ६ तप, ७ ऐश्वर्य, ८ लाभ से उन्मत्त होकर धर्मस्थ व्यक्तियों का अनादर करता है, वह अपने आत्म-धर्म का अनादर करता है। सम्यग्-दर्शन आदि धर्म को धर्मात्मा ही धारण करता है। जो धर्मात्मा है, वह महात्मा है। धार्मिक के बिना धर्म नहीं होता। सम्यग्-दर्शन की सम्पदा जिसे मिली है, वह भंगी भी देव है। तीर्थंकरों ने उसे देव माना है। राख से ढकी हुई आग का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योति-पुंज ही रहता है।'[1]

आचार्य भिक्षु ने कहा है—'वे व्यक्ति विरले होते हैं, जिनके घट में सम्यकत्व रम रहा हो। जिसके हृदय में सम्यक्त्व-सूर्य का उदय होता है, वह प्रकाश से भर जाता है, उसका अन्धकार चला जाता है।

सभी खानों में हीरे नहीं मिलते, सर्वत्र चन्दन नहीं होता, रत्न-राशि सर्वत्र नहीं मिलती, सभी सर्प मणिधर नहीं होते, सभी लब्धि (विशेष शक्ति) धारक नहीं होते, बन्धन-मुक्त सभी नहीं होते, सभी सिंह केसरी नहीं होते, सभी साधु साधु नहीं होते, उसी प्रकार सभी जीव सम्यग्-दर्शी नहीं होते। तत्त्व का विपर्यय आग्रह और अभिनिवेश से होता है। अभिनिवेश का हेतु तीव्र कषाय है। दर्शन-पुरुष का कषाय मन्द हो जाता है, उसमें आग्रह का भाव नहीं रहता। वह सत्य को सरल और सहज भाव से पकड़ लेता है।'

सत्य क्या है ?

जो है वही सत्य है, जो नहीं है वह असत्य है। यह अस्तित्व—सत्य, वस्तु-सत्य, स्वरूप-सत्य या ज्ञेय-सत्य है। जिस वस्तु का जो सहज शुद्ध रूप है, वह सत्य है। परमाणु, परमाणु रूप में सत्य है। आत्मा, आत्मा रूप में सत्य है। धर्म, अधर्म, आकाश भी अपने रूप में सत्य हैं। एक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाला अविभाज्य पुद्गल—यह परमाणु का सहज-रूप सत्य है। बहुत सारे परमाणु मिलते हैं, स्कन्ध बन जाता है, इसलिए परमाणु पूर्ण सत्य (त्रैकालिक-सत्य) नहीं है। परमाणु

---

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार, २८

सम्यग्-दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥

५ परपापण्ड-सस्तव—मिथ्यावाद का परिचय।

सम्यग्-दर्शन की व्यावहारिक पहचान

सम्यग्-दर्शन आध्यात्मिक शुद्धि है। वह बुद्धिगम्य वस्तु नही है। फिर भी उसकी पहचान के कुछ व्यावहारिक लक्षण वतलाए हैं—

तीन लक्षण

१ परमार्थ सस्तव—परम सत्य के अन्वेपण की रुचि।

२ सुदृढ परमार्थ सेवन—परम सत्य के उपासक का ससर्ग या मिले हुए सत्य का आचरण।

३ कुदर्शन वर्जना—कुमार्ग से दूर रहने की दृढ आस्था।

सत्यान्वेपी या सत्यशील और असत्यविरत जो हो तो जाना जा सकता है कि वह सम्यग्-दशनी पुरुप है।

पाच लक्षण

१ शम—शान्ति।

२ सवेग—मुमुक्षा—मुक्त होने की भावना।

३ निर्वेद—अनासक्ति।

४ अनुकम्पा—प्राणिमात्र के प्रति कृपाभाव, सर्वभूतमैत्री, आत्मौपम्यभाव।

५ आस्तिक्य—सत्यनिष्ठा।

सम्यग्-दर्शन का फल

कषाय की मन्दता होते ही सत्य के प्रति रुचि तीव्र हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अवोधि से वोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, नास्तिकता से आस्तिकता की ओर और मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर हो जाती है। उसका सकल्प ऊर्ध्वमुखी और आत्मलक्षी हो जाता है[1]।

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! दशन-सम्पन्नता का क्या लाभ है?

भगवान् ने कहा—गौतम! दर्शन-सम्पदा से विपरीत दर्शन का अन्त होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथाथ द्रष्टा वन जाता है। उसमे सत्य की लौ जलती है, वह फिर वुझती नही। वह अनुत्तरज्ञान धारा से आत्मा को भावित किए रहता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग्दर्शी देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु-वध नही करता।[2]

---

१ आवश्यक सूत्र
२ भगवती, ३०।१

२

मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्व

नव तत्त्व

सत्य के ज्ञान और सत्य के आचरण द्वारा स्वय सत्य बन जाना ही जैन-दर्शन का धर्म है।

मोक्ष-साधना मे उपयोगी ज्ञेयो को तत्त्व कहा जाता है। वे नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष।[1] उमास्वाति ने उनकी सख्या सात मानी है—पुण्य और पाप का उल्लेख नही किया है।[2] सक्षेप दृष्टि से तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव।[3] सात या नौ विभाग उन्ही का विस्तार है। पुण्य और पाप बन्ध के अवातर भेद है। उनकी पृथक् विवक्षा हो तो तत्त्व नौ और यदि उनकी स्वतत्र विवक्षा न हो तो वे सात होते है।

पुण्य से लेकर मोक्ष तक के सात तत्त्व स्वतत्र नही हैं। वे जीव और अजीव के अवस्था-विशेष हैं। पुण्य, पाप और बध, ये पौद्गलिक हैं इसलिए अजीव के पर्याय हैं। आस्रव आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति भी है और शुभ-अशुभ कर्म-पुद्गलो का आकर्षण भी है। इसलिए इसे मुख्यवृत्त्या कुछ आचार्य जीव-पर्याय मानते हैं, कुछ अजीव-पर्याय। यह विवक्षा-भेद है।

नव तत्त्वो मे पहला तत्त्व जीव है और नवा मोक्ष। जीव के दो प्रकार बतलाये गए हैं—बद्ध और मुक्त।[4] यहा बद्ध-जीव पहला और मुक्त-जीव नौवा तत्त्व है। अजीव जीव का प्रतिपक्ष है। वह बद्ध-मुक्त नही होता। पर जीव का बन्धन पौद्गलिक होता है। इसलिए साधना के क्रम मे अजीव की जानकारी भी आवश्यक

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २८।१४।

२ तत्त्वार्थसूत्र, १।४।

३ ठाण, २।१

४ तत्त्वार्थसूत्र, २।१०

दशा में परमाणु सत्य है। भूत-भविष्यत् कालीन स्कन्ध की दशा में उसका विभक्त रूप सत्य नही है।

आत्मा शरीर दशा मे अर्ध-सत्य है। शरीर, वाणी, मन और श्वास उसका स्वरूप नही है। आत्मा का स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य और अरूप। सरूप आत्मा वर्तमान पर्याय की अपेक्षा सत्य है। अरूप आत्मा पूर्ण सत्य है। धर्म, अधर्म और आकाश—इन तीनो तत्त्वो का वैभाविक रूपान्तर नही होता। ये सदा अपने रूप मे ही रहते हैं, इसलिए पूर्ण सत्य हैं।

साध्य-सत्य

साध्य-सत्य स्वरूप-सत्य का ही एक प्रकार है। वस्तु-सत्य व्यापक है। परमाणु मे ज्ञान नही होता, अत उसके लिए कुछ साध्य भी नही होता। वह स्वाभाविक काल-मर्यादा के अनुसार कभी स्कन्ध मे जुड जाता है और कभी उससे विलग हो जाता है।

आत्मा चैतन्यमय तत्त्व है। शरीर दशा मे ज्ञान, आनन्द और वीर्य का पूर्ण उदय उसका साध्य होता है। साध्य न मिलने तक यह साधन सत्य होता है और उसके मिलने पर वह स्वरूप सत्य के रूप मे वदल जाता है।

साध्य काल मे मोक्ष सत्य होता है और आत्मा अर्ध-सत्य। सिद्धि-दशा में मोक्ष और आत्मा का अद्वैत (अभेद) हो जाता है, फिर कभी भेद नही होता। इसलिए मुक्त आत्मा का स्वरूप पूर्ण सत्य है—त्रैकालिक और अपुनरावर्तनीय है।

जैन-तत्त्व-व्यवस्था के अनुसार चेतन और अचेतन—ये दो सामान्य सत्य हैं। ये निरपेक्ष स्वरूप-सत्य हैं। गति-हेतुकता, स्थिति-हेतुकता, अवकाश-हेतुकता, परिवर्तन-हेतुकता और ग्रहण (सयोग-वियोग) की अपेक्षा—विभिन्न कार्यों और गुणो की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल—पाच अचेतन द्रव्यो के ये पाच रूप (पाच द्रव्य) और जीव, ये छह सत्य है। ये विभाग-सापेक्ष स्वरूप सत्य हैं।

आस्रव (वन्ध-हेतु), सवर (वन्ध-निरोध), निर्जरा (वन्ध-क्षय हेतु)—ये तीन साधन सत्य है। मोक्ष साध्य-सत्य है। वन्धन-दशा मे आत्मा के ये चारो रूप सत्य हैं। मुक्त-दशा मे आस्रव भी नही होता, सवर भी नही होता, निर्जरा भी नही होती, साध्यरूप मोक्ष भी नही होता, इसलिए वहा आत्मा का केवल आत्म-रूप ही सत्य है।

आत्मा के साथ अनात्मा (अजीव—पुद्गल) का सम्वन्ध रहते हुए उसके वन्ध, पुण्य और पाप ये तीनो रूप सत्य हैं। मुक्त दशा मे वन्धन भी नही होता, पुण्य भी नही होता, पाप भी नही होता। इसलिए जीव वियुक्त-दशा मे केवल अजीव (पुद्गल) ही सत्य है। तात्पर्य कि जीव-अजीव की सयोग-दशा मे नव सत्य हैं। उनकी वियोग-दशा मे केवल दो ही सत्य हैं।

व्यवहार-नय से वस्तु का वर्तमान रूप (वैकारिक रूप) भी सत्य है। निश्चय नय से वस्तु का त्रैकालिक (स्वाभाविक रूप) सत्य है।

प्रत्याख्यान लोभ—जैसे, खञ्जन का रंग (गाढ)।

इनके उदयकाल मे चारित्र-विकारक परमाणुओ का पूर्णत निरोध (सवर) नही होता। यह अपूर्ण-अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह महाव्रती जीवन की वाधक है। इसके अधिकारी अणुव्रती होते हैं। यहा आत्म-रमण की वृति का आरम्भिक अभ्यास होने लगता है। इसे पार करनेवाले महाव्रती वनते हैं।

सज्वलन क्रोध—जैसे, जल-रेखा (अस्थिर—तात्कालिक)।

सज्वलन मान—जैसे, लता का खम्भा (लचीला)।

सज्वलन माया—जैसे, छिलते वास की छाल (स्वल्पतम वक्र)।

सज्वलन लोभ—जैसे, हल्दी का रग (तत्काल उडने वाला)।

इनके उदयकाल मे चारित्र-विकारक परमाणुओ का अस्तित्व निर्मूल नही होता। यह प्रारम्भ मे प्रमाद और बाद मे कपाय-आस्रव की भूमिका है। यह वीतराग-चारित्र की बाधक है। इसके अधिकारी सराग-सयमी होते हैं।

योग आस्रव शैलेशी दशा (असप्रज्ञात समाधि) का बाधक है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से पाप कर्म का वन्ध होता है। आस्रव के प्रथम चार रूप आन्तरिक दोष हैं। उनके द्वारा पाप कर्म का सतत वन्ध होता है। योग आस्रव प्रवृत्यात्मक है। वह अशुभ और शुभ दोनो प्रकार का होता है। ये दोनो प्रवृत्तिया एक साथ नही होती। शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म और अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म का वन्ध होता है।

आस्रव के द्वारा शुभ-अशुभ कर्म का वन्ध, उसका पुण्य-पाप के रूप मे उदय, उदय से फिर आस्रव, उससे फिर वन्ध और उदय—यह ससार-चक्र है।

साधक तत्त्व

मोक्ष के साधक तत्त्व दो हैं—सवर और निर्जरा।

सवर

जितने आस्रव है उतने ही सवर हैं। आस्रव के पाच विभाग हैं, इसलिए सवर के भी पाच विभाग हैं—

१ सम्यक्त्व।
२ विरति।
३ अप्रमाद।
४ अकपाय।
५ अयोग।

निर्जरा

निर्जरा का अर्थ है कर्म-क्षय और उससे होने वाली आत्म-स्वरूप की उपलब्धि। निर्जरा का हेतु तप है। तप के वारह प्रकार हैं, इसलिए निर्जरा के वारह प्रकार

है। वन्धन-मुक्ति की जिज्ञासा उत्पन्न होने पर जीव साधक वनता है और साध्य होता है मोक्ष। शेष सारे तत्त्व साधक या वाधक वनते हैं। पुण्य, पाप और वध मोक्ष के वाधक है। आस्रव को अपेक्षा-भेद से वाधक और साधक दोनो माना जाता है। शुभ-योग को आस्रव कहे तो उसे मोक्ष का साधक भी कह सकते हैं। किन्तु आस्रव का कर्म-सग्राहक रूप मोक्ष का वाधक ही है। सवर और निर्जरा—ये दो मोक्ष के साधक हैं।

वाधक तत्त्व (आस्रव) पाच हैं—१ मिथ्यात्व, २ अविरति ३ प्रमाद, ४ कषाय, ५ योग।

जीव मे विकार पैदा करनेवाले परमाणु मोह कहलाते हैं। दृष्टि-विकार उत्पन्न करनेवाले परमाणु दर्शन-मोह हैं।

चारित्र-विकार उत्पन्न करने वाले परमाणु चारित्र-मोह कहलाते हैं। उनके दो विभाग हैं—

१ कषाय, २ नो-कषाय—कषाय को उत्तेजित करने वाले परमाणु।

कषाय के चार वर्ग हैं—

अनन्तानुवन्धी-क्रोध—जैसे, पत्थर की रेखा (स्थिरतम)।

अनन्तानुवन्धी-मान—जैसे, पत्थर का खम्भा (दृढतम)।

अनन्तानुवन्धी-माया—जैसे, वास की जड (वक्रतम)।

अनन्तानुवन्धी-लोभ—जैसे, कृमि-रेशम का रग (गाढ़तम)।

इनका प्रभुत्व दर्शन-मोह के परमाणुओ के साथ जुडा हुआ है। इनके उदयकाल मे सम्यक्-दृष्टि प्राप्त नही होती। यह मिथ्यात्व आस्रव की भूमिका है। यह सम्यक्-दृष्टि की वाधक है। इसके अधिकारी मिथ्यादृष्टि और सदिग्धदृष्टि हैं। यहा देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति नही होती। इसे पार करनेवाला सम्यक् दृष्टि होता है।

अप्रत्याख्यान-क्रोध—जैसे, मिट्टी की रेखा (स्थिरतर)।

अप्रत्याख्यान-मान—जैसे, हाड का खम्भा (दृढतर)।

अप्रत्याख्यान-माया—जैसे, मेढ़े का सीग (वक्रतर)।

अप्रत्याख्यान-लोभ—जैसे, कीचड का रग (गाढ़तर)।

इनके उदय-काल मे चारित्र को विकृत करनेवाले परमाणुओ का प्रवेश-निरोध (सवर) नही होता, यह अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह अणुव्रती जीवन की वाधक है। इसके अधिकारी सम्यक्-दृष्टि हैं। यहा देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति होती है। इसे पार करनेवाला अणुव्रती होता है।

प्रत्याख्यान क्रोध—जैसे, धूलि-रेखा (स्थिर)।

प्रत्याख्यान मान— जैसे, काठ का खम्भा (दृढ)।

प्रत्याख्यान माया—जैसे, चलते वैल की मूत्रधारा (वक्र)

होते हैं। हम उसके थोडे से पर्यायो को जानते हैं। उसके शेष पर्याय हमारे लिए अज्ञात रहते हैं। उन अज्ञात पर्यायो को ज्ञात करने का सशक्त साधन ध्यान है।

अतीन्द्रिय ज्ञानी मुनियो ने जिन सूक्ष्म द्रव्यो और पर्यायो का प्रतिपादन किया है, वे हमारी बुद्धि के लिए गम्य नही हैं। उन्हे जानने के लिए ध्यान का प्रयोग किया जाता था। उस ध्यान-पद्धति का नाम है—धर्म्य ध्यान।

धर्म्य ध्यान वस्तु-सत्य तक पहुचने की आन्तरिक प्रक्रिया है। किन्तु आज वह परिभापा के बन्धन मे जकडी हुई है। उसे मुक्त किए विना हम जैनो की ध्यान-पद्धति का मर्म नही जान सकेंगे।

जैन आगमो मे बहुत सारी बातें सूत्ररूप मे लिखित हैं। हजारो वर्षों के व्यवधान के कारण उनका सम्यग् ग्रहण नही हो पाता। प्राय उनका स्थूल कलेवर ही हाथ लगता है।

दूसरी बात यह है कि सूत्रकारो और व्याख्याकारो की शैली की विशिष्टता को समझे बिना हम उनके प्रतिपाद्य का आशय नही समझ सकते।

सूत्र-रचना की एक शैली यह है कि उसमे व्यापक तत्त्व एक उदाहरण के द्वारा निरूपित किया जाता है। हम लोग उसका अर्थ उतना ही समझ लेते हैं जितना उस उदाहरण मे समाता है। हम इस तथ्य को भूल जाते हैं कि यह वस्तु की पूर्ण परिभापा नही है, किन्तु यह उसका एक उदाहरण है। ध्यानविपयक अज्ञान का भी यह एक मुख्य हेतु है।

धर्म्य ध्यान के चार सोपान है—

१ आज्ञाविचय।

२ अपायविचय।

३ विपाकविचय।

४ सस्थानविचय।

व्याख्याओ मे इनके उदाहरणात्मक अर्थ मिलते हैं, जैसे—

आज्ञाविचय—वीतराग की आज्ञा का निर्णय करना।

अपायविचय—कपाय आदि दोषो का निर्णय करना।

विपाकविचय—कर्म के परिणामो का निर्णय करना।

सस्थानविचय—लोक के आकार का निर्णय करना।

इन उदाहरणात्मक अर्थों को हम सीमित अर्थ मे समझते हैं। फलत हमारी ध्यान-पद्धति का हृदय पकड मे नही आता।

वनस्पति सजीव है—यह शास्त्रो मे लिखा है। वनस्पति के जीव हमारी दृष्टि मे नही आते। हम क्या करे ? इस शास्त्रीय सत्य को स्वीकारें या नकारें ? नकारने का साहस वही कर सकता है, जो सत्य की अनन्त-धर्मा अभिव्यक्तियो से

होते हैं।[1] जैसे सवर आस्रव का प्रतिपक्ष है वैसे ही निर्जरा वध का प्रतिपक्ष है। आस्रव का सवर और बन्ध की निर्जरा होती है। उससे आत्मा का परिमित स्वरूपोदय होता है। पूर्ण सवर और पूर्ण निर्जरा होते ही आत्मा का पूर्णोदय हो जाता है—मोक्ष हो जाता है।

निर्जरा का हेतु तप है। उसके वाह्य अग ये हैं—

१ अनशन।
२ आहार-सयम।
३ आसन-प्रयोग।
४ इन्द्रिय-सयम।

उसके आन्तरिक अग ये हैं—

१ प्रायश्चित्त।
२ विनय।
३ सेवा।
४ कायोत्सर्ग
५ स्वाध्याय।
६ ध्यान।

ध्यान

विगत कुछ शताब्दियो मे जैन परम्परा मे ध्यान का क्रम विच्छिन्न जैसा हो गया। क्यो हुआ ? इसकी चर्चा मे मुझे नही जाना है। किन्तु वह हो गया, यह सचाई है। अभ्यास की धारा टूटने के कारण हमारे अनेक जैन पडित यह मानने लग गए कि जैनो की अपनी कोई ध्यान-पद्धति नही है। वे ध्यानाभ्यास के लिए पतजलि आदि योगाचार्यों के ऋणी हैं। किसी आचार्य या किसी पद्धति का जो ऋण है, उसे स्वीकार करना वहुत अच्छी वात है, किन्तु आत्मविस्मृति अच्छी वात नही है।

भगवान् महावीर ध्यान-युक्त तपस्या के वल पर ही केवली हुए थे। अन्य जितने भी मुनि केवली वने, वे सव ध्यान के वल पर ही वने थे। फिर ध्यानाभ्यास की पद्धति दूसरो के अनुदान से प्राप्त है, यही क्यो माना जाए ?

जैन मुनि सत्य की खोज के लिए ध्यान करते थे। उनका ध्यान दो श्रेणियो मे विभक्त था—

१ धर्म्य।
२ शुक्ल।

धर्म्य का अर्थ है वस्तु का स्वभाव। वस्तु मे अनन्त धर्म होते हैं, अनन्त पर्याय

---

१ जैन सिद्धान्त दीपिका, ६।२९, ३६।

मैं परिवर्तन का हेतु नही हू ।

इन अमूर्त सत्ताओ का निषेध करने पर जो शेष रहता है, वह है—चैतन्य ।

'मैं चैतन्यमय हू ।'

आत्मा के वैभाविक पर्यायो से उसकी भिन्नता का ध्यान करना—

मैं क्रोध नही हू, मान नही हू, माया नही हू, लोभ नही हू, भय नही हू, घृणा नही हू, वासना नही हू, अज्ञान नही हू, मिथ्यात्व नही हू ।

मैं शुद्ध चैतन्यमय हू ।

महर्षि रमण इस अपाय-पद्धति को बहुत महत्त्व देते थे। उनका क्रम यह था—

मैं कौन हू ? सप्तधातुओ का बना हुआ स्थूल शरीर मैं नही हू । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध—इन पचविषयो को ग्रहण करने वाली कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये पाच ज्ञानेन्द्रिया भी मैं नही हू । वचन, गमन, दान, मलविसर्जन और आनद की पचविध क्रिया करनेवाली वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ—वे पाच कर्मेन्द्रिया भी मैं नही हू । श्वासादि पचक्रिया करने वाला प्राणादि वायुपचक भी मैं नही हू। सकल्प करनेवाला मन भी मैं नही हू। सब विषयो और वृत्तियो को छोडकर सिर्फ विषय-वासनाओ के सग मे रहने वाला अज्ञान भी मैं नही हू । इस प्रकार 'नेति नेति' अर्थात् 'मैं यह नही हू, मैं यह नही हू' ऐसा कहते-कहते उपरोक्त सब उपाधियो का निषेध करने के बाद जो एकमात्र चैतन्य शेष रहता है वही 'मैं' हू ।'[1]

पुद्गलो के गुण-धर्मों का विश्लेषण करने की वैज्ञानिक पद्धति अपाय-पद्धति है। वैज्ञानिक पद्धति यन्त्रो के सहारे चलती है और ध्यान-पद्धति आन्तरिक विकास के सहारे चलती है। मन का केन्द्रीकरण दोनो मे अपेक्षित होता है।

विपाकविचय के ध्यान-काल मे पदार्थों के परिणामो पर मन केन्द्रित किया जाता है। केवल कर्मों के विपाको पर मन का स्थिरीकरण ही विपाकविचय नही है। इसे एक उदाहरण ही कहा जा सकता है।

सस्थानविचय—ध्यान-पद्धति के द्वारा ध्यानी मुनि पदार्थों के लक्षण, सस्थान (आकृति-रचना), आधार, विधान, प्रमाण, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि अनेक पर्यायो को जान लेते थे ।[2]

वर्ण, गध, रस, स्पर्श और सस्थान के विविध योगो से विविध वस्तुए निष्पन्न होती है। विभिन्न सस्थान के परमाणु भी वस्तु के स्वरूप को प्रभावित करते हैं। भगवती सूत्र मे वर्णित अनेक भग इसी तथ्य की ओर सकेत करते हैं। यह ज्ञान

---

१ मैं कौन हू ?, पृ० ५, ६

२ ध्यानशतक, ५२

अनभिज्ञ है। उसे स्वीकारना श्रद्धा का काम है।

एक चिन्तनशील बौद्धिक व्यक्ति इन दोनों मार्गों से चलना पसन्द नहीं करता। इस स्थिति मे वह ध्यान का सहारा लेकर इस समस्या को सुलझाता है। शास्त्रो मे जो सूक्ष्म पर्याय निरूपित हैं उन्हे वह पूर्व-मान्यता के रूप मे स्वीकार कर लेता है।

वनस्पति सजीव है—इसे पूर्व-मान्यता के रूप मे स्वीकार कर ध्यानी साधक अपने समग्र चिन्तन को उस पर केन्द्रित कर देता है। इस ध्यान का विषय प्रत्यक्ष ज्ञानी के द्वारा प्रतिपादित सत्यो मे से लिया जाता है, इसलिए इसे आज्ञाविचय कहा गया।

आज्ञा का सम्बन्ध केवल वीतराग या केवली से ही क्यो ? आयुर्वेद के आचार्य ने कहा—गुड कफ-कारक है और सूठ पित्त-कारक। ध्यान द्वारा इसके प्रामाण्य को जानना क्या आज्ञाविचय नही है ? क्या वैज्ञानिको के अनेक आविष्कारो का ध्यान द्वारा प्रामाण्य जानना आज्ञाविचय नही है ? परोक्ष पर्याय की यथार्थता का बोध करने के लिए किसी शास्त्र या व्यक्ति के निर्देश को आलम्बन बनाकर उसमे मन को केन्द्रित करना आज्ञाविचय है।

अपायविचय विश्लेषणात्मक पद्धति का ध्यान है। वस्तु की वास्तविकता जानने के लिए उसकी मौलिक सत्ता तक पहुचना आवश्यक है। यह विश्व सपर्कों और सम्मिश्रणो से सकुल है। सत्य के शोधक सपर्कों का विश्लेपण करते-करते वस्तु की शुद्ध सत्ता को प्राप्त कर लेते हैं।

आत्म-ध्यान की अपाय-पद्धति का निर्देश आचाराग सूत्र (१।५।६) मे बहुत सुन्दर मिलता है—

मैं कौन हू ? इस प्रश्न के सन्दर्भ मे उसे इस भाषा मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

मैं शब्द नही हू, रूप नही हू, गध नही हू, रस नही हू, स्पर्श नही हू।

मैं दीर्घ नही हू, ह्रस्व नही हू।

मैं वृत्त नही हू, त्रिकोण नही हू, चतुष्कोण नही हू, परिमडल नहीं हू।

मैं शरीर नही हू, वाणी नहीं हू, मन नहीं हू।

मैं इन्द्रिय नही हू, प्राण नही हू, श्वास-उच्छ्वास नही हू।

मैं अरूपी सत्ता हू।

इस अपाय-पद्धति मे ध्याता का ध्यान मूर्त से अमूर्त की भूमिका मे चला जाता है। इससे आगे आत्मा का अमूर्त द्रव्यो से अपाय करना होता है—

'मैं कौन हू ?'—

मैं गतिसहायक द्रव्य नही हू।

मैं स्थितिसहायक द्रव्य नही हू।

मैं अवकाश देने वाला द्रव्य नहीं हू।

अग्नि की शिखा स्वभाव-सिद्ध लाघव के कारण ऊपर को जाती है। इसी प्रकार अकर्म-जीव की ऊर्ध्व गति के चार कारण हैं—

१ पूर्व-प्रयोग।
२ असगता।
३. वन्ध-विच्छेद।
४ तथाविध-स्वभाव।[1]

मुक्ति दशा मे आत्मा का किसी दूसरी शक्ति मे विलय नही होता। वह किसी दूसरी सत्ता का अवयव या विभिन्न अवयवो का सघात नही, वह स्वय स्वतन्त्र सत्ता है। उसके प्रत्येक अवयव परस्पर अनुविद्ध हैं। इसलिए वह स्वय अखड है। उसका सहज रूप प्रकट होता है—यही मुक्ति है। मुक्त जीवो की विकास की स्थिति मे भेद नही होता। किन्तु उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्वातन्त्र्य मोक्ष की स्थिति का वाधक नही है। अविकास या स्वरूपावरण उपाधिजन्य होता है, इसलिए कर्म-उपाधि मिटते ही वह मिट जाता है—सव मुक्त आत्माओ का विकास और स्वरूप समकोटिक हो जाता है। आत्मा की जो पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है वह उपाधिकृत नही है, वह सहज है, इसलिए किसी भी स्थिति मे उनकी स्वतन्त्रता पर कोई आच नही आती। आत्मा अपने आप मे पूर्ण अवयवी है, इसलिए उसे दूसरो पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नही होती।

मुक्त-दशा मे आत्मा समस्त वैभाविक-आधेयो, औपाधिक विशेषतताओ से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नही होता। उस (पुनरावर्तन) का हेतु कर्म-चक्र है। उसके रहते हुए मुक्ति नही होती। कर्म का निर्मूल नाश होने पर फिर उसका वध नही होता। कर्म का लेप सकर्म के होता है। अकर्म कर्म से लिप्त नही होता।

ईश्वर

जैन ईश्वरवादी नही—बहुतो की ऐसी धारणा है। वात ऐसी नही है। जैन दर्शन ईश्वरवादी अवश्य है, ईश्वरकर्तृत्ववादी नही। ईश्वर का अस्वीकार अपने पूर्ण-विकास (चरमलक्ष्य या मोक्ष) का अस्वीकार है। मोक्ष का अस्वीकार अपनी पवित्रता (धर्म) का अस्वीकार है। अपनी पवित्रता का अस्वीकार अपने आप (आत्मा) का अस्वीकार है। आत्मा साधक है। धर्म साधन है। ईश्वर साध्य है। प्रत्येक मुक्त आत्मा ईश्वर है। मुक्त आत्माए अनन्त है, इसलिए ईश्वर

---

१ भगवती, ७।१।२६५
निस्सगयाए निरगणाए गतिपरिणामेण वधणछेयणाए
निरिंधणयाए पुव्वप्पओगेण अकम्मस्स गती पन्नायति।

सूत्रकारो को ध्यान-वल से प्राप्त हुआ था।

निर्वाण—मोक्ष

गौतम ने पूछा—भते ! मुक्त जीव कहा रुकते हैं ? वे कहा प्रतिष्ठित हैं ? वे शरीर कहा छोड़ते हैं और सिद्ध कहा होते हैं ?

भगवान् ने कहा—मुक्त जीव अलोक से प्रतिहत हैं, लोकात मे प्रतिष्ठित हैं, मनुष्य-लोक मे शरीर-मुक्त होते हैं और सिद्धि-क्षेत्र मे वे सिद्ध होते हैं।[1]

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नही, मुक्त आत्माए ही निर्वाण हैं। वे लोकाग्र मे रहती हैं, इसलिए उपचार-दृष्टि से उसे भी निर्वाण कहा जाता है।

कर्म-परमाणुओ से प्रभावित आत्मा ससार मे भ्रमण करती है। भ्रमण-काल मे ऊर्ध्वगति से अधोगति और अधोगति से ऊर्ध्वगति होती है। उसका नियमन कोई दूसरा व्यक्ति नही करता। यह सब स्वनियमन से होता है। अधोगति का हेतु कर्म की गुरुता और ऊर्ध्वगति का हेतु कर्म की लघुता है।[2]

कर्म का घनत्व मिटते ही आत्मा सहज गति से ऊर्ध्व लोकान्त तक चली जाती है। जव तक कर्म का घनत्व होता है, तव तक लोक का घनत्व उस पर दवाव डालता है। ज्यो ही कर्म का घनत्व मिटता है, आत्मा हलकी होती है, फिर लोक का घनत्व उसकी ऊर्ध्व-गति मे वाधक नही वनता। गुब्बारे मे हाइड्रोजन भरने पर वायुण्डल के घनत्व से उसका घनत्व कम हो जाता है, इसलिए वह ऊचा चला जाता है। वही वात यहा समझिए। गति का नियमन धर्मास्तिकाय-सापेक्ष है।[3] उसकी समाप्ति के साथ ही गति समाप्त हो जाती है। वे मुक्त जीव लोक के अन्तिम छोर तक चले जाते हैं।

मुक्तजीव अशरीर होते हैं। गति शरीर-सापेक्ष है, इसलिए वे गतिशील नही होने चाहिए। वात सही है। उनमे कम्पन नही होता। अकम्पित-दशा मे जीव की मुक्ति होती है।[4] और वे सदा उसी स्थिति मे रहते हैं। सही अर्थ मे वह उनकी स्वय-प्रयुक्त गति नही, वन्धन मुक्ति का वेग है, जिसका एक ही धक्का एक क्षण मे उन्हें लोकान्त तक ले जाता है।

पूर्व-आयोगजनित वेग के कारण चक्र स्वय घूमता है। मिट्टी से लिपी हुई तुम्बी जल-तल मे चली जाती है। लेप उतरते ही वह ऊपर आ जाती है। एरण्ड का वीज फली मे वधा रहता है, किन्तु वध टूटते ही ऊपर उछलता है।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ३६।५६,५७

२ भगवती, ६।३२

३ द्रव्यानुयोगतर्कणा, १०।६

४ भगवती, ३।३

की दृष्टि से यह अपक्रान्ति का स्थान है। मिथ्यादर्शनी व्यक्ति मे भी विशुद्धि होती है। ऐसा कोई जीव नही जिसमे कर्म-विलयजन्य विशुद्धि का अश न मिले।

दूसरी भूमिका अपक्रमण दशा की है। सम्यग्दर्शनी मोह के उदय से मिथ्या-दर्शनी बनता है। उस सक्रमण-काल मे यह स्थिति बनती है। पेड से फल गिर गया और ज़मीन को न छू पाया—ठीक यही स्थिति इसकी है।

तीसरी भूमिका मिश्र हे। इसका अधिकारी न सम्यग्-दर्शनी होता है और न मिथ्या-दर्शनी। यह सशयशील व्यक्ति की दशा है। पहली भूमिका का अधिकारी दृष्टि-विपर्यय वाला होता है और इसका अधिकारी सशयालु—यह दोनो मे अन्तर है। यह दोलायमान दशा अधिक नही टिकती। फिर वह या तो विपर्यय मे परिणित हो जाती है या सम्यग्-दर्शन मे। इन आध्यात्मिक अनुत्क्रमण की तीनो भूमिकाओ मे दीर्घकालीन भूमिका पहली ही है, शेप दो अल्पकालीन हैं।

सम्यग्-दर्शन

सम्यग्-दर्शन उत्क्रान्ति का द्वार हे, इसीलिए यह वहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार की दृष्टि से इसका उतना महत्त्व नही, जितना कि इससे अगली भूमिकाओ का है। सम्यग्-दर्शनी के सवर नही होता। उसके केवल निर्जरा होती है। इसे हस्ति-स्नान के समान बताया गया है। हाथी नहाता है और तालाव से वाहर आ धूल या मिट्टी उछाल फिर उससे गन्दला वन जाता है। वैसे ही अविरत-व्यक्ति इधर तपस्या द्वारा कर्म-निर्जरण कर शोधन करते है और उधर अविरति तथा सावद्य आचरण से फिर कर्म का उपचय कर लेते हैं। इस प्रकार यह साधना की समग्र भूमिका नही है।

साधना की समग्रता को रथ-चक्र और अन्ध-पगु के निदर्शन के द्वारा समझाया है। जैसे एक पहिए से रथ नही चलता, वैसे ही केवल विद्या (श्रुत या सम्यग् दर्शन) से साध्य नही मिलता। विद्या पगु है, क्रिया अन्धी। साध्य तक पहुचने के लिए पैर और आख दोनो चाहिए।

कुछ दार्शनिक कहते हैं—तत्त्वो को सही रूप मे जवानेवाला सव दु खो से छूट जाता है। ऐसा सोच कई व्यक्ति धर्म का आचरण नही करते। वे एकान्त अक्रियावादी वन जाते हैं। भगवान् महावीर ने इसे वाणी का वीर्य या वाचनिक आश्वासन कहा है।[1]

सम्यग्-दृष्टि के पाप का वन्ध नही होता या उसके लिए कुछ करना शेप नही रहता—ऐसी मिथ्या धारणा न वने, इसीलिए चतुर्थ भूमिका के अधिकारी को अधर्मी,[2] वाल[3] और सुप्त कहा है।[4]

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ६।९, १०। २ भगवती, १७।२।
३ सूयगडो, १।२।२।३६। ४ भगवती, १६।६।

अनन्त है।

एक ईश्वर कर्त्ता और महान्, दूसरी मुक्तात्माए अकर्त्ता और इसलिए अमहान् कि वे उस महान् ईश्वर मे लीन हो जाती हैं—यह स्वरूप और कार्य की भिन्नता निरूपाधिक दशा मे हो नही सकती। मुक्त आत्माओ की स्वतन्त्र सत्ता को इसलिए अस्वीकार करने वाले कि स्वतन्त्र सत्ता मानने पर मोक्ष मे भी भेद रह जाता है, एक निरूपाधिक सत्ता को अपने मे विलीन करनेवाली और दूसरी निरूपाधिक सत्ता को उसमे विलीन होनेवाली मानते हैं—क्या यह निर्हेतुक भेद नही ? मुक्त दशा मे समान-विकासशील प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार वस्तु-स्थिति का स्वीकार है।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द—यह मुक्त आत्मा का स्वरूप या ऐश्वर्य है। यह सबमे समान होता है।

आत्मा सोपाधिक (शरीर और कर्म की उपाधि सहित) होती है, तब उसमे पर-भाव का कर्तृत्व होता है। मुक्त-दशा निरुपाधिक है। उसमे केवल स्वभाव-रमण होता है, पर-भाव-कर्तृत्व नही। इसलिए ईश्वर मे कर्तृत्व का आरोप करना उचित नही।

अध्यात्म विकास की भूमिकाए

विशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा चौदह भूमिकाए होती हैं। उनमे सम्यग्-दर्शन चौथी भूमिका है। उत्क्रान्ति का आदि-बिन्दु होने के कारण यह साधना की पहली भूमिका है।

पहली तीन भूमिकाओ मे प्रथम भूमिका के तीन रूप बनते हैं—

१ अनादि-अनन्त।

२ अनादि-सान्त।

३ सादि-सान्त।

प्रथम रूप के अधिकारी अभव्य या जाति-भव्य (कभी भी मुक्त न होनेवाले) जीव होते हैं।

दूसरा रूप उनकी अपेक्षा से बनता है जो अनादिकालीन मिथ्यादर्शन की गाठ को तोडकर सम्यग्-दर्शनी बन जाते हैं।

सम्यक्त्वी बन फिर से मिथ्यात्वी हो जाते हैं और फिर सम्यक्त्वी—ऐसे जीवों की अपेक्षा से तीसरा रूप बनता है।

पहली भूमिका उत्क्रान्ति की नही है। इस दशा मे शील की देश-आराधना हो सकती है।[1] शील और श्रुत—दोनो की आराधना नही, इसलिए सब आराधना

---

१ भगवती, ८।१०।३५४

तब कथनी-करनी की एकता नही आती। उसके बिना ज्ञान और क्रिया का सामजस्य नही होता। इनके असामजस्य मे पूजा-प्रतिष्ठा की भूख होती है। जहा यह होती है, वहा विषय का आकर्षण होता है। विषय की पूर्ति के लिए चोरी होती है। चोरी झूठ लाती है और झूठ से प्राणातिपात आता है। साधना की कमी या मोह की प्रबलता मे ये विकार एक ही श्रृखला से जुडे रहते हैं। अप्रमत्त या वीतराग मे ये सातो विकार नही होते।

देश-विरति

भगवान् ने कहा—गौतम! सत्य की श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यावादियो के सग मे ही लीन रहते हैं। उन्हे सत्य-श्रुति का अवसर नही मिलता। श्रद्धा सत्य-श्रुति से भी दुर्लभ है। बहुत सारे व्यक्ति सत्याश सुनते हुए भी, जानते हुए भी उस पर श्रद्धा नही करते। वे मिथ्यावाद मे ही रचे-पचे रहते है। सत्य का आचरण श्रद्धा से भी दुर्लभ है। सत्य की जानकारी और श्रद्धा के उपरान्त भी काम-भोग की मूर्च्छा छूटे बिना सत्य का आचरण नही होता। तीव्रतम-कषाय के विलय से सम्यक्-दर्शन की योग्यता आ जाती है। किन्तु तीव्रतर कषाय के रहते हुए चारित्रिक योग्यता नही आती। इसीलिए श्रद्धा से चारित्र का स्थान आगे है। चरित्रवान् श्रद्धा-सम्पन्न अवश्य होता है किन्तु श्रद्धावान् चरित्र-सम्पन्न होता भी है और नही भी। यही इस भूमिका भेद का आधार है। पाचवी भूमिका चारित्र की है। इसमे चरित्राश का उदय होता है। यह सवर का प्रवेश-द्वार है।

चारित्रिक योग्यता एक-रूप नही होती। उसमे असीम तारतम्य होता है। विस्तार-दृष्टि से चारित्र-विकास के अनन्त स्थान है। सक्षेप मे उसके वर्गीकृत स्थान दो है—१ अपूर्ण-चरित्र और पूर्ण-चरित्र। पाचवी भूमिका अपूर्ण-विरति की है। यह गृहस्थ का साधना-क्षेत्र है।

जैनागम गृहस्थ के लिए बारह व्रतो का विधान करते है। अहिसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और इच्छा-परिमाण—ये पाच अणुव्रत है। दिग्-विरति, भोगोपभोग-विरति और अनर्थ-दण्ड-विरति—ये तीन गुणव्रत है। सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथि-सविभाग—ये चार शिक्षाव्रत है।

बहुत लोग दूसरो के अधिकार या स्वत्व को छीनने के लिए, अपनी भोगसामग्री को समृद्ध करने के लिए एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे जाया करते है। इसके साथ शोषण या असयम की कडी जुडी हुई है। असयम को खुला रखकर चलनेवाला स्वरूप अणुव्रती नही हो सकता। दिग्व्रत मे सार्वभौम आर्थिक राजनीतिक तथा अन्य सभी प्रकार के आक्रमण की भावना है। भोग-उपभोग की घुलावट और प्रमाद-जन्य भूलो से बचने के लिए सातवा और आठवा व्रत किया गया है।

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति ।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति ॥"

"धर्म को जानता हू, पर उसमे प्रवृति नही है, अधर्म को भी जानता हू पर उससे निवृत्ति नही है।"—यह एक वहुत वडा तथ्य है। इसका पुनरावतन प्रत्येक जीव मे होता है। यह प्रश्न अनेक मुखो से मुखरित होता रहता है कि "क्या कारण है, हम बुराई को बुराई जानते हुए भी छोड़ नही पाते ?" जैन कर्मवाद इसका कारण के साथ समाधान प्रस्तुत करता है। वह यह है—जानना ज्ञान का कार्य है। ज्ञान 'ज्ञानावरण' के पुद्गलो का विलय होने पर प्रकाशमान होता है। सही विश्वास होना श्रद्धा है। वह दर्शन को मोहनेवाले पुद्गलो के अलग होने पर प्रकट होती है। अच्छा आचरण करना—यह चारित्र को मोहनेवाले पुद्गलो के दूर होने पर सम्भव होता है।

ज्ञान के आवारक पुद्गलो के हट जाने पर भी दर्शन-मोह के पुद्गल आत्मा पर छाए हुए हो तो वस्तु जान ली जाती है, पर विश्वास नही होता। दर्शन को मोहनेवाले पुद्गल त्रिखर जाए, तव उस पर श्रद्धा वन जाती है। पर चारित्र को मोहनेवाले पुद्गलो के होते हुए उसका स्वीकार (या आचरण) नही होता। इस दृष्टि से इनका क्रम यह वनता है—(१) ज्ञान, (२) श्रद्धा, (३) चारित्र। ज्ञान श्रद्धा के विना भी हो सकता है, पर श्रद्धा उसके विना नही होती। श्रद्धा चारित्र के विना भी हो सकती है, पर चारित्र उसके विना नही होता। अत वाणी और कर्म का द्वैध (कथनी और करनी का अन्तर) जो होता है, वह निष्कारण नही है। जैसे-जैसे साधना आगे वढती है, चारित्र का भाव प्रकट होता है, वैसे-वैसे द्वैध की खाई पटती जाती है पर वह छद्मस्थ-दशा मे पूरी नही पटती।

छद्मस्थ की मनोदशा का विश्लेषण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"छद्मस्थ सात कारणो से पहचाना जाता है—

१ वह प्राणातिपात करता है।
२ मृपावादी होता है।
३ अदत्त लेता है।
४ शव्द, स्पर्श, रस, रूप और गध का आस्वाद लेता है।
५ पूजा, सत्कार की वृद्धि चाहता है।
६ पापकारी कार्य को पापकारी कहता हुआ भी उसका आचरण करता है।
७ जैसा कहता है, वैसा नही करता।'[1]

यह प्रमादयुक्त व्यक्ति की मन स्थिति का प्ररूपण है। मोह प्रवल होता है,

---

१ ठाण, ७।२८।

अपेक्षा से हिंसक होता है।

श्रेणी-आरोह

आठवी भूमिका का आरम्भ अपूर्व-करण से होता है। पहले कभी न आया हो, वैसा विशुद्ध भाव आता है, आत्मा 'गुण-श्रेणी' का आरोह करने लगता है। आरोह की श्रेणिया दो हैं—उपशम और क्षपक। मोह को उपशान्त कर आगे वढनेवाला ग्यारहवी भूमिका मे पहुच मोह को सर्वथा उपशान्त कर वीतराग वन जाता है। उपशम स्वल्पकालीन होता है, इसलिए मोह के उभरने पर वह वापस नीचे की भूमिकाओ मे आ जाता है। मोह को खपाकर आगे वढनेवाला वारहवी भूमिका मे पहुच वीतराग वन जाता है। क्षीण-मोह का अवरोह नही होता।

केवली

तेरहवी भूमिका सर्व-ज्ञान और सर्व-दर्शन की है। कर्म का मूल मोह है। सेनापति के भाग जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह के नष्ट होने पर शेष कर्म नष्ट हो जाते हैं। मोह के नष्ट होते ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय—ये तीनो कर्म-वन्धन टूट जाते है। आत्मा निरावरण और निरन्तराय वन जाता है। निरावरण आत्मा को ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है।

अयोग-दशा और मोक्ष

केवली के भवोपग्राही कर्म शेष रहते है। उन्ही के द्वारा शेष जीवन का धारण होता है। जीवन के अन्तिम क्षणो मे मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियो का निरोध होता है। यह निरोध दशा ही अन्तिम भूमिका है। इस काल मे वे शेष कर्म टूट जाते हैं। आत्मा मुक्त हो जाता है—आचार स्वभाव मे परिणत हो जाता है। साधन स्वय साध्य वन जाता है। ज्ञान की परिणति आचार और आचार की परिणति मोक्ष है और मोक्ष ही आत्मा का स्वभाव है।

महाव्रत और अणुव्रत

सत्य आदि जितने व्रत हैं, वे सव अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं।[1] काव्य की भाषा में—"अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करनेवाली वाडें हैं।"[2] "अहिंसा

---

१ पचसग्रह

एक्क चिय एक्कवय, निद्दिट्ठ जिणवरेहि सव्वेहि।
पाणाइवायविरमण सव्वसत्तस्स रक्खट्ठा॥

२ हारिभद्रीयअष्टक, १६।५

अहिंसाशस्यसरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्।

ये तीनो व्रत अणुव्रतो के पोषक हैं, इसलिए इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

धर्म समतामय है। राग-द्वेष विषमता है। समता का अर्थ है—राग-द्वेष का अभाव। विषमता है राग-द्वेष का भाव। समभाव की आराधना के लिए सामायिक व्रत है। एक मुहूर्त तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक व्रत है।

समभाव की प्राप्ति का साधन जागरूकता है। जो व्यक्ति पल-पल जागरूक रहता है, वही समभाव की ओर अग्रसर हो सकता है। पहले आठ व्रतो की सामान्य मर्यादा के अतिरिक्त थोडे समय के लिए विशेष मर्यादा करना, अहिंसा आदि की विशेष साधना करना देशावकाशिक व्रत है।

पोषधोपवास-व्रत साधु-जीवन का पूर्वाभ्यास है। उपवासपूर्वक सावद्य प्रवृत्ति को त्याग, समभाव की उपासना करना पोषधोपवास व्रत है।

महाव्रती मुनि को अपने लिए बने हुए आहार का सविभाग देना अतिथि-सविभाग-व्रत है।

चारो व्रत अभ्यासात्मक या बार-बार करने योग्य हैं, इसलिए इन्हे शिक्षाव्रत कहा गया।

ये बारह व्रत हैं। इनके अधिकारी को देशव्रती श्रावक कहा जाता है।

छठी भूमिका से लेकर अगली सारी भूमिकाए मुनि-जीवन की हैं।

सर्व-विरति

यह छठी भूमिका है। इसका अधिकारी महाव्रती होता है। महाव्रत पाच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। रात्रि-भोजन-विरति छठा व्रत है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार भगवान् ऋषभ देव और भगवान् महावीर के समय मे रात्रि-भोजन को मूल गुण माना जाता था। इसलिए इसे महाव्रत के साथ व्रत रूप मे रखा गया है। शेष बाईस तीर्थंकरो के समय यह उत्तर-गुण के रूप मे रहता आया है। इसलिए इसे अलग व्रत का रूप नही मिलता।

जैन परिभाषा के अनुसार व्रत या महाव्रत मूल गुणो को कहा जाता है। उनके पोषक गुण उत्तर गुण कहलाते हैं। उन्हे व्रत की सज्ञा नही दी जाती। मूलगुण की मान्यता मे परिवतन होता रहा है—धर्म का निरूपण विभिन्न रूपो मे मिलता है।

अप्रमाद

यह सातवी भूमिका है। छठी भूमिका का अधिकारी प्रमत्त होता है—उसके प्रमाद की सत्ता भी होती है और वह कही-कही हिंसा भी कर लेता है। सातवी का अधिकारी प्रमादी नही होता, सावद्य प्रवृत्ति नही करता। इसलिए अप्रमत्त-सयति अहिंसक और प्रमत्त-सयति शुभयोग की अपेक्षा से अहिंसक और अशुभयोग की

की ओर गति दोनो हैं।

निश्चय-दृष्टि यह है—हिंसा से आत्मा का पतन होता है, इसलिए यह अकरणीय है।

व्यवहार-दृष्टि यह है—सभी प्राणियो को अपनी-अपनी आयु प्रिय है। सुख अनुकूल है। दु ख प्रतिकूल है। वध सवको अप्रिय है। जीना सवको प्रिय है। सव जीव लम्बे जीवन की कामना करते है। सभी को जीवन प्रिय लगता है।

यह सब समझकर किसी जीव की हिंसा नही करनी चाहिए।

किसी जीव को त्रास नही पहुचाना चाहिए।[1]

किसी के प्रति वैर और विरोध-भाव नही रखना चाहिए।[2]

सव जीवो के प्रति मैत्री-भाव रखना चाहिए।[3]

हे पुरुप! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही सुख-दु ख का अनुभव करनेवाला प्राणी है, जिस पर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे दु ख देने का विचार करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है, जिसे अपने वश करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है, जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है।[4]

मृषावाद-विरति दूसरा महाव्रत है। इसका अर्थ है—असत्य-भापण से विरत होना।

अदत्तादान विरति तीसरा महाव्रत है। इसका अर्थ है विना दी हुई वस्तु लेने से विरत होना। मैथुन-विरति चौथा महाव्रत है। इसका अर्थ है—भोग-विरति। पाचवा महाव्रत अपरिग्रह है। इसका अर्थ है—परिग्रह का त्याग। मुनि मृपावाद आदि का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है, इसलिए स्वीकृति निम्न शब्दो मे करता है।

भते! मै उपस्थित हुआ हू—दूसरे महाव्रत मे मृपावाद-विरति के लिए। भते! मैं सव प्रकार के मृपावाद का प्रत्याख्यान करता हू। क्रोध, लोभ, भय और हास्यवश—मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वय मृषा न वोलूगा, न दूसरो से वुलवाऊगा और न बोलनेवाले का अनुमोदन करूगा। जीवन-पर्यन्त मैं मृपावाद से विरत होता हू।

भते! मैं उपस्थित हुआ हू—तीसरे महाव्रत मे अदत्तादान-विरति के लिए। भते! मैं सव प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हू। गाव, नगर या अरण्य मे अल्प या वहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त अदत्तादान-मनसा, वाचा, कर्मणा

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २।२० न य वित्तासए पर।

२ सूयगडो, १।१।१५।१३ न विरुज्झेज्ज केणई।

३ उत्तरज्झयणाणि, ६।२ मेत्ति भूएसु कप्पए।

४, आयारो, ५।१०१।

मुमुक्षु मुक्ति के अग्रगामी हैं[1]। ब्रह्मचर्य के भग्न होने पर सारे व्रत टूट जाते हैं।[2]

ब्रह्मचर्य जितना श्रेष्ठ है उतना ही दुष्कर है।[3] इस आसक्ति को तरनेवाला महासागर को तर जाता है।[4]

कहीं पहले दण्ड, पीछे भोग है, और कहीं पहले भोग, पीछे दण्ड है—ये भोग संगकारक हैं।[5] इन्द्रिय के विषय विकार के हेतु हैं किन्तु वे राग-द्वेष को उत्पन्न या नष्ट नहीं करते। जो रक्त और द्विष्ट होता है, वह उनका संयोग पा विकारी बन जाता है[6]। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए विकार के हेतु वर्जनीय हैं। ब्रह्मचारी की चर्या इस प्रकार होनी चाहिए—

१. एकान्तवास—विकार-वर्धक सामग्री से दूर रहना।
२. कथा-संयम—कामोत्तेजक वार्तालाप से दूर रहना।
३. परिचय-संयम—कामोत्तेजक सम्पर्कों से बचना।
४. दृष्टि-संयम—दृष्टि के विकार से बचना।
५. श्रुति-संयम—कर्ण-विकार पैदा करनेवाले शब्दों से बचना।
६. स्मृति-संयम—पहले भोगे हुए भोगों की याद न करना।
७. रस-संयम—पुष्ट-हेतु के बिना सरस पदार्थ न खाना।
८. अति-भोजन-संयम (मिताहार)—मात्रा और संख्या में कम खाना, बार-बार न खाना, जीवन-निर्वाह मात्र खाना।
९. विभूषा-संयम—शृङ्गार न करना।
१०. विषय-संयम—मनोज्ञ शब्दादि इन्द्रिय विषयों तथा मानसिक संकल्पों से बचना[7]।
११. भेद-चिन्तन—विकार-हेतुक प्राणी या वस्तु से अपने को पृथक् मानना।
१२. शीत और ताप सहन—ठंड में खुले बदन रहना, गर्मी में सूर्य का आतप लेना।
१३. सौकुमार्य-त्याग।
१४. राग-द्वेष के विलय का संकल्प करना।[8]
१५. गुरु और स्थविर से मार्गदर्शन लेना।

---

१ सूयगडो, १।१।१५।६ इत्थिओ जे ण सेवंति आइमोक्खा उ ते जणा।
२ प्रश्नव्याकरण, २।४।
३ उत्तरज्झयणाणि, ३२।१७ नयारिस दुत्तरमत्थि लोए।
४ वही, ३२।१८
५ आयारो, ४।८५ पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा।
६ उत्तरज्झयणाणि, ३२।१०१।
७ वही, १६।१०।
८ वही, ३२।२१।

मैं स्वय न लूगा, न दूसरो से लिवाऊगा और न लेनेवाले का अनुमोदन करूगा। जीवन-पर्यन्त मैं अदत्तादान से विरत होता हू।

भते! मैं उपस्थित हुआ हू—चौथे महाव्रत मे मैथुन-विरति के लिए।

भते! मैं सव प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हू। दिव्य, मनुष्य और तिर्यञ्च मैथुन का मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वय न सेवन करूगा, न दूसरो से सेवन करवाऊगा, न सेवन करनेवाले का अनुमोदन करूगा। जीवन-पर्यन्त मैं मैथुन से विरत होता हू।

भते! मैं उपस्थित हुआ हू—पाचवें महाव्रत परिग्रह विरति के लिए। भते! मैं सव प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हू। गाव, नगर या अरण्य मे अल्प या वहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त परिग्रह मनसा, वाचा, कमणा मैं स्वय न ग्रहण करूगा, न दूसरो से ग्रहण करवाऊगा, न ग्रहण करनेवाले का अनुमोदन करूगा। जीवन-पर्यन्त मैं परिग्रह से विरत होता हू।

भते! मैं उपस्थित हुआ हू—छठे व्रत रात्रि-भोजन-विरति के लिए। भते! मैं सव प्रकार के असन, पान, खाद्य और स्वाद्य को रात्रि मे खाने का प्रत्याख्यान करता हू। मनसा, वाचा, कमणा मैं स्वय रात के समय न खाऊगा, न दूसरो को खिलाऊगा, न खानेवाले का अनुमोदन करूगा। जीवन-पर्यन्त मैं रात्रि-भोजन से विरत होता हू।

गृहस्थ के मृपावाद आदि की स्थूल-विरति होती है, इसलिए वे अणुव्रत होते है। स्थूल-मृपावाद-विरति, स्थूल अदत्तादान-विरति, स्वदार-सन्तोप और इच्छा-परिमाण—ये उनके नाम हैं। महाव्रतो की स्थिरता के लिए पचीस भावनाए हैं। प्रत्येक महाव्रत की पाच-पाच भावनाए हैं।[1]

इनके द्वारा मन को भावित कर ही महाव्रतो की सम्यक् आराधना की जा सकती है।

पाच महाव्रतो मे मैथुन देह से अधिक सम्वन्धित है। इसलिए मैथुन-विरति की साधना के लिए विशिष्ट नियमो की रचना की गई है।

ब्रह्मचर्य का साधना-मार्ग

ब्रह्मचर्य भगवान् है।[2]

ब्रह्मचर्य सव तपस्याओ मे प्रधान है।[3] जिसने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली उसने सव व्रतो को आराध लिया।[4] जो अब्रह्मचर्य से दूर हैं—वे आदि-मोक्ष हैं।

---

१ आयारचूला, १५।४३-७८।

२ प्रश्नव्याकरण, २।४ वभ भगवत।

३ सूयगडो, १।१।६।२३ तवेसु वा उत्तम वभचेर।

४ प्रश्नव्याकरण, २।४ जमिय आराहियमि आराहिय वयमिण सव्व

के लिए साधना की पूर्णता चाहिए। वह एक प्रयत्न मे ही प्राप्त नही होती। ज्यो-ज्यो मोह का वन्धन टूटता है, त्यो-त्यो उसका विकास होता है। मोहात्मक वन्धन की तरतमता के आधार पर साधना के अनेक स्तर निश्चित किये गए हैं—

१ सुलभ-वोधि—यह पहला स्तर है। इसमे न तो साधना का ज्ञान होता है और न अभ्यास। केवल उसके प्रति एक अज्ञात अनुराग या आकर्पण होता है। सुलभ-वोधि व्यक्ति निकट भविष्य मे साधना का मार्ग पा सकता है।

२ सम्यग्-दृष्टि—यह दूसरा स्तर है। इसमे साधना का अभ्यास नही होता किन्तु उसका ज्ञान सम्यग् होता है।

३ अणुव्रती—यह तीसरा स्तर हे। इसमे साधना का ज्ञान और स्पर्श दोनो होते हैं। अणुव्रती के लिए चार विश्राम-स्थल वताए गए हैं—

रूपक की भापा मे—

क—एक भारवाहक वोझ से दवा जा रहा था। उसे जहा पहुचना था, वह स्थान वहा से वहुत दूर था। उसने कुछ दूर पहुच अपनी गठरी वाए से दाहिने कन्धे पर रख ली।

ख—थोडा आगे वढा और देह-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए गठरी नीचे रख दी।

ग—उसे उठा फिर आगे चला। मार्ग लम्वा था। वजन भी वहुत था। इस-लिए उसे एक सार्वजनिक स्थान मे विश्राम लेने को रुकना पडा।

घ—चौथी वार उसने अधिक हिम्मत के साथ उस भार को उठाया और वह ठीक वही जा ठहरा जहा उसे जाना था।

गृहस्थ के लिए—

(क) पाच शीलव्रतो का और तीन गुणव्रतो का पालन एवं उपवास करना पहला विश्राम है।

(ख) सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत लेना दूसरा विश्राम है।

(ग) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौपध करना तीसरा विश्राम है।

(घ) अन्तिम मारणातिक-सलेखना करना चौथा विश्राम है।

४ प्रतिमा-धर—यह चौथा स्तर है। प्रतिमा का अर्थ अभिग्रह या प्रतिज्ञा है। इसमे दर्शन और चारित्र दोनो की विशेप शुद्धि का प्रयत्न किया जाता है।

५ प्रमत्त-मुनि—यह पाचवा स्तर है। यह सामाजिक जीवन से पृथक् केवल साधना का जीवन है।

६ अप्रमत्त-मुनि—यह छठा स्तर है। प्रमत्त-मुनि साधना मे स्खलित भी हो जाता है किन्तु अप्रमत्त-मुनि कभी स्खलित नही होता। अप्रमाद-दशा मे वीतराग भाव आता है, केवलज्ञान होता है।

१६. अज्ञानी या आसक्त का संग-त्याग करना।
१७ स्वाध्याय में लीन रहना।
१८ ध्यान में लीन रहना।
१९ सूत्रार्थ का चिन्तन करना।
२० धैर्य रखना, मानसिक चंचलता होने पर निराश न होना।[1]
२१ शुद्ध आहार—निर्दोष और मादक वस्तु-वर्जित आहार।
२२ कुशल साथी[2] का सम्पर्क।
२३ विकारपूर्ण सामग्री का अदर्शन, अप्रार्थन, अचिन्तन, अकीर्तन।[3]
२४ काय-क्लेश—आसन करना, गात्रसज्जा न करना।
२५ ग्रामानुग्राम-विहार—एक जगह अधिक न रहना।
२६ रूखा भोजन—रूखा आहार करना।
२७ अनशन—यावज्जीवन आहार का परित्याग कर देना।[4]
२८ विषय की नश्वरता का चिन्तन करना।[5]
२९ इन्द्रिय का बहिर्मुखी व्यापार न करना।[6]
३० भविष्य-दर्शन—भविष्य में होने वाले विपरिणाम को देखना।[7]
३१ भोग में रोग का संकल्प करना।[8]
३२ अप्रमाद—सदा जागरूक रहना—जो व्यक्ति विकार-हेतुक सामग्री को उच्च मान उसका सेवन करने लगता है, उसे पहले ब्रह्मचर्य में शंका उत्पन्न होती है, फिर क्रमश आकांक्षा (कामना), विचिकित्सा (फल के प्रति सन्देह), द्विविधा, उन्माद और ब्रह्मचर्य-नाश हो जाता है।[9]

इसलिए ब्रह्मचारी को पल-पल सावधान रहना चाहिए। वायु जैसे अग्नि-ज्वाला को पार कर जाता है वैसे ही जागरूक ब्रह्मचारी काम-भोग की आसक्ति को पार कर जाता है।

साधना के स्तर

धर्म की आराधना का लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति। मोक्ष पूर्ण है। पूर्ण की प्राप्ति

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ३२।३।
२, ३ वही, ३२।४, १५
४ आयारो, ५।८३ अवि आहारं वोच्छिदेज्जा।
५ दसवेआलियं, ८।५९।
६ उत्तरज्झयणाणि, ३२।१२।
७ सूयगडो, १।१।३।४।१४।
८ वही, १।१।२।३।२।
९ देखें—उत्तरज्झयणाणि, अध्ययन १६।

भगवान् ने पूछा—आयुष्यमन् श्रमणो ! जीव किससे डरते हैं ?

गौतम आदि श्रमण निकट आये, वन्दना की, नमस्कार किया। विनम्र भाव से बोले—भगवन् ! हम नही जानते, इस प्रश्न का क्या तात्पर्य है ? देवानुप्रिय को कष्ट न हो तो भगवान् कहे। हम भगवान् के पास से यह जानने को उत्सुक है।

भगवान् बोले—आर्यो ! जीव दु ख से डरते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! दु ख का कर्त्ता कौन है और उसका कारण क्या है ?

भगवान्—गौतम ! दु ख का कर्त्ता जीव और उसका कारण प्रमाद है।

गौतम—भगवन् ! दु ख का अन्त-कर्त्ता कौन है और उसका कारण क्या है ?

भगवान्—गौतम ! दु ख का अन्त-कर्त्ता जीव है और उसका कारण अप्रमाद है।[1]

२ उपशम

मानसिक सन्तुलन के विना कष्ट-सहन की क्षमता नही आती। उसका उपाय उपशम है। व्याधियो की अपेक्षा मनुष्य को आधिया अधिक सताती हैं। हीन-भावना और उत्कर्प-भावना की प्रतिक्रिया दैहिक कष्टो से अधिक भयकर होती है, इसलिए भगवान् ने कहा—जो निर्मम और निरहकार है, नि सग है, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव से रहित है, सब जीवो के प्रति सम है, लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, जीवन-मौत, निन्दा-प्रशसा, मान-अपमान मे सम है, अकषाय, अदण्ड, नि शल्य और अभय है, हास्य, शोक और पौद्गलिक सुख की आशा से मुक्त है, ऐहिक और पारलौकिक वन्धन से मुक्त है, पूजा और प्रहार मे सम है, आहार और अनशन मे सम है, अप्रशस्त वृत्तियो का सवारक है, अध्यात्म-ध्यान और योग मे लीन है, प्रशस्त आत्मानुशासन मे रत है, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और तप मे निष्ठावान् है—वही भावितात्मा श्रमण है।

भगवान् ने कहा—कोई श्रमण कभी कलह मे फस जाए तो वह तत्काल सम्हल कर उसे शान्त कर दे। वह क्षमा-याचना कर ले। सम्भव है, दूसरा श्रमण वैसा करे या न करे, उसे आदर दे या न दे, उठे या न उठे, वन्दना करे या न करे, साथ मे खाये या न खाये, साथ मे रहे या न रहे, कलह को उपशान्त करे या न करे, किन्तु जो कलह का उपशमन करता है वह धर्म की आराधना है, जो उसे शात नही करता उसके धर्म की आराधना नही होती। इसलिए आत्म-गवेषक श्रमण को उसका उपशमन करना चाहिए।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! उसे अकेले को ही ऐसा क्यो करना चाहिए ?

---

१ ठाण, ३।३३६।

७ अयोगी—यह सातवा स्तर है। इससे आत्मा मुक्त होता है।

इस प्रकार साधना के विभिन्न स्तर हैं। इनके अधिकारियो की योग्यता भी विभिन्न होती है। योग्यता की कसौटी वैराग्य-भावना या निर्मोह मनोदशा है। उसकी तरतमता के अनुसार ही साधना का आलम्बन लिया जाता है। हिंसा हेय है—यह जानते हुए भी उसे सब नही छोड सकते। साधना के तीसरे स्तर मे हिंसा का आंशिक त्याग होता है। हिंसा के निम्न प्रकार हैं—
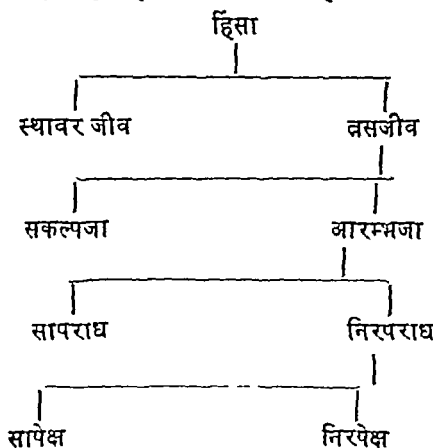
गृहस्थ के लिए आरम्भजा—कृषि, वाणिज्य आदि मे होनेवाली हिंसा से बचना कठिन होता है।

गृहस्थ पर कुटुम्ब, समाज और राज्य का दायित्व होता है, इसलिए सापराध या विरोधी हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है।

गृहस्थ को घर आदि को चलाने के लिए वध, बध आदि का सहारा लेना पडता है, इसलिए सापेक्ष हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। वह सामाजिक जीवन के मोह का भार वहन करते हुए केवल संकल्पपूर्वक निरपराध त्रसजीवो की निरपेक्ष हिंसा से बचता है, यही उसका अहिंसा-अणुव्रत है।

वैराग्य का उत्कर्ष होता है, वह प्रतिमा का पालन करता है। वैराग्य और बढता है तब वह मुनि बनता है।

भूमिका-भेद को समझकर चलने पर न तो सामाजिक संतुलन बिगडता है और न वैराग्य का क्रमिक आरोह भी लुप्त होता है।

साधना के सूत्र

१ अप्रमाद

'आर्यो! आओ।' भगवान् ने गौतम आदि श्रमणो को आमन्त्रित किया।

है, वह सग और भोग से जन्मा हुआ है।[1] नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जो जानता है, वही अशस्त्र का मूल्य जानता है, वही नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जान सकता है।[2]

भगवान् ने कहा—गौतम! तू आत्मानुशासन मे आ। अपने आपको जीत। यही दु ख-मुक्ति का मार्ग है।[3] कामो, इच्छाओ और वासनाओ को जीत। यही दु ख-मुक्ति का मार्ग है।[4]

लोक का सिद्धान्त देख—कोई जीव दु ख नही चाहता। तू भेद मे अभेद देख, सब जीवो मे समता देख। शस्त्र-प्रयोग मत कर। दु ख-मुक्ति का मार्ग यही है।[5]

कपाय-विजय, काम-विजय या इन्द्रिय-विजय, मनोविजय, शस्त्र-विजय और साम्य-दर्शन—ये दु ख-मुक्ति के उपाय है। जो साम्यदर्शी होता है, वह शस्त्र का प्रयोग नही करता। शस्त्र-विजेता का मन स्थिर हो जाता है। स्थिर-चित्त व्यक्ति को इन्द्रिया नही सताती। इन्द्रिय-विजेता के कपाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्वय स्फूर्त्त नही होते।

७ सवर और निर्जरा

यह जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति)—इन पाच आस्रवो के द्वारा विजातीय-तत्त्व का आकर्षण करता है। यह जीव अपने हाथो ही अपने वन्धन का जाल बुनता है। जब तक आस्रव का सवरण नही होता, तब तक विजातीय तत्त्व का प्रवेश-द्वार खुला ही रहता है।

भगवान् ने दो प्रकार का धर्म कहा है—सवर और तपस्या (निर्जरा)। सवर के द्वारा नये विजातीय द्रव्य के सग्रह का निरोध होता है और तपस्या के द्वारा पूर्व-सचित सग्रह का विलय होता है। जो व्यक्ति विजातीय द्रव्य का नये सिरे से सग्रह नही करता और पुराने संग्रह को नष्ट कर डालता है, वह उससे मुक्त हो जाता है।[6]

साधना का मानदण्ड

भगवान् ने कहा—गौतम! साधना के क्षेत्र मे व्यक्ति के अपकर्प-उत्कर्ष या

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ३२।१९।
२ आयारो, ३।१७।
३ वही, ३।६४ पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एव दुक्खा पमोक्खसि।
४ दसवेआलिय, २।५।
५ आयारो, ३।२९।
६ सूयगडो, १।१५।६
तुट्टंति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ।
अकुव्वओ णव णत्थि, कम्म नाम विजाणई॥

भगवान् ने कहा—गौतम ! श्रामण्य उपशम-प्रधान है। जो उपशम करेगा वही श्रमण, साधक या महान् है।

उपशम विजय का मार्ग है। जो उपशम-प्रधान होता है, वही मध्यस्थ-भाव और तटस्थ-नीति को वरत सकता है।

३ साम्य-योग

जाति और रग का गर्व कौन कर सकता है ? यह जीव अनेक वार ऊची और अनेक वार नीची जाति मे जन्म ले चुका है।

यह जीव अनेक वार गोरा और अनेक बार काला वन चुका है।

जाति और रग, ये वाहरी आवरण हैं। ये जीव को हीन और उच्च नही वनाते।

वाहरी आवरणो को देख जो हृष्ट और रुष्ट होते हैं, वे मूढ़ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति मे स्वाभिमान की वृत्ति होती है। इसलिए किसी के प्रति भी तिरस्कार, घृणा और निम्नता का व्यवहार करना हिंसा है, व्यामोह है।

४ तितिक्षा

भगवान् ने कहा—गौतम ! अहिंसा का आधार तितिक्षा है। जो कष्टो से घबराता है वह अहिंसक नही हो सकता।

इस शरीर को खपा।[1] साध्य (आत्म-हित) खपने से सधता है।[2]

इस शरीर को तपा।[3] साध्य तपने से सधता है।[4]

५ अभय

लोक-विजय का मार्ग अभय है। कोई भी व्यक्ति सर्वदा शस्त्र-प्रयोग नही करता, किन्तु शस्त्रीकरण से दूर नही होता, उससे सब डरते है।[5]

अणुवम की प्रयोग-भूमि केवल जापान है। उसकी भय-व्याप्ति सभी राष्ट्रो मे है।

जो स्वय अभय होता है, वह दूसरो को अभय दे सकता है। स्वय भीत दूसरो को अभीत नही कर सकता।

६ आत्मानुशासन

ससार मे जो भी दु ख है, वह शस्त्र से जन्मा हुआ है।[6] ससार मे जो भी दु ख

---

१ आयारो, ४।३२ कसेहि अप्पाण।

२ सूयगडो, १।१।६।२।३० अत्तहिय खु दुहेण लब्भइ।

३ आयारो, ४।३२ जरेहि अप्पाण।

४ दसवेआलिय, ८।२७ देहे दुक्ख महाफलं।

५ आयारो, १।१३५, १३६।

६ वही, ३।१३ आरभज दुक्खमिण ति णच्चा।

आनन्द को दवा वह व्यामोह उत्पन्न करती है।

चौथा सूत्र है—पुद्गल-विरक्ति या ससार के प्रति उदासीनता। पुद्गल से पुद्गल को तृप्ति मिलती है, मुझे नही। पर-तृप्ति मे स्व का जो आरोप है, वह उचित नही।

जो पुद्गल-वियोग आत्मा के लिए उपकारी है, वह देह के लिए अपकारी है और जो पुद्गल-सयोग देह के लिए उपकारी है, वह आत्मा के लिए अपकारी है।

पाचवा सूत्र है—ध्येय और ध्याता का एकत्व। ध्येय परमात्मपद है। वह मुझ से भिन्न नही है। ध्यान आदि की समग्र साधना होने पर मेरा ध्येय रूप प्रकट हो जाएगा।

गूढवाद के द्वारा साधक को अनेक प्रकार की आध्यात्मिक शक्तिया और योगजन्य विभूतिया प्राप्त होती हैं।

अध्यात्म-शक्ति-सम्पन्न इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही पूर्ण सत्य को साक्षात् जान लेता है।

थोडे मे गूढवाद का मर्म आत्मा, जो रहस्यमय पदार्थ है, की शोध है। उसे पा लेने के बाद फिर कुछ भी पाना शेष नही रहता, गूढ नही रहता।

अक्रियावाद

दर्शन के इतिहास मे वह दिन अति महत्त्वपूर्ण था, जिस दिन अक्रियावाद का सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ। आत्मा की खोज भी उसी दिन पूर्ण हुई, जिस दिन मननशील मनुष्य ने अक्रियावाद का मर्म समझा।

मोक्ष का स्वरूप भी उसी दिन निश्चित हुआ, जब दार्शनिक जगत् ने 'अक्रियावाद' को निकट से देखा।

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! जीव सक्रिय हैं या अक्रिय?

भगवान् ने कहा—गौतम! जीव सक्रिय भी हैं और अक्रिय भी। जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त और ससारी। मुक्त जीव अक्रिय होते हैं। अयोगी (शैलेशी-अवस्था-प्रतिपन्न) जीवो को छोड शेष सब ससारी जीव सक्रिय होते हैं।

शरीर-धारी के लिए क्रिया सहज है, ऐसा माना जाता था। पर 'आत्मा का सहज रूप अक्रियामय है'—इस सवित् का उदय होते ही 'क्रिया आत्मा का विभाव है' यह निश्चय हो गया। क्रिया वीर्य से पैदा होती है। योग्यतात्मक वीर्य मुक्त जीवो मे भी होता है। किन्तु शरीर के बिना वह प्रस्फुटित नही होता। इसलिए वह लब्धि-वीर्य ही कहलाता है। शरीर के सहयोग से लब्धि-वीर्य (योग्यतात्मक वीर्य) क्रियात्मक बन जाता है। इसलिए उसे 'करण-वीर्य' की सज्ञा दी गई। वह शरीरधारी के ही होता है।[1]

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ३२।३

अवरोह-आरोह का मानदण्ड सवर (विजातीय तत्त्व का निरोध) है।

सयम और आत्म-स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति का चरम-विन्दु एक है। पूर्ण सयम यानी असयम का पूर्ण अन्त, असयम का पूर्ण अन्त यानी आत्मा का पूर्ण विकास।

जो व्यक्ति भोग-तृष्णा का अन्तकर है, वही इस अनादि दुख का अन्तकर है।[1]

दुख के आवर्त्त मे दुखी ही फसता है, अदुखी नही।[2]

उस्तरा और चक्र अन्त-भाग से चलते हैं। जो अन्त भाग से चलते हैं, वे ही साध्य को पा सकते हैं।

विपय, कपाय और तृष्णा की अन्तरेखा के उस पार जिनका पहला चरण टिकता है, वे ही अन्तकर—मुक्त वनते हैं।

गूढवाद

आत्मा की तीन अवस्थाए होती हैं—

१ वहिर्-आत्मा, २ अन्तर्-आत्मा, ३ परम-आत्मा।

जिसे अपने आपका भान नही, वही वहिर्-आत्मा है। अपने स्वरूप को पहचाननेवाला अन्तर्-आत्मा है। जिसका स्वरूप अनावृत हो गया, वह परमात्मा है। आत्मा परमात्मा वने, शुद्ध रूप प्रकट हो, उसके लिए जिस पद्धति का अवलम्वन लिया जाता है, वही 'गूढवाद' है।

परमात्म-रूप का साक्षात्कार मन की निर्विकार स्थिति से होता है, इसलिए वही गूढवाद है। मन के निर्विकार होने की प्रक्रिया स्पष्ट नही, सरल नही। सहजतया उसका ज्ञान होना कठिन है। ज्ञान होने पर भी श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा होने पर भी उसका क्रियात्मक व्यवहार कठिन है। इसीलिए आत्म-शोधन की प्रणाली 'गूढ़' कहलाती है।

आत्म-विकास के पाच सूत्र हैं—

पहला सूत्र है—अपनी पूर्णता और स्वतन्त्रता का अनुभव—मैं पूर्ण हू, स्वतन्त्र हू, जो परमात्मा है, वह मैं हू और जो मैं हू वही परमात्मा है।

दूसरा सूत्र है—चेतन-पुद्गल विवेक—मैं भिन्न हू, शरीर भिन्न है, मैं चेतन हू, वह अचेतन है।

तीसरा सूत्र है—आनन्द वाहर से नही आता। मैं आनन्द का अक्षयकोप हू। पुद्गल-पदार्थ के सयोग से जो सुखानुभूति होती है, वह अतात्त्विक है। मौलिक

---

१ सूयगडो, १।१५।१७।

२ भगवती, ७।१।

साधना के पहले चरण मे ही सारी क्रियाओं का त्याग शक्य नही है। मुमुक्षु भी साधना की पूर्व-भूमिकाओ मे क्रिया-प्रवृत्त रहता है। किन्तु उसका लक्ष्य अक्रिया ही होता है, इसलिए वह कुछ भी न वोले, अगर वोलना आवश्यक हो तो वह भाषा-समिति (दोप-रहित पद्धति) से वोले। वह चिन्तन न करे, अगर उसके बिना न रह-सके तो आत्महित की बात ही सोचे—धर्म्य और शुक्ल ध्यान ही ध्याए। वह कुछ भी न करे, अगर किये बिना न रह सके तो वही करे जो साध्य से दूर न ले जाए। यह क्रिया-शोधन का प्रकरण है। इस चिन्तन ने सयम, चरित्र, प्रत्याख्यान आदि साधनो को जन्म दिया और उनका विकास किया।

शरीर की दुष्प्रवृत्ति सतत नही होती। निरन्तर जीवो को मारनेवाला वधक शायद ही मिले। निरन्तर असत्य वोलनेवाला और बुरा मन बर्तने वाला भी नही मिलेगा किन्तु उनकी अनुपरति (अनिवृत्ति) नैरतरिक होती है। दुष्प्रयोग अव्यक्त अनुपरति का ही व्यक्त परिणाम है। अनुपरति जागरण और निद्रा दोनो दशाओ मे समान रूप होती है। इसे समझे बिना आत्म-साधना को नही समझा जा सकता। इसी को लक्ष्य कर भगवान् महावीर ने कहा है—असयमी मनुष्य जागता हुआ भी सोता है और सयमी मनुष्य सोता हुआ भी जागता है।[1]

मनुष्य शारीरिक और मानसिक व्यथा से सार्वदिक् मुक्ति पाने चला, तब उसे पहले-पहल दुष्प्रवृत्ति छोडने की वात सूझी। आगे जाने की वात सभवत उसने नही सोची। किन्तु अन्वेषण की गति अबाध होती है। शोध करते-करते उसने जाना कि व्यथा का मूल दुष्प्रवृत्ति नही किन्तु उसकी अनुपरति है। ज्ञान का क्रम आगे बढा। व्यथा का मूल कारण जान लिया गया।

इस प्रकरण मे एक महत्त्वपूर्ण गवेषणा हुई—वह है प्राणातिपात से हिंसा के पार्थक्य का ज्ञान। परितापन और प्राणातिपात—ये दोनो जीव से सबधित हैं। हिंसा का सबध जीव और अजीव दोनो से है। द्वेष अजीव के प्रति भी हो सकता है किन्तु अजीव के परिताप और प्राणातिपात ये नही किये जा सकते। प्राणातिपात का विषय छह जीवनिकाय है।[2]

प्राणातिपात हिंसा है किन्तु हिंसा उसके अतिरिक्त भी है। असत्य वचन, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह भी हिंसा है। इन सब मे प्राणातिपात का नियम नही है। मृषावाद का विषय सब द्रव्य है।[3] अदत्तादान का विषय ग्रहण और धारण करने योग्य द्रव्य है।[4] आदान ग्रहण-धारण योग्य वस्तु का ही हो

---

१ आयारो, ३।१
सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरति।

२ प्रज्ञापना, पद २२ छसु जीव-णिकाएसु।

३ वही, पद २२ सव्व दव्वेसु।

४ वही, पद २२ गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु।

आत्मवादी का परम या चरम साध्य मोक्ष है। मोक्ष का मतलब है शरीर-मुक्ति, बन्धन-मुक्ति, क्रिया-मुक्ति। क्रिया से बन्धन, बन्धन से शरीर और शरीर से ससार—यह परम्परा है। मुक्त जीव अशरीर, अबन्ध और अक्रिय होते है। अक्रियावाद की स्थापना के वाद क्रियावाद के अन्वेषण की प्रवृत्ति वढी। क्रियावाद की खोज मे से 'अहिंसा' का चरम विकास हुआ।

अक्रियावाद की स्थापना से पहले अक्रिया का अर्थ था विश्राम या कार्य-निवृत्ति। थका हुआ व्यक्ति थकान मिटाने के लिए नही सोचता, नही वोलता और गमनागमनादि नही करता, उसी का नाम था 'अक्रिया'। किन्तु चित्तवृत्ति निरोध, मौन और कायोत्सर्ग—एतद्‌रूप अक्रिया किसी महत्त्वपूर्ण साध्य की सिद्धि के लिए है—यह अनुभवगम्य नही हुआ था।

कर्म से कर्म का क्षय नही होता, अकर्म से कर्म का क्षय होता है।[1] ज्यो ही यह कर्म-निवृत्ति का घोष प्रवल हुआ, त्यो ही व्यवहार-मार्ग का द्वन्द्व छिड गया। कर्म जीवन के इस छोर से उस छोर तक लगा रहता है। उसे करनेवाले मुक्त नही वनते। उसे नही करनेवाले जीवन-धारण भी नही कर सकते, समाज और राष्ट्र के धारण की वात तो दूर रही।

इस विचार-सघर्ष से कर्म (प्रवृत्ति)-शोधन की दृष्टि मिली। अक्रियात्मक साध्य (मोक्ष) अक्रिया के द्वारा ही प्राप्य है। आत्मा का अभियान अक्रिया की ओर होता है, तव साध्य दूर नहीं रहता। इस अभियान मे कर्म रहता है पर वह अक्रिया से परिष्कृत वना हुआ रहता है। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म।[2] प्रमत्त का कर्म वाल-वीर्य होता है और अप्रमत्त का कर्म पडित-वीर्य होता है। पडित-वीर्य असत् क्रिया-रहित होता है, इसलिए वह प्रवृत्ति रूप होते हुए भी निवृत्ति रूप अकर्म है—मोक्ष का साधन है।

"शस्त्र-शिक्षा, जीव-वध, माया, काम-भोग, असयम, वैर, राग और द्वेष—ये सकर्म-वीर्य हैं। वाल व्यक्ति इनसे घिरा रहता है।"[3]

"पाप का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय-सगोपन, शरीर-सयम, वाणी-सयम, मानमाया-परिहार, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव का त्याग, उपशम, अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, ध्यानयोग और काय-व्युत्सर्ग—ये अकर्म-वीर्य हैं। पडित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक वनता है।"[4]

---

१ सूयगडो, १।१०।१५

२ वही, १।८।३

पमायं कम्ममाहसु, अप्पमाय तहाऽवर।
तब्भावा देसओ वावि, वालपडियमेव वा ॥

३ वही, १।८।४।६

४ वही, १।८

निश्चय-दृष्टि उपादान-प्रधान है। उसमे पदार्थ के शुद्ध रूप का ही प्ररूपण होता है। व्यवहार की दृष्टि स्थूल है। इसलिए वह पदार्थ के सभी पहलुओ को छूता है। निमित्त को भी पदार्थ से अभिन्न मान लेता है। समूहगत एकता का यही बीज है। इसके अनुसार क्रिया-प्रतिक्रिया सामाजिक होती है। समाज से अलग रहकर कोई व्यक्ति जी नही सकता। समाज के प्रति जो व्यक्ति अनुत्तरदायी होता है, वह अपने कर्तव्यो को नही निभा सकता। इसमे परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ जुडने की, सवेदनशीलता की बात होती है।

जैन-दर्शन का मर्म नही जाननेवाले इसे नितान्त व्यक्तिवादी बताते हैं। पर यह सर्वथा सच नही है। वह अध्यात्म के क्षेत्र मे व्यक्ति के व्यक्तिवादी होने का समर्थन करता है किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र मे समष्टिवाद की मर्यादाओ का निषेध नही करता। निश्चय-दृष्टि से वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व को आत्मनिष्ठ ही स्वीकार करता है, इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने बाह्य साधना-शील आत्मा को पर-समयरत कहा है।[1]

औपचारिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व को परनिष्ठ मानने के लिए वह अनुदार भी नही है। इसलिए—'सिद्ध मुझे सिद्धि दे'—ऐसी प्रार्थनाए की जाती हैं।

प्राणिमात्र के प्रति, केवल मानव के प्रति ही नही, आत्म-तुल्य दृष्टि और किसी को भी कष्ट न देने की वृत्ति आध्यात्मिक सवेदनशीलता और सौभ्रात्र है। इसी मे से प्राणी की असीमता का विकास होता है।

---

१ पचास्तिकाय, १७३

अण्णाणदो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसपओगादो,
हवदिति दुक्ख मोक्ख परसमयरदो हवदि जीवो।

सकता है, शेप का नही। ब्रह्मचर्य का विपय रूप और रूप के सहकारी द्रव्य हैं।[1] परिग्रह के विपय 'सब द्रव्य' हैं।[2] परिग्रह का अर्थ है मूर्च्छा या ममत्व। वह अति लोभ के कारण सर्व-वस्तु विपयक हो सकता है।

ये पाच आस्रव हैं। इनके परित्याग का अर्थ है 'अहिंसा'।

१ प्राणातिपात-विरमण, २ मृपावाद-विरमण, ३ अदत्तादान-विरमण, ४ अब्रह्मचर्य-विरमण, ५ परिग्रह-विरमण—ये पाच सवर हैं। आस्रव क्रिया है। वह 'ससार' का कारण है। सवर अक्रिया है। वह मोक्ष का कारण है।[3]

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

प्रत्येक व्यक्ति जीवन के आरम्भ मे अवादी होता है। किन्तु आलोचना के क्षेत्र मे वह आता है वैसे ही वाद उसके पीछे लग जाते हैं। वास्तव मे वह वही है, जो शक्तिया उसका अस्तित्व बनाए हुए हैं। किन्तु देश, काल और परिस्थिति की मर्यादाए, वह जो है उससे भी उसे और अधिक बना देती हैं। इसीलिए पारमार्थिक जगत् मे जो व्यक्तिवादी होता है, वह व्यावहारिक जगत् मे समष्टिवादी बन जाता है।

निश्चय-दृष्टि के अनुसार समूह आरोपवाद या कल्पनावाद है। ज्ञान वैयक्तिक होता है। अनुभूति वैयक्तिक होती है। सज्ञा और प्रज्ञा वैयक्तिक होती है। जन्म-मृत्यु वैयक्तिक है। एक का किया हुआ कर्म दूसरा नही भोगता। सुख-दु ख का सवेदन भी वैयक्तिक है।[4]

सामूहिक अनुभूतिया कल्पित होती हैं। वे सहजतया जीवन मे उतर नही आती। जिस समूह-परिवार, समाज या राष्ट्र से सम्बन्धो की कल्पना जुड जाती है, उसी की स्थिति का मन पर प्रभाव होता है। यह मान्यता मात्र है। उनकी स्थिति ज्ञात होती है, तब मन उससे प्रभावित होता है। अज्ञात दशा मे उन पर कुछ भी बीते, मन पर कोई प्रभाव नही पडता। शत्रु जैसे मान्यता की वस्तु है, वैसे मित्र भी। शत्रु की हानि से प्रमोद और मित्र की हानि से दु ख, शत्रु के लाभ से दु ख और मित्र के लाभ से प्रमोद जो होता है, वह मान्यता से आगे कुछ भी नही है। व्यक्ति स्वय अपना शत्रु है और स्वय अपना मित्र।[5]

---

१ प्रज्ञापना पद, २२ रूवेसु वा रूवसहगतेसु दव्वेसु।
२ वही, पद २२ सव्व दव्वेसु।
३ वीतराग स्तोत्र, १६।६।
४ सूयगडो, २।१
अन्नस्स दुक्ख अन्नो न परियायइत्ति, अन्नेण कड अन्नो न परिसवेदेति, पत्तेयं जायति, पत्तेय मरई, पत्तेय चयइ, पत्तेय उववज्जइ, पत्तेय झझा, पत्तेय सन्ना, पत्तेयं मन्ना एव विन्नू वेदणा।
५ उत्तरज्झयणाणि, २०।३७ अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।

यह पदार्थवाद या जडवाद का युग है। जडवादी दृष्टिकोण सन्यास को पसन्द ही नही करता। उसका लक्ष्य कर्म या प्रवृत्ति से आगे जाता ही नही। किन्तु जो आत्मवादी और निर्वाणवादी है, उन्हे कोरी प्रवृत्ति की भूलभुलैया मे नही भटक जाना चाहिए। सन्यास—जो त्याग का आदर्श और साध्य की साधना का विकसित रूप है, उसके निर्मूलन का भाव नही होना चाहिए। यह सारे अध्यात्म-मनीषियो के लिए चिन्तनीय है।

चिन्तन के आलोक मे आत्मा का दर्शन नही हुआ, तब तक शरीर-सुख ही सब कुछ रहा। जब मनुष्य मे विवेक जागा, आत्मा और शरीर दो है—यह भेद-ज्ञान हुआ, तब आत्मा साध्य बन गया और शरीर साधन-मात्र। आत्मज्ञान के बाद आत्मोपलब्धि का क्षेत्र खुला। श्रमणो ने कहा—दृष्टि-मोह आत्मदर्शन मे बाधा डालता है और चारित्र-मोह आत्म-उपलब्धि मे। आत्म-साक्षात्कार के लिए सयम किया जाए, तप तपा जाए। सयम से मोह का प्रवेश रोका जा सकता है, तप से सचित मोह का व्यूह तोडा जा सकता है।

ऋग्वेद का एक ऋषि आत्म-ज्ञान की तीव्र जिज्ञासा से कहता है—"मैं नही जानता, मैं कौन हू अथवा कैसा हू ?"[1]

वैदिक सस्कृति का जब तक श्रमण-सस्कृति से सम्पर्क नही हुआ, तब तक उसमे आश्रम दो ही थे—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की सुख-समृद्धि के लिए इतना ही पर्याप्त माना जाता था।

जब क्षत्रिय राजाओ से ब्राह्मण ऋषियो को आत्मा और पुनर्जन्म का बोध-बीज मिला, तब से आश्रम-परम्परा का विकास हुआ, वे क्रमश तीन और चार बने।

वेद-सहिता और ब्राह्मणो मे सन्यास आश्रम आवश्यक नही कहा गया है, बल्कि जैमिनि ने वेदो का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम मे रहने से ही मोक्ष मिलता है।[2] उनका यह कथन कुछ निराधार भी नही है, क्योकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का आरम्भ उपनिषदो मे ही पहले-पहल देखा जाता है।[3]

श्रमण-परम्परा मे क्षत्रियो का प्राधान्य रहा है और वैदिक-परम्परा मे ब्राह्मणो का। उपनिषदो मे अनेक ऐसे उल्लेख है, जिनसे पता चलता है कि ब्राह्मण ऋषि-मुनियो ने क्षत्रिय राजाओ से आत्म-विद्या सीखी।

१ नचिकेता ने सूर्यवशी शाखा के राजा वैवस्वत यम के पास आत्मा का

---

१ ऋग्वेद, १।१६४।३७ नवा जानामि यदिव इदमस्मि।

२. वेदान्तसूत्र (शाकरभाष्य,) ३।४।१७-२०

३ गीता रहस्य, पृ० ३८

३

श्रमण-सस्कृति और श्रामण्य

कर्म को छोडकर मोक्ष पाना और कर्म का शोधन करते-करते मोक्ष पाना—ये दोनो विचारधाराए यहा रही हैं। दोनो का साध्य एक ही है—निष्कर्म बन जाना। भेद सिर्फ प्रक्रिया मे है। पहली कम के सन्यास की है, दूसरी उसके शोधन की। कर्म-सन्यास साध्य की ओर द्रुत-गति मे जाने का क्रम है और कर्म-योग उसकी ओर धीमी गति से आगे बढता है। शोधन का मतलब सन्यास ही है। कर्म के जितने असत् अश का सन्यास होता है, उतने ही अश मे वह शुद्ध बनता है। इस दृष्टि से यह कर्म-सन्यास का अनुगामी मन्द-क्रम है। साध्य का स्वरूप निष्कर्म या सर्व-कर्म-निवृत्ति है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का सन्यास प्रवृत्ति के शोधन की अपेक्षा साध्य के अधिक निकट है। जैन दर्शन के अनुसार जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय है, यह सिद्धान्त-पक्ष है। क्रियात्मक पक्ष यह है—प्रवृत्ति के असत् अश को छोडना, सत्-अश का साधन के रूप मे अवलम्बन लेना तथा क्षमता और वैराग्य के अनुरूप निवृत्ति करते जाना। श्रामण्य या सन्यास का मतलब है—असत्-प्रवृत्ति के पूर्ण त्यागात्मक व्रत का ग्रहण और उसकी साधन-सामग्री के अनुकूल स्थिति का स्वीकार। यह मोह नाश का सहज परिणाम है। इसे सामाजिक दृष्टि से नही आका जा सकता। कोरा ममत्व-त्याग हो, पदार्थ-त्याग न हो, यह मार्ग पहले क्षण मे सरस भले लगे पर अन्तत सरस नही है। पदार्थ-सग्रह अपने आप मे सदोष या निर्दोष कुछ भी नही है। वह व्यक्ति के ममत्व से जुडकर सदोष बनता है। ममत्व टूटते ही सग्रह का सक्षेप होने लगता है और वह सन्यास की दशा मे जीवन-निर्वाह का अनिवार्य साधनमात्र बन रह जाता है। इसीलिए उसे अपरिग्रही या अनिचय कहा जाता है। सस्कारो का शोधन करते-करते कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है, जो पदार्थ- सग्रह के प्रति अल्प-मोह हो किन्तु यह सामान्य-विधि नही है। पदार्थ-सग्रह से दूर रहकर ही निर्मोह सस्कार को विकसित किया जा सकता है, असस्कारी-दशा का लाभ लिया जा सकता है। यह सामान्य विधि है।

कारण है कि वह सदा से आत्मदर्शी रही है। देह के पालन की उपेक्षा सम्भव नही किन्तु उसका दृष्टिकोण देह-लक्षी नही रहा है। कहा जाता है—श्रमण-परम्परा ने समाज-रचना के बारे मे कुछ सोचा ही नही। इसमे कुछ तथ्य भी हैं। भगवान् ऋषभदेव ने पहले समाज-रचना की और फिर वे आत्म-साधना मे लगे। भारतीय जीवन के विकास-क्रम मे उनकी देन बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बहुत ही प्रारम्भिक है। इसका उल्लेख वैदिक और जैन—दोनो परम्पराओ मे प्रचुरता से मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र, सोमदेव सूरि आदि के अर्हन्नीति, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ समाज-व्यवस्था के सुन्दर ग्रन्थ हैं। वह सच भी है कि जैन-बौद्ध मनीषियो ने जितना अध्यात्म पर लिखा, उसका शताश भी समाज-व्यवस्था के बारे मे नही लिखा। इसके कारण भी है। श्रमण-परम्परा का विकास आत्म-लक्षी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए शाश्वत सत्यो की व्याख्या मे ही उन्होंने अपने आपको खपाया। समाज-व्यवस्था को वे धर्म से जोडना नही चाहते थे। धर्म जो आत्मगुण है, को परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था से जकड देने पर तो उसका ध्रुवरूप विकृत हो जाता है।

समाज-व्यवस्था का कार्य समाजशास्त्रियो के लिए ही है। धार्मिको को उनके क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। मनुस्मृति आदि समाज-व्यवस्था के शास्त्र हैं। वे विधिग्रन्थ है मोक्ष-ग्रन्थ नही। इन विधि-ग्रन्थो को शाश्वत रूप मिला, वह आज स्वय प्रश्नचिह्न बन रहा है। हिन्दू कोड बिल का विरोध इसीलिए हुआ कि उन परिवर्तनशील विधियो को शाश्वत सत्य का-सा रूप मिल गया था। श्रमण-परम्परा ने न तो विवाह आदि सस्कारो के अपरिवर्तित रूप का आग्रह रखा और न उन्हे शेप समाज से अलग बनाए रखने का आग्रह ही किया।

सोमदेव सूरि के अनुसार जैनो की वह सारी लौकिक विधि प्रमाण है, जिससे सम्यक् दर्शन मे बाधा न आये, व्रतो मे दोष न लगे—

"सर्वं एव हि जैनाना, प्रमाण लौकिको विधि ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूपणम् ।"

श्रमण-परम्परा ने धर्म को लौकिक-पक्ष से अलग रखना ही श्रेय समझा। धर्म लोकोत्तर वस्तु है। वह शाश्वत सत्य है। वह द्विरूप नही हो सकता। लौकिक विधिया भौगोलिक और सामयिक विविधताओ के कारण अनेक-रूप होती हैं और उनके रूप बदलते ही रहते हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ने 'धर्म और समाज' मे लिखा है कि हिन्दू धर्म ने समाज और धर्म को एक-मेक कर दिया, इससे रूढिवाद को बहुत प्रश्रय मिला है। धर्म शब्द के बहु-अर्थक प्रयोग से भी बहुत व्यामोह फैला है। धर्म-शब्द के प्रयोग पर ही लोग उलझ बैठे। शाश्वत सत्य और तत्कालीन अपेक्षाओ का विवेक न कर सके। इसीलिए समय-समय पर होने वाले मनीषियो को उनका भेद समझाने का प्रयत्न करना पडा। लोकमान्य तिलक के शब्दो मे—"महाभारत मे

रहस्य जाना।[1]

२ सनत्कुमार ने नारद से पूछा—'बतलाओ तुमने क्या पढ़ा है?' नारद बोले—'भगवन्! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है, (इनके सिवा) इतिहास पुराण रूप पाचवा वेद आदि। हे भगवन्! यह सब मैं जानता हू। भगवन्! मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हू, आत्मवेत्ता नही हू।'

सनत्कुमार आत्मा की एक-एक भूमिका को स्पष्ट करते हुए नारद को परमात्मा की भूमिका तक ले गए। जहा कुछ नही देखता, कुछ और नही सुनता तथा कुछ और नही जानता वह भूमा है। किन्तु जहा और कुछ देखता है, कुछ और सुनता है एव कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है, और जो अल्प है, वही मर्त्य है—'यो वै भूमा तदमृतमय यदल्प तन्मर्त्यम्।'[2]

३ प्राचीनशाल आदि महा गृहस्थ और महा श्रोत्रिय मिले और परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है?—'को न आत्मा कि ब्रह्मेति'? वे वैश्वानर आत्मा को जानने के लिए अरुण-पुत्र उद्दालक के पास गए। उसे अपनी अक्षमता का अनुभव था। वह उन सबको कैकेय अश्वपति के पास ले गया। राजा ने उन्हे धन देना चाहा। उन मुनियो ने कहा—हम धन लेने नहीं आए हैं। आप वैश्वानर-आत्मा को जानते है, इसलिए वही हमे बतलाइए। फिर राजा ने उन्हे वैश्वानर-आत्मा का उपदेश दिया।[3] काशी-नरेश अजातशत्रु ने गार्ग्य को विज्ञानमय पुरुष का तत्त्व समझाया।[4]

४ पाचाल के राजा प्रवाहण जैवलि ने गौतम ऋषि से कहा—गौतम! तू जिस विद्या को लेना चाहता है, वह विद्या तुझसे पहले ब्राह्मणो को प्राप्त नही होती थी। इसलिए सम्पूर्ण लोको मे क्षत्रियो का ही अनुशासन होता रहा है।[5] प्रवाहण ने आत्मा की गति और आगति के बारे मे पूछा। वह विषय बहुत ही अज्ञात रहा है, इसीलिए आचाराग के आरम्भ मे कहा गया है—"कुछ लोग नही जानते कि मेरी आत्मा का पुनर्जन्म होगा या नही होगा? मैं कौन हू, पहले कौन था, यहा से मरकर कहा होऊगा?"[6]

श्रमण-परम्परा इन शाश्वत प्रश्नो के समाधान पर ही अवस्थित हुई। यही

---

१ कठ उपनिषद्,
२ छान्दोग्य उपनिषद्, ७।२४
३ वही, ५।११।१३
४ बृहदारण्यक उपनिषद्, २।१
५ छान्दोग्य उपनिषद्, ५।३।७
६ आयारो, १।२
एवमेगेसि णो णातं भवति, अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि?

जाए, उसी दिन प्रव्रज्या लेना।[1]

प० सुखलाल जी ने आश्रम-विकास की मान्यता के बारे मे लिखा है—'जान पडता है, इस देश मे जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल आये, तब भी कही न कही इस देश मे निवर्तक-धर्म एक या दूसरे रूप मे प्रचलित था। शुरू मे इन दो धर्म-सस्थाओ के विचारो मे पर्याप्त सघर्ष रहा, पर निवर्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियो की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे पड रहा था, उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियो को भी अपनी ओर खीचा और निवर्तक-धर्म की सस्थाओ का अनेक रूप मे विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावशाली फल अन्त मे यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म के आधारभूत जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—ये दो आश्रम माने जाते थे, उनके स्थान मे प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओ ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे सन्यास सहित चार आश्रमो को जीवन मे स्थान दिया। निवर्तक-धर्म की अनेक सस्थाओ के बढते हुए जन-व्यापी प्रभाव के कारण अन्त मे तो यहा तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणो ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे सन्याव-न्याय प्राप्त है, वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम विना किए भी सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्या-मार्ग न्याय-प्राप्त है। इस तरह जो निवर्तक-धर्म का जीवन मे समन्वय स्थिर हुआ, उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजा-जीवन मे आज भी देखते हैं।[2]

मोक्ष की मान्यता के बाद गृह-त्याग का सिद्धान्त स्थिर हो गया। वैदिक ऋषियो ने आश्रम-पद्धति से जो सन्यास की व्यवस्था की, वह भी यान्त्रिक होने के कारण निर्विकल्प न रह सकी। सन्यास का मूल अन्त करण का वैराग्य है। वह सबको आये, या अमुक अवस्था के ही बाद आये, पहले न आये, ऐसा विधान नही किया जा सकता। सन्यास आत्मिक-विधान है, यान्त्रिक स्थिति उसे जकड नही सकती। श्रमण-परम्परा ने दो ही विकल्प माने—अगार धर्म और अणगार धर्म—'अगार-धम्म अणगार-धम्म च'।[3]

श्रमण परम्परा गृहस्थ को नीच और श्रमण को उच्च मानती है, यह निरपेक्ष नही है। साधना के क्षेत्र मे नीच-ऊच का विकल्प नही है। वहा सयम ही सब कुछ है। महावीर के शब्दो मे—'कई गृह-त्यागी भिक्षुओ की अपेक्षा कुछ गृहस्थो का सयम प्रधान है और उनकी अपेक्षा साधनाशील सयमी मुनियो का सयम

---

१ जावाल उपनिषद्, ४
ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा, वनाद्वा,
यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

२ दर्शन और चिन्तन, पृ० १३७, १३८।

३ औपपातिक

धर्म शब्द अनेक स्थानो पर आया है और जिस स्थान मे कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म-सगत है' उस स्थान मे धर्म-शब्द से कर्तव्य-शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्था-शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान मे पारलौकिक कल्याण के मार्ग वतलाने का प्रसग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्ति पर्व के उत्तरार्ध मे 'मोक्ष-धर्म'—इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है'[1]।

श्रमण-परम्परा इस विषय मे अधिक सतर्क रही है। उसने लोकोत्तर-धर्म के साथ लौकिक विधियो को जोडा नही। इसीलिए वह वरावर लोकोत्तर पक्ष की सुरक्षा करने मे सफल रही है और इसी आधार पर वह व्यापक बन सकी है। यदि श्रमण-परम्परा मे भी वैदिको की भाति जाति और सस्कारो का आग्रह होता तो करोडो चीनी और जापानी कभी भी श्रमण-परम्परा का अनुगमन नही करते।

आज जो करोडो चीनी और जापानी श्रमण-परम्परा के अनुयायी हैं, वे इसी-लिए हैं कि वे अपने सस्कारो और सामाजिक विचारो मे स्वतन्त्र रहते हुए भी श्रमण-परम्परा के लोकोत्तर पक्ष का अनुसरण कर सकते हैं।

समन्वय की भाषा मे वैदिक-परम्परा जीवन का व्यवहार-पक्ष है और श्रमण-परम्परा जीवन का लोकोत्तर-पक्ष—'वैदिको व्यवहर्तव्य, कर्त्तव्य पुनरार्हत।'

लक्ष्य की उपलब्धि उसी के अनुरूप साधना से हो सकती है। आत्मा शरीर, वाणी और मन से परे है। वह उन द्वारा प्राप्त नही है।[2]

मुक्त आत्मा और ब्रह्म के शुद्ध रूप की मान्यता मे दोनो परम्पराए लगभग एकमत हैं। कर्म या प्रवृत्ति शरीर, वाणी और मन का कार्य है। इनसे परे जो है, वह निष्कर्म है। श्रामण्य या सन्यास का मतलब है—निष्कर्म-भाव की साधना। इसी का नाम है सयम। पहले चरण मे कर्म-मुक्ति नही होती। किन्तु सयम का अर्थ है—कर्म-मुक्ति के सकल्प से चल कर्म-मुक्ति तक पहुच जाना, निर्वाण पा लेना।

प्रवर्तक-धर्म के अनुसार वर्ग तीन ही थे—धर्म, काम और अर्थ। चतुर्वर्ग की मान्यता निवर्त्तक-धर्म की देन है। निवर्त्तक-धर्म के प्रभाव से मोक्ष की मान्यता व्यापक बनी। आश्रम की व्यवस्था मे भी विकल्प आ गया, जिसके स्पष्ट निर्देश हमे जावालोपनिषद्, गौतम धर्मसूत्र आदि मे मिलते हैं—ब्रह्मचर्य पूरा करके गृही वनना, गृह मे से वानप्रस्थ होकर प्रव्रज्या—सन्यास लेना, अथवा ब्रह्मचर्याश्रम से ही गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थाश्रम से ही प्रव्रज्या लेना। जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो

---

१ गीता रहस्य।

२ कठोउपनिषद, २।३
नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा।

मुक्ति वेश या वाहरी वातावरण के कृत्रिम परिवर्तन से नही होती, किन्तु आत्मिक उदय से होती है। आत्मा का सहज उदय किसी विरल व्यक्ति मे ही होता है। इसे सामान्य मार्ग नही माना जा सकता। सामान्य मार्ग यह है कि मुमुक्षु व्यक्ति अभ्यास करते-करते मुक्ति-लाभ करते हैं। अभ्यास के क्रमिक विकास के लिए वाहरी वातावरण को उसके अनुकूल वनाना आवश्यक है। साधना आखिर मार्ग है, प्राप्ति नही। मार्ग मे चलनेवाला भटक भी सकता है। जैन-आगमो और बौद्ध-पिटको मे ऐसा यत्न किया गया है, जिससे साधक न भटके। ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य मे विचिकित्सा न हो—इसलिए एकान्तवास, दृष्टि-सयम, स्वाद-विजय, मिताहार, स्पर्श-त्याग आदि-आदि का विधान किया है। स्थूलिभद्र या जनक जैसे अपवादो को ध्यान मे रखकर इस सामान्य विधि का तिरस्कार नही किया जा सकता।

आत्मिक-उदय और अनुदय की परम्परा मे पलनेवाला पुरुष भटक भी सकता है, किन्तु वह ब्रह्मचर्य के आचार और विनय का परिणाम नही है। ब्रह्मचारी ससर्ग से वचे, यह मान्यता भय नही किन्तु सुरक्षा है। ससर्ग से वचनेवाले भिक्षु कामुक वने और ससर्ग करनेवाले—साथ-साथ रहनेवाले—स्त्री-पुरुष-कामुक नही वने—यह क्वचित् उदाहरण मात्र हो सकता है, सिद्धान्त नही। सिद्धान्तत ब्रह्मचर्य के अनुकूल सामग्री पानेवाला ब्रह्मचारी हो सकता है। उसके प्रतिकूल सामग्री मे नही। मुक्ति और दोनो साथ-साथ चलते हैं, यह तथ्य श्रमण-परम्परा मे मान्य भी नही रहा है। पर उन दोनो की दिशाए दो है और स्वरूपत वे दो हैं, यह तथ्य कभी भुलाया गया। भुक्ति सामान्य जीवन का लक्ष्य हो सकता है, किन्तु वह आत्मोदयी जीवन का लक्ष्य नही है। मुक्ति आत्मोदय का लक्ष्य है। आत्म-लक्षी व्यक्ति भुक्ति को जीवन की दुर्वलता मान सकता है, सम्पूर्णता नही। समाज में भोग प्रधान माने जाते हैं—यह चिरकालीन अनुश्रुति है, किन्तु श्रमण-धर्म का अनुगामी वह है जो भोग से विरक्त हो जाए, आत्म-साक्षात्कार के लिए उद्यत हो जाए।

इस विचारधारा ने विलासी समाज पर अकुश का कार्य किया। "नही वेरेण वेराइ, सम्मतीध्र कदाचन'—इस तथ्य ने भारतीय मानस को उस उत्कर्ष तक पहुचाया, जिस तक—'जिते च लभ्यते लक्ष्मी-मृते चापि सुरागना' का विचार पहुच ही नही सका।

जैन और वौद्ध शासको ने भारतीय समृद्धि को बहुत सफलता से वढाया है। भारत का पतन विलास, आपसी फूट और स्वार्थपरता से हुआ है, त्यागपरक सस्कृति से नही। कई विचारको ने यह दिखलाने का यत्न किया है कि श्रमण-परम्परा कर्म-विमुख होकर भारतीय सस्कृति के विकास में वाधक रही है। इसका कारण दृष्टिकोण का भेद ही हो सकता है। कर्म की व्याख्या में भेद होना एक वात है और कर्म का निरसन दूसरी वात। श्रमण-परम्परा के अनुसार कोरे ज्ञानवादी

प्रधान है।"[1]

श्रेष्ठता व्यक्ति नही, सयम है। सयम और तप का अनुशीलन करनेवाले, शान्त रहनेवाले भिक्षु और गृहस्थ—दोनो का अगला जीवन भी तेजोमय वनता है।[2]

समता धर्म को पालनेवाला, श्रद्धाशील और शिक्षा-सम्पन्न गृहस्थ घर मे रहता हुआ भी मौत के वाद स्वर्ग मे जाता है।[3]

किन्तु सयम का चरम-विकास मुनि-जीवन मे ही हो सकता है। निर्वाण-लाभ मुनि को ही हो सकता है—यह श्रमण-परम्परा का ध्रुव अभिमत है। मुनि-जीवन की योग्यता उन्ही मे आती है, जिनमे तीव्र वैराग्य का उदय हो जाए।

ब्राह्मण-वेशधारी इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा—"राजर्षि ! गृहवास घोर आश्रम है। तुम इसे छोड दूसरे आश्रम मे जाना चाहते हो, यह उचित नही। तुम यही रहो और यही धर्म-पोपक कार्य करो।

नमि राजर्षि बोले—ब्राह्मण ! मास-मास का उपवास करनेवाला और पारणा मे कुश की नोक टिके उतना स्वल्प आहार खानेवाला गृहस्थ मुनि-धर्म की सोलहवी कला की तुलना मे भी नही आता।[4]

जिसे शाश्वत घर मे विश्वास नही, वही नश्वर घर का निर्माण करता है।[5]

यही है तीव्र वैराग्य। मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से विचार न हो, तव गृहवास ही सव कुछ है। उस दृष्टि से विचार किया जाए, तव आत्म-साक्षात्कार ही सव कुछ है। गृहवास और गृह-त्याग का आधार है—आत्म-विकास का तारतम्य। गौतम ने पूछा—'भगवन् ! गृह-वास असार है और गृह-त्याग सार, यह जानकर भला घर मे कौन रहे? 'भगवान् ने कहा—'गौतम ! जो प्रमत्त हो वही रहे और कौन रहे?'[6]

किन्तु यह ध्यान रहे, श्रमण-परम्परा वेश को महत्त्व देती भी है और नही भी। साधना के अनुकूल वातावरण भी चाहिए—इस दृष्टि से वेश-परिवर्तन, गृह-वास का त्याग आदि-आदि वाहरी वातावरण की विशुद्धि का भी महत्त्व है। आन्तरिक विशुद्धि का उत्कृष्ट उदय होने पर गृहस्थ या किसी के भी वेश मे आत्मा मुक्त हो सकता है।[7]

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ५।२०
सन्ति एगेहिं भिक्खुहिं, गारत्था सजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥

२ वही, ५।२६ २८।

३ वही, ५।२३-२४।

४ उत्तरज्झयणाणि, ६।४४

५ वही, ६-२६

६ आयारो, ५।५८ पमत्तेहिं गारमावसतेहिं।

७ नन्दी, सूत्र ३१ अन्नलिंगसिद्धा, गिहिलिंगसिद्धा।

लिए अप्रमाद-वीर्य या अकर्म-वीर्य का विधान है। यह अकर्मण्यता नही, किन्तु कर्म का शोधन है। कर्म का शोधन करते-करते कर्म-मुक्त हो जाना, यही है श्रमण-परम्परा के अनुसार मुक्ति का क्रम। वैदिक परम्परा को भी यह अमान्य नही है। यदि उसे यह अमान्य होता तो वे वैदिक ऋषि वानप्रस्थ और सन्यास-आश्रम को क्यो अपनाते ? इन दोनो मे गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी कर्मों की विमुखता बढती है। गृहस्थाश्रम से साध्य की साधना पूर्ण होती प्रतीत नही हुई इसीलिए अगले दो आश्रमो की उपादेयता लगी और उन्हे अपनाया गया। जिसे बाहरी चिह्न बदलकर अपने चारो ओर अस्वाभाविक वातावरण उत्पन्न करना कहा जाता है, वह सबके लिए समान है। श्रमण और सन्यासी दोनो ने ऐसा किया है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के नियमो को कृत्रिमता का बाना पहनाया जाए तो इस कृत्रिमता से कोई भी परम्परा नही बची है। जिस किसी भी परम्परा मे ससार-त्याग को आदर्श माना है, उसमे ससार से दूर रहने की भी शिक्षा दी है। मुक्ति का अर्थ ही ससार से विरक्ति है। ससार का मतलब गाव या अरण्य नही, गृहस्थ और सन्यासी का वेश नही, स्त्री और पुरुष नही। ससार का मतलब है—जन्म-मरण की परम्परा और उसका कारण। वह है—मोह। मोह का स्रोत ऊपर भी है, नीचे भी है और सामने भी है—'उड्ढ सोया, अहे सोया, तिररिय सोया।'

मोह-रहित व्यक्ति गाव मे भी साधना कर सकता है और अरण्य मे भी। श्रमण-परम्परा कोरे वेश-परिवर्तन को कब महत्त्व देती है। भगवान् ने कहा—"वह पास भी नही है, दूर भी नही है भोगी भी नही है, त्यागी भी नही है।[1] भोग छोडा, आसक्ति नही छोडी—वह न भोगी है, न त्यागी। भोगी इसलिए नही कि वह भोग नही भोगता। त्यागी इसलिए नही कि वह भोग की वासना त्याग नही सका। पराधीन होकर भोग का त्याग करनेवाला त्यागी या श्रमण नही है। त्यागी या श्रमण वह है जो भावनापूर्वक स्वाधीन भोग से दूर रहता है।[2] यही है श्रमण का श्रामण्य।

आश्रम-व्यवस्था श्रौत नही है, किन्तु स्मार्त्त है। लोकमान्य तिलक के अनुसार—'कर्म कर' और 'कर्म छोड' वेद की ऐसी जो दो प्रकार की आज्ञाए हैं, उनकी एक वाक्यता दिखलाने के लिए आयु के भेद के अनुसार आश्रमो की व्यवस्था स्मृतिकारो ने की है।[3]

समाज-व्यवस्था के विचार से 'कर्म करो'—यह आवश्यक है। मोक्ष-साधना के विचार से 'कर्म छोडो'—यह आवश्यक है। पहली दृष्टि से गृहस्थाश्रम की महिमा

---

१ आयारो, ५।४
णेव से अतो, णेव से दूरे।
२ दसवेआलिय, २।२, ३।
३ गीता रहस्य, पृ० ३३६

जो कहते हैं, किन्तु करते नही, वे अपने आपको केवल वाणी के द्वारा आश्वासन देते हैं।[1]

'सम्यग्-ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष'—"यह जैनो का सवविदित वाक्य है। कर्म की समाप्ति मोक्ष मे होती है या मुक्त होने के आसपास। इससे पहले कर्म को रोका ही नही जा सकता। कर्म प्रत्येक व्यक्ति मे होता है। भेद यह रहता है कि कौन किस दिशा मे उसे लगाता है और कौन किस कर्म को हेय और किसे उपादेय मानता है।

श्रमण-परम्परा के दो पक्ष हैं—गृहस्थ और श्रमण। गृहस्थ-जीवन के दो पक्ष होते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। श्रमण-जीवन का पक्ष केवल लोकोत्तर होता है। श्रमण-परम्परा के आचार्य लौकिक कर्म को लोकोत्तर कर्म की भाति एक रूप और अपरिवर्तनशील नही मानते। इसलिए उन्होंने गृहस्थ के लिए भी केवल लोकोत्तर कर्मों का विधान किया है, श्रमणो के लिए तो ऐसा है ही।

गृहस्थ अपने लौकिक पक्ष की उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं और वे ऐसा कर नही सकते, इसी दृष्टि से उनके लिए व्रतो का विधान किया गया, जबकि श्रमणो के लिए महाव्रतो की व्यवस्था हुई।

श्रमण कुछेक ही हो सकते हैं। समाज का वडा भाग गृहस्थ जीवन विताता है। गृहस्थ के लौकिक पक्ष मे कौन-सा कर्म उचित है और कौन-सा अनुचित—इसका निर्णय देने का अधिकार समाजशास्त्र को है, मोक्ष-शास्त्र को नही। मोक्ष-साधना की दृष्टि से कर्म और अकर्म की परिभाषा यह है—कोई कर्म को वीर्य कहते हैं और कोई अकर्म को। सभी मनुष्य इन्ही दोनो से घिरे हुए हैं।[2] प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म।[3]

प्रमाद को वाल-वीर्य और अप्रमाद को पडित-वीर्य कहा जाता है। जितना असयम है, वह सव वाल-वीर्य या सकर्म-वीर्य है और जितना सयम है, वह सव पडित-वीर्य या अकर्म-वीर्य है।[4] जो अवुद्ध है, असम्यक्-दर्शी है और असयमी है, उसका पराक्रम—प्रमाद-वीय वन्धनकारक होता है।[5] और जो वुद्ध है, सम्यक्-दर्शी है और सयमी है उसका पराक्रम—अप्रमाद-वीर्य मुक्ति-कारक होता है।[6] मोक्ष-साधना की दृष्टि से गृहस्थ और श्रमण—दोनो के

---

१ उत्तरज्झयणाणि, ६।९
भणता अकरेन्ता य, वधमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पय॥

२ सूयगडो, १-८।२।

३ वही, १।८।३ पमाय कम्ममाहसु, अप्पमाय तहावर।

४ वही, १।९।९।

५ वही, १।८।२२।

६ वही, १।८।२३।

४

जातिवाद

जातिवाद दो धाराए

ढाई हजार वर्ष पूर्व से ही जातिवाद की चर्चा वडे उग्र रूप से चल रही है। इसने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक—प्राय सभी क्षेत्रो को प्रभावित किया। इसके मूल मे दो प्रकार की विचारधाराए हैं—एक ब्राह्मण-परम्परा की, दूसरी श्रमण-परम्परा की। पहली परम्परा ने जाति को तात्त्विक मानकर 'जन्मना जाति' का सिद्धान्त स्थापित किया। दूसरी ने जाति को अतात्त्विक माना और 'कर्मणा जाति' यह पक्ष सामने रखा। इस जन-जागरण के कर्णधार थे श्रमण भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध। इन्होंने जातिवाद के विरुद्ध बडी क्रान्ति की और इस आन्दोलन को वहुत सजीव और व्यापक बनाया। ब्राह्मण-परम्परा मे जहा 'ब्रह्मा' के मुह से जन्मने वाले ब्राह्मण, वाहु से जन्मने वाले क्षत्रिय, ऊरु से जन्मने वाले वैश्य, पैरो से जन्मने वाले शूद्र और अन्त मे पैदा होनेवाले अन्त्यज[1]—यह व्यवस्था थी, वहा श्रमण-परम्परा ने—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्म (आचरण) या वृत्ति के अनुसार होते हैं"[2]—यह घोपणा की। श्रमण-परम्परा की क्रान्ति से जातिवाद की शृङ्खलाए शिथिल अवश्य हुई पर उनका अस्तित्व नही मिटा। फिर भी यह मानना होगा कि इस क्रान्ति की ब्राह्मण-परम्परा पर भी गहरी छाप पडी। "चाण्डाल और मच्छीमार के घर मे पैदा होनेवाले

---

१ ऋग्वेद, १०।९०।१२
ब्रह्मणो मुखान्निर्गता ब्राह्मणा, बाहुभ्या क्षत्रिया, ऊरुभ्या वैश्या, पद्भ्या शूद्रा, अन्त्ये भवा अन्त्यजा।

२ (क) उत्तरज्झयणाणि, २५।३३
कम्मुणा वभणो होइ, खत्तिओ होइ कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥
(ख) सुत्तनिपात, (आर्गनक भारद्वाज सुत्त १३)
न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होइ, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥

गायी गयी ।[1] दूसरी दृष्टि से सन्यास को सर्व-श्रेष्ठ कहा गया—'प्रव्रजेच्च पर स्थातु पारिव्राज्यमनुत्तमम्'[2] ।

दोनो स्थितियो को एक दृष्टि से देखने पर विरोध आता है । दोनो का भिन्न दृष्टिकोण से देखा जाए तो दोनो का अपना-अपना क्षेत्र है, विरोध की कोई वात ही नही । सन्यास-आश्रम के विरोध मे जो वाक्य हैं, वे सम्भवत उसकी ओर अधिक झुकाव होने के कारण लिखे गए । सन्यास की ओर अधिक झुकाव होना समाज-व्यवस्था की दृष्टि से स्मृतिकारो को नहीं रुचा, इसलिए उन्होंने ऋण चुकाने के वाद ही ससार-त्याग का, सन्यास लेने का विधान किया । गृहस्थाश्रम का कर्तव्य पूरा किये विना जो श्रमण वनता है, उसका जीवन थोथा और दु खमय है—यह महाभारत की घोपणा भी उसी कोटि का प्रतिकारात्मक भाव है । किन्तु यह समाज-व्यवस्था का विरोध अन्त करण की भावना को रोक नही सका ।

श्रमण-परम्परा मे श्रमण वनने का मानदण्ड यही 'सवेग' रहा है । जिनमे वैराग्य का पूर्णोदय न हो, उनके गृहवास है ही । वे घर मे रहकर भी अपनी क्षमता के अनुसार मोक्ष की ओर आगे वढ सकते हैं । इस समग्र दृष्टिकोण से विचार किया जाए तथा आयु की दृष्टि से विचार किया जाए तो आश्रम-व्यवस्था का यान्त्रिक स्वरूप हृदयगम नही होता । आज के लिए तो पिचहत्तर वर्ष की आयु के वाद सन्यासी होना प्रायिक अपवाद ही हो सकता है, सामान्य विधि नही । अव रही कर्म की वात । खान-पान से लेकर कायिक, वाचिक और मानसिक सारी प्रवृत्तिया कर्म हैं । लोकमान्य के अनुसार जीना-मरना भी कर्म है ।[3]

गृहस्थ के लिए भी कुछ कर्म निपिद्ध माने गए हैं । गृहस्थ के लिए विहित कर्म भी सन्यासी के लिए निपिद्ध माने गए हैं ।[4] सक्षेप मे 'सर्वारम्भ परित्याग' का आदर्श सभी आत्मवादी परम्पराओ मे रहा है और उसकी आधारभूमि है—सन्यास । गृहवास की अपूर्णता से सन्यास का, भुक्ति की अपूर्णता से मुक्ति का, कर्म की अपूर्णता से ज्ञान का, स्वर्ग की अपूर्णता से अपवर्ग का और प्रवृत्ति की अपूर्णता से निवृत्ति का महत्त्व वढ़ा । ये भुक्ति आदि जीवन के अवश्यम्भावी अग हैं और मुक्ति आदि लक्ष्य—इसी विवेक के सहारे भारतीय आदर्शों की समानान्तर रेखाए निर्मित हुई हैं ।

---

१ मनुस्मृति, ६।८

२ महाभारत, शान्ति पर्व, २४४।३।

३ गीता रहस्य, पृ० ४५ ।

४ मनुस्मृति, ६।२५ ।

कर्मणा जाति मानने वाली श्रमण-परम्परा के मतानुसार ये अतात्त्विक हैं, अशाश्वत हैं। हम यदि निश्चयदृष्टि से देखें तो तात्त्विक मनुष्य-जाति है[1]। 'मनुष्य आजीवन मनुष्य रहता है', पशु नहीं बनता। कर्मकृत जाति में तात्त्विकता का कोई लक्षण नहीं। कर्म के अनुसार जाति है[2]। कर्म बदलता है, जाति बदल जाती है। रत्नप्रभ-सूरि ने बहुत सारे शूद्रों को भी जैन बनाया। आगे चलकर उनका कर्म व्यवसाय हो गया। उनकी सन्तानें आज कर्मणा वैश्य-जाति में हैं। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि भारत में शक, हूण आदि कितने ही विदेशी आये और भारतीय जातियों में समा गए।

व्यवहार-दृष्टि में—ब्राह्मण-कुल में जन्म लेनेवाला ब्राह्मण, वैश्य-कुल में जन्म लेनेवाला वैश्य—ऐसी व्यवस्था चलती है। इसको भी तात्त्विकता में नहीं जोड़ा जा सकता, कारण कि ब्राह्मण-कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में वैश्योचित और वैश्य-कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में ब्राह्मणोचित कर्म देखे जाते हैं। जाति को स्वाभाविक या ईश्वरकृत मानकर तात्त्विक कहा जाए, वह भी यौक्तिक नहीं। यदि यह वर्ण-व्यवस्था स्वाभाविक या ईश्वरकृत होती तो सिर्फ भारत में ही क्यों? क्या स्वभाव और ईश्वर भारत के ही लिए थे, या उनकी सत्ता भारत पर ही चलती थी? हमें यह निर्विवाद मानना होगा कि यह भारत के समाज-शास्त्रियों की सूझ है, उनकी की हुई व्यवस्था है। समाज की चार प्रमुख जरूरतें हैं—विद्यायुक्त सदाचार, रक्षा, व्यापार (आदान-प्रदान) और शिल्प। इनको सुव्यवस्थित और सुयोजित करने के लिए उन्होंने चार वर्ग बनाए और उनके कार्यानुरूप गुणात्मक नाम रख दिए—विद्यायुक्त-सदाचार-प्रधान ब्राह्मण, रक्षा-प्रधान क्षत्रिय, व्यवसाय-प्रधान वैश्य और शिल्प-प्रधान शूद्र। ऐसी व्यवस्था अन्य देशों में नियमित नहीं है, फिर भी कर्म के अनुसार जनता का वर्गीकरण किया जाए तो ये चार वर्ग सब जगह बन सकते हैं। यह व्यवस्था कैसी है, इस पर अधिक चर्चा न की जाए, तब भी इतना-सा तो कहना ही होगा कि जहां यह जातिगत अधिकार के रूप में वर्ग को विकसित करने की योजना है, वहां व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विनाश की भी योजना है। एक बालक बहुत ही अध्यवसायी और बुद्धिमान् है, फिर भी वह पढ़ नहीं सकता क्योंकि वह शूद्र जाति में जन्मा है। 'शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं है'—

---

1 आदिपुराण, ३८

मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद् भेदा, चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥

2 पद्मपुराण, ६।२०९, २१०

लक्षणं यस्य यल्लोके, स तेन परिकीर्त्यते।
सेवक सेवया शूद्र, कर्षक कर्षणात्तथा॥
धानुष्को धनुषा योगात्, धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रिय, क्षततस्त्राणाद् ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः॥

व्यक्ति भी तपस्या से ब्राह्मण बन गए,[1] इसलिए जाति कोई तात्त्विक वस्तु नही है" यह विचार इसका साक्षी है।

जातिवाद की तात्त्विकता ने मनुष्यो मे जो हीनता के भाव पैदा किये, वे अन्त मे छुआछूत तक पहुच गए। इसलिए जाति क्या है ? वह तात्त्विक है या नही? कौन-सी जाति श्रेष्ठ है ? आदि-आदि प्रश्नो पर विचार करना आवश्यक है।

वह वर्ग या समूह जाति है,[2] जिसमे एक ऐसी समान शृङ्खला हो जो दूसरो मे न मिले। मनुष्य एक जाति है। मनुष्य-मनुष्य मे समानता है और वह अन्य प्राणियो से विलक्षण भी है। मनुष्य-जाति बहुत बडी है, बहुत बडे भूवलय पर फैली हुई है। विभिन्न जलवायु और प्रकृति से उसका सम्पर्क है। इससे उसमे भेद होना भी अस्वाभाविक नही। किन्तु वह भेद औपाधिक हो सकता है, मौलिक नही। एक भारतीय है, दूसरा अमेरिकन है, तीसरा रसियन—इनमे प्रादेशिक भेद है पर 'वे मनुष्य हैं' इसमे क्या अन्तर है, कुछ भी नही। इसी प्रकार जलवायु के अन्तर से कोई गोरा है, कोई काला। भाषा के भेद से कोई गुजराती बोलता है, कोइ बगाली। धर्म के भेद से कोई जैन है, कोई बौद्ध, कोई वैदिक है, कोई मुसलमान, कोई क्रिश्चियन। रुचि-भेद से कोई धार्मिक है, कोई राजनैतिक तो कोई सामाजिक। कर्म-भेद से कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य तो कोई शूद्र। जिनमे जो-जो समान गुण हैं, वे उसी वर्ग मे समा जाते है। एक ही व्यक्ति अनेक स्थितियो मे रहने के कारण अनेक वर्गों मे चला जाता है। एक वर्ग के सभी व्यक्तियो की भाषा, वर्ण, धर्म, कर्म एक-से नही होते हैं। इन औपाधिक भेदो के कारण मनुष्य-जाति मे इतना सघर्ष बढ गया है कि मनुष्यो को अपनी मौलिक समानता समझने तक का अवसर नही मिलता। प्रादेशिक भेद के कारण बडे-बडे सग्राम हुए और आज भी उनका अन्त नही हुआ है। वर्ण-भेद, धर्म-भेद और छुआछूत के कीटाणुओ से आज की मनुष्य-जाति आक्रान्त है। ये सब समस्याए हैं। इनको पार किये बिना मनुष्य-जाति का कल्याण नही। मनुष्य-जाति एकता से हटकर इतनी अनेकता मे चली गई है कि उसे आज फिर मुडकर देखने का आवश्यकता है।

जाति तात्त्विक है ?

भारतवर्ष मे जाति की चर्चा प्रमुखतया कर्माश्रित रही है। भारतीय पडितो ने उनके प्रमुख विभाग चार बतलाए हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जन्मना जाति माननेवाली ब्राह्मण-परम्परा इनको तात्त्विक—शाश्वत मानती है और

---

१ महाभारत तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्।
२ अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जाति'।

पद्धति भी एक है। गाय और भैंस मे जैसे जाति-कृत भेद है, वैसे शूद्र और ब्राह्मण में नही है। इसलिए मनुष्य-मनुष्य के बीच जो जाति-कृत भेद है, वह परिकल्पित है।[1]

मनुष्य-जाति एक है। भगवान् ऋषभदेव राजा नही बने, तब तक वह एक ही रही। वे राजा बने, तब वह दो भागो मे बट गई—जो व्यक्ति राजाश्रित बने वे क्षत्रिय कहलाए और शेष शूद्र।

कर्मक्षेत्र की ओर मनुष्य-जाति की प्रगति हो रही थी। अग्नि की उत्पत्ति ने उसमे एक नया परिच्छेद जोड दिया। अग्नि ने वैश्य-वर्ग को जन्म दिया। लोहार, शिल्पी और विनिमय की दिशा खुली। मनुष्य-जाति के तीन भाग बन गए। भगवान् साधु बने। भरत चक्रवर्ती बना। उसने स्वाध्यायशील-मण्डल स्थापित किया। उसके सदस्य ब्राह्मण कहलाए। मनुष्य-जाति के चार भाग हो गए।[2]

युग-परिवर्तन के साथ-साथ इन चार वर्णों के सयोग से अनेक उपवर्ण और जातिया बन गईं।[3]

वैदिक विचार के अनुसार चार वर्ण सृष्टि-विधानसिद्ध है। जैन-दृष्टि के अनुसार ये नैसर्गिक नही हैं। इनका वर्गीकरण क्रिया-भेद की भित्ति पर हुआ है।[4]

उच्चता और नीचता

उच्चत्व और नीचत्व नही होता, यह अभिमत नही है। वे हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से है, रक्त-परम्परा से नही। ब्राह्मण-परम्परा मे गोत्र रक्त-परम्परा का पर्यायवाची माना जाता था। जैन-परम्परा मे गोत्र शब्द का व्यवहार जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत, ऐश्वर्य—इनके प्रकर्ष और अपकर्ष दशा का सूचक था।

गोत्र के दो भेद हैं—उच्च और नीच। पूज्य और सामान्य व्यक्ति का गोत्र उच्च तथा अपूज्य और असामान्य व्यक्ति का गोत्र नीच होता है। 'गोत्र' शब्द का

---

१ उत्तरपुराण,
वर्णाकृत्यादि भेदाना, देहेस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मणादिषु शूद्राद्य गर्भाधानप्रवर्त्तनात्।
नास्ति जातिकृतो भेदो, मनुष्याणा गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मात्, अन्यथा परिकल्पते।

२ आचाराग निर्युक्ति, १९
एक्का मणुस्सजाई, रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसमे।
तिण्णेव सिप्पवणिए, सावगधम्मम्मि चत्तारि।

३ वही, २०-२७।

४ वरागचरित्र, २५।११
क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति, न चान्यथा वर्णचतुष्टय स्यात्॥

यह इस समाज-व्यवस्था एव तद्गत धारणा का महान् दोप है, इसे कोई भी विचारक अस्वीकार नही कर सकता। इस वर्ण-व्यवस्था के निर्माण मे समाज की उन्नति एव विकास का ही ध्यान रहा होगा किन्तु आगे चलकर इसमे जो बुराइया आयी, वे और भी इसका अग-भग कर देती है। एक वर्ग का अहभाव, दूसरे वर्ग की हीनता, स्पृश्यता और अस्पृश्यता की भावना का जो विस्तार हुआ, उसका मूल कारण यही जन्मगत कर्म-व्यवस्था है। यदि कर्मगत जाति-व्यवस्था होती तो ये क्षुद्र धारणाए उत्पन्न नही होती। सामयिक क्रान्ति के फलस्वरूप बहुत सारे शूद्र-कुल मे उत्पन्न व्यक्ति विद्याप्रधान और आचारप्रधान बने। क्या वे सही अर्थ मे ब्राह्मण नही है ? बहुत सारे विद्याशून्य और आचारशून्य ब्राह्मण क्या सही अर्थ मे अब्राह्मण नहीं है ? वर्णों के गुणात्मक नाम ही जातिवाद की अतात्त्विकता बतलाने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं।

कौन-सी जाति ऊची और कौन-सी नीची—इसका भी एकान्त-दृष्टि से उत्तर नही दिया जा सकता। वास्तविक दृष्टि से देखें तो जिस जाति के बहुसख्यकों के आचार-विचार सुसस्कृत और सयम-प्रधान होते हैं, वही जाति श्रेष्ठ है।[1] व्यवहार-दृष्टि के अनुसार जिस समय जैसी लौकिक धारणा होती है, वही उसका मानदण्ड है। किन्तु इस दिशा मे दोनो की सगति नही होती। वास्तविक दृष्टि मे जहा सयम की प्रधानता रहती है, वहां व्यवहार-दृष्टि मे अहभाव या स्वार्थ की। वास्तविक दृष्टिवालो का इसके विरुद्ध सघर्ष चालू रहे—यही उसके आधार पर पनपनेवाली बुराइयों का प्रतिकार है।

जैनो और बौद्धो की क्रान्ति का ब्राह्मणो पर प्रभाव पडा। किन्तु महावीर-निर्वाण की दूसरी सहस्राब्दी मे जैन आचार्य भी जातिवाद से प्रभावित हो गए, यह एक तथ्य है। इसे हम दृष्टि से ओझल नही कर सकते। आज भी जैनो पर जाति-वाद का असर है। समय की माग है कि जैन इस विषय पर पुनर्विचार करें।

मनुष्य जाति एक है

जाति सामाजिक व्यवस्था है। वह तात्त्विक वस्तु नही है। शूद्र और ब्राह्मण मे रग और आकृति का भेद नही जान पडता। दोनो की गर्भाधान विधि और जन्म-

---

१ (क) धर्मप्रकरण, परिच्छेद १७

न जातिमात्रतो धर्मो, लभ्यते देहधारिभि ।
सत्यशौचतप शील ध्यानस्वाध्यायवर्जितै ॥
सयमो नियम शीलं, तपो दान दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां, सा जातिर्महती सताम् ॥

(ख) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, २८

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देव विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥

स्थान और कुल का अर्थ होता है—एक योनि मे उत्पन्न होनेवाले अनेक वर्ग[1]। ये (जातिया और कुल) उतने ही व्यापक हैं जितना कि गोत्र-कर्म। एक मनुष्य का उत्पत्ति स्थान वडा भारी, स्वस्थ और पुष्ट होता है, दूसरे का वहुत रुग्ण और दुर्वल। इसका फलित यह होता है—जाति की अपेक्षा 'उच्चगोत्र'—विशिष्टजन्म स्थान, जाति की अपेक्षा 'नीच-गोत्र'—निकृष्ट जन्म-स्थान। जन्म-स्थान का अर्थ होता है—मातृपक्ष या मातृस्थानीय पक्ष। कुल की भी यही बात है। सिर्फ इतना अन्तर है कि कुल मे पितृपक्ष की विशेपता होती है। जाति मे उत्पत्ति-स्थान की विशेपता होती है और कुल मे उत्पादक अश की।[2]

'जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति जाति।'[3]

'मातृसमुत्था जाति।'[4]

'जातिगुणवन्मातृकत्वम्।'[5]

'कुलगुणवत् पितृकत्वम्।'[6]

—इनमे जाति और कुल की जो व्याख्याए हैं वे सव जाति और कुल का सम्वन्ध उत्पत्ति से जोडती हैं।

जाति परिवर्तनशील है

जातिया सामयिक होती हैं। उनके नाम और उनके प्रति होनेवाला प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का भाव वदलता रहता है। जैन-आगमो मे जिन जाति, कुल और गोत्रो का उल्लेख है, उनका अधिकाश भाग आज उपलब्ध भी नही है।

१ अवष्ठ, २ कलन्द, ३ वैदेह, ४ वैदिक, ५ हरित, ६ चुचुण—ये छह प्रकार के मनुष्य जाति-आर्य या इभ्य जाति वाले हैं।

१ उग्र, २ भोग, ३ राजन्य, ४ इक्ष्वाकु, ५ ज्ञात, ६ कौरव—ये छह प्रकार के मनुष्य कुलार्य हैं।

१ काश्यप, २ गौतम, ३ वत्स, ४ कुत्स, ५ कौशिक, ६ मण्डव, ७ विशिष्ट—ये सात मूल गोत्र हैं। इन सातो मे से प्रत्येक के सात-सात अवान्तर भेद हैं।[7]

---

१ आचाराग वृत्ति, १।६।
२ पिडनिर्युक्ति ४६८ वृत्ति
जातिर्ब्राह्मणादिका, कुलमुग्रादि अथवा मातृसमुत्था जाति, पितृसमुत्थ कुलम्।
३ उत्तराध्ययन, वृहद्वृत्ति, ३।२।
४ सूयगडो, वृत्ति, ६।१३।
५ स्थानागवृत्ति, पत्र १६८।
६ वही, पत्र १६८।
७. ठाण, ७।३०

यह व्यापक अर्थ है। यह गोत्र कर्म से सम्बन्धित है। साधारणतया गोत्र का अर्थ होता है—वंश, कुल और जाति।

गोत्रकर्म के साथ जाति का सम्बन्ध जोडकर कुछ जैन भी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि 'गोत्रकर्म के उच्च और नीच—ये दो भेद शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं', तब जैन-धर्म जातिवाद का समर्थक कैसे नही है? उनका तर्क गोत्र-कर्म के स्वरूप को न समझने का परिणाम है। गोत्र-कर्म न तो लोक-प्रचलित जातियो का पर्यायवाची शब्द है और न वह जन्मगत जाति से सम्बन्ध रखता है।

समृद्धि की अपेक्षा भी जैनसूत्रो मे कुल के उच्च-नीच—ये दो भेद बताये गए है। पुरानी व्याख्याओं मे जो उच्च कुल के नाम गिनाये हैं, वे आज लुप्तप्राय हैं। इन तथ्यो को देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि गोत्र-कर्म मनुष्य-कल्पित जाति का आभारी है।

जिन देशो मे वर्ण-व्यवस्था या जन्मगत ऊंच-नीच का भेद-भाव नही है, वहा गोत्र-कर्म की परिभाषा क्या होगी? गोत्र-कर्म ससार के प्राणिमात्र के साथ लगा हुआ है। उसकी दृष्टि मे भारतीय और अभारतीय का सम्बन्ध नही है।

जीवात्मा के पौद्गलिक सुख-दु ख के निमित्तभूत चार कर्म हैं—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य।

जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तप-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता और ऐश्वर्य-विशिष्टता—ये आठ उच्च गोत्र-कर्म के फल हैं। नीच-गोत्र कर्म के फल ठीक इसके विपरीत हैं।

गोत्र-कर्म के फलो पर दृष्टि डालने से सहज पता लग जाता है कि गोत्र-कर्म व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है, किसी समूह से नही। एक व्यक्ति मे भी आठो प्रकृतिया 'उच्चगोत्र' की ही हो या 'नीचगोत्र' की ही हो, यह कोई नियम नही। एक व्यक्ति रूप और बल से रहित है, फिर भी अपने कर्म से सत्कार-योग्य और प्रतिष्ठा-प्राप्त है तो मानना होगा कि वह जाति से उच्च-गोत्र-कर्म भोग रहा है और रूप तथा बल से नीच-गोत्र-कर्म। एक व्यक्ति के एक ही जीवन मे जैसे न्यूनाधिक रूप मे सुख और दु ख का उदय होता रहता है, वैसे ही उच्च गोत्र और नीच गोत्र का भी उदय होता रहता है। इस अध्ययन के पश्चात् गोत्र-कर्म और लोक-प्रचलित जातिया सर्वथा पृथक् हैं—इसमे कोई सन्देह नही रहता। यद्यपि जाति और कुल का अर्थ व्यवहार-सिद्ध जाति और कुल से जोडा गया है किन्तु यह उनका वास्तविक अर्थ नही है। यह तो केवल स्थूल-दृष्टि से किया गया विचार या बोध-सुलभता के लिए प्रस्तुत किया गया उदाहरण मात्र है।

जातिभेद केवल मनुष्यो मे हैं और गोत्र-कर्म का सम्बन्ध प्राणिमात्र से है, इसलिए उसके फलरूप मे मिलनेवाले जाति और कुल प्राणिमात्र से सम्बन्ध रखनेवाले ही हो सकते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो जाति का अर्थ होता है—उत्पत्ति-

जाति-गर्व तुच्छता का अभियान

यह जीव नाना गोत्र वाली जातियो मे आवर्त करता है। कभी देव, कभी नैरयिक और कभी असुर काम मे चला जाता है। वह कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, कभी कीडा और जुगुनू और कभी कुथू और चीटी बन जाता है। जब तक ससार नही कटता, तब तक यह चलता ही रहता है। अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार अच्छी-बुरी भूमिकाओ का सयोग मिलता ही रहता है।

यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र मे और अनेक बार नीच गोत्र मे जन्म ले चुका है। पर यह कभी भी न बडा बना और न छोटा। इसलिए जाति-मद नही करना चाहिए। जो कभी नीच गोत्र मे जाता है, वह कभी उच्च गोत्र मे भी चला जाता है और उच्च गोत्री नीच गोत्री बन जाता है। यह जानकर भी भला कोई आदमी गोत्रवादी या मानवादी होगा ? यह प्राणी अनेक योनियो मे जन्म लेता रहा है, तब भला वह कहा गृद्ध होगा !

एक जन्म मे एक प्राणी अनेक प्रकार की ऊच-नीच अवस्थाए भोग लेता है। इसीलिए उच्चता का अभिमान करना उचित नही है।

जो साधक जाति आदि का मद करता है, दूसरो को परछाईं की भाति तुच्छ समझता है, वह अहकारी पुरुष सत्य का अनुगामी नही हो सकता। वह वस्तुत मूर्ख है, पडित नही है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र और लिच्छवी—इन विशिष्ट अभिमानास्पद कुलो मे उत्पन्न हुआ व्यक्ति दीक्षित होकर अपने उच्च गोत्र का अभिमान नही करता, वही सत्य का अनुगामी होता है। जो भिक्षु परदत्त-भोजी होता है, भिक्षा से जीवन यापन करता है, वह भला किस बात का अभिमान करे ?

अभिमान से कुछ बनता नही, बिगडता है। जाति और कुल मनुष्यो को त्राण नही दे सकते। दुर्गति से बचाने वाले दो ही तत्त्व हैं। वे हैं—विद्या और आचरण।

जो साधक साधना के क्षेत्र मे पैर रखकर भी गृहस्थ-कर्म का आसेवन करता है, जाति आदि का मद करता है, वह पारगामी नही बन सकता।

साधना का प्रयोजन मोक्ष है। वह अगोत्र है। उसे जाति-गोत्र के सारे सम्बन्धो से छूटे हुए महर्षि ही पा सकते हैं।

जो पुरुष मिष्टभाषी, सूक्ष्मदर्शी और मध्यस्थ है वही जाति सम्पन्न है।

जाति-गर्व का परिणाम

जाति-गर्व का पहला परिणाम सामाजिक दुर्व्यवस्था और विद्रोह है। भगवान् महावीर ने इसका पारलौकिक फल भी बहुत अनिष्ट बतलाया है।

कोई पुरुष जाति, कुल बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य और प्रज्ञा के मद

व्यवहार में इसका कोई तात्त्विक रूप नहीं है। इसकी यह परिवर्तनशीलता ही इसकी अतात्त्विकता का स्वयंसिद्ध प्रमाण है।

हरिकेशबल मुनि ने ब्राह्मण कुमारों से कहा—जो क्रोध, मान, वध, मृषा, अदत्त और परिग्रह से घिरे हुए हैं, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से हीन हैं।[1]

ब्राह्मण वही है जो ब्रह्मचारी है।[2]

महर्षि जयघोष विजयघोष की यज्ञशाला में गए। दोनों में चर्चा चली। जातिवाद का प्रश्न आया। भगवान् महावीर की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए मुनि बोले—जो निर्मम और निःशोक है और आर्यवाणी में रमता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो तपे हुए सोने के समान निर्मल है, राग, द्वेष और भय से अतीत है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो तपस्वी क्षीणकाय, जितेन्द्रिय, रक्त और मांस से अपचित, सुव्रत और शान्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो क्रोध, लोभ, भय और हास्य-वश असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो सजीव या निर्जीव थोड़ा या बहुत अदत्त नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो स्वर्गीय, मानवीय और पाशविक किसी भी प्रकार का अब्रह्मचर्य सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल उससे ऊपर रहता है, उसी प्रकार जो काम-भोगों से ऊपर रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो अस्वाद-वृत्ति, निःस्पृहभाव से भिक्षा लेनेवाले, घर और परिग्रह से रहित और गृहस्थ से अनासक्त है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

जो बन्धनों को छोड़कर फिर से उनमें आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[3]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये कार्य से होते हैं।[4] तत्त्व-दृष्ट्या व्यक्ति को ऊंचा या नीचा उसके आचरण ही बनाते हैं। कार्य-विभाग से मनुष्य का श्रेणी-विभाग होता है, वह उच्चता और नीचता का मानदण्ड नहीं होता।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, १२।१४

२ वही, २५।३२ बम्भचेरेण बम्भणो।

३ वही, २५।२०, २९

४ वही, २५।३३।

जाति के गर्व से गर्वित ब्राह्मण चाण्डाल-मुनि के तपोबल से अभिभूत हो गए। इस दशा का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—'यह आखो के सामने है—तपस्या ही प्रधान है। जाति का कोई महत्त्व नही हैं। जिसकी योग-विभूति और सामर्थ्य अचम्भे मे डालनेवाली है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।'[1]

जो नीच जन हैं, वे असत्य का आचरण करते हैं। इसका फलित यह होता हैं जो असत्य का आचरण नही करते, वे नीच नही हैं।'[2]

श्रमण का उपासक हर कोई बन सकता है। उसके लिए जाति का बन्धन नही है। श्रावक के सिर मे मणि जडा हुआ नही होता। जो अहिंसा-सत्य का आचरण करता है वही श्रावक है, भले फिर वह शूद्र हो या ब्राह्मण।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, १२।३७

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहू, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

२ प्रश्नव्याकरण, २ आश्रवद्वार।

अथवा किसी दूसरे मद-स्थान से उन्मत्त होकर दूसरो की अवहेलना, निन्दा और गर्हणा करता है, उनसे घृणा करता है, उन्हे तिरस्कृत और अपमानित करता है—यह दीन है, मैं जाति, कुल, बल आदि गुणो से विशिष्ट हू—इस प्रकार गर्व करता है, वह अभिमानी पुरुष मरकर गर्भ, जन्म और मौत के प्रवाह मे निरन्तर चक्कर लगाता है। क्षण भर भी उसे दुःख से मुक्ति नही मिल सकती।[1]

१ एक व्यक्ति जाति-सम्पन्न (शुद्ध मातृक) होता है, कुल-सम्पन्न (शुद्ध पितृक) नही होता।

२ एक व्यक्ति कुल-सम्पन्न होता है, जाति-सम्पन्न नही होता।

३ एक व्यक्ति जाति और कुल दोनो से सम्पन्न होता है।

४ एक व्यक्ति जाति और कुल दोनो से ही सम्पन्न नहीं होता।[2]

जाति और कुल-भेद का आधार मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान कुटुम्ब-व्यवस्था भी हो सकती है। जिस कुटुम्ब के सचालन का भार स्त्रियो ने वहन किया, उनके वर्ग 'जाति' कहलाए और पुरुषो के नेतृत्व मे चलनेवाले कुटुम्बो के वर्ग 'कुल' कहलाए।

सन्तान पर पिता-माता के अर्जित गुणो का असर होता है। इस दृष्टि से जाति और कुल का विचार बडा महत्त्वपूर्ण है। किन्तु वह सामाजिक उच्चता और नीचता का मानदण्ड नही है।

समता धर्म मे जातिवाद का अनवकाश

जो सम्यक्-दृष्टि है, जिन्हें देह और जीव मे भेद-दर्शन की दृष्टि मिली है, वे देह-भेद के आधार पर जीव-भेद नही कर सकते। जीव के लक्षण ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के प्रति देह-भेद के आधार पर राग-द्वेष नही करना चाहिए।[3]

जो व्यक्ति देह-भेद के आधार पर जीवो मे भेद मानते हैं, वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र को जीव का लक्षण नही मानते।

जिसका आचरण पवित्र होता है, वह आदरणीय होता है। कोई व्यक्ति जाति से भले ही चाण्डाल हो, किन्तु यदि वह व्रती है तो उसे देवता भी ब्राह्मण मानते हैं।[4]

---

१ सूयगडो, २।२।२५

२ ठाण, ४।२२६

३ परमात्मप्रकाश, १०२
देहविभेयइ जो कुणइ जीवह भेउ विचित्तु।
सो ण वि लक्खणु मुणइ तह दसणुणाणुचरित्तु ॥

४ पद्मपुराण, ११।२०३
व्रतस्थमपि चाण्डाल, त देवा ब्राह्मण विदु ।

मानसिक अहिंसा और उसकी वैयक्तिक और सामाजिक साधना का सुव्यवस्थित रूप जैन तीर्थंकरो ने दिया, वह इतिहास द्वारा भी अभिमत है।

सब जीव समान हैं

बाहरी आवरणो का भेद होने पर भी जीवो का भीतरी जगत् एक-जैसा है। इसे समझ लेने पर समत्व का आधार पुष्ट हो जाता है। समानता के विभिन्न दृष्टिकोण ये हैं—

(क) परिमाण की दृष्टि से

जीवो के शरीर भले छोटे हो या बडे, आत्मा सबमे समान है। चीटी और हाथी—दोनो की आत्मा समान है।

भगवान् ने कहा—गौतम! चार वस्तुए समतुल्य हैं—आकाश (लोकाकाश)—गति-सहायक-तत्त्व (धर्म), स्थिति-सहायक-तत्त्व (अधर्म) और एक जीव—इन चारो के अवयव बराबर हैं। तीन व्यापक हैं। जीव कर्म शरीर से बधा हुआ रहता है, इसलिए वह व्यापक नही बन सकता। उसका परिमाण शरीर-व्यापी होता है। शरीर—मनुष्य, पशु, पक्षी—इन जातियो के अनुरूप होता है। शरीर-भेद के कारण प्रसरण-भेद होने पर भी जीव के मौलिक परिमाण मे कोई न्यूनाधिक्य नही होता। इसलिए परिमाण की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ख) ज्ञान की दृष्टि से

मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवो का ज्ञान सबसे कम विकसित होता है। ये एकेन्द्रिय हैं। इन्हे केवल स्पर्श की अनुभूति होती है। इनकी शारीरिक दशा दयनीय होती है। इन्हे छूने मात्र से अपार कष्ट होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अमनस्क पचेन्द्रिय, समनस्क पचेन्द्रिय—ये जीवो के क्रमिक विकास-शील वर्ग हैं। ज्ञान का विकास सब जीवो मे समान नही होता किन्तु ज्ञान-शक्ति सब जीवो मे समान होती है। प्राणिमात्र मे अनन्त ज्ञान का सामर्थ्य है, इसलिए ज्ञान-सामर्थ्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ग) वीर्य की दृष्टि से

कई जीव प्रचुर उत्साह और क्रियात्मक वीर्य से सम्पन्न होते हैं तो कई उनके धनी नही होते। शारीरिक तथा पारिपार्श्विक साधनो की न्यूनाधिकता और उच्चावचता के कारण ऐसा होता है। आत्म-वीर्य या योग्यतात्मक वीर्य मे कोई न्यूनाधिक्य नही होता, इसलिए योग्यतात्मक वीर्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(घ) अपौद्गलिकता की दृष्टि से

किन्ही का शरीर सुन्दर, जन्मस्थान पवित्र और व्यक्तित्व आकर्षक होता है और किन्ही का इसके विपरीत होता हैं।

कई जीव लम्बा जीवन जीते हैं, कई छोटा, कई यश पाते हैं और कई नही पाते या कुयश पाते हैं, कई उच्च कहलाते हैं और कई नीच, कई सुख की अनुभूति

५

जन दशन : वतमान समस्याओ के सन्दर्भ मे

समत्व की पृष्ठभूमि

दर्शन के सत्य ध्रुव होते हैं। उनकी अपेक्षा त्रैकालिक होती है। मानव-समाज की कुछ समस्याए बनती-मिटती रहती हैं। किन्तु कुछ समस्याए मौलिक होती हैं। वार्तमानिक समस्या के समाधान का दायित्व दर्शन पर होता है। पर मूलत दर्शन उन समस्याओ का समाधान देता है, जो मौलिक होने के साथ-साथ दूसरी समस्याओ को उत्पन्न भी करती हैं।

वैषम्य एक समस्या है। उसका कारण है—समत्व के दृष्टिकोण का अविकास। भगवान् महावीर ने साम्य का जो स्वर उद्‌बुद्ध किया, वह आज भी मननीय है। भगवान् ने कहा—"प्रत्येक दर्शन को पहले जानकर मैं प्रश्न करता हू, हे वादियो! तुम्हें सुख अप्रिय है या दु ख अप्रिय ? यदि तुम स्वीकार करते हो कि दु ख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियो को, सर्व भूतो को, सर्व जीवो को और सर्व सत्वो को दु ख महा भयकर, अनिष्ट और अशान्तिकर है।"

"जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, ककर, ठिकरी आदि से मारे, पीटे, ताडित करे तर्जित करे, दु ख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राणहरण करे तो मुझे दु'ख होता है, जैसे मृत्यु से लगाकर रोम उखाडने तक से मुझे दु ख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो को होता है—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को नही मारना चाहिए, उन पर हुकूमत नही करनी चाहिए, उन्हें परिताप नही पहुचाना चाहिए, उन्हे उद्विग्न नही करना चाहिए।[1]

इस साम्य-दर्शन के पीछे शक्ति का तन्त्र नही है, इसलिए यह समाज को अधिक समृद्ध बना सकता है। समूचा विश्व अहिंसा या साम्य की चर्चा कर रहा है। इस सस्कार की पृष्ठभूमि मे जैन दर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है। कायिक और

---

१ सूयगडो, २।१।१५

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अवहेलना कर अपना प्रभुत्व साधता है, वहा असमजसता खडी हो जाती है। उसका परिणाम है—कटुता, सघर्ष और अशान्ति।

निरपेक्षता के पाच रूप बनते है—

१ वैयक्तिक, २ जातीय, ३ सामाजिक, ४. राष्ट्रीय, ५ अन्तर्राष्ट्रीय।

इसके परिणाम है—वर्ग-भेद, अलगाव, अव्यवस्था, सघर्ष, शक्ति-क्षय, युद्ध और अशान्ति।

सापेक्षता के रूप भी पाच हैं—

१ वैयक्तिक, २. जातीय, ३ सामाजिक, ४. राष्ट्रीय, ५ अन्तर्राष्ट्रीय।

इसके परिणाम है—समता-प्रधान-जीवन, सामीप्य, व्यवस्था, स्नेह, शक्ति-सवर्धन, मैत्री और शान्ति।

व्यक्ति और समुदाय

व्यक्ति अकेला ही नही आता। वह बन्धन के बीज साथ लिए आता है। अपने हाथो उन्हे सीच विशाल वृक्ष बना लेता है। वही निकुज उसके लिए बन्धन गृह बन जाता है। बन्धन लादे जाते हैं, यह तात्कालिक सत्य है। स्थायी सत्य यह है कि बधन स्वय विकसित किए जाते हैं।

उन्ही के द्वारा वैयक्तिकता समुदाय से जुडकर सीमित हो जाती है। वैयक्तिकता और सामुदायिकता के बीच भेद-रेखा खीचना सरल कार्य नही है। व्यक्ति व्यक्ति ही है। सब स्थितियो मे वह व्यक्ति ही रहता है। जन्म, मौत और अनुभूति का क्षेत्र व्यक्ति की वैयक्तिकता है। सामुदायिकता की व्याख्या पारस्परिकता के द्वारा ही की जा सकती है। दो या अनेक की जो पारस्परिकता है, वही समुदाय है।

पारस्परिकता की सीमा से इधर जो कुछ भी है, वह वैयक्तिकता है। व्यक्ति का आन्तरिक क्षेत्र वैयक्तिक है, वह उससे जितना बाहर जाता है उतना ही सामुदायिक बनता चलता है।

व्यक्ति को समाज-निरपेक्ष और समाज को व्यक्ति-निरपेक्ष मानना एकान्त पार्थक्यवादी नीति है। इससे दोनो की स्थिति असमजस बनती है।

समन्वयवादी नीति के अनुसार व्यक्ति और समाज की स्थिति सापेक्ष है। कही व्यक्ति गौण बनता है, समाज मुख्य और कही समाज गौण बनता है और व्यक्ति मुख्य।

इस स्थिति में स्नेह का प्रादुर्भाव होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे मथनी के रूपक में चित्रित किया है। मन्थन के समय एक हाथ आगे आता है, दूसरा पीछे चला जाता है। दूसरा आगे आता है, पहला पीछे सरक जाता है। इस सापेक्ष मुख्यामुख्य भाव से स्नेह मिलता है। एकान्त आग्रह से खिंचाव बढ़ता है।

करते हैं और कई दुःख की। ये सब पौद्गलिक उपकरण हैं। जीव अपौद्गलिक है, इसलिए अपौद्गलिकता की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ङ) निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से

कई व्यक्ति हिंसा करते हैं—कई नही करते, कई झूठ बोलते हैं—कई नही बोलते, कई चोरी और सग्रह करते हैं—कई नही करते, कई वासना मे फसते हैं—कई नही फसते। इस वैषम्य का कारण मोह (मोहक-पुद्गलो) का उदय और अनुदय है। मोह के उदय से व्यक्ति मे विकार आता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये विकार (विभाव) हैं। मोह के अनुदय से व्यक्ति स्वभाव मे रहता है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह स्वभाव है। विकार औपाधिक होता है। निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(च) स्वभाव-बीज की समता की दृष्टि से

आत्मा परमात्मा है। पौद्गलिक उपाधियो से बधा हुआ जीव ससारी-आत्मा है। उनसे मुक्त जीव परमात्मा है। परमात्मा के आठ लक्षण हैं—

१ अनन्त-ज्ञान, २ अनन्त-दर्शन, ३ अनन्त-आनन्द, ४ अनन्त-पवित्रता, ५ अपुनरावर्तन, ६ अमूर्तता—अपौद्गलिकता, ७ अगुरु-लघुता—पूर्ण साम्य, ८ अनन्त-शक्ति।

इन आठो के बीज प्राणिमात्र मे सममात्र होते हैं। विकास का तारतम्य होता है। विकास की दष्टि से भेद होते हुए भी स्वभाव-बीज की साम्य-दृष्टि से सब जीव समान हैं।

यह आत्मौपम्य या सर्व-जीव-समता का सिद्धान्त समत्व की आधार-शिला है।

सापेक्ष और निरपेक्ष दृष्टिकोण

निरपेक्ष दृष्टि एक समस्या है। उसका समाधान है—सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास।

सापेक्ष दृष्टि ध्रुव सत्य की अपरिहार्य व्याख्या है। यह जितना दार्शनिक सत्य है, उतना ही व्यवहार-सत्य है। हमारा जीवन वैयक्तिक भी है और सामुदायिक भी। इन दोनो कक्षाओ मे सापेक्षता की अर्हता है।

सापेक्ष नीति से व्यवहार मे सामजस्य आता है। उसका परिणाम है मैत्री, शान्ति और व्यवस्था। निरपेक्ष-नीति अवहेलना, तिरस्कार और घृणा पैदा करती है। परिवार, जाति, गाव, राज्य, राष्ट्र और विश्व—ये क्रमिक विकासशील सगठन हैं। सगठन का अर्थ है—सापेक्षता। सापेक्षता का नियम जो दो के लिए है, वही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के लिए है।

समन्वय की दिशा मे प्रगति

समन्वय का सिद्धान्त जैसे विश्व-व्यवस्था से सम्बद्ध है, वैसे ही व्यवहार और उपयोगिता से भी सम्बद्ध है। विश्व-व्यवस्था मे जो सहज सामजस्य है, उसका हेतु उसी मे निहित है। वह है—प्रत्येक पदार्थ मे विभिन्नता और समता का सहज समन्वय। यही कारण है कि सभी पदार्थ अपनी स्थिति मे क्रियाशील रहते हैं। उपयोगिता के क्षेत्र मे सहज समन्वय नही है, इसलिए वहा सहज सामजस्य भी नही है। असामजस्य का कारण एकान्त-बुद्धि और एकान्त-बुद्धि का कारण पक्षपातपूर्ण वुद्धि है।

स्व और पर का भेद तीव्र होता है, तटस्थ वृत्ति क्षीण हो जाती है, हिंसा का मूल यही है।

अहिंसा की जड है—मध्यस्थ-वृत्ति—लाभ और अलाभ मे वृत्तियो का सन्तुलन।

स्व के उत्कर्ष मे पर की हीनता का प्रतिविम्व होता है। पर के उत्कर्ष मे स्व की हीनता की अनुभूति होती है। ये दोनो ही एकान्तवाद है।

एक जाति या राष्ट्र दूसरी जाति या राष्ट्र पर हावी हुआ या होता है, वह इसी एकान्तवाद की प्रतिच्छाया है।

पर के जागरण-काल मे स्व के उत्कर्ष का पारा ऊचा चढा नही रह सकता। वहा दोनो मध्य-रेखा पर आ जाते हैं। उनका दृष्टिकोण सापेक्ष वन जाता हे।

आज की राजनीति सापेक्षता की दिशा मे गति कर रही है। कहना चाहिए—विश्व का मानस अनेकान्त को समझ रहा है और व्यवहार मे उतार रहा है।

इस दशक का मानस समन्वय की रेखा को और स्पष्ट खीच रहा है।

भगवान् महावीर का दार्शनिक मध्यम-मार्ग ज्ञात-अज्ञात रूप मे विकसित हो रहा है।

सापेक्षता के सूत्र

१ कोई भी वस्तु और वस्तु-व्यवस्था स्याद्वाद या सापेक्षवाद की मर्यादा से वाहर नही है।

२. दो विरोधी गुण एक वस्तु मे एक साथ रह सकते हैं। उनमे सहानवस्थान (एक साथ न टिक सके) जैसा विरोध नही है।

३ जितने वचन प्रकार है उतने ही नय है।

४ ये विशाल ज्ञानसागर के अश हैं।

५ ये अपनी-अपनी सीमा मे सत्य हैं।

६ दूसरे पक्ष मे सापेक्ष हैं तभी सत्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय निरपेक्षता

बहुता और अल्पता, व्यक्ति और समूह के ऐकान्तिक आग्रह पर असन्तुलन बढ़ता है, सामजस्य की कडी टूट जाती है।

अधिकतम मनुष्यो का अधिकतम हित—यह जो सामाजिक उपयोगिता का सिद्धान्त है, वह निरपेक्ष नीति पर आधारित है। इसी के आधार पर हिटलर ने यहूदियो पर मनमाना अत्याचार किया।

बहु सख्यको के लिए अल्प सख्यको तथा बडो के लिए छोटो के हितो का बलिदान करने के सिद्धान्त का औचित्य निरपेक्ष दृष्टिकोण की देन है।

सामन्तवादी युग मे बडो के लिए छोटो के हितो का त्याग उचित माना जाता था। बहुसख्यको के लिए अल्पसख्यको तथा बड़े राष्ट्रो के लिए छोटे राष्ट्रो की उपेक्षा आज भी होती है। यह अशान्ति का हेतु बनता है। सापेक्ष-नीति के अनुसार किसी के लिए भी किसी का अनिष्ट नही किया जा सकता।

बडे राष्ट्र छोटे राष्ट्रो को नगण्य मान उन्हे आगे आने का अवसर नही देते। इस निरपेक्ष-नीति की प्रतिक्रिया होती है। फलस्वरूप छोटे राष्ट्रो मे बडो के प्रति अस्नेह-भाव उत्पन्न हो जाता है। वे सगठित हो उन्हे गिराने की सोचते हैं। घृणा के प्रति घृणा और तिरस्कार के प्रति तिरस्कार तीव्र हो उठता है।

मैत्री की पृष्ठभूमि सत्य है। वह ध्रुवता और परिवर्तन दोनो के साथ जुडा हुआ है। अपरिवर्तन जितना सत्य है उतना ही सत्य है परिवर्तन। जो अपरिवर्तन को नही जानता वह चक्षुष्मान् नहीं हैं, वैसे ही वह भी चक्षुष्मान् नही है, जो परिवर्तन को नही समझता।

वस्तुए बदलती हैं, क्षेत्र बदलता है, काल बदलता है, विचार बदलते हैं, इनके साथ स्थितिया बदलती हैं। बदलते सत्य को जो पकड लेता है, वह सामजस्य की तुला मे चढ दूसरो का साथी बन जाता है।

समय-समय पर हुई राज्यक्रान्तियो ने राज्यसत्ताओ को बदल डाला। राज्य की सीमाए बदलती रही हैं। शासन-काल बदलता रहा है। शासन की पद्धतिया भी बदलती रही हैं। इन परिवर्तनो का मूल्याकन करनेवाले ही अशान्ति को टाल सकते हैं।

भेदात्मक प्रवृत्तियो के ऐकान्तिक आग्रह से अखण्डता का नाश होता है।

अभेदात्मक वृत्ति के एकान्त आग्रह से खण्ड की वास्तविकता और उपयोगिता का लोप होता है।

व्यष्टि और समष्टि तथा अपरिवर्तन और परिवर्तन के समन्वय से व्यवहार का सामजस्य और व्यवस्था का सन्तुलन होता है, वह इनके असमन्वय मे नही होता।

सत्ता के प्रतीक हैं। ये विरोध और अविरोध के साधन नही हैं। अविरोध का आधार यदि अभेद होगा तो भेद विरोध का आधार अवश्य बनेगा।

अभेद और भेद—ये वस्तु या व्यक्ति के नैसर्गिक गुण हैं। इनकी सहस्थिति ही व्यक्ति या वस्तु है। इसलिए इन्हे अविरोध या विरोध का साधन नही बनाना चाहिए। भेद भी अविरोध का साधन बने—यही समन्वय से प्रतिफलित साधना का स्वरूप है। यही है अहिसा, मध्यस्थवृत्ति, तटस्थ नीति या साम्य-योग।

जाति, रग और वर्ग के भेदो को लेकर जो सघर्ष चल रहे हैं, उनका आधार विषम मनोवृत्ति है। उसके बीज की उर्वर भूमि एकान्तवाद है। निरकुश एकाधिपत्य और अराजकता—ये दोनो ही एकान्तवाद हैं। वाणी, विचार, लेख और मान्यता का नियन्त्रण स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अपहरण है।

, ाजकता मे समूचा जीवन ही खतरे मे पड जाता है। सामजस्य की रेखा इनके बीच मे है।

व्यक्ति अकेलेपन और समुदाय के मध्य-बिन्दु पर जीता है। इसलिए उसके सामजस्य का आधार मध्यम-मार्ग ही हो सकता है।

शान्ति और समन्वय

प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय यथार्थ-मूल्यो के द्वारा ही शान्ति का अर्जन और उपभोग कर सकता है। इसलिए दृष्टिकोण को वस्तुस्पर्शी बनाना उनके लिए वरदान जैसा होता है।

पूर्व-मान्यता या रूढि के कारण कुछ व्यक्ति या राष्ट्र स्थिति का यथार्थ मूल्य नही आकते या आकना नही चाहते—वे अतीतदर्शी हैं।

अतीत-दर्शन के आधार पर वर्तमान (ऋजुसूत्र नय) की अवहेलना करना निरपेक्ष-नीति है। इसका परिणाम है—असामजस्य।

यह असदिग्ध सत्य है कि शक्ति-प्रयोग निरपेक्षता की मनोवृत्ति का परिणाम है। निरपेक्षता से सद्भावना का अन्त और कटुता का विकास होता है। कटुता की परिसमाप्ति अहिसा मे निहित है। क्रूरता का भाव तीव्र होता है, समन्वय की बात नही सूझती। समन्वय और अहिसा अन्योन्याश्रित हैं। शान्ति से समन्वय और समन्वय से शान्ति होती है।

सह-अस्तित्व की धारा

प्रभु-सत्ता की दृष्टि से सब स्वतन्त्र राष्ट्र समान हैं किन्तु सामर्थ्य की दृष्टि से सब समान नही भी हैं। समृद्धि का कोई न कोई भाग सभी को मिला है। सामर्थ्य की विभिन्न कक्षाएं बटी हुई हैं। सब पर किसी एक की प्रभु-सत्ता नहीं है। एक-दूसरे मे पूर्ण साम्य और वैषम्य भी नहीं है। कुछ साम्य और कुछ वैषम्य से वचित भी

७ दूसरे पक्ष की सत्ता मे हस्तक्षेप, अवहेलना और आक्रमण करते हैं तव वे असत्य वन जाते हैं।

८ सव दृष्टिकोण परस्पर मे विरोधी हैं—पूर्ण साम्य नही हैं किन्तु सापेक्ष हैं, एकत्व की कडी से जुडे हुए हैं, इसलिए वे अविरोधी सत्य के साधक हैं। क्या सयुक्त राष्ट्र-सघ के निर्माण का यह आधारभूत सत्य नही है, जहा विरोधी राष्ट्र भी एकत्रित होकर विरोध का परिहार करने का यत्न करते हैं।

९ एकान्त अविरोध और एकान्त विरोध से पदार्थ-व्यवस्था नही होती। व्यवस्था की व्याख्या अविरोध और विरोध की सापेक्षता द्वारा की जा सकती है।

१० जितने एकान्तवाद या निरपेक्षवाद हैं, ये सव दोपो से भरे पडे हैं।

११ ये परस्पर ध्वसी हैं—एक-दूसरे का विनाश करनेवाले हैं।

१२ स्याद्वाद और नयवाद मे अनाक्रमण, हस्तक्षेप, स्वमर्यादा का अनतिक्रमण, सापेक्षता—ये सामजस्यकारक सिद्धान्त हैं।

इनका व्यावहारिक उपयोग भी असन्तुलन को मिटानेवाला है।

साम्प्रदायिक सापेक्षता

धार्मिक क्षेत्र भी सम्प्रदायो की विविधता के कारण असामजस्य की रगभूमि वना हुआ है।

समन्वय का पहला प्रयोग वहा होना चाहिए। समन्वय का आधार ही अहिसा है। अहिसा ही धर्म है। धर्म का ध्वसक कीटाणु है—साम्प्रदायिक आवेश।

आचार्यश्री तुलसी द्वारा सन् १९५४ मे वम्वई मे प्रस्तुत साम्प्रदायिक एकता के पाच व्रत इस अभिनिवेश के नियन्त्रण का सरल आधार प्रस्तुत करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ मण्डनात्मक नीति वरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरो पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किए जाए।

२ दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३ दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियो के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४ कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक वहिष्कार आदि अवाछनीय व्यवहार न किया जाए।

५ धर्म के मौलिक तथ्य—अहिसा, सत्य, अचौर्य, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी वनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

सामजस्य का आधार—मध्यम-मार्ग

भेद और अभेद—ये हमारी स्वतन्त्र चेतना, स्वतन्त्र व्यक्तित्व और स्वतन्त्र

स्वापेक्षया सत्ता जैसे पदार्थ का गुण है, वैसे ही परापेक्षया असत्ता उसका गुण नही होता तो द्वैत होता ही नही। द्वैत का आधार स्व-गुण-सत्ता और पर-गुण-असत्ता का सहावस्थान है।

सह-अस्तित्व मे विरोध तभी आता है जब एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र, दूसरे व्यक्ति, जाति या राष्ट्र के स्वत्व को हडप जाना चाहते हैं। यह आक्रामक नीति ही सह-अस्तित्व की बाधा है। अपने से भिन्न वस्तु के स्वत्व का निर्णय करना सरल कार्य नही है। स्व के आरोप मे एक विचित्र प्रकार का मानसिक झुकाव होता है। वह सत्य पर आवरण डाल देता है। सत्ताशक्ति या अधिकार-विस्तार की भावना के पीछे यही तत्त्व सक्रिय होता है।

स्वत्व की मर्यादा

आन्तरिक क्षेत्र मे व्यक्ति की अनुभूतिया और अन्तर् का आलोक ही उसका स्व है।

बाहरी सम्बन्धो मे स्व की मर्यादा जटिल बनती है। दूसरो के स्वत्व या अधिकारो का हरण स्व नही—यह अस्पष्ट नही है। सघर्ष या अशान्ति का मूल दूसरो के स्व का अपहरण ही है।

युग-भावना के साथ-साथ 'स्व' की मर्यादा भी बदलती है। उसे समझनेवाला मर्यादित हो जाता है। वह सघर्ष की चिनगारी नही उछालता। रूढिपरक लोग 'स्व' की शाश्वत स्थिति से चिपके बैठे रहते हैं। वे अशान्ति पैदा करते हैं।

बाहरी सम्बन्धो मे स्व की मर्यादा शाश्वत या स्थिर हो भी नही सकती। इसलिए भावना-परिवर्तन के साथ-साथ स्वय को बदलना भी जरूरी हो जाता है। बाहर से सिमटकर अधिकारो मे आना शान्ति का सर्वप्रधान सूत्र है, उसमे खतरा है ही नही। इस जन-जागरण के युग मे उपनिवेशवाद, सामन्तवाद और एकाधिकारवाद मिटते जा रहे हैं। विचारशील व्यक्ति और राष्ट्र दूसरो के स्वत्व से बने अपने विशाल रूप को छोड अपने रूप मे सिमटते जा रहे हैं। यह सामजस्य की रेखा है।

वर्ग-विग्रह और अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह की समापन-रेखा भी यही है। इसी के आधार पर कहा जा सकता है कि आज का विश्व व्यावहारिक समन्वय की दिशा मे प्रगति कर रहा है।

निष्कर्ष

शान्ति का आधार—व्यवस्था है।
व्यवस्था का आधार—सह-अस्तित्व है।
सह-अस्तित्व का आधार—समन्वय है।

कोई नही है। इसलिए कोई किसी को मिटा भी नही सकता और मिट भी नही सकता। वैषम्य को ही प्रधान मान जो दूसरे को मिटाने की सोचता है, वह वैषम्यवादी नीति के एकान्तीकरण द्वारा असामजस्य की स्थिति पैदा कर डालता है।

साम्य को ही एकमात्र प्रधान मानना भी साम्यवादी नीति का एकान्तिक आग्रह है। दोनो के एकान्तिक आग्रह के परिणामस्वरूप ही आज शीत-युद्ध का वोलवाला है।

विरोधी युगलो के सह-अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—नित्य-अनित्य, सामान्य-असामान्य, वाच्य-अवाच्य, सत्-असत् जैसे विरोधी युगल एक साथ ही रहते हैं। जिस पदार्थ मे कुछ गुणो की अस्तिता है, उसमे कुछ की नास्तिता है। यह अस्तिता और नास्तिता एक ही पदार्थ के दो विरोधी, किन्तु सह-अवस्थित धर्म हैं।

सहावस्थान विश्व की विराट् व्यवस्था का अग है। यह जैसे पदार्थाश्रित है, वैसे ही व्यवहाराश्रित है। साम्यवादी और जनतन्त्री राष्ट्र एक साथ जी सकते हैं—राजनीति के रगमच पर यह घोप वलशाली वन रहा है। यह समन्वय के दर्शन का जीवन-व्यवहार मे पडनेवाला प्रतिविम्व है।

वैयक्तिकता, जातीयता, सामाजिकता, प्रान्तीयता और राष्ट्रीयता—ये निरपेक्ष रूप मे वढते हैं, तव असामजस्य के लिए ही वढ़ते हैं।

व्यक्ति और सत्ता दोनो भिन्न ही हैं, यह दोनो के सम्वन्ध की अवहेलना है।

व्यक्ति ही तत्त्व है—यह राज्य की प्रभु-सत्ता का तिरस्कार है। राज्य ही तत्त्व है—यह व्यक्ति की सत्ता का तिरस्कार है। सरकार ही तत्त्व है—यह स्थायी तत्त्व—जनता का तिरस्कार है। जहा तिरस्कार है, वहा निरपेक्षता है। जहा निरपेक्षता है, वहा असत्य है। असत्य की भूमिका पर सह-अस्तित्व का सिद्धान्त पनप नही सकता।

सह-अस्तित्व का आधार—सयम

सह-अस्तित्व का सिद्धान्त राजनयिको ने भी समझा है। राष्ट्रो के आपसी सम्वन्ध का आधार जो कूटनीति था, वह वदलने लगा है। उसका स्थान सह-अस्तित्व ने लिया है। अव समस्याओ का समाधान इसी को आधार मान खोजा जाने लगा है। किन्तु अभी एक मजिल और पार करनी है।

दूसरो के स्वत्व को आत्मसात् करने की भावना त्यागे विना सह-अस्तित्व का सिद्धान्त सफल नही होता। स्याद्वाद की भापा मे—स्वय की सत्ता जैसे पदार्थ का गुण है, वैसे ही दूसरे पदार्थों की असत्ता भी उसका गुण है। स्वापेक्षा से सत्ता और परापेक्षा से असत्ता—ये दोनो गुण पदार्थ की स्वतन्त्र-व्यवस्था के हेतु हैं।

४

ज्ञान-मीमांसा

समन्वय का आधार—सत्य है।

सत्य का आधार—अभय है।

अभय का आधार—अहिंसा है।

अहिंसा का आधार—अपरिग्रह है।

अपरिग्रह का आधार—सयम है।

असयम से सग्रह, सग्रह से हिंसा, हिंसा से भय, भय से असत्य, असत्य से सघर्ष, सघर्ष से अधिकार-हरण, अधिकार-हरण से अव्यवस्था, अव्यवस्था से अशान्ति होती है।

दूसरो के 'स्वत्व' पर अपना अधिकार करना आक्रमण है। पारस्परिक विरोध और ध्वस का हेतु यही है।

अपरिवर्तित सत्य की दृष्टि से परिवतन अवस्तु है। परिवर्तित-सत्य की दृष्टि से अपरिवर्तन अवस्तु है। यह अपनी-अपनी विषय-मर्यादा है किन्तु अपरिवर्तन और परिवर्तन दोनो निरपेक्ष नही हैं।

अपरिवर्तन की दृष्टि से मूल्याकन करते समय परिवर्तन गौण अवश्य होगा किन्तु उसे सर्वथा भूल ही नही जाना चाहिए।

परिवर्तन की दृष्टि से मूल्याकन करते समय अपरिवतन गौण अवश्य होगा किन्तु उसे सर्वथा भूल ही नही जाना चाहिए।

निरपेक्ष दृष्टिकोण

१ व्यक्ति और समुदाय दोनो सर्वथा भिन्न ही हैं—यह वस्तु-स्थिति का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक पार्थक्यवादी नीति है।

२ समुदाय ही सत्य है—यह व्यक्ति का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक समुदायवादी नीति है।

३ व्यक्ति ही सत्य है—यह समुदाय का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक व्यक्ति-वादी नीति है।

४ वतमान ही सत्य है—यह अतीत और भविष्य, अपरिवतन या एकता का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक परिवर्तनवादी नीति है।

५ लिग-भेद ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

६ उत्पत्ति-भेद ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

७ क्रियाकाल ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

निरपेक्ष दृष्टि का त्याग ही समाज को शान्ति की ओर अग्रसर कर सकता है।

१

ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान क्या है ?

जो आत्मा है, वह जानता है। जो जानता है, वह आत्मा है।[1]

आत्मा और अनात्मा मे अत्यन्ताभाव है। आत्मा कभी अनात्मा नही बनता और अनात्मा कभी आत्मा नही बनता।

आत्मा भी द्रव्य है और अनात्मा भी द्रव्य है।[2] दोनो अनन्तगुण और पर्यायो के अविच्छिन्न-समुदय हैं।[3] सामान्य गुण से दोनो अभिन्न भी हैं। वे भिन्न हैं विशेष गुण से। वह (विशेष गुण) चैतन्य है। जिसमे चैतन्य है, वह आत्मा है और जिसमे चैतन्य नही है, वह अनात्मा है।[4]

प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणो की दृष्टि से आत्मा चित्-स्वरूप नही है। वह चैतन्य की दृष्टि से ही चित्-स्वरूप है।[5] इसीलिए कहा है—आत्मा ज्ञान से भिन्न भी नही है और अभिन्न भी नही है किन्तु भिन्नाभिन्न है—भिन्न भी है और अभिन्न भी है।[6] ज्ञान आत्मा ही है, इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है।[7] ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है—ज्ञान सरीखे अनन्त गुणो का समूह है, इसलिए गुण और गुणी के रूप मे ये भिन्न भी हैं।

---

१ आयारो, ५।१०४ जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।

२ भगवती, २५।४

३ उत्तरज्झयणाणि, २८।६

४ वही, २८।११

५ स्वरूपसम्बोधन, ३

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मै, अचिदात्मा चिदात्मक।
ज्ञानदर्शनतस्तस्मात्, चेतनाचेतनात्मक ॥

६ वही, ४

ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्न कथचन।
ज्ञान पूर्वापरीभूत, सोयमात्मेति कीर्त्तित ॥

७ भगवती, १२।१० णाणे पुण णियम आया।

सहज तर्क होगा कि एक साथ सभी को जानने का अर्थ है किसी को भी न जानना।

जिसे जानना है उसे ही न जाना जाय और सब-के-सब जाने जाय तो व्यवहार कैसे निभे ? यह ज्ञान का साकर्य है।

जैन-दृष्टि के अनुसार इसका समाधान यह है कि पदार्थ अपने-अपने रूप मे है, वे सकर नही बनते। अनन्त पदार्थ हैं और ज्ञान के पर्याय भी अनन्त हैं। अनन्त के द्वारा अनन्त का ग्रहण होता है, यह साकर्य नही है।

वाणी मे एक साथ एक ही ज्ञेय के निरूपण की क्षमता है। उसके द्वारा अनेक ज्ञेय के निरूपण की मान्यता को सकर कहा जा सकता है किन्तु ज्ञान की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए ज्ञान की अनन्त पर्यायो के द्वारा अनन्त ज्ञेयों को जानने मे कोई बाधा नहीं आती। विषय के स्थूल रूप या वर्तमान पर्याय का ज्ञान हमे इन्द्रियो से मिलता है, उसके सूक्ष्म रूप या भूत और भावी पर्यायो की जानकारी मन से मिलती है। इन्द्रियों मे कल्पना, सकलन और निष्कर्ष का ज्ञान नही होता। मन दो या उनसे अधिक बोधों को मिला कल्पना कर सकता है। वह अनेक अनुभवो को जोड सकता है और उनके निष्कर्ष निकाल सकता है। इसीलिए यह सत्य नही है कि ज्ञान विषय से उत्पन्न होता है या उसके आकार का ही होता है। इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी विषय से प्राप्त होता है। मन का ज्ञान बाहरी विषय से भी प्राप्त होता है और उसके बिना भी। हमारा प्रयोजन ज्ञेय को जानना ही होता है तब पदार्थ ज्ञेय और हमारा ज्ञान उपयोग होता है और जब हमारा उपयोग प्राप्त बोध की आलोचना मे लगता है, तब पदार्थ ज्ञेय नही होता। उस समय पहले का ज्ञान ही ज्ञेय बन जाता है और जब हमारे जानने की प्रवृत्ति नही होती, तब हमारा उपयोग वापस ज्ञान बन जाता है—ज्ञेय के प्रति उदासीन हो अपने मे ही रम जाता है।

ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान और ज्ञेय का 'विषय-विषयी-भाव' सम्बन्ध है।

जैन-दृष्टि के अनुसार—

१ ज्ञान अर्थ मे प्रविष्ट नही होता, अर्थ ज्ञान मे प्रविष्ट नहीं होता।

२. ज्ञान अर्थाकार नही है।

३. ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नही है।

४ ज्ञान अर्थ रूप नही है।

तात्पर्य कि इनमे पूर्ण अभेद नही है। प्रमाता ज्ञान-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषयी है। अर्थ ज्ञेय-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतन्त्र है। फिर भी ज्ञान मे अर्थ को जानने की और अर्थ मे ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने

आत्मा जानता है और ज्ञान जानने का साधन है। कर्त्ता और करण की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं।[1]

तात्पर्य की भाषा मे आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ?

ज्ञेय और ज्ञान—दोनो स्वतन्त्र हैं। ज्ञेय हैं द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान आत्मा का गुण है। न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से ज्ञेय। हमारा ज्ञान जाने या न जाने, फिर भी पदार्थ अपने रूप मे अवस्थित हैं। यदि वे हमारे ज्ञान की ही उपज हो तो उनकी असत्ता मे उन्हे जानने का हमारा प्रयत्न ही क्यो होगा ? हम अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते।

पदार्थ ज्ञान के विषय बनें या न बनें, फिर भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मा मे अवस्थित है। यदि हमारा ज्ञान पदार्थ की उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा। हमारे साथ उसका तादात्म्य नही हो सकेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि हम पदार्थ को जानते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता किन्तु वह उसका प्रयोग है। ज्ञान या जानने की क्षमता हममे विकसित रहती है। किन्तु ज्ञान की आवृत-दशा मे हम पदार्थ को माध्यम के बिना जान नही सकते। हमारे शारीरिक इन्द्रिय और मन अचेतन हैं। इनसे पदार्थ का सम्बन्ध या सामीप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और ज्ञेय जान लिए जाते हैं। अथवा हमारे अपने सस्कार किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को प्रेरित करते हैं, तब वे जाने जाते हैं। यह ज्ञान की उत्पत्ति नही किन्तु प्रवृत्ति है। शत्रु को देखकर बन्दूक चलाने की इच्छा हुई और चलाई—यह शक्ति की उत्पत्ति नही किन्तु उसका प्रयोग है। मित्र को देखकर प्रेम उमड आया—यह प्रेम की उत्पत्ति नही, उसका प्रयोग है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के सामने आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। जितनी ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने मे सफल हो सकता है।

हमारा ज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियो की शक्ति सीमित है। वे अपने-अपने विषयो को मन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर ही जान सकती हैं। मन का सम्बन्ध एक साथ एक इन्द्रिय से ही होता है। इसलिए एक काल मे एक पदार्थ का ही एक पर्याय जाना जा सकता है। इसलिए ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की भी आवश्यकता नही होती। उक्त सीमा आवृत-ज्ञान के लिए है। अनावृत-ज्ञान से एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते है।

---

१ आयारो, १।५।१०४ जेण विजाणति से आया।

ज्ञान और वेदना

स्पर्शन, रसन और घ्राण—ये तीन इन्द्रिया भोगी तथा चक्षु और श्रोत्र— ये दो कामी है।[1] कामी इन्द्रियो के द्वारा सिर्फ विषय जाना जाता है, उसकी अनुभूति नही होती। भोगी इन्द्रियो के द्वारा विषय का ज्ञान और अनुभूति दोनो होते हैं।

इन्द्रियो के द्वारा हम बाहरी वस्तुओ को जानते हैं। जानने की प्रक्रिया सबकी एक-सी नही है। चक्षु की ज्ञान-शक्ति शेष इन्द्रियो से अधिक पटु है, इसलिए वह अस्पृष्ट रूप को जान लेता है।

श्रोत्र की ज्ञान-शक्ति चक्षु से कम है। वह स्पृष्ट शब्द को ही जान सकता है। शेप तीन इन्द्रियो की क्षमता श्रोत्र से भी कम है। वे अपने विषय को बद्ध-स्पृष्ट हुए बिना नही जान सकते।[2]

बाहरी विषय का स्पर्श किए बिना या उसका स्पर्श मात्र से जो ज्ञान होता है, वहा अनुभूति नही होती। अनुभूति वहा होती है, जहा इन्द्रिय और विषय का निकटतम सम्बन्ध स्थापित होता है। स्पर्शन, रसन और घ्राण अपने-अपने विषय के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित होने पर उसे जानते है, इसलिए उन्हे ज्ञान भी होता है और अनुभूति भी।

अनुभूति मानसिक भी होती है पर वह बाहरी विषयो के गाढतम सम्पर्क से नही होती। किन्तु वह विषय के अनुरूप मन का परिणमन होने पर होती है।

मानसिक अनुभव की एक उच्चतम दशा भी है। बाहरी विषय के बिना भी जो सत्य का भास होता है, वह शुद्ध मानसिक ज्ञान भी नही है और शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान भी नहीं है। वह इन दोनो के बीच की स्थिति है।[3]

वेदना के दो रूप सुख-दु.ख

बाह्य जगत् की जानकारी हमे इन्द्रियो द्वारा मिलती है। उसका सवर्धन मन मे होता है। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पदार्थ के मौलिक गुण हैं। शब्द उसकी पर्याय (अनियत-गुण) है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को जानती है। इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का विस्तार मन से होता है। सुख और दु ख जो बाह्य वस्तुओ के योग-वियोग से उत्पन्न होते हैं, वे शुद्ध ज्ञान नही हैं और उनकी

---

१ नन्दी, सूत्र ५४, गाया ७५

पुट्ठ सुणेइ सद्द, रूव पुण पासइ अपुट्ठ तु।
गध रस च फास च, बद्ध-पुट्ठं वियागरे॥

२. वही, गाथा ७५।

३ ज्ञानसार, अष्टक २६, श्लोक १

सन्ध्येव दिन-रात्रिभ्या, केवलश्रुतयो पृथक्।
बुधैरनुभवो दृष्ट. केवलार्कारुणोदय॥

की क्षमता है। वही दोनो के कथचित् अभेद की हेतु है।

ज्ञान, दर्शन और सवेदना

चैतन्य के तीन प्रधान रूप हैं—जानना, देखना और अनुभूति करना। चक्षु के द्वारा देखा जाता है, शेप इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है। यह हमारा व्यवहार है।

सिद्धान्त कहता है—जैसे चक्षु का दर्शन है, वैसे अचक्षु (शेप इन्द्रिय और मन) का भी दर्शन है। अवधि और केवल का भी दर्शन है।[1]

शेप इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है, वैसे चक्षु के द्वारा भी जाना जाता है। चक्षु का ज्ञान भी है।

दर्शन का अर्थ देखना नही है। दर्शन का अर्थ है—एकता या अभेद का ज्ञान। ज्ञान का अर्थ अपने आप सीमित हो गया। अनेकता या भेद को जानना ज्ञान है। ज्ञान पाच हैं[2] और दर्शन चार।[3] मन.पर्याय-ज्ञान भेद को ही जानता है, इसलिए उसका दर्शन नही होता।

विश्व न तो सर्वथा विभक्त है और न सर्वथा अविभक्त। वह गुण और पर्याय से विभक्त भी है, द्रव्यगत-एकता से अविभक्त भी है। आवृत ज्ञान की क्षमता कम होती है, इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य का सामान्य रूप जाना जाता है, फिर उसके विभिन्न परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है।

अनावृत ज्ञान की क्षमता असीम होती है। इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य के परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है, फिर उनकी एकता।

केवली पहले क्षण मे अनन्त शक्तियो का पृथक्-पृथक् आकलन करते हैं और दूसरे क्षण मे उन्हे द्रव्यत्व की सामान्य सत्ता मे गुथे हुए पाते हैं। इस प्रकार केवल-ज्ञान और केवल दर्शन का क्रम चलता रहता है।

हम लोग एक क्षण मे कुछ भी नही जान सकते। ज्ञान का सूक्ष्म प्रयत्न होते-होते असख्य क्षणो मे द्रव्य की सामान्य-सत्ता तक पहुच पाते हैं और उसके बाद क्रमश उसकी एक-एक विशेपता को जानते हैं। इस प्रकार हमारा चक्षु-अचक्षु दर्शन पहले होता है और मति-श्रुत बाद मे। विशेप को जानकर सामान्य को जानना ज्ञान और दर्शन है। सामान्य को जानकर विशेष को जानना दशन और ज्ञान है।

---

१ जैन सिद्धान्त दीपिका, २।२६।

२ वही, २।६।

३ वही, २।२६।

यह अन्तर एक-दूसरे की तुलना मे है। केवल-ज्ञान मे कोई तरतमभाव नही है। शेष ज्ञानो मे बहुत बडा तारतम्य हो सकता है। एक व्यक्ति का मति-ज्ञान दूसरे व्यक्ति के मति-ज्ञान से अनन्त गुण हीनाधिक हो सकता है।[1] किन्तु इसके आधार पर किये गए ज्ञान के विभाग उपयोगी नही बनते।

विभाग करने का मतलब ही उपयोगिता है। सग्रह-नय द्रव्य, गुण और पर्यायो का एकीकरण करता है। वह हमारे व्यवहार का साधक नही है। हमारी उपयोगिता व्यवहार-नय पर आधारित है। वह द्रव्य, गुण और पर्यायो को विभक्त करता है। ज्ञान के विभाग भी उपयोगिता की दृष्टि से किए गए हैं।

ज्ञेय और ज्ञान—ये दो नही होते तो ज्ञान के कोई विभाजन की आवश्यकता नही होती। ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता है और वह मूर्त और अमूर्त—इन दो भागो मे विभक्त है। आत्मा साधनो के विना भी जान सकता है और आवरण की स्थिति के अनुसार साधनो के माध्यम से भी जानता है।

जानने के साधन दो हैं—इन्द्रिय और मन। इनके द्वारा ज्ञेय को जानने की आत्मिक क्षमता को मति और श्रुत कहा गया है।[2]

इन्द्रिय और मन के माध्यम के बिना ही केवल मूर्त ज्ञेय को जानने की क्षमता को अवधि और मन पर्याय कहा गया है।[3]

मूर्त और अमूर्त सबको जानने की आत्मिक क्षमता (या ज्ञान की क्षमता के पूर्ण विकास) को केवल कहा गया है।[4]

इन्द्रिय

प्राणी और अप्राणी मे स्पष्ट भेद-रेखा खीचने वाला चिह्न इन्द्रिय है। प्राणी असीम ऐश्वर्य-सम्पन्न होता है, इसलिए वह 'इन्द्र' है। इन्द्र के चिह्न का नाम है—'इन्द्रिय'। वे पाच है—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनके विषय भी पाच हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। इसीलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत अर्थ-ग्राही कहा जाता है। जैसे—

१ स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय—स्पर्शन।
२ रस-ग्राहक इन्द्रिय—रसन।
३ गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय—घ्राण।
४ रूप-ग्राहक इन्द्रिय—चक्षु।
५ शब्द-ग्राहक इन्द्रिय—श्रोत्र।

---

१ भगवती, ८।२।
२ जैन सिद्धान्त दीपिका, २।७, १४।
३ वही, २।१६, २०।
४ वही, २।३।

अनुभूति अचेतन को नही होती, इसलिए वे अज्ञान भी नही हैं। वेदना ज्ञान और बाह्य पदार्थ—इन दोनो का सयुक्त कार्य है।

सुख-दु ख की अनुभूति इन्द्रिय और मन दोनो को होती है। इन्द्रियो को सुख की अनुभूति पदार्थ के निकट-सयोग से होती है।

इन्द्रियो द्वारा प्राप्त अनुभूति और कल्पना—ये दोनो मानसिक अनुभूति के निमित्त हैं।

आत्म-रमण जो चैतन्य की विशुद्ध परिणति है, आनन्द या सहज सुख कहलाता है। वह वेदना नही है। वेदना शरीर और मन के माध्यम से प्राप्त होने वाली अनुभूति का नाम है। अमनस्क जीवों मे केवल शारीरिक वेदना होती है। समनस्क जीवो मे शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार की वेदना होती है।[1] एक साथ सुख-दु ख दोनो की वेदना नही होती।

ज्ञान के विभाग

अनावृत ज्ञान एक है। आवृत-दशा मे उसके चार विभाग होते हैं। दोनो को एक साथ गिनें तो ज्ञान पाच होते हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल।

मति और श्रुत—ये दो ज्ञान सब जीवो मे होते हैं। अवधि होने पर तीन और मन पर्याय होने पर चार ज्ञान एक व्यक्ति मे एक साथ (उपलब्धि की दृष्टि से) हो सकते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के पाच विकल्प बनते हैं—

एक साथ—मति, श्रुत।

एक साथ—मति, श्रुत, अवधि।

एक साथ—मति, श्रुत, मन पर्याय।

एक साथ—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय।

एक साथ—केवल।

ज्ञान की तरतमता को देखा जाए तो उसके असख्य विभाग हो सकते हैं। ज्ञान के पर्याय अनन्त हैं[2]—

मन पर्याय के पर्याय सबसे थोडे हैं।

अवधि के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक हैं।

श्रुत के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक हैं।

मति के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक हैं।

केवल के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक हैं।

---

१ प्रज्ञापना पद, ३५।

२ भगवती ८।२।

१ एकेन्द्रिय प्राणी।
२ द्वीन्द्रिय प्राणी।
३ त्रीन्द्रिय प्राणी।
४ चतुरिन्द्रिय प्राणी।
५ पचेन्द्रिय प्राणी।

जिस प्राणी के शरीर मे जितनी इन्द्रियो का अधिष्ठान—आकार-रचना होती है, वह प्राणी उतनी इन्द्रिय वाला कहलाता है। प्रश्न यह होता है कि प्राणियो मे यह आकार-रचना का वैषम्य क्यो ? इसका समाधान है कि जिस प्राणी के जितनी ज्ञान-शक्तिया—लब्धि इन्द्रिया विकसित होती हैं, उस प्राणी के शरीर मे उतनी ही इन्द्रियो की आकृतिया बनती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय के अधिष्ठान शक्ति और व्यापार का मूल लब्धि-इन्द्रिय है। उसके होने पर निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग होते हैं।

लब्धि के बाद दूसरा स्थान निर्वृत्ति का है। इसके होने पर उपकरण और उपयोग होते हैं। उपकरण के होने पर उपयोग होता है।

इन्द्रिय-व्याप्ति

लब्धि	निर्वृत्ति	उपकरण	उपयोग।
	निर्वृत्ति	उपकरण	उपयोग।
		उपकरण	उपयोग।

उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना लब्धि हो सकती है किन्तु लब्धि के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना उपकरण, उपकरण के बिना उपयोग नही हो सकता।
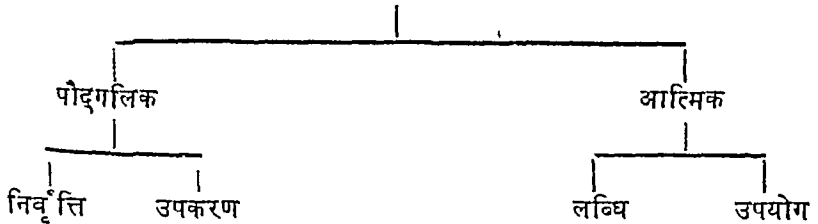
मन

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है।[1] मन भी इन्द्रिय की भाति पौद्गलिक-शक्ति-सापेक्ष होता है, इसलिए इसके दो भेद बनते हैं—द्रव्य-मन और भाव-मन।

१ मन मनन, मन्यते अनेन वामन ।

इन्द्रिय-चतुष्टय

१ जिस प्राणी के चक्षु का आकार नही होता, वह रूप को नही जान सकता।

२ आख का आकार ठीक होते हुए भी कई मनुष्य रूप को नही देख पाते।

३ तत्काल-मृत व्यक्ति, आख की रचना और शक्ति दोनो के होते हुए भी रूप को नही जान पाता।

४ अन्यमनस्क व्यक्ति सामने आये हुए रूप को भी नहीं देखता।

इन्द्रियो के बारे मे ये चार समस्याए हैं। इनको सुलझाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के 'चतुष्टय' पर विचार करना आवश्यक होता है। वह है—

१ निर्वृत्ति (द्रव्य-इन्द्रिय) पौद्गलिक इन्द्रिय, इन्द्रिय की रचना—शारीरिक-सस्थान।

२ उपकरण शरीराधिष्ठान—इन्द्रिय, विषय का ज्ञान करने मे सहायक सूक्ष्मतम पौद्गलिक अवयव।

३ लब्धि (भाव-इन्द्रिय)—चेतन-इन्द्रिय, ज्ञान-शक्ति।

४ उपयोग आत्माधिष्ठान—इन्द्रिय, ज्ञान-शक्ति का व्यापार।

प्रत्येक इन्द्रिय-ज्ञान के लिए ये चार बातें अपेक्षित होती हैं—

१ इन्द्रिय की रचना।
२ इन्द्रिय की ग्राहक-शक्ति।
३ इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति।
४ इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति का व्यापार।

१ चक्षु का आकार हुए विना रूप-दर्शन नही होता, इसका अर्थ है—उस प्राणी के चक्षु की 'निर्वृत्ति-इन्द्रिय' नही है।

२ चक्षु का आकार ठीक होते हुए भी रूप का दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उस मनुष्य की 'उपकरण-इन्द्रिय' विकृत है।

३ आकार और ग्राहक शक्ति दोनो के होते हुए भी तत्काल-मृत व्यक्ति को रूप-दर्शन नही होता, इसका अर्थ है—उसमे अव 'ज्ञान-शक्ति' नही रही।

४ अन्यमनस्क व्यक्ति को आकार, विषय-ग्राहक-शक्ति और ज्ञान-शक्ति के होने पर भी रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—वह रूप-दर्शन के प्रति प्रयत्न नही कर रहा है।

इन्द्रिय-प्राप्ति का क्रम

इन्द्रिय-विकास सव प्राणियो मे समान नही होता। इन्द्रिय-विकास के पाच विकल्प मिलते हैं—

मन का लक्षण

सब अर्थों को जानने वाला ज्ञान 'मन' है। इस विश्व मे दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त और अमूर्त। इन्द्रिया सिर्फ मूर्त-द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती हैं। मन मूर्त और अमूर्त दोनो के त्रैकालिक अनेक रूपो को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थ-ग्राही कहा गया है।[1]

मन का कार्य

मन का कार्य है—चिन्तन करना। वह इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओ के बारे मे भी सोचता है और उससे आगे भी[2]। मन इन्द्रिय-ज्ञान का प्रवर्तक है। मन को सब जगह इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नही होती। जब इन्द्रिय द्वारा ज्ञात रूप, रस आदि का विशेष पर्यालोचन करता है, तब ही वह इन्द्रिय-सापेक्ष होता है। इन्द्रिय की गति सिर्फ पदार्थ तक है। मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनो तक है।

ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम आदि-आदि मानसिक चिन्तन के विविध पहलू हैं।

मन का अस्तित्व

न्यायसूत्रकार—'एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नही होते'—इस अनुमान से मन की सत्ता बतलाते हैं।[3]

वात्स्यायन भाष्यकार कहते हैं—"स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियो से उत्पन्न नही होता और विभिन्न इन्द्रिय तथा उनके विषयो के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नही होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप उतर आता है।"[4]

अन्नभट्ट ने सुखादि की प्रत्यक्ष उपलब्धि को मन का लिंग माना है।[5]

जैन-दृष्टि के अनुसार सशय, प्रतिभा, स्वप्न-ज्ञान, वितर्क, सुख-दु ख, क्षमा इच्छा आदि-आदि मन के लिंग हैं।[6]

---

१ जैन सिद्धान्त दीपिका, २।३३।

२ चरक सूत्र, १।२०।

> इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि, समनस्केन गृह्यते।
> कल्प्यते मनसाप्यूर्ध्वं, गुणतो दोषतो यथा॥

३ न्याय सूत्र, १।१।१६।

४ वात्स्यायन भाष्य, १।१।१६।

५ तर्क सग्रह सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मन।

६. सन्मति प्रकरण, काण्ड २

> सशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहासुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि।

मनन के आलम्बन-भूत या प्रवर्तक पुद्गल-द्रव्य (मनोवर्गणा-द्रव्य) जब मन रूप मे परिणत होते हैं, तब वे द्रव्य-मन कहलाते हैं। यह मन अजीव है—आत्मा से भिन्न है।[1]

विचारात्मक मन का नाम भाव-मन है। मन मात्र ही जीव नही,[2] किन्तु मन जीव भी है—जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नही है, इसलिए इसे आत्मिक-मन कहते हैं।[3] इसके दो भेद होते हैं—लब्धि और उपयोग। पहला मानस-ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार। मन को नो-इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और दीर्घकालिक सज्ञा कहा जाता है।

इन्द्रिय के द्वारा गृहीत विषयो को वह जानता है, इसलिए वह नो-इन्द्रिय—ईषत् इन्द्रिय या इन्द्रिय जैसा कहलाता है। इन्द्रिय की भाति वह बाहरी साधन नही है (आन्तरिक साधन है) और उसका कोई नियत आकार नही है, इसलिए वह अनिन्द्रिय है। मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिन्तन और भविष्य की कल्पना करता है, इसलिए वह 'दीर्घकालिक सज्ञा' है। जैन आगमो मे मन की अपेक्षा 'सज्ञा' शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। समनस्क प्राणी को 'सज्ञी' कहते है।

उसके लक्षण इस प्रकार हैं—

१ ईहा—सत् अर्थ का पर्यालोचन।

२ अपोह—निश्चय।

३ मार्गणा—अन्वय-धर्म का अन्वेषण।

४ गवेषणा—व्यतिरेक-धर्म का स्वरूपालोचन।

५ चिन्ता—यह कैसे हुआ ? यह कैसे करना चाहिए ? यह कैसे होगा ?—इस प्रकार का पर्यालोचन।

६ विमर्श—यह इसी प्रकार हो सकता है, यह इसी प्रकार हुआ है, यह इसी प्रकार होगा—ऐसा निर्णय।[4]

---

१ भगवती, १३।७।४९४

आता भते ! मणे अन्ने मणे ? गोयमा ! णो आतामणे, अन्ने मणे मणे मणिज्जमाणे मणे।

२ प्रश्नव्याकरण (आश्रव द्वार) २

मण च मणजीविया वयति त्ति।

३ सूयगडो, १।१२, वृत्ति—

सव-विषयमन्त करण युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्ग मन., तदपि द्रव्य-मन पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतम्, भाव-मनस्तु आत्मगुणत्वात् जीवग्रहणेनेति।

४ नन्दी, सूत्र ६२।

इन्द्रिय और मन

मन के व्यापार मे इन्द्रिय का व्यापार होता भी है और नही भी। इन्द्रिय के व्यापार मे मन का व्यापार अवश्य होता है। मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। वह पटुतर है, पदार्थ के साथ सम्बन्ध होते ही पदार्थ को जान लेता है। उसका अनुपलब्धि-काल नही होता, इसलिए उसे व्यजनावग्रह की आवश्यकता नही होती।

इन्द्रिय के साथ मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। सब इन्द्रियो के साथ मन युगपत् सम्बन्ध नही कर सकता, एक काल मे एक इन्द्रिय के साथ ही करता है। आत्मा उपयोगमय है। वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मनोयोग कर जिस वस्तु मे उपयोग लगाता है, तब वह तन्मयोपयोग हो जाता है। इसलिए युगपत् क्रिया-द्वय का उपयोग नही होता।[1] देखना, चखना, सूघना—ये भिन्न-भिन्न क्रियाए हैं। इनमे एक साथ मन की गति नही होती, इसमे कोई आश्चर्य नही। पैर की गर्मी और सिर की ठडक दोनो एक स्पर्शन इन्द्रिय की क्रियाए हैं, उनमे भी मन एक साथ नही दौडता।

ककडी को खाते समय उसके रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—सबका ज्ञान एक साथ होता-सा लगता है किन्तु वास्तव मे वैसा नही होता। उनका ज्ञान-काल पृथक्-पृथक् होता है। मन की ज्ञान-शक्ति अति तीव्र होती है, इसलिए उसका क्रम जाना नही जाता। युगपत् सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण हो सकता है, किन्तु दो उपयोग एक साथ नही हो सकते।[2]

मन का स्थान

मन समूचे शरीर मे व्याप्त है। इन्द्रिय और चैतन्य की पूर्ण व्याप्ति 'जहा-जहा चैतन्य, वहा-वहा इन्द्रिय' का नियम नही होता। मन की चैतन्य के साथ पूर्ण व्याप्ति होती है, इसलिए मन शरीर के एक देश मे नही रहता, उसका कोई नियत स्थान नही है। जहा-जहा चैतन्य की अनुभूति है, वहा-वहा मन अपना आसन बिछाए हुए है।

---

१ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २४२६-२४४८ वृत्ति ।

२ (क) एगे णाणे लब्धितो बहूना बोधविशेषाणामेकदा सम्भवेऽपि उपयोगत एक एव सम्भवति एकोपयोगत्वाद् जीवानामिति
—स्था० वृ० १

(ख) एगे जीवाण मणे मननलक्षणत्वेन सर्वमनस्सामेकत्वात् ।
—स्था० वृ० १

(ग) एगे मणे देवासुर'मणुआण तसि तसि समयसि।—स्था० वृ० १
तुलना—ज्ञानाऽयौगपद्यात् एकं मन ।—न्याय सू० ३।२।५६

मन का विषय

मन का विषय 'श्रुत' है। श्रुत का अर्थ है—शब्द, सकेत आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान। कान से 'देवदत्त' शब्द सुना, आख से पढा, फिर भी कान और आख को शब्द मात्र का ज्ञान होगा किन्तु 'देवदत्त' शब्द का अर्थ क्या है—यह ज्ञान उन्हे नही होगा। यह मन को होगा। अगुली हिलती है, यह चक्षु का विषय है किन्तु वह किस वस्तु का सकेत करती है, यह चक्षु नही जान पाता। उसके सकेत को समझना मन का काम है।[1] वस्तु के सामान्य रूप का ग्रहण, अवग्रहण, ज्ञान-धारा का प्राथमिक अल्प अश अनक्षर ज्ञान होता है। उसमे शब्द-अर्थ का सम्बन्ध, पूर्वापर का अनुसन्धान, विकल्प एव विशेष धर्मों का पर्यालोचन नही होता।

ईहा से साक्षात् चिन्तन शुरू हो जाता है। इसका कारण यह है कि अवग्रह मे पर्यालोचन नही होता। आगे पर्यालोचन होता है। यावन्मात्र पर्यालोचन है, वह अक्षर-आलम्बन से ही होता है और यावन्मात्र साभिलाप या अन्तर्जल्पाकार ज्ञान होता है, वह सब मन का विषय है।

प्रश्न हो सकता है कि ईहा, अवाय, धारणा इन्द्रिय-परिधि मे भी सम्मिलित किये गए हैं, वह फिर कैसे? उत्तर स्पष्ट है—इन भेदो का आधार ज्ञान-धारा का प्रारम्भिक अश है। वह जिस इन्द्रिय से आरम्भ होता है, उसकी अन्त तक वही सज्ञा रहती है।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—यह ज्ञानधारा का एक क्रम है। इसका मूल है अवग्रह। वह मन-सपृक्त इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ के सम्पर्क या सामीप्य मे होता है। आगे स्थिति वदल जाती है। ईहा आदि ज्ञान इन्द्रिय-सपृक्त मन के द्वारा पदाथ की असम्वद्ध दशा मे होता है, फिर भी उत्पत्ति-स्रोत की मुख्यता के कारण ये अपनी-अपनी परिधि से बाहर नही जाते।

मनोमूलक अवग्रह के बाद होने वाले ईहा आदि मन के होते हैं। मन मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान दोनो का साधन है। यह जैसे श्रुत शब्द के माध्यम से पदार्थ को जानता है, वैसे ही शब्द का सहारा लिए विना शब्द आदि की कल्पना से रहित शुद्ध अर्थ को भी जानता है, फिर भी अर्थाश्रयी-ज्ञान (शुद्ध अर्थ का ज्ञान) इन्द्रिय और मन दोनो को होता है, शब्दाश्रयी (शब्द का अनुसारी ज्ञान) केवल मन को ही होता है, इसलिए स्वतन्त्र रूप मे मन का विषय 'श्रुत' ही है।

---

१ चरक सूत्र, १।१८

चिन्त्यं विचार्यमूह्य च, ध्येय सकल्प्यमेव च।
यत् किंचिद् मनसो ज्ञेय, तत्सर्वं ह्यर्थसज्ञकम्॥

(१) या तो बना-बनाया घडा सामने हो, (२) घट-स्वरूप की व्याख्या पढने या सुनने को मिले।

इनमे पहला श्रुत का अननुसारी किन्तु श्रुत-निश्रित ज्ञान है। घट सामने आया और जलादि आहरण-क्रिया समर्थ मृन्मयादि घट को जान लिया। यहा ज्ञान-काल मे श्रुत का सहारा नही लिया गया। इसलिए यह श्रुत का अनुसारी नही है, किन्तु इससे पूर्व 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है—यह जाना हुआ था, इसलिए वह श्रुत-निश्रित है।[1] 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है, ऐसा पहले जाना हुआ न हो तो घट के सामने आने पर भी 'यह घट शब्द का वाच्यार्थ है'—ऐसा ज्ञान नही होता।

दूसरा श्रुतानुसारी ज्ञान है। 'घट अमुक-अमुक लक्षण वाला पदार्थ होता है'—यह या तो कोई बताए अथवा किसी श्रुत ग्रन्थ का लिखित प्रकरण मिले तब जाना जाता है। बताने वाले का वचन और लिखित शब्दावली को द्रव्य-श्रुत—श्रुत-ज्ञान का साधन कहा जाता है, और उसके अनुसार पढने-सुनने वाले व्यक्ति को जो ज्ञान होता है, वह भाव-श्रुत—श्रुत-ज्ञान कहलाता है।

श्रुत-ज्ञान की प्रक्रिया

१ भाव-श्रुत वक्ता के वचनाभिमुख विचार।

२ वचन ' वक्ता के लिए वचन-योग और श्रोता के लिए द्रव्य-श्रुत।

३ मति श्रुत-ज्ञान के प्रारम्भ मे होने वाला मत्यश — इन्द्रिय-ज्ञान।

४ भाव-श्रुत' इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा हुए शब्द-ज्ञान और सकेत-ज्ञान के द्वारा होने वाला अर्थ-ज्ञान।

वक्ता बोलता है वह उसकी अपेक्षा वचन योग है। श्रोता के लिए वह भावश्रुत का साधन होने के कारण द्रव्य-श्रुत है।[2] वक्ता भी भाव-श्रुत को—वचनाभिमुख ज्ञान को वचन के द्वारा व्यक्त करता है। वह एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के पास पहुचाता है, वह श्रुत-ज्ञान है।

श्रुत-ज्ञान श्रुत-ज्ञान तक पहुचे उसके बीच की प्रक्रिया के दो अश हैं—द्रव्य-श्रुत और मत्यश।

एक व्यक्ति के विचार को दूसरे व्यक्ति तक ले जाने के दो साधन हैं—वचन और सकेत। वचन और सकेत को ग्रहण करने वाली इन्द्रिया हैं। श्रोता अपनी इन्द्रियो से उन्हें ग्रहण करता है, फिर उनके द्वारा वक्ता के अभिप्राय को समझता है। इसका रूप इस प्रकार बनता है—

---

१ धर्म विवरण गाथा, ४ देवेन्द्र सूरी कृत स्वोपज्ञ वृत्ति।

२ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ९९ वृत्ति

इन्द्रिय ज्ञान के साथ भी मन का साहचर्य है। स्पर्शन-इन्द्रिय समूचे शरीर मे व्याप्त है।[1] उसे अपने ज्ञान मे मन का साहचर्य अपेक्षित है। इसलिए मन का भी सकल शरीर व्याप्त होना सहज सिद्ध है। योग-परम्परा मे यही तथ्य मान्य है।[2]

'यत्र पवनस्तत्र मन'—इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार जहा पवन है, वहा मन है। पवन समूचे शरीर मे है, यही बात मन के लिए है।

दिगम्बर आचार्य द्रव्य मन का स्थान नाभि-कमल मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्य इसे स्वीकार नही करते। मन का एकमात्र नियत स्थान भले ही न हो, किन्तु उसके सहायक कई विशेष केन्द्र होने चाहिए। मस्तिष्क के सतुलन पर मानसिक चिन्तन बहुत निर्भर है, इसलिए सामान्य अनुभूति के अतिरिक्त अथवा इन्द्रिय साहचर्य के अतिरिक्त उसके चिन्तन का साधनभूत कोई शारीरिक अवयव प्रमुख केन्द्र माना जाए, उसमे आपत्ति जैसी कोई बात नही लगती।

ज्ञान-शक्ति की दृष्टि से इन्द्रिया भी सर्वात्मव्यापी है। विषय-ग्रहण की अपेक्षा एक-देशी है, इसलिए वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं। इन्द्रिय और मन—ये दोनो 'क्षायोपशमिक-आवरण-विलय-जन्य' विकास है। आवरण-विलय सर्वात्म-देशो का होता है।[3] मन विषय-ग्रहण की अपेक्षा से भी शरीर व्यापी है।

नैयायिक मन को अणु मानते हैं—इसे मनोणुत्ववाद कहा जाता है।[4] बौद्ध मन को ही जीव मानते हैं—यह मनोजीववाद कहलाता है।[5] जैन सम्मत मन न अणु है और न वही मात्र जीव किन्तु जीव के चैतन्य गुण की एक स्थिति है और जीव की व्याप्ति के साथ उसकी व्याप्ति का नियम है—'जहा जीव वहा मन।'

श्रुत या शब्दार्थ-योजना

अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, इस प्रकार जो वाच्य-वाचक की सम्बन्ध-योजना होती है, वह श्रुत है। शब्द के अर्थ-ज्ञान कराने की शक्ति होती है पर प्रयोग किए बिना वह अर्थ का ज्ञान नही कराता। श्रुत शब्द की प्रयोगदशा है। 'घडा'—इस दो अक्षर वाले शब्द का अर्थ दो प्रकार से जाना जा सकता है—

---

१ चरक सूत्र, ११।३८।
तुलना—स्पर्शन इन्द्रिय को सर्वेन्द्रिय व्यापक और मन के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध माना है। मन अणु होते हुए भी स्पर्शन इन्द्रिय-सम्बद्ध होने के कारण सब इन्द्रियो मे व्यापक रहता है।

२ योगशास्त्र, ५।२
मनो यत्र मरुत्तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः।
अतस्तुल्य-क्रियावेतौ, संवीतौ क्षीरनीरवत्॥

३ भगवती, ९।३ सव्वेणं सव्वे निज्जिण्णा।

४ भाषा परि० ८५ 'अयौगपद्यात् ज्ञानानां, तस्याणुत्वमिहोच्यते'।

५ अभिधर्म कोष, ४।१ चेतना मानसं कर्म।

श्रुत-ज्ञान, शब्द-ज्ञान या आगम है। श्रुत-ज्ञान का पहला अश, जैसे—शब्द सुना या पढा, वह मति-ज्ञान है और दूसरा अश, जैसे—शब्द के द्वारा अर्थ को जाना, यह श्रुत ज्ञान है। इसीलिए श्रुत को मतिपूर्वक—'मइपुव्व सुय' कहा जाता है।[1]

मति-ज्ञान का विषयवस्तु अवग्रहादि काल मे उसके प्रत्यक्ष होता है। श्रुत-ज्ञान का विषय उसके प्रत्यक्ष नही होता। 'मेरु' शब्द के द्वारा 'मेरु' अर्थ का ज्ञान करते समय वह मेरु अर्थ पत्यक्ष नही होता—मेरु शब्द प्रत्यक्ष होता है, जो श्रुत-ज्ञान का विषय नही है।

श्रुत-ज्ञान अवग्रहादि मतिपूर्वक होता है और अवग्रहादि मति श्रुत-निश्रित होती है। इससे इनका अन्योन्यानुगत-भाव जान पडता है। कार्यक्षेत्र मे ये एक नही रहते। मति का कार्य है—उसके सम्मुख आये हुए स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द आदि अर्थों को जानना और उनकी विविध अवस्थाओ पर विचार करना। श्रुत का कार्य है—शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से शब्द के द्वारा प्रतिपादित करने मे समर्थ होना। मति को कहना चाहिए अर्थ-ज्ञान और श्रुत को शब्दार्थ-ज्ञान।

कार्य-कारण-भाव

मति और श्रुत का कार्य-कारण सम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य। श्रुत ज्ञान शब्द, सकेत और स्मरण से उत्पन्न अर्थ-बोध है। अमुक अर्थ का अमुक सकेत होता है, यह जानने के बाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है। सकेत को मति जानती है। उसके अवग्रहादि होते है। फिर श्रुत-ज्ञान होता है।

द्रव्य-श्रुत मति (श्रोत्र) ज्ञान का कारण बनता है किन्तु भाव-श्रुत उसका कारण नही बनता, इसलिए मति को श्रुतपूर्वक नही माना जाता। दूसरी दृष्टि से द्रव्य-श्रुत श्रोत्र का कारण नही, विषय बनता है। कारण तब कहना चाहिए जबकि श्रूयमाण शब्द के द्वारा श्रोत्र को उसके अर्थ की जानकारी मिले। वैसा होता नहीं। श्रोत्र को केवल शब्द मात्र का बोध होता है। श्रुत-निश्रित मति भी श्रुत-ज्ञान का कार्य नही होती। 'अमुक लक्षण वाला कम्बल होता है'—यह परोपदेश या श्रुत ग्रन्थ से जाना और वैसे सस्कार बैठ गए। कम्बल को देखा और जान लिया कि यह कम्बल है। यह ज्ञान पूर्व-सस्कार से उत्पन्न हुआ इसलिए इसे श्रुत-निश्रित कहा जाता है।[2] ज्ञान-काल मे यह 'शब्द' से उत्पन्न नही हुआ, इसलिए इसे श्रुत का कार्य नही माना जाता।

---

१ नदी, सूत्र ३५।

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १६८ वृत्ति।

मति-श्रुत की साक्षरता और अनक्षरता

१ श्रुत-अननुसारी साभिलाप (शव्द सहित) ज्ञान—मति-ज्ञान।

२ श्रुत-अनुसारी साभिलाप (शव्द सहित) ज्ञान—श्रुत-ज्ञान।

मति-ज्ञान साभिलाप और अनभिलाप दोनो प्रकार का होता है। श्रुत-ज्ञान केवल साभिलाप होता है।[1] अर्थावग्रह साभिलाप नही होता। मति के शेप सव प्रकार (ईहा से अनुमान तक) साभिलाप होते हैं। श्रुत-ज्ञान अनभिलाप नहीं होता किन्तु साभिलाप ज्ञान मात्र श्रुत होना चाहिए—यह वात नही है। कारण कि ज्ञान साक्षर होने मात्र से श्रुत नही कहलाता। जव तक वह स्वार्थ रहता है तव तक साक्षर होने पर भी मति कहलाएगा। साक्षर ज्ञान परार्थ या परोपदेश क्षम या वचनाभिमुख होने की दशा मे श्रुत वनता है। ईहा से लेकर स्वार्थानुमान तक के ज्ञान परार्थ नही होते—वचनात्मक नही होते, इसलिए 'मति' कहलाते हैं। शव्दावली के माध्यम से मनन या विचार करना और शव्दावली के द्वारा मनन या विचार का प्रतिपादन करना—व्यक्त करना, ये दो वातें हैं। मति-ज्ञान साक्षर हो सकता है किन्तु वचनात्मक या परोपदेशात्मक नही होता। श्रुत-ज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है।[2]

ज्ञान दो प्रकार का होता है—अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी। पानी को देखकर आख को पानी का ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। 'पानी' शव्द के द्वारा जो 'पानी द्रव्य' का ज्ञान होता है, वह श्रुताश्रयी ज्ञान है। इन्द्रियो को सिर्फ अर्थाश्रयी ज्ञान होता है। मन को दोनो प्रकार का होता है। श्रोत्र 'पानी' शव्द मात्र को सुनकर जान लेगा, किन्तु पानी का अर्थ क्या है, पानी शव्द किस वस्तु का वाचक है—यह श्रोत्र नही जान सकता। 'पानी' शव्द का अर्थ 'यह पानी द्रव्य है'—ऐसा ज्ञान मन को होता है। इस वाच्य-वाचक के सम्वन्ध से होने वाले ज्ञान का नाम

---

१ विशेपावश्यकभाष्य, गाथा १०० वृत्ति ।

२ (क) अनुयोगद्वार, २ तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइ।
(ख) विशेपावश्यकभाष्य, गाथा १००, वृत्ति ।

५ अप्रतिपाती—आजीवन रहने वाला अथवा केवल-ज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला—अप्रतिपाती है।

६ प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापिस चला जाए, वह प्रतिपाती है।[1]

मन पर्याय ज्ञान

यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यो को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जो सोचता है, उसी के अनुरूप चिन्तन प्रवर्तक पुद्गल द्रव्यो की आकृतिया—पर्यायें बन जाती हैं। वे मन पर्याय के द्वारा जानी जाती हैं, इसीलिए इसका नाम है—मन की पर्यायो को साक्षात् करने वाला ज्ञान।[2]

मन पर्याय ज्ञान का विषय

१ द्रव्य की अपेक्षा—मन रूप मे परिणत पुद्गल-द्रव्य—मनोवर्गणा।

२ क्षेत्र की अपेक्षा—मनुष्य-क्षेत्र मे।

३ काल की अपेक्षा—असख्य काल तक का (पल्योपम का असख्यातवा भाग) अतीत और भविष्य।

४ भाव की अपेक्षा—मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाए।[3]

अवधि और मन पर्याय की स्थिति

मानसिक वर्गणाओ की पर्याय अवधि-ज्ञान का भी विषय बनती है, फिर भी मन पर्याय मानसिक पर्यायो का विशेषज्ञ है। एक डॉक्टर वह है जो समूचे शरीर की चिकित्सा-विधि जानता है और एक वह है जो आख का, दात का, एक अवयव का विशेष अधिकारी होता है। यही स्थिति अवधि और मन पर्याय की है।

विश्व के मूल मे दो श्रेणी के तत्त्व हैं—पौद्गलिक और अपौद्गलिक। पौद्गलिक (मूर्त तत्त्व) इन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय दोनो प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है। अपौद्गलिक (अमूर्त तत्त्व) केवल क्षायिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है।

चिन्तक मूर्त के बारे मे सोचता है, वैसे अमूर्त के बारे मे भी। मन पर्याय-ज्ञानी अमूर्त पदार्थ को साक्षात् नही कर सकता। वह द्रव्य-मन के साक्षात्कार के द्वारा जैसे आत्मीय चिन्तन को जानता है, वैसे ही उसके द्वारा चिन्तनीय पदार्थों को जानता है।[4] इसमे अनुमान का सहारा लेना पडता है, फिर भी वह परोक्ष नही

---

१ नन्दी, सूत्र ६।

२ वही, सूत्र २३

३ वही, सूत्र २५

४. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१४ वृत्ति ।

अवधि-ज्ञान

यह मूर्त द्रव्यो को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। मूर्तिमान् द्रव्य ही इसके ज्ञेय विषय की मर्यादा है। इसलिए यह अवधि कहलाता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इसकी अनेक इयत्ताए बनती हैं। जैसे—इतने क्षेत्र और काल मे इतने द्रव्य और इतने पर्यायो का ज्ञान करता है, इसलिए इसे अवधि कहा जाता है।

अवधि-ज्ञान का विषय

१ द्रव्य की अपेक्षा—

जघन्य—अनन्त मूर्तिमान् द्रव्य।
उत्कृष्ट—मूर्तिमान् द्रव्य-मात्र।

२ क्षेत्र की अपेक्षा—

जघन्य—कम से कम अगुल का असख्यातवा भाग।
उत्कृष्ट—अधिक से अधिक असख्य क्षेत्र (लोकाकाश) तथा शक्ति की कल्पना करें तो लोकाकाश जैसे और असख्य खण्ड इसके विषय बन सकते हैं।

३ काल की अपेक्षा—

जघन्य—एक आवलिका का असख्यातवा भाग।
उत्कृष्ट—असख्य काल (असख्य अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी)।

४ भाव—पर्याय की अपेक्षा—

जघन्य—अनन्त भाव—पर्याय।
उत्कृष्ट—अनन्त भाव—सब पर्यायो का अनन्त भाग।[1]

अवधि-ज्ञान के छह प्रकार हैं—

१ अनुगामी—जिस क्षेत्र मे अवधि-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अतिरिक्त क्षेत्र मे भी बना रहे—वह अनुगामी है।

२ अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र मे बना न रहे—वह अननुगामी है।

३ वर्धमान—उत्पत्ति-काल मे कम प्रकाशवान् हो और बाद मे क्रमश बढे—वह वर्धमान है।

४ हीयमाण—उत्पत्ति-काल मे अधिक प्रकाशवान् हो और बाद मे क्रमश घटे—वह हीयमान है।

---

१ नन्दी, सूत्र २२।

चौडा विवाद नही है। विवाद का विषय है ज्ञान की पूर्णता। कुछ तार्किक लोग ज्ञान की पूर्णता का अर्थ बहु-श्रुतता करते हैं और कुछ सर्वज्ञता।

जैन-परम्परा मे सर्वज्ञता का सिद्धान्त मान्य रहा है। केवलज्ञानी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनो को जानने लगता है।[1]

केवल-ज्ञान का विषय सब द्रव्य और पर्याय हैं। श्रुत-ज्ञान के विषय को देखते हुए वह अयुक्त भी नही लगता। मति को छोड शेष चार ज्ञान के अधिकारी केवली कहलाते हैं—श्रुत-केवली,[2] अवधि-ज्ञान-केवली, मन पर्याय-ज्ञान-केवली और केवलज्ञान-केवली।[3] इनमे श्रुत-केवली और केवल-ज्ञान-केवली का विषय समान है। दोनो सब द्रव्यो और सब पर्यायो को जानते हैं। इनमे केवल जानने की पद्धति का अन्तर रहता है। श्रुत-केवली शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से तथा क्रमश जानता है और केवल-ज्ञान-केवली उन्हे साक्षात् तथा एक साथ जानता है।

ज्ञान की कुशलता बढती है, तब एक साथ अनेक विषयो का ग्रहण होता है। एक क्षण मे अनेक विषयो का ग्रहण नही होता किन्तु ग्रहण का काल इतना सूक्ष्म होता है कि वहा काल का क्रम नही निकाला जा सकता। केवल ज्ञान ज्ञान के कौशल का चरम-रूप है। वह एक क्षण मे भी अनेक विषयो को ग्रहण करने मे समर्थ होता है। हम अपने ज्ञान के क्रम से उसे नापें तो वह अवश्य ही विवादास्पद बन जाएगा। उसे सभावना की दृष्टि से देखें तो वह विवाद-मुक्त भी है।

निरूपण एक ही विषय का हो सकता है। यह भूमिका दोनो की समान है। सहज स्थिति मे साकर्य नही होता। वह क्रियमाण कार्य मे होता है। ज्ञान आत्मा की सहज स्थिति है। वचन एक कार्य है। कार्य मे केवली और अकेवली का कोई भेद नही है। केवल-ज्ञान की विशेषता सिर्फ जानने मे ही है।

ज्ञेय और ज्ञान-विभाग

ज्ञेय का विचार चार दृष्टिकोणो से किया जाता है—

१ द्रव्य-दृष्टि से

मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सब द्रव्य जाने जा सकते हैं, देखे नही जा सकते।

श्रुत-ज्ञान द्वारा सब द्रव्य जाने-देखे जा सकते हैं।

---

१ दसवेआलिय, ४।२२।

२ अभिधान चिन्तामणि, १।३१।

३ ठाण, ३।५१३ तओ केवली पण्णत्ता तजहा—ओहिनाणकेवली,
मणपज्जवनाणकेवली, केवलनाणकेवली।

होता। कारण कि मन पर्याय ज्ञान का मूल विषय मनो-द्रव्य की पर्यायें हैं। उनका साक्षात्कार करने मे उसे अनुमान आदि किसी भी बाहरी साधन की आवश्यकता नही होती।

केवलज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय होता है।[1] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान के अवान्तर भेद मिटकर ज्ञान एक हो जाता है। फिर उसे इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नही होती, इसलिए वह केवल कहलाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! केवली इन्द्रिय और मन से जानता और देखता है?

भगवान्—गौतम! नहीं जानता-देखता।

गौतम—भगवन्! ऐसा क्यों होता है?

भगवान्—गौतम! केवली पूर्व-दिशा (या आगे) मे मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। वह इन्द्रिय का विषय नही है।[2]

केवल का दूसरा अर्थ 'शुद्ध' है।[3] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान में अशुद्धि का अश भी शेष नही रहता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का तीसरा अर्थ 'सम्पूर्ण' है।[4] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान की अपूर्णता मिट जाती है, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का चौथा अर्थ 'असाधारण' है।[5] ज्ञानावरण का विलय होने पर जैसा ज्ञान होता है, वैसा दूसरा नही होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का पाचवा अर्थ 'अनन्त' है।[6] ज्ञानावरण का विलय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर कभी आवृत नही होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल शब्द के चार अर्थ 'सर्वज्ञता' से सम्बन्धित नही हैं। आवरण का क्षय होने पर ज्ञान एक, शुद्ध, असाधारण और अप्रतिपाती होता है। इसमे कोई लम्बा-

---

१ विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८४

केवल मेग सुद्ध सगलमसाहारण अणत च

२ भगवती, ६।१०

३ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८४ वृत्ति

शुद्धम्—निर्मलम्—सकलावरणमलकलकविगमसम्भूतत्वात्।

४ ५ ६ वही, गाथा ८४ वृत्ति

सकलम्—परिपूर्णम्—सम्पूर्णज्ञेयग्राहित्वात्।

असाधारणम्—अनन्य-सदृशम् तादृशापरज्ञानाभावात्।

अनन्तम्—अप्रतिपातित्वेन विद्यमानपर्यन्तत्वात्।

वर्ग मे मति और श्रुत आते हैं, दूसरे मे अवधि, मन पर्याय और केवल।

पहले वर्ग का ज्ञेय इन्द्रिय और मन के माध्यम से जाना जाता है और दूसरे का ज्ञेय इनके बिना ही जाना जाता है। ज्ञेय की द्विविधता के आधार पर भी ज्ञान दो वर्गों मे विभक्त हो सकता है। पहले वर्ग मे मति, अवधि और मन पर्याय हैं, दूसरे मे श्रुत और केवल।

पहले वर्ग के द्वारा सिर्फ मूर्त द्रव्य ही जाना जा सकता है। दूसरे के द्वारा मूर्त और अमूर्त—दोनो प्रकार के ज्ञेय जाने जा सकते हैं।

ज्ञान की नियामक शक्ति

हम आख से देखते हैं तब कान से नही सुनते। कान से सुनते हैं तब इसका अनुभव नही करते। सक्षेप मे हम एक साथ दो ज्ञान नही करते। यह हमारे ज्ञान की इयत्ता है—सीमा है। भिन्न-भिन्न दर्शनो ने ज्ञान की इयत्ता के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रस्तुत किये हैं। ज्ञान अर्थोत्पन्न और अर्थाकार नही होता इसलिए वे उसकी इयत्ता के नियामक नही बनते।[1] मन अणु नही, इसलिए वह भी ज्ञान की इयत्ता का नियामक नही बन सकता।[2] जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की इयत्ता का नियामक तत्त्व उसके आवरण-विलय से उत्पन्न होने वाली आत्मिक योग्यता है। आवरण-विलय आशिक होता है तब एक साथ अनेक विषयो को जानने की योग्यता नही होती। योग्यता की कमी के कारण जिस समय जिस विपय मे आत्मा व्यापृत होती है, उस समय उसी विषय को जान सकती है। वस्तु को जानने का अव्यवहित साधन इन्द्रिय और मन का व्यापार (उपयोग) है। वह योग्यता के अनुरूप होता है। यही कारण है कि हम एक साथ अनेक विषयो को नही जान सकते। चेतना की निरावरण दशा मे सब पदार्थ युगपत् जाने जा सकते हैं।

ज्ञान आत्मा का अक्षर आलोक है। वह सब आत्माओ मे समान है। वह स्वय प्रकाशी है, सदा जानता रहता है। यह सिद्धान्त की भाषा है। हमारा दर्शन इसके विपरीत है। ज्ञान कभी न्यून होता है और कभी अधिक। सब जीवो मे ज्ञान की तरतमता है। वह बाहरी साधनो के अभाव मे नही जानता और कभी

---

१ प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ४।४७।

२ (क) वही, १।२

मन अणुपरिमाण न भवति, इन्द्रियत्वात्, नयनवत्। न च शरीरव्यापित्वे युगपज् ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्ग तादृशक्षयोपशमविशेषेणैव तस्य कृतोत्तरत्वात्।

(ख) 'मनोणुवाद' की जानकारी के लिए देखें—

१ न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिकारिका

२ न्यायालोक, ४।११।

अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त या सब मूर्त द्रव्य जाने-देखे जा सकते हैं।

मन पर्याय-ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओ के अनन्तावयवी स्कन्ध जाने-देखे जा सकते हैं।

केवल-ज्ञान द्वारा सर्व द्रव्य जाने-देखे जा सकते हैं।

२ क्षेत्र-दृष्टि से

मति-ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र सामान्य रूप से जाना जा सकता है, देखा नही जा सकता।

श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है।

अवधि-ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण लोक जाना-देखा जा सकता है।

मन पर्याय-ज्ञान द्वारा मनुष्य-क्षेत्रवर्ती मानसिक अणु जाने-देखे जा सकते हैं।

केवल-ज्ञान द्वारा सर्व-क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है।

३ काल-दृष्टि से

मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व-काल जाना-देखा नहीं जा सकता।

श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व-काल जाना-देखा जा सकता है।

अवधि-ज्ञान द्वारा असख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी परिमित अतीत और भविष्यत् काल जाना-देखा जा सकता है।

मन पर्याय-ज्ञान द्वारा पल्योपम के असख्यातवें भाग परिमित अतीत और भविष्यत् काल जाना-देखा जा सकता है।

केवल-ज्ञान द्वारा सर्व काल जाना-देखा जा सकता है।

४ भाव-दृष्टि से

मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व पर्याय जाने जा सकते हैं, देखे नही जा सकते हैं।

श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्वपर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त पर्याय (सब द्रव्यो का अनन्तवा भाग) जाने-देखे जा सकते हैं।

मन पर्याय ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओ के अनन्त-पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

केवल-ज्ञान द्वारा सर्व पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

ज्ञेय के आधार पर ज्ञान के दो वर्ग बनते हैं—एक वर्ग है श्रुत और केवल का, दूसरा है मति, अवधि और मन पर्याय का। पहले वर्ग का ज्ञेय सर्व है और दूसरे वर्ग का ज्ञेय असर्व।

ज्ञेय को जानने की पद्धति के आधार पर भी ज्ञान के दो वर्ग होते हैं—एक

नहीं जाता। इसलिए वहा जानने की क्षमता और जानने की प्रवृत्ति दो बन जाते है।

छद्मस्थ ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार जान सकता है, इसलिए क्षमता की दृष्टि से वह अनेक पर्यायो का ज्ञाता है किन्तु उसका ज्ञान निरावरण नही होता, इसलिए वह एक काल मे एक पर्याय को ही जान सकता है।

ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञाता ज्ञान-स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय-स्वभाव। दोनो स्वतन्त्र हैं। एक का अस्तित्व दूसरे से भिन्न है। इन दोनो मे विषय-विषयीभाव सम्बन्ध है। अर्थ ज्ञान-स्वरूप नही है, ज्ञान ज्ञेय-स्वरूप नही है—दोनो अन्योन्य-वृत्ति नहीं हैं।

ज्ञान ज्ञेय मे प्रविष्ट नही होता, ज्ञेय ज्ञान मे प्रविष्ट नही होता—दोनो का परस्पर प्रवेश नही होता।

ज्ञाता की ज्ञायक-पर्याय और अर्थ की ज्ञेय-पर्याय के सामर्थ्य से दोनो का सम्बन्ध जुडता है।[1]

ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताए

आत्मा को आवृत-दशा मे ज्ञान होते हुए भी उसकी सतत प्रवृत्ति (उपयोग) नही होती और जो होती है उसका एक क्रम है—पहले दर्शन की प्रवृत्ति होती है, फिर ज्ञान की।

गौतम ने पूछा—भगवन्! छद्मस्थ मनुष्य परमाणु को जानता है पर देखता नही, यह सच है? अथवा जानता भी नही, देखता भी नहीं, यह सच है?

भगवान् ने कहा—गौतम! कई छद्मस्थ विशिष्ट श्रुत-ज्ञान से परमाणु को जानते हैं पर दर्शन के अभाव मे देख नहीं सकते और कई जो सामान्य श्रुत-ज्ञानी होते है, वे न तो उसे जानते है और न देखते हैं।

गौतम—भगवन्! परम अवधि-ज्ञानी परमाणु को जिस समय जानते है, उस समय देखते है और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते है?

भगवान्—गौतम! नही, वे जिस समय परमाणु को जानते हैं, उस समय देखते नही और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नही।

गौतम—भगवन्! ऐसा क्या नही होता?

भगवान्—गौतम! ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार, इसलिए

---

१. प्रवचनसार, १।२८—३०

जानता है और कभी नही जानता ।

सिद्धान्त और हमारे प्रत्यक्ष-दर्शन मे जो विरोध है, उसका समाधान इन शब्दो मे है। आत्मा और ज्ञान की स्थिति वही है, जो सिद्धान्त की भाषा मे निरूपित हुई है। जो विरोध दीखता है, वह भी सही है। दोनो के पीछे दो दृष्टिया हैं।

आत्मा के दो रूप हैं—आवृत और अनावृत। आत्मा ज्ञानावरण के परमाणुओ से आवृत होता है, तब वही स्थिति बनती है जो हमे दीखती है। वह ज्ञानावरण के परमाणुओ से अनावृत होता है, तब वही स्थिति बनती है, जो हमे विपरीत लगती है।

ज्ञान एक है, इसलिए उसे केवल कहा जाता है। वह 'सर्व-ज्ञानावरण' से आवृत रहता है, उस स्थिति मे आत्मा निर्बाध ज्ञानमय नही होता। आत्मा और अनात्मा की भेद-रेखा मिट जाय, वैसा आवरण कभी नही होता। केवल-ज्ञान का अल्पतम भाग सदा अनावृत रहता है।[1] आत्मा का आत्मत्व यही है कि वह कभी भी ज्ञान-शक्ति से शून्य नही होता।

विशुद्ध प्रयत्न से आवरण जितना क्षीण होता है, उतना ही ज्ञान विकसित हो जाता है। ज्ञान के विकास की न्यूनतम मात्रा और अनावृत ज्ञान के मध्यवर्ती ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-परमाणु 'देश-ज्ञानावरण' कहलाते हैं।[2]

सर्व-ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान का कोई भेद नही रहता, आत्मा ज्ञानमय बन जाता है। यह वह दशा है जहा ज्ञान और उपयोग दो नही रहते।

देश-ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार ज्ञान का विकास होता है वहा ज्ञान के विभाग बनते हैं, ज्ञान और उपयोग का भेद भी रहता है।

केवली के सर्व-ज्ञानावरण का विलय हो चुकता है। वे सदा जानते हैं, और सब पर्यायो को जानते हैं।

छद्मस्थ के देश-ज्ञानावरण का विलय होता है। वे जानने को तत्पर होते हैं तभी जानते हैं और जिस पर्याय को जानने का प्रयत्न करते हैं, उसी को जानते हैं।

ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकास होने पर जानने का प्रयत्न नही करना पडता, ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है।

ज्ञान-शक्ति के अपूर्ण विकास की दशा मे जानने का प्रयत्न किए बिना जाना

---

१ नन्दी, सूत्र ७१।

२ ठाण, २।४२८

णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तजहा—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव।

ज्ञेय-अज्ञेयवाद

ज्ञेय और अज्ञेय की मीमासा—द्रव्य (वस्तु या पदार्थ), क्षेत्र, काल, और भाव (पर्याय या अवस्था)—इन चार दृष्टियों से होती है।[1] सर्वज्ञ के लिए सब कुछ ज्ञेय है। असर्वज्ञ—छद्मस्थ के लिए कुछ ज्ञेय है और कुछ अज्ञेय—सापेक्ष है।

पदार्थ की दृष्टि से

पदार्थ दो प्रकार के हैं—अमूर्त और मूर्त। मूर्त पदार्थ का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा विकल-परमार्थ-प्रत्यक्ष (अवधि तथा मन पर्याय) से साक्षात्कार होता है इसलिए वह ज्ञेय है। अमूर्त-पदार्थ अज्ञेय हैं।[2]

मानस-ज्ञान—श्रुत या शब्द-ज्ञान परोक्षताया अमूर्त और मूर्त सभी पदार्थों को जानता है, अत उसके ज्ञेय सभी पदार्थ हैं।[3]

पर्याय की दृष्टि से

तीन काल की सभी पर्यायें अज्ञेय हैं। त्रैकालिक कुछ पर्यायें ज्ञेय हैं।[4]

सक्षेप मे छद्मस्थ के लिए दस वस्तुए अज्ञेय हैं। सर्वज्ञ के लिए वे ज्ञेय हैं।[5] ज्ञेय भी अनन्त और ज्ञान भी अनन्त—यह कैसे बन सकता है ? ज्ञान मे अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता नही है। यदि है तो ज्ञेय सीमित हो जाएगा। दो असीम विषय-विषयी-भाव मे नही बंध सकते। अज्ञेयवाद या असर्वज्ञतावाद की ओर से ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जाता रहा है।

जैन दर्शन सर्वज्ञतावादी है। उसके अनुसार ज्ञानावरण का विलय (ज्ञान को ढाकने वाले परमाणुओं का वियोग) होने पर आत्मा के स्वभाव का प्रकाश होता है। अनन्त, निरावरण, कृत्स्न, परिपूर्ण, सर्वद्रव्य-पर्याय साक्षात्कारी ज्ञान का उदय होता है, वह निरावरण होता है, इसीलिए वह अनन्त होता है। ज्ञान का सीमित भाव आवरण बनता है। उसका आवरण हटता है, तब उसकी सीमितता भी मिट जाती है। फिर केवली (निरावरण ज्ञानी) अनन्त को अनन्त और सान्त को सान्त साक्षात् जानने लगता है। अनुमान से जैसे अनन्त जाना जाता है, वैसे प्रत्यक्ष से भी अनन्त जाना जा सकता है। अनन्तता अनुमान और प्रत्यक्ष दोनों का ज्ञेय है।

---

१ नंदी, सूत्र २२, २५।
२. वही, सूत्र ८-९।
३ वही, सूत्र १२७।
४ भगवती, ८।२
५ ठाण, १०।१०६

दोनो एक साथ नही हो सकते।[1] यह केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की क्रमिक मान्यता का आगमिक पक्ष है। अनावृत आत्मा मे ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है और छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करनी पड़ती है। छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करने मे असख्य समय लगते हैं और केवली एक समय मे ही अपने ज्ञेय को जान लेते हैं। इस पर से यह प्रश्न उठा कि केवली एक समय मे समूचे ज्ञेय को जान लेते हैं तो दूसरे समय मे क्या जानेंगे? वे एक समय मे जान सकते हैं, देख नहीं सकते या देख सकते हैं, जान नही सकते तो उनका सर्वज्ञत्व ही टूट जाएगा?

इस प्रश्न के उत्तर मे तर्क आगे बढ़ा। दो धाराए और बन गई। मल्लवादी ने केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के युगपत् होने और सिद्धसेन दिवाकर ने उनके अभेद का पक्ष प्रस्तुत किया।[2]

दिगम्बर-परम्परा मे केवल युगपत्-पक्ष ही मान्य रहा।[3] श्वेताम्बर-परम्परा मे इसकी क्रम, युगपत् और अभेद—ये तीन धाराए बन गई।

विक्रम की सत्रहवी शताब्दी के महान् तार्किक यशोविजयजी ने इसका नय-दृष्टि से समन्वय किया है।[4] ऋजु-सूत्र नय की दृष्टि से क्रमिक पक्ष सगत है। यह दृष्टि वर्तमान समय को ग्रहण करती है। पहले समय का ज्ञान कारण है और दूसरे समय का दर्शन उसका कार्य है। ज्ञान और दर्शन मे कारण और कार्य का क्रम है। व्यवहार-नय भेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से युगपत्-पक्ष भी सगत है। सग्रह नय अभेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से अभेद-पक्ष भी सगत है। इन तीनो धाराओ को तर्क-दृष्टि से देखा जाय तो इनमे अभेद-पक्ष ही सगत लगता है। जानने और देखने का भेद परोक्ष या अपूर्ण ज्ञान की स्थिति मे होता है। वहा वस्तु के पर्यायो को जानते समय उसका सामान्य रूप नही देखा जा सकता और उसके सामान्य रूप को देखते समय उसके विभिन्न पर्याय नहीं जाने जा सकते। प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान की दशा मे ज्ञेय का प्रति समय सर्वथा साक्षात् होता है। इसलिए वहा यह भेद नही होना चाहिए।

दूसरा दृष्टिकोण आगमिक है। उसका प्रतिपादन स्वभाव-स्पर्शी है। पहले समय मे वस्तुगत-भिन्नताओ को जानना और दूसरे समय मे भिन्नतागत-अभिन्नता को जानना स्वभाव-सिद्ध है। ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है। भेदोन्मुखी ज्ञान सबको जानता है और अभेदोन्मुखी दर्शन सबको देखता है। अभेद मे भेद और अभेद मे भेद समाया हुआ है, फिर भी भेद-प्रधान ज्ञान और अभेद-प्रधान दर्शन का समय एक नही होता।

---

१ भगवती, १८।८

२ सन्मति प्रकरण, टीका पृ० ६०८

३ सर्वार्थसिद्धि, १।६

४ ज्ञानबिन्दु,

रखते हैं, उन्ही आकाश-खण्ड मे फिर हाथ-पैर रखने मे समर्थ हैं ?

भगवान्—गौतम ! नही हैं।

गौतम—यह कैसे, भगवन् ?

भगवान्—गौतम ! केवली वीर्य, योग और पौद्गलिक द्रव्य-युक्त होते हैं, इसलिए उनके उपकरण—हाथ-पैर आदि चल होते हैं। वे चल होते हैं, इसलिए केवली जिन आकाश-प्रदेशो पर हाथ-पैर रखते हैं, उन्ही आकाश-प्रदेशो पर दुबारा हाथ-पैर रखने मे समर्थ नही होते।[1]

ज्ञान का कार्य जानना है। क्रिया शरीर-सापेक्ष है। शारीरिक स्पन्दन के कारण पूर्व अवगाह-क्षेत्र का फिर अवगाहन नही किया जा सकता। इसमे ज्ञान की कोई त्रुटि नही है। वह शारीरिक चलभाव की विचित्रता है।

नियति एक तत्त्व है। वह मिथ्यावाद नही है। नियतिवाद जो नियति का ही एकान्त आग्रह रखता है, वह मिथ्या है। सर्वज्ञता के साथ नियतिवाद की बात जोडी जाती है। वह कोरा आग्रह है। असर्वज्ञ के निश्चित ज्ञान के साथ भी वह जुडती है। सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण निर्णीत समय पर होते हैं। ज्योतिर्विदो के द्वारा किया हुआ निर्णय उनकी स्वयभावी क्रिया मे विघ्न नही डालता। मनुष्यो के भाग्य के बारे मे भी उन्ही के जैसे (असर्वज्ञ) मनुष्यो द्वारा किये गए निर्णय उनके प्रयत्नो मे विघ्न नही बनते। नियतिवाद के काल्पनिक भय से सर्वज्ञता पर कटाक्ष नही किया जा सकता। गोशालक के नियतिवाद का हेतु भगवान् महावीर का निश्चित ज्ञान है।

भगवान् महावीर साधना-काल मे विहार कर रहे थे। सर्वज्ञता का लाभ हुआ नही था। शरद् ऋतु का पहला महीना चल रहा था। गर्मी और सर्दी की सधि-वेला मे बरसात चल बसी थी। कार्त्तिक की कडी धूप मिट रही थी और सर्दी मृगसर की गोद मे खेलने को उत्सुक हो रही थी। उस समय भगवान् महावीर सिद्धार्थ-ग्राम नगर से विहार कर कूर्मग्राम नगर को जा रहे थे। उनका एकमात्र शिष्य मखली पुत्र गोशालक उनके साथ था। सिद्धार्थ-ग्राम से वे चल पडे। कूर्म-ग्राम अभी आया नही। बीच मे एक घटना-चक्र बनता है।

मार्ग के परिपार्श्व मे एक खेत लहलहा रहा था। उसमे था एक तिल का पौधा। पत्ते और फूल उसकी श्री को बढा रहे थे। उसकी नयनाभिराम हरियाली बरबस पथिको की दृष्टि अपनी ओर खीच लेती थी। गोशालक की दृष्टि सहसा उस पर जा पडी। वह रुका, झुका, वन्दना की और नम्र स्वर मे बोला—भगवन् ! देखिए, यह तिल का पौधा जो सामने खडा है, क्या पकेगा या नही ? इसके सात फूलो मे रहे हुए सात जीव मरकर कहा जाएगे, कहा पैदा होगे ?

---

१ भगवती, ५।४।१४२।

उनकी अनन्त विषयक जानकारी में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर सिर्फ जानकारी के रूप में है। अनुमान से अनन्त का अस्पष्ट आकलन होता है और प्रत्यक्ष से उसका स्पष्ट दर्शन। अनन्त ज्ञान से अनन्त वस्तु अनन्त ही जानी जाती है। इसीलिए उसकी अनन्तता का अन्त नहीं होता—असीमता सीमित नहीं होती। सर्वज्ञ जैसे को वैसा ही जानता है। जो जैसे नहीं है, उसे वैसे नहीं जानता। सान्त को अनन्त और अनन्त को सान्त जानना अयथार्थ-ज्ञान है। यथार्थ-ज्ञान वह है, जो सान्त को सान्त और अनन्त को अनन्त जाने। सर्वज्ञ अनन्त को अनन्त जानता है। इसमें दो असीम तत्त्वों का परस्पर आकलन है।[2] ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे से आबद्ध नहीं हैं। ज्ञान की असीमता का हेतु उसका निरावरण भाव है। ज्ञेय की असीमता उसकी सहज स्थिति है। ज्ञान और ज्ञेय का आपस में प्रतिबन्धकभाव नहीं है। अनन्त ज्ञेय अनन्तानन्त ज्ञान से ही जाना जाता है।

ज्ञेय अनन्त हैं। निरावरण ज्ञान अनन्तानन्त हैं। अनन्त अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता वाला है। परम अवधि ज्ञान का विषय (ज्ञेय) समूचा लोक है। क्षमता की दृष्टि से ऐसे लोक असंख्य और हों तो भी वह उसे साक्षात् कर सकता है। यह सावरण ज्ञान की स्थिति है। निरावरण ज्ञान की क्षमता इससे अनन्त गुण अधिक है।

नियतिवाद

सर्वज्ञता निश्चय-दृष्टि या वस्तु-स्थिति है। सर्वज्ञ जो जानता है, वह वैसे ही होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता।

परिवर्तन व्यवहार-दृष्टि का विषय है। पुरुषार्थ का महत्त्व निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से है। निश्चय-दृष्टि का पुरुषार्थ आवश्यकतानुरूप और निश्चित दिशागामी होता है। व्यवहार-दृष्टि स्थूल समझ पर आश्रित होती है। इसलिए उसका पुरुषार्थ भी वैसा ही होता है। ज्ञानमात्र से क्रिया सिद्ध नहीं होती, इसलिए ज्ञान की निश्चितता और अनिश्चितता दोनों स्थितियों में पुरुषार्थ अपेक्षित होता है। ज्ञान और क्रिया का पूर्ण सामंजस्य भी नहीं है। इनकी कारण-सामग्री भिन्न होती है। सर्वज्ञ सब कुछ जान लेते हैं, पर सब कुछ कर नहीं पाते।

गौतम ने पूछा—भगवन्! केवली अभी जिस आकाश-खण्ड में हाथ-पैर

---

२ न्यायालोक, पृ० २२१।

अनन्तमलोकाकाशं केवलिना परिच्छिन्नं चेत्तदा उपलब्ध्यावसानत्वादनन्तत्वहानिः। अथाऽपरिच्छिन्नं तदा तत्स्वरूपपरिच्छेद-विरहेण सर्वज्ञत्वाऽभावः नैव दोषः। केवलिना यज्ज्ञानं तदतिशयवत् क्षायिकमनन्तानन्तपरिमाणं च, तेन तदनन्तमिति साक्षादवसीयते ततो नानन्तत्वस्य हानिः न वा सर्वज्ञतायाः। नह्यन्यथास्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञः यथार्थज्ञत्वात् इति न तेन सान्तमनन्तत्वेन परिच्छिन्नं किन्तु अनन्तमनन्तत्वेन।

फिर सिद्धार्थ-ग्राम नगर की ओर चले। मार्ग वही था। वे ही थे दोनो गुरु-शिष्य। समय वह नही था। ऋतु-परिवर्तन हुआ। परिस्थिति भी बदल चुकी थी। किन्तु मनुष्य बात का पक्का होता है। आग्रह कब जल्दी से छूटता है। गोशालक की गति ही अधीर नही थी, मन भी अधीर था। प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते हैं, फिर भी कटते हैं। वह खेत आ गया। गोशालक बोला—"भगवन् ! ठहरिए। यह वही खेत है, जहा हमने इससे पूर्व विहार मे कुछ क्षण बिताए थे। यह वही खेत है, जहा हमने तिल-स्तम्ब देखा था। यह वही खेत है जहा भगवान् ने मुझे कहा था—'यह तिल-स्तम्ब पकेगा' ? किन्तु भगवन् ! वह भविष्यवाणी असफल हो गई। वह तिल-स्तम्ब नही पका, नही पका और नही पका। वे सात फूलो के सात जीव मरकर नए सिरे से एक फली मे सात तिल नही बने, नही बने और नही बने। सच कह रहा हू मैं, मेरे धर्माचार्य ! प्रत्यक्ष से बढकर दूसरा कोई प्रमाण नही होता।" भगवान् सब सुनते रहे। वे शान्त, मौन और अविचलित थे। गोशालक की भवितव्यता ने प्रेरित किया भगवान् को बोलने के लिए, कुछ कहने के लिए रहस्य को सामने ला रखने के लिए। भगवान् बोले—"गोशालक ! मैं जानता हूँ' तूने मेरी बात पर विश्वास नही किया था। तू आकुल था मेरी भविष्यवाणी को मिथ्या ठहराने के लिए। मुझे मालूम है, गोशालक ! उसके लिए तू जो करना चाहता था, वह कर चुका। किन्तु परिस्थिति ने तेरा साथ नही दिया।" तिल-स्तम्ब के उखाड फेंकने से लेकर उसके फिर से पकने तक की सारी कहानी भगवान् ने सुना डाली। इसके साथ-साथ परिवर्तवाद का सिद्धान्त भी समझा डाला। भगवान् बोले—"गोशालक ! वनस्पति मे परिवृत्य-परिहार होता है—वनस्पति के जीव एक शरीर से मरकर फिर उसी शरीर में जन्म ले लेते हैं।"

गोशालक नियति के हाथो खेल रहा था। उसे भगवान् की वाणी मे विश्वास नही हुआ। वह धीरज का बाध तोडकर चला। उस जगह गया, जहा तिल-स्तम्ब तोड फेंका था। उसने देखा, आश्चर्य-भरी दृष्टि से देखा—वह तिल-स्तम्ब फिर से खडा हो गया है। उसने नजदीक से देखा, उसके गुच्छो मे एक फली भी निकल आयी है। सशय की आतुरता ने भुला दिया—'वनस्पति चेतन होती है, उसे स्पर्शमात्र से वेदना होती है, उसे छूना जैन-मुनि की मर्यादा के अनुकूल नही है।' उसके हाथ आगे बढ़े, फली को तोडा। अन्दर तिल निकले। उन्हे गिना, वे सात थे। गोशालक स्तब्ध-सा रह गया। उसके ऐसा अध्यवसाय बना—बस पीछे का सब बेकार। अब मुझे तत्त्व मिल गया है। सत्य है नियतिवाद और सत्य है परिवर्तवाद। मनुष्य के लाख प्रयत्न करने पर भी जो होने का है वह नही बदलता। यह सारा घटना-चक्र नियति के अधीन है। भवितव्यता ही सब कुछ बनाती-बिगाडती है। मनुष्य उसी महाशक्ति की एक रेखा है जो उसी से कर्तृत्व पा कुछ करने का दम भरता है।

भगवान् बोले—गोशालक ! यह तिल-गुच्छ पकेगा, नही पकेगा ऐसा नही। इसके सात फूलो के सात जीव मरकर इसी की एक फली (तिल-सकुलिका या तिल-फलिका) मे सात तिल बनेंगे।

गोशालक ने भगवान् को सुना, पर जो सुना उसमें श्रद्धा उत्पन्न नही हुई, प्रतीति नही हुई, वह रुचा नही। उसकी अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि ने उसे परीक्षा की सकरी पगडडी मे ला पटका। उसकी प्रयोग-बुद्धि मे केवल अश्रद्धा ही नही किन्तु नैसर्गिक तुच्छता भी थी। वैसी तुच्छता जो सत्यान्वेषी के जीवन मे अभिशाप बनकर आती है।

भगवान् आगे बढ चले। गोशालक धीमी गति से पीछे सरका। मन के तीव्र वेग ने गति मे और शिथिलता ला दी। उसकी प्रयोग-दृष्टि मे सत्य की शुद्ध जिज्ञासा नही थी। वह अपने धर्माचार्य के प्रति सद्भावनाशील भी अब नहीं रहा था। वह भगवान् को मिथ्यावादी ठहराने पर तुला हुआ था। विचारो का तुमुल-सघर्ष सिर पर लिए वह उस तिल-स्तम्ब के पास जा पहुचा। उसे गहरी दृष्टि से देखा। गोशालक के हाथ उसकी ओर बढ़े। कुछ ही क्षणो में तिल-स्तम्ब जमीन से ऊपर उठ आया। गोशालक ने उसे उखाडकर ही सन्तोष नही माना। वह उसे हाथ मे लिए चला और कुछ आगे जा एकान्त मे डाल आया। महावीर आगे चले जा रहे थे। वे निश्छल थे। इसीलिए अपने सत्य पर निश्चल थे। उनकी निरपेक्षता उन्हे स्वय सहारा दे रही थी आगे बढने के लिए। गोशालक भगवान् की ओर चल पडा।

परिस्थिति का मोड कब, कहा, कैसा होता है, इसे जानना सहज नहीं। विश्व की समूची घटनावलिया और कार्य-कारण भाव की शृखलाए ऐसी बनती-जुडती हैं, जो अनहोने जैसे को बना डालती हैं और जो होने को है, उसे बिखेर डालती हैं। केवल परिस्थिति की दासता जैसे निरा धोखा है, वैसे ही केवल पौरुष का अभिमान भी निरा अज्ञान है। परिस्थिति और पुरुषार्थ अनुकूल क्षेत्र-काल मे मिलते हैं, व्यक्ति की पूर्व-क्रिया से प्रेरित हो चलते हैं तभी कुछ बनने का बनता है और बिगडने का बिगडता है। गोशालक के पैर भगवान् महावीर की ओर आगे बढे, पवन की गति मे परिवर्तन आया। खाली आकाश बादलो से छा गया। खाली बादल पानी से भर गए। बादलो की गडगडाहट और बिजली की कौंध ने वातावरण मे खिचाव-सा ला दिया। देखते-देखते धरती गीली हो गई। धीमे-धीमे गिरी बूदो ने रज-रेणु को थाम लिया। कीचड उनसे बढा नही। तत्काल उखाड फेंका हुआ वह तिल-स्तम्ब अनुकूल सामग्री पा फिर अकुरित हो उठा, बद्धमूल हो उठा, जहा गिरा था वही प्रतिष्ठित हो गया। सात तिल-फूलो के सात जीव उसी तिल-स्तम्ब की एक फली मे सात तिल बन गए।

भगवान् महावीर जनपद-विहार करते-करते फिर कूर्म-ग्राम आये। वहा से

२

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान का आधार

जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नो-कर्म की त्रिपुटी-मूलक है। मन की व्याख्या और प्रवृत्तियो पर विचार करने से पूर्व इस त्रिपुटी पर सक्षिप्त विचार करना होगा, क्योकि जैन-दृष्टि के अनुसार मन स्वतन्त्र पदार्थ या गुण नही, वह आत्मा का ही एक विशेष गुण है। मन की प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नही, वह कर्म और नो-कर्म की स्थिति-सापेक्ष है। इसलिए इनका स्वरूप समझे विना मन का स्वरूप नही समझा जा सकता।

त्रिपुटी का स्वरूप

आत्मा

चैतन्य-लक्षण, चैतन्य-स्वरूप या चैतन्य-गुण पदार्थ का नाम आत्मा है।[1] ऐसी आत्माए अनन्त हैं।[2] उनकी सत्ता स्वतन्त्र है।[3] वे किसी दूसरी आत्मा या परमात्मा के अश नही हैं। प्रत्येक आत्मा की चेतना अनन्त होती है—अनन्त प्रमेयो को जानने मे क्षम होती है। चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माए समान होती हैं, किन्तु चेतना का विकास सब मे समान नही होता।[4] चैतन्य-विकास के तारतम्य का निमित्त कर्म है।[5]

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २८।१०, ११।
२ दसवेआलिय, ४।३।
३ वही, ८।३।
४ ठाण, २।
५ भगवती, ७।८।

परिवर्तवाद भी वैसा ही व्यापक है जैसा कि नियतिवाद। सब जीव परिवृत्य-परिहार करते हैं। इस एक घटना ने गोशालक की दिशा बदल दी। अब गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य नहीं रहा। वह आजीवक-सम्प्रदाय का आचार्य बन गया, नियतिवाद और परिवर्तवाद का प्रचारक बन गया। अब वह 'जिन' कहलाने लगा।

सर्वज्ञता का पारम्पर्य-भेद

जैन-परम्परा मे सर्वज्ञता के बारे मे प्राय एकमत रहा है। कही-कहीं मत-भेद भी मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार मे बताया है—"केवली व्यवहार-दृष्टि से सब कुछ जानते-देखते हैं और निश्चय-दृष्टि से अपनी आत्मा को ही देखते हैं।"[1] किन्तु सर्वज्ञता का यह विचार जैन-दृष्टि को पूर्णांशतया मान्य नही है। सर्वज्ञता का अर्थ है – लोक-अलोकवर्ती सब द्रव्य और सब पर्यायो का साक्षात्कार।

यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिकी वेदना (इच्छा-स्वीकृत प्रयत्नो) द्वारा भोगेगा और यह जीव इस कर्म को औपक्रमिकी वेदना (कर्मोदय-कृत वेदना) द्वारा भोगेगा, प्रदेश-वेद्य या विपाक-वेद्य के रूप मे जैसा कर्म बधा है वैसे भोगेगा, जिस देश-काल आदि मे जिस प्रकार, जिस निमित्त से, जिन कर्मों के फल भोगने हैं—यह सब अर्हत् को ज्ञात होता है। भगवान् ने जो कर्म जैसे-जैसे देखा है वह वैसे-वैसे ही परिणत होगा।[2] हमारी क्रियाए विशिष्ट ज्ञान की निश्चितता से मुक्त नही हैं, फिर भी ज्ञान आलोक है। सूर्य का आलोक जैसे प्रतिबन्धक नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी क्रिया का प्रतिबन्धक नही होता।

केवली पूर्व दिशा मे मित (परिमाण वाली वस्तु) को भी जानता है, और अमित (परिमाण-रहित वस्तु) को भी जानता है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा मे वह मित और अमित दोनो को जानता है। केवली सबको जानता-देखता है। सर्वत जानता-देखता है। सर्व काल मे सर्व भावो (पर्यायो या अवस्थाओ) को जानता-देखता है। वह अनन्त-ज्ञानी और अनन्त-दर्शनी होता है। उसका ज्ञान और दर्शन निरावरण होता है, इसलिए वह सब पदार्थों को सदा, सर्वत सर्व-पर्यायों सहित जानता-देखता है।

---

१ नियमसार, १५८।
२ वही, १५८।

कर्म के आंशिक विलय से होने वाले आंशिक विकास का उपयोग भी बाह्य-स्थिति-सापेक्ष होता है।

चेतना का पूर्ण विकास होने और शरीर से मुक्ति मिलने के बाद आत्मा को बाह्य-स्थितियो की कोई अपेक्षा नही होती।

चेतना का स्वरूप और विभाग

आत्मा सूर्य की तरह प्रकाश-स्वभाव होती है। उसके प्रकाश—चेतना के दो रूप बनते हैं—आवृत और अनावृत। अनावृत-चेतना अखण्ड, एक, विभाग-शून्य और निरपेक्ष होती है।[1] कर्म से आवृत चेतना के अनेक विभाग बन जाते हैं। उनका आधार ज्ञानावरण कर्म के उदय और विलय का तारतम्य होता है। वह अनन्त प्रकार का होता है, इसलिए चेतना के भी अनन्त रूप बन जाते हैं किन्तु उसके वर्गीकृत रूप चार हैं—मति, श्रुत, अवधि और मन पर्याय।

मति—इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान—वार्तमानिक ज्ञान।

श्रुत—शास्त्र और परोपदेश—शब्द के माध्यम से होने वाला त्रैकालिक मानस-ज्ञान।

अवधि—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्म-शक्ति से होने वाला ज्ञान।

मन पर्याय—पर-चित्त-ज्ञान।

इनमे पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं और अन्तिम दो प्रत्यक्ष। ज्ञान स्वरूपत प्रत्यक्ष ही होता है। बाह्यार्थ ग्रहण के समय वह प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो धाराओ मे बट जाता है।

ज्ञाता ज्ञेय को किसी माध्यम के बिना जाने तब उसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और माध्यम के द्वारा जाने तब परोक्ष।

आत्मा प्रकाश-स्वभाव है, इसलिए उसे अर्थ-बोध मे माध्यम की अपेक्षा नही होनी चाहिए। किन्तु चेतना का आवरण बलवान् होता है, तब वह हुए बिना नही रहती। मति-ज्ञान पौद्गलिक इन्द्रिय और पौद्गलिक मन के माध्यम से होता है। श्रुत-ज्ञान शब्द और सकेत के माध्यम से होता है, इसलिए ये दोनो परोक्ष हैं।

अवधि-ज्ञान इन्द्रिय और मन का सहारा लिए बिना ही पौद्गलिक पदार्थों को जान लेता है। आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान मे सामीप्य और दूरी, भीत आदि का आवरण, तिमिर और कुहासा—ये बाधक नही बनते।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २६।७१।

कर्म

आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट और उसके साथ एक-रसीभूत पुद्गल 'कर्म' कहलाते हैं।[1] कर्म आत्मा के निमित्त से होने वाला पुद्गल-परिणाम है। भोजन, औषध, विष और मद्य आदि पौद्गलिक पदार्थ परिपाक-दशा मे प्राणियो पर प्रभाव डालते हैं, वैसे ही कर्म भी परिपाक-दशा मे प्राणियो को प्रभावित करते हैं।[2] भोजन आदि का परमाणु-प्रचय स्थूल होता है, इसलिए उनकी शक्ति स्वल्प होती है। कर्म का परमाणु-प्रचय सूक्ष्म होता है, इसलिए इनकी सामर्थ्य अधिक होती है। भोजन आदि के ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है, इसलिए उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। कर्म-ग्रहण की प्रवृत्ति सूक्ष्म होती है, इसलिए इसका स्पष्ट ज्ञान नही होता। भोजन आदि के परिणामो को जानने के लिए शरीरशास्त्र है, कर्म के परिणामो को समझने के लिए कर्मशास्त्र। भोजन आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर होता है और परोक्ष प्रभाव आत्मा पर। कर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव आत्मा पर होता है और परोक्ष प्रभाव शरीर पर। पथ्य भोजन से शरीर का उपचय होता है, अपथ्य भोजन से अपचय। दोनो प्रकार का भोजन न होने से मृत्यु। ऐसे ही पुण्य-कर्म से आत्मा को सुख, पाप-कर्म से दुःख और दोनो के विलय से मुक्ति होती है। कर्म के आशिक विलय से आशिक मुक्ति—आशिक विकास होता है और पूर्ण-विलय से पूर्ण मुक्ति—पूर्ण विकास। भोजन आदि का परिपाक जैसे देश, काल-सापेक्ष होता है, वैसे ही कर्म का विपाक नो-कर्म सापेक्ष होता है।

नो-कर्म

कर्म-विपाक की सहायक सामग्री को नो-कर्म कहा जाता है।[3] आज की भाषा मे कर्म को आन्तरिक परिस्थिति या आन्तरिक वातावरण कहें तो इसे बाहरी वातावरण या बाहरी परिस्थिति कह सकते हैं। कर्म प्राणियो को फल देने मे क्षम है किन्तु उसकी क्षमता के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, भव-जन्म, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम आदि-आदि बाहरी स्थितियो की अपेक्षाए जुडी रहती हैं।[4]

---

१ जैन सिद्धान्त दीपिका, ४।१।

२ भगवती, ६।३२, प्रज्ञापना पद २३।

३ प्रज्ञापना, पद १७ वृत्ति —

वाह्यान्यपि द्रव्याणि, कर्मणामुदयक्षयोपशमादिहेतव उपलभ्यन्ते, यथा वाह्यौषधिर्ज्ञानावरणक्षयोपशमस्य, सुरापान ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्तायुक्तविवेक-विकलतोपजायते।

४ वही, पद १३।

साक्षात् जानना। उन्हें जानने के लिए इसे दूसरे पर निर्भर नही होना पडता। इसलिए यह आत्म-प्रत्यक्ष ही है। मन.पर्याय ज्ञान जैसे मानसिक पर्यायो (ज्ञेय-विषयक अध्यवसायों) को अनुमान से जानता है, वैसे ही मन द्वारा चिन्तनीय विषय को भी अनुमान से जानता है।[1]

शरीर और चेतना का सम्बन्ध

शरीर और चेतना दोनो भिन्न-धर्मक हैं। फिर भी इनका अनादि सम्बन्ध है। चेतन और अचेतन चैतन्य की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए वे सर्वथा एक नही हो सकते। किन्तु सामान्य गुण की दृष्टि से वे अभिन्न भी हैं। इसलिए उनमे सम्बन्ध हो सकता है। चेतन शरीर का निर्माता है। शरीर उसका अधिष्ठान है। इसलिए दोनो पर एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। शरीर की रचना चेतन-विकास के आधार पर होती है। जिस जीव के जितने इन्द्रिय और मन विकसित होते हैं, उसके उतने ही इन्द्रिय और मन के ज्ञान-तन्तु बनते हैं। वे ज्ञान-तन्तु ही इन्द्रिय और मानस-ज्ञान के साधन होते हैं। जब तक ये स्वस्थ रहते हैं, तब तक इन्द्रिया स्वस्थ रहती हैं। इन ज्ञान-तन्तुओ को शरीर से निकाल लिया जाए तो इन्द्रियो मे जानने की प्रवृत्ति नही हो सकती।[2]

शरीर की बनावट और चेतना का विकास

चेतना-विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर-रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर-निर्माण-काल मे आत्मा उसका निमित्त बनती है और ज्ञान-काल मे शरीर के ज्ञान-तन्तु चेतना के सहायक बनते हैं।

पृथ्वी यावत् वनस्पति का शरीर अस्थि, मास रहित होता है। विकलेन्द्रिय— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का शरीर अस्थि, मास, शोणित-बद्ध होता है।

पचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य का शरीर अस्थि, मास, शोणित, स्नायु, शिरा-बद्ध होता है।[3]

आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नही होती, इसलिए आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पडता है। देह-मुक्त होने के बाद आत्मा पर उसका कोई असर नही होता किन्तु दैहिक स्थितियो से जकडी हुई आत्मा के कार्य-कलाप मे शरीर सहायक और बाधक बनता है।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र, १।६, वृत्ति, पृ० ७०।
२. तन्दुलवैयालीय
३ ठाण, २।१५६, १६०।

मन पर्याय ज्ञान दूसरो की मानसिक आकृतियो को जानता है।[1] समनस्क प्राणी जो चिन्तन करते हैं, उस चिन्तन के अनुरूप आकृतिया वनती हैं।[2] इन्द्रिय और मन उन्हे साक्षात नही जान सकते। इन्हे चेतोवृत्ति का ज्ञान सिर्फ आनुमानिक होता है।[3] परोक्ष ज्ञानी शरीर की स्थूल चेष्टाओं को देखकर अन्तर्-वर्त्ती मानस प्रवृत्तियो को समझने का यत्न करता है। मन पर्यवज्ञानी उन्हें साक्षात् जान जाता है।[4]

मन पर्यवज्ञानी को इस प्रयत्न मे अनुमान करने के लिए मन का सहारा लेना पडता है। वह मानसिक आकृतियो का साक्षात्कार करता है। किन्तु मानसिक विचारो का साक्षात्कार नही करता। इसका कारण यह है—पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—मूर्त और अमूर्त।[5] पुद्गल मूर्त हैं और आत्मा अमूर्त।[6] अनावृत चेतना को इन दोनो का साक्षात्कार होता है। आवृत चेतना सिर्फ मूर्त पदार्थ का ही साक्षात्कार कर सकती है। मन पर्याय ज्ञान आवृत चेतना का एक विभाग है, इसलिए वह आत्मा की अमूर्त मानसिक परिणति को साक्षात् नही जान सकता। वह इस (आत्मिक-मन) के निमित्त से होने वाली मूर्त मानसिक परिणति (पौद्गलिक मन की परिणति) को साक्षात् जानता है और मानसिक विचारो को उसके द्वारा अनुमान से जानता है।[7] मानसिक विचार और उनकी आकृतियो के अविनाभाव से यह ज्ञान पूरा वनता है। इसमे मानसिक विचार अनुमेय होते हैं। फिर भी यह ज्ञान परोक्ष नही है। कारण कि मानसिक विचारो को साक्षात् जानना मन पर्याय ज्ञान का विपय नही। उसका विपय है मानसिक आकृतियों को

---

१ नन्दी, सूत्र २४—मणपज्जवणाण पुण जणमणपरिचिंतियत्थपागडण।

२ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१४ वृत्ति—

मनो द्रव्यस्थितानव जानाति, न पुनश्चिन्तनीयवाह्यघटादि वस्तु-
गतानिति।

३ वही, गाथा ८१४—

दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणते।
तेणावभासिए उण जाणइ वज्झाणुमाणेण॥

४ वही, गाथा १३६ वृत्ति—

यथा प्राकृतोलोक स्फुटमाकारैर्मानस भाव जानाति, तथा
मन पर्यवज्ञान्यपि मनोद्रव्यगतानाकारानवलोक्य त त मानस भाव जानाति।

५ ठाण, २।१—रूवी चेव अरूवी चेव।

६ उत्तरज्झयणाणि, ३६।४, ६६।

७ नन्दी, सूत्र २१ वृत्ति—

इह मनस्त्वपरिणते स्कन्धै रालोचित वाह्यमर्थं घटादिलक्षण
साक्षादध्यक्षतो मन पर्यवज्ञानी न जानाति, किन्तु मनोद्रव्याणामेव
तथारूपपरिणामान्यथानुपपत्तितोऽनुमानत।

चेतना का ही बोध होता है।

वस्तु का स्वगुण कभी भी वस्तु से पृथक् नही होता। दो वस्तुओ के सयोग से तीसरी नई वस्तु बनती है, तब उसका गुण भी दोनो के सम्मिश्रण से बनता है, किन्तु बाहर से नही आता। उसका विघटन होने पर पुन दोनो वस्तुओ के अपने-अपने गुण स्वतन्त्र हो जाते हैं। गन्धक के तेजाब मे हाइड्रोजन, गन्धक और ऑक्सीजन का सम्मिश्रण रहता है। इसके भी अपने विशेष गुण होते हैं। इसको बनाने वाली मूल धातुए पृथक्-पृथक् कर दी जाए, तब वे अपने मूल गुणो के साथ ही पायी जाती हैं।

आत्मा का गुण चैतन्य और जड का गुण अचैतन्य है। ये भी इनके साथ सदा लगे रहते है। इन दोनो के सयोग से नए गुण पैदा होते हैं, जिन्हे जैन परिभाषा मे 'वैभाविक गुण' कहा जाता है। ये गुण मुख्य रूप मे चार हैं—आहार, श्वास-उच्छ्वास, भाषा और पौद्गलिक मन। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के। ये दोनो के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। दोनो के वियोग मे ये भी मिट जाते है।

शरीर और मन का पारस्परिक प्रभाव

शरीर पर मन का और मन पर शरीर का असर कैसे होता है ? अब इस पर हमे विचार करना है। आत्मा अरूपी है, उसको हम देख नही सकते। शरीर मे आत्मा की क्रियाओ की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि आत्मा विद्युत् है और शरीर बल्ब है। ज्ञान-शक्ति आत्मा का गुण है और उसके साधन शरीर के अवयव हैं। बोलने का प्रयत्न आत्मा का है, उसका साधन शरीर है। इसी प्रकार पुद्गल ग्रहण एव हलन-चलन आत्मा करती है और उसका साधन शरीर है। आत्मा के बिना चिन्तन, जल्प और बुद्धिपूर्वक गति-आगति नही होती तथा शरीर के बिना उनका प्रकाश (अभिव्यक्ति) नही होता। इसीलिए कहा गया है कि 'द्रव्यनिमित्त हि ससारिणा वीर्यमुपजायते'—अर्थात् ससारी-आत्माओ की शक्ति का प्रयोग पुद्गलो की सहायता से होता है। हमारा मानस चिन्तन मे प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलो का ग्रहण करना ही पडता है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नही हो सकती। हमारे चिन्तन मे जिस प्रकार के इष्ट या अनिष्ट भाव आते हैं, उसी प्रकार के इष्ट या अनिष्ट पुद्गलो को द्रव्य-मन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करता चला जाता है। मन-रूप मे परिणत हुए अनिष्ट-पुद्गलो से शरीर की हानि होती है और मन-रूप मे परिणत इष्ट पुद्गलो से शरीर को लाभ पहुचता है।[1] इस प्रकार शरीर पर मन का

---

१ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २२० वृत्ति—

मनस्त्वपरिणतानिष्टपुद्गलनिचयरूप द्रव्यमन अनिष्टचिन्ता-प्रवर्तनेन।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए जैसे दैहिक इन्द्रियो की अपेक्षा होती है, वैसे ही पूर्व-प्रत्यक्ष की स्मृति के लिए दैहिक ज्ञानतन्तु-केन्द्रो—मस्तिष्क या अन्य अवयवो की अपेक्षा रहती है।

शरीर की वृद्धि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है, तब फिर शरीर से आत्मा भिन्न कैसे ? यह सहज शका उठती है किन्तु यह नियम पूर्ण व्याप्त नही है। बहुत सारे व्यक्तियो के देह का पूर्ण विकास होने पर भी बुद्धि का पूर्ण विकास नही होता और कई व्यक्तियो के देह के अपूर्ण विकास मे भी बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। देह की अपूर्णता मे बौद्धिक विकास पूर्ण नही होता, इसका कारण यह है कि वस्तु-विषय का ग्रहण शरीर की सहायता से होता है। जब तक देह पूर्ण विकसित नही होता, तब तक वह वस्तु विषय का ग्रहण करने मे पूर्ण समर्थ नही बनता। मस्तिष्क और इन्द्रियो की न्यूनाधिकता होने पर भी ज्ञान की मात्रा मे न्यूनाधिकता होती है, उसका भी यही कारण है—सहकारी अवयवो के बिना ज्ञान का उपयोग नही हो सकता। देह, मस्तिष्क और इन्द्रियो के साथ ज्ञान का निमित्त-कारण और कार्यभाव सम्बन्ध है। इसका फलित यह नहीं होता कि आत्मा और वे एक हैं।

मन क्या है ?

समतात्मक भौतिकवाद के अनुसार मानसिक क्रियाए स्वभाव से ही भौतिक हैं।

कारणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का कार्य है।

गुणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का गुण है।

जैन-दृष्टि के अनुसार मन दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन और दूसरा पौद्गलिक।

पौद्गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी होता है। उसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना काय नही कर सकता। उसमे अकेले मे ज्ञान-शक्ति नही होती। दोनो के योग से मानसिक क्रियाए होती हैं।

ज्ञानात्मक मन चेतन है। वह पौद्गलिक परमाणुओ से नही बन सकता। वह पौद्गलिक वस्तु का रस नही है। पौद्गलिक वस्तु का रस भी पौद्गलिक ही होगा। पित्त का निर्माण यकृत् मे होता है, यह पौद्गलिक है। चेतना न मस्तिष्क का रस है और न मस्तिष्क की आनुषगिक उपज भी। यह कायक्षम और शरीर का नियामक है। आनुषगिक उपज मे यह सामर्थ्य नही होती।

चेतना शरीर-घटक धातुओ का गुण होता तो शरीर से वह कभी लुप्त नही होती। चेतना आत्मा का गुण है। आत्म-शून्य शरीर मे चेतना नही होती और शरीर-शून्य आत्मा की चेतना हमे प्रत्यक्ष नही होती। हमे शरीरयुक्त आत्मा की

वस्तु-स्वरूप की स्थिर-अवगति या स्थिरीकरण—धारणा (निर्णय की धारा)

यह क्रम अमनस्क दशा मे अपूर्ण हो सकता है किन्तु इसका विपर्यास नहीं हो सकता। अवग्रह हो जाता है, ध्यान वदलने पर 'ईहा' नही भी होती। किन्तु ईहा से पहले अवग्रह का यानी वस्तु के विशेष-स्वरूप के परामर्श से पहले उसके सामान्य रूप का ग्रहण होना अनिवार्य है। यह नियम धारणा तक समान है।

इस क्रम मे व्यजन अचेतन होता है, दर्शन विशेप-स्वरूप का अनिर्णायिक, और सशय अयथार्थ। निर्णायिक ज्ञान की भूमिकाए चार हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

वस्तुवृत्या निर्णय की भूमि 'अवाय' है। अवग्रह और ईहा निर्णयोन्मुख या स्वरूपाश के निर्णायिक होते हैं। धारणा निर्णय का स्थिर रूप है। इसलिए वह भी निर्णायिक होती है। धारणा के तीन प्रकार हैं—अविच्युति, वासना और स्मृति।

अविच्युति

निर्णीत विपय मे ज्ञान की प्रवृत्ति निरन्तर चलती रहे, उपयोग की धारा न टूटे, उस धारणा का नाम 'अविच्युति' है। इस अविच्युति की अपेक्षा ही धारणा लौकिक प्रत्यक्ष है। इसके उत्तरवर्ती दो प्रकार प्रत्यक्ष नही हैं।

वासना

निर्णय मे वर्तमान ज्ञान की प्रवृत्ति—उपयोग का सातत्य छूटने पर प्रस्तुत ज्ञान का व्यक्त रूप चला जाता है। उसका अव्यक्त रूप सस्कार रह जाता है और यही पूर्व-ज्ञान की स्मृति का कारण बनता है। इस सस्कार-ज्ञान का नाम है 'वासना'।

स्मृति

सस्कार उद्‌वुद्ध होने पर अनुभूत अर्थ का पुनर्वोध होता है। वह 'स्मृति' है।

वासना व्यक्त ज्ञान नही, इसलिए वह प्रमाण की कोटि मे नही आती। स्मृति परोक्ष प्रमाण है। धारणा तक मति लौकिक प्रत्यक्ष होती है। स्मृति से लेकर अनुमान तक उसका रूप परोक्ष वन जाता है।

चक्षु और मन का ज्ञान-क्रम पटु होता है। इसलिए उनका व्यजन नही होता—ज्ञेय वस्तु से सन्निकर्ष नही होता। जिन इन्द्रियो का व्यजन होता है, उन्हे व्यजन का अस्पष्ट वोध होता है। अपने और ज्ञेय वस्तु के सश्लेप का अव्यक्त ज्ञान होता है, इसे 'व्यजन-अवग्रह' कहा जाता है। यह अपटु ज्ञान-क्रम

असर होता है। यद्यपि शरीर पर असर उसके सजातीय पुद्गलो के द्वारा ही होता है, तथापि उन पुद्गलो का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक असर कह सकते हैं। देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है। फिर भी आख के विना मनुष्य देख नही सकता। आख मे रोग होता है, दर्शन-क्रिया नष्ट हो जाती है। रोग की चिकित्सा की और दीखने लग जाता है। यही वात मस्तिष्क और मन की क्रिया के वारे मे है। इस प्रकार आत्मा पर शरीर का असर होता है।

इन्द्रिय और मन का ज्ञानक्रम

मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान के साधन हैं—इन्द्रिय और मन। फिर भी दोनो एक नही हैं। मति द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता मात्र से अर्थ का ज्ञान हो जाता है। श्रुत को शब्द या सकेत की और अपेक्षा होती है। जहा हम घट को देखने मात्र से जान लेते हैं, वह मति है और जहा घट शब्द के द्वारा घट को जानते हैं, वह श्रुत है।[1] मति-ज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के वीच इन्द्रिय और मन का व्यवधान होता है, इसलिए वह परोक्ष है किन्तु उस (मति-ज्ञान) मे मे इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के वीच कोई व्यवधान नही होता, इसलिए उसे लौकिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।[2] श्रुत-ज्ञान मे इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के वीच शब्द का व्यवधान होता है, इसलिए वह सर्वत परोक्ष ही होता है।

लौकिक-प्रत्यक्ष आत्म-प्रत्यक्ष की भांति समर्थ प्रत्यक्ष नही होता, इसलिए इसमे क्रमिक ज्ञान होता है। वस्तु के सामान्य दर्शन से लेकर उसकी धारणा तक का क्रम इस प्रकार है—

ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का उचित सन्निधान—व्यजन।
वस्तु के सर्व सामान्य रूप का वोध—दर्शन।
वस्तु के व्यक्तिनिष्ठ सामान्य रूप का वोध—अवग्रह।
वस्तु-स्वरूप के वारे मे अनिर्णायक विकल्प—सशय।
वस्तु-स्वरूप का परामर्श—वस्तु मे प्राप्त और अप्राप्त धर्मों का पर्यालोचन—ईहा—(निर्णय की चेष्टा)
वस्तु-स्वरूप का निर्णय—अवाय (निर्णय)

जीवस्य देहदौवल्याद्यापत्त्या ह्यन्निरुद्धवायुवद् उपघातं जनयति, तदेव च शुभपुद्गलपिण्डरूप तस्यानुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिवृत्या भेषजवदनुग्रह विधत्ते इति ।

१ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १०० वृत्ति ।
२ नन्दी, सूत्र ४।

अन्तर्भाव करते हैं।[1] जैन मन को अन-इन्द्रिय मानते हैं। इसका अर्थ है मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को जानने वाला नही है, इसलिए वह इन्द्रिय नही और वह इन्द्रिय के विषयो को उन्ही के माध्यम से जानता है, इसलिए वह कथचित् इन्द्रिय नही, यह भी नही। वह शक्ति की अपेक्षा इन्द्रिय नही भी है और इन्द्रिय-सापेक्षता की दृष्टि से इन्द्रिय है भी।

मानसिक अवग्रह

इन्द्रिया जैसे मति-ज्ञान की निमित्त हैं, वैसे श्रुत-ज्ञान की भी हैं मन की भी यही बात है। वह भी दोनो का निमित्त है। किन्तु श्रुत—शब्द द्वारा ग्राह्य वस्तु, केवल मन का ही विषय है, इन्द्रियो का नही।[2] शब्द-सस्पर्श के विना प्रत्यक्ष वस्तु का ग्रहण इन्द्रिय और मन दोनो के द्वारा होता है। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दात्मक वस्तु का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा होता है, उनकी विशेष अवस्थाओ और बुद्धिजन्य काल्पनिक वृत्तो का तथा पदार्थ के उपयोग का ज्ञान मन के द्वारा होता है। इस प्राथमिक ग्रहण—अवग्रह मे सामान्य रूप से वस्तु-पर्यायो का ज्ञान होता है। इसमे आगे-पीछे का अनुसधान, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, विशेप विकल्प आदि नही होते। इन्द्रिया इन विशेष पर्यायो को नही जान सकती। इसलिए मानसिक अवग्रह मे वे सयुक्त नही होती, जैसे ऐन्द्रियिक अवग्रह मे मन सयुक्त होता है। अवग्रह के उत्तरवर्त्ती ज्ञान क्रम पर तो मन का एकाधिकार है ही।

मन की व्यापकता

(क) विषय की दृष्टि से

इन्द्रियो के विषय केवल प्रत्यक्ष पदार्थ बनते हैं। मन का विपय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो प्रकार के पदार्थ बनते हैं। शब्द, परोपदेश या आगम-ग्रन्थ के माध्यम से अस्पृष्ट, अरसित, अघ्रात, अदृष्ट, अश्रुत, अननुभूत, मूर्त और अमूर्त सब पदार्थ जाने जाते हैं। यह श्रुत-ज्ञान है। श्रुत-ज्ञान केवल मानसिक होता है। कहना यह चाहिए कि मन का विषय सब पदार्थ हैं किन्तु यह नही कहा जाता, उसका भी एक अर्थ है। सब पदार्थ मन के ज्ञेय बनते है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से नही—श्रुत के माध्यम से बनते हैं, इसलिए मन का विषय श्रुत है।

श्रुतमनोविज्ञान इन्द्रिय-निमित्तक भी होता है और मनोनिमित्तक भी। इन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है, इसलिए इन्द्रिया उसका निमित्त बनती हैं। मन के द्वारा सामान्य पर्यालोचन होता है इसलिए वह भी उसका निमित्त

---

१ साख्यकारिका, २७।

२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २।११, पृ० ३२८।

है। इससे ज्ञेय अर्थ का बोध नही होता। वह इसके उत्तरवर्ती अवग्रह से होता है, इसलिए उसका नाम 'अर्थ-अवग्रह' है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये पाच इन्द्रिय और मन—इन छहों के होते हैं।

इन्द्रिय और मन की सापेक्ष-निरपेक्ष वृत्ति

इन्द्रिय प्रतिनियत अर्थग्राही है।[1] पाच इन्द्रियो—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—के पाच विषय हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द।[2] मन सर्वार्थग्राही है। वह इन पाचों अर्थों को जानता है। इसके सिवाय मन का मुख्य विषय श्रुत है।[3] 'पुस्तक' शब्द सुनते ही या पढ़ते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द-सस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है। किन्तु 'पुस्तक' शब्द का यह पुस्तक वाच्यार्थ है—यह ज्ञान इन्द्रिय को नही होता। इन्द्रियो मे मात्र विषय की उपलब्धि—अवग्रहण की शक्ति होती है, ईहा—गुण-दोष-विचारणा, परीक्षा या तर्क की शक्ति नही होती।[4] मन मे ईहापोह शक्ति होती है।[5] इन्द्रिय मति और श्रुत—दोनो मे वार्तमानिक बोध करती है, पार्श्ववर्ती विषय को जानती है। मन मति-ज्ञान मे भी ईहा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मों का परामर्श करते समय त्रैकालिक बन जाता है और श्रुत मे त्रैकालिक होता ही है।[6]

मन इन्द्रिय है या नही?

नैयायिक मन को इन्द्रिय से पृथक् मानते हैं।[7] साख्य मन का इन्द्रिय मे

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका, २।२७।

२ वही, २।२८, ३२।

३ वही, २।३३, तत्त्वार्थ सूत्र, २।२२।

४. नन्दी, सूत्र ६२—

जस्स ण नत्थि ईहा अपोहो मग्गणा गवसणा,
चिन्ता, वीमसा से ण असण्णित्ति लब्भइ।

५. नन्दी, सूत्र ६२—

जस्स ण अत्थि ईहा अपोहो मग्गणा
गवेसणा चिन्ता वीमसा से ण सण्णीति
लब्भइ।

६ बृहत्कल्पभाष्य, १।१।

७. न्याय सूत्र, १।१२।

पचेन्द्रिय-गर्भज ' '' ''	स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन—अतीन्द्रिय ज्ञान—मूर्त पदार्थ का साक्षात् ज्ञान।
पचेन्द्रिय-गर्भज मनुष्य	पूर्व के अतिरिक्त पर-चित्त-ज्ञान और केवलज्ञान—चेतना की अनावृत-दशा।

ज्ञानावरण का पूर्ण विलय (क्षय) होने पर चेतना निरुपाधिक हो जाती है। उसका आंशिक विलय (क्षयोपशम) होता है, तब उसमे अनन्त गुण तरतमभाव रहता है। उसके वर्गीकृत चार भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि और मन पर्याय। इनमे भी अनन्तगुण तारतम्य होता है। एक व्यक्ति के मति-ज्ञान से दूसरे व्यक्ति का मति-ज्ञान अनन्तगुण हीन या अधिक हो जाता है।[1] यही स्थिति शेप तीनो की है।

निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति—उपयोग सब विषयो पर निरन्तर होता रहता है। सोपाधिक चेतना (आंशिक विलय से विकसित चेतना) की प्रवृत्ति—उपयोग निरन्तर नही रहता। जिस विपय पर जब ध्यान होता है—चेतना की विशेप प्रवृत्ति होती है, तभी उसका ज्ञान होता है। प्रवृत्ति छूटते ही उस विपय का ज्ञान छूट जाता है। निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति सामग्री-निरपेक्ष होती है, इसलिए वह स्वत प्रवृत्त होती है, उसकी विशेप प्रवृत्ति करनी नही पडती। सोपाधिक चेतना सामग्री-सापेक्ष होती है, इसलिय वह सब विपयो को निरन्तर नही जानती, जिस पर विशेप प्रवृत्ति करती है, उसी को जानती है।[2]

सोपाधिक चेतना के दो रूप—अवधि—मूर्त-पदार्थ-ज्ञान और मन-पर्याय—पर-चित्त-ज्ञान विशद और बाह्य-सामग्री-निरपेक्ष होते हैं, इसलिए ये अव्यक्त नही होते, क्रमिक नही होते और सशय-विपर्यय-दोप से मुक्त होते हैं।

ऐन्द्रियक और मानसज्ञान (मति और श्रुत) बाह्य-सामग्री-सापेक्ष होते हैं, इसलिए ये अव्यक्त, क्रमिक और सशय-विपर्यय-दोष से युक्त भी होते है। इसका मुख्य कारण ज्ञानावरण का तीव्र सद्भाव ही है। ज्ञानावरण कर्म आत्मा पर छाया रहता है। चेतना का सीमित विकास—जानने की आंशिक योग्यता (क्षायोपशमिक-भाव) होने पर भी जब तक आत्मा का व्यापार नही होता तब तक ज्ञानावरण उस पर पर्दा डाले रहता है। पुरुपार्थ चलता है, पर्दा दूर हो जाता है। पदार्थों की जानकारी मिलती है। पुरुषार्थ निवृत्त होता है, ज्ञानावरण फिर छा जाता है। उदाहरण के लिए समझिए—पानी पर शैवाल बिछा हुआ है। कोई उसे दूर हटाता है, पानी प्रकट हो जाता है, उसे दूर करने का प्रयत्न बन्द होता है, तब वह फिर पानी पर छा जाता है।[3] ज्ञानावरण का भी यही क्रम है।

---

१ भगवती, ८।२, प्रज्ञापना, पद ५।

२ स्याद्वाद मजरी, पृ० १४८।

३ तत्त्वार्थ सूत्र २।८, बृहद्वृत्ति, पृ० १५१।

बनता है। श्रुत-मनोविज्ञान विशेष पर्यालोचनात्मक होता है—यह उन दोनों का कार्य है।

(ग) काल की दृष्टि से

इन्द्रिया सिर्फ वर्तमान अर्थ को जानती हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। स्वरूप की दृष्टि से मन वर्तमान ही होता है। मन मन्यमान होता है—मनन के समय ही मन होता है।[1] मनन से पहले और पीछे मन नही होता। वस्तु-ज्ञान की दृष्टि से वह त्रैकालिक होता है। उसका मनन वार्तमानिक होता है, स्मरण अतीतकालिक, संज्ञा उभयकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, चिन्ता अभिनिबोध और शब्द-ज्ञान त्रैकालिक।

विकास का तरतमभाव

प्राणिमात्र मे चेतना समान होती है, उसका विकास समान नही होता। ज्ञानावरण मन्द होता है, चेतना अधिक विकसित होती है। वह तीव्र होता है, चेतना का विकास स्वल्प होता है। अनावरण दशा मे चेतना पूर्ण विकसित रहती है। ज्ञानावरण के उदय से चेतना का विकास रुक जाता है किन्तु वह पूर्णतया आवृत कभी नही होती। उसका अल्पांश सदा अनावृत रहता है। यदि वह पूरी आवृत हो जाए तो फिर जीव और अजीव के विभाग का कोई आधार ही नही रहता।[2] बादल कितने ही गहरे क्यो न हो, सूर्य की प्रभा रहती है। उसका अल्पांश दिन और रात के विभाग का निमित्त बनता है। चेतना का न्यूनतम विकास एकेन्द्रिय जीवो मे होता है।[3] उनमे सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान होता है। स्त्यानर्द्धि-निद्रा—गाढतम नीद जैसी दशा उनमे हमेशा रहती है, इससे उनका ज्ञान अव्यक्त होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिम और पचेन्द्रिय-गर्भज मे क्रमश ज्ञान की मात्रा बढती है।

द्वीन्द्रिय	स्पर्शन और रसन।
त्रीन्द्रिय	स्पर्शन, रसन और घ्राण।
चतुरिन्द्रिय	स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु।
पचेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिम	स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

---

१ भगवती, १३।७ मणिज्जमाणे मणे।

२ नन्दी, सूत्र ७१—

सव्वजीवाणपि य ण अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडियो, जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवा अजीवत्त पावेज्जा।

३ दसवेआलिय, चूर्णि—

सव्वजहण्ण चित्त एगिदियाण।

४. ससीम ज्ञान का कारण चैतन्य का आवरण है ही।

इन्द्रिय और मन का विभाग-क्रम तथा प्राप्ति-क्रम

ज्ञान का आवरण हटता है, तब लब्धि होती है[1], वीर्य का अन्तराय दूर होता है, तब उपयोग होता है।[2] ये दो ज्ञानेन्द्रिय और ज्ञान-मन के विभाग है—आत्मिक चेतना के विकास-अंश हैं।

इन्द्रिय के दो विभाग और है, निर्वृत्ति—आकार-रचना और उपकरण—विषय-ग्रहण-शक्ति। ये दोनो ज्ञान की सहायक इन्द्रिय—पौद्गलिक इन्द्रिय के विभाग हैं—शरीर के अंश हैं। इन चारो के समुदाय का नाम इन्द्रिय है। चारो मे से एक अंश भी विकृत हो तो ज्ञान नही होता। ज्ञान का अर्थ-ग्राहक अंश उपयोग है।[3] उपयोग (ज्ञान की प्रवृत्ति) उतना ही हो सकता है, जितनी लब्धि (चेतना की योग्यता) होती है। लब्धि होने पर भी उपकरण न हो तो विषय का ग्रहण नही हो सकता। उपकरण निर्वृत्ति के बिना काम नही कर सकता। इसलिए ज्ञान के समय इनका विभाग-क्रम इस प्रकार बनता है—निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग।

इनका प्राप्ति-क्रम इससे भिन्न है। उसका रूप इस प्रकार बनता है—लब्धि, निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग।[4] अमुक प्राणी मे इतनी इन्द्रिया बनती

(ख) न्यायालोक पत्र १७७—

चेतनास्वरूपत्वेऽनवरत जानानेनैव भवितव्य जीवेन, कुतो वा पूर्वोपलब्धार्थविषयविस्मरणम् ?

ज्ञानस्योपलब्धिरूपत्वेन व्यक्ततैत्यात्मनापि व्यक्तबोधेन भवितव्य, नाव्यक्तबोधेन।

निश्चयकत्वेन ज्ञानस्य न कदाचित् सशयोद्भव स्यात्। ज्ञानस्य च निरवधित्वेनाशेषविषयग्रहणमापद्येत इति चेत् ? नैव, कर्मवशवर्तित्वेनात्मनस्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात्। तथाहि कर्मनिगडनियन्त्रितोयमात्मा

चलस्वभावो नानार्थेषु परिणममान कृकलासवद् अव्यवस्थितोद्भ्रान्तमनाश्च कथमेकस्मिन्नर्थे चिरमुपयोगवान्। निसर्गत एवोत्कर्षादुपयोगकालस्यान्तर्मुहूर्त्तमानत्वाच्च। समुन्नतघनाघनघनपटलाभिभूतमूर्तभास्वत प्रकाशस्वरूपत्वेऽपि अस्पष्टप्रकाशोद्भववच्च।

१ जैनतर्कभाषा, २।१८, पृ० १६७।

२. लघीयस्त्रयी, ५।

३ जैन सिद्धान्त दीपिका, २।२-५।

४. वही, २।३१।

ज्ञान-विकास की तरतमता के आधार पर कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१ आत्मा चैतन्यमय है, इसलिए उसमें विस्मृति नही होनी चाहिए, फिर विस्मृति क्यों ?

२ ज्ञान का स्वभाव है ज्ञेय को जानना, फिर अव्यक्त बोध क्यों ?

३ ज्ञान का स्वभाव है पदार्थ का निश्चय करना, फिर संशय, भ्रम आदि क्यों ?

४ ज्ञान असीम है, इसलिए उससे अपरिमित पदार्थों का ग्रहण होना चाहिए, फिर वह सीमित क्यों ?

इनका सामुदायिक समाधान यह है—

इन विचित्र स्थितियों के कारण कर्म-पुद्गल है। ये विचित्रताए कर्म-पुद्गल-प्रभावित चेतना मे होती हैं।

क्रमिक समाधान इस प्रकार है—

१ आवृत चैतन्य अस्थिर स्वभाव वाला होता है, पदार्थों को क्रमपूर्वक जानता है, इसलिए वह अव्यवस्थित और उद्भ्रान्त होता है। और इसीलिए एक पदार्थ मे चिरकाल तक उसकी प्रवृत्ति नही होती। अन्तर्-मुहूर्त से अधिक एक विषय मे प्रवृत्ति नही होती।[1] प्रस्तुत विषय मे ज्ञान की प्रवृत्ति रुकती है, दूसरे मे प्रारम्भ होती है, तब पूर्व-ज्ञात अर्थ की विस्मृति हो जाती है, वह संस्कार-रूप बन जाता है।

२ सूर्य का स्वभाव है पदार्थों को प्रकाशमान् करना। किन्तु मेघाच्छन्न सूर्य उन्हें स्पष्टतया प्रकाशित नहीं करता। यही स्थिति चैतन्य की है। कर्म-पुद्गलों से आवृत चैतन्य पदार्थों को व्यक्त-रूप मे नही जान पाता। अव्यक्तता का मात्राभेद आवरण के तरतमभाव पर निर्भर है।

३ चेतना आवृत होती है और ज्ञान की सहायक-सामग्री दोषपूर्ण होती है तब संशय, भ्रम आदि होते हैं।[2]

---

१ प्रज्ञापना, पद १८।

२ (क) भगवती जोड, ३।६।१६८ गाथा ५१-५४—

> दिशामूढ अवलोय रे, पूरव ने जाणै पछिम।
> उदय भाव ए जोय रे, पिण क्षयोपशम भाव नहिं ॥
> है चक्षु मे राग रे, बे चन्दा देखे प्रमुख।
> त छै रोग प्रयोग रे, तिम विपरीतज जाणवो ॥
> चक्षु रोग मिट जाय रे, वहा पछै दखैं तिका।
> ए बेहु जुदा कहाय रे, रोग अने वलि नेत्र ए ॥
> उदयभाव छै राग रे, चक्षु क्षयोपशम भाव छै
> ए बेहु जुदा प्रयोग र, तिण विध ए पण जाणवो ॥

३ त्रस जीव दोनो से युक्त होते है ।

४ अजीव मे दोनो नही होते ।

एकेन्द्रिय से मनस्क पञ्चेन्द्रिय तक के जीव शारीरिक वेदना का अनुभव करते हैं। उनमे मन नहीं होता, इसलिए मानसिक वेदना उनके नही होती।[1] ज्ञान के मति, श्रुत आदि पाच प्रकार हैं, जो पहले बताये जा चुके हैं। ज्ञान ज्ञानावरण के विलय से होता है। ज्ञान की दृष्टि से जीव विज्ञ कहलाता है। सज्ञा दस या सोलह हैं। वे कर्मों के सन्निपात—सम्मिश्रण से बनती हैं। इनमे कई सज्ञाए ज्ञानात्मक भी हैं, फिर भी वे प्रवृत्ति-सवलित हैं, इसलिए शुद्ध ज्ञान-रूप नही हैं।

सज्ञाए

१ आहार	६ मान
२ भय	७ माया
३ मैथुन	८ लोभ
४ परिग्रह	९ ओघ
५ क्रोध	१० लोक

सज्ञा की दृष्टि से जीव 'वेद' कहलाता है।[2] इनके अतिरिक्त तीन सज्ञाए और है[3]—

१ हेतुवादोपदेशिकी

२ दीर्घकालिकी

३ सम्यग्-दृष्टि

ये तीनो ज्ञानात्मक हैं। सज्ञा का स्वरूप समझने से पहले कर्म का कार्य समझना उपयोगी होगा। सज्ञाए आत्मा और मन की प्रवृत्तिया हैं। वे कर्म द्वारा प्रभावित होती हैं। कर्म आठ हैं। उन सब मे 'मोह' प्रधान है। उसके दो कार्य हैं—तत्त्व-दृष्टि या श्रद्धा को विकृत करना और चरित्र को विकृत करना। दृष्टि को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'दृष्टि-मोह' और चरित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'चारित्र मोह' कहलाते है। चारित्र-मोह के द्वारा प्राणी मे विविध मनोवृत्तिया बनती हैं, जैसे—भय, घृणा, हसी, सुख, कामना, सग्रह, झगडालूपन, भोगासक्ति, यौन-सम्बन्ध आदि-आदि। आज का मनोविज्ञान इन्हे स्वाभाविक मनोवृत्तिया कहता है।

---

१ प्रज्ञापना, पद ३५—
एगिदियविगलिदिया सरीरवेयण वेयति, नो माणस वेयण वेयति ।

२ भगवती, २०।१ ।

३ नन्दी, सूत्र ६१ ।

हैं, न्यूनाधिक नही बनती, इसका नियामक इनका प्राप्ति-क्रम है। इसमे लब्धि की मुख्यता है। जिस प्राणी मे जितनी इन्द्रियो की लब्धि होती है, उसके उतनी ही इन्द्रियो के आकार, उपकरण और उपयोग होते ह।

हम जब एक वस्तु का ज्ञान करते हैं तब दूसरी का नहीं करते—हमार ज्ञान मे यह विप्लव नही होता। इसका नियामक विभाग-क्रम है। इसमे उपयोग की मुख्यता है। उपयोग निर्वृत्ति आदि निरपेक्ष नही होता किन्तु इन तीनो के होने पर भी उपयोग के विना ज्ञान नही हो सकता। उपयोग ज्ञानावरण के विलय की योग्यता और वीर्य-विकास—दोनो के सयोग से बनता है। इसलिए एक वस्तु को जानते समय दूसरी वस्तुओ को जानने की शक्ति होने पर भी उनका ज्ञान इसलिए नही होता कि वीर्य-शक्ति हमारी ज्ञान-शक्ति को ज्ञायमान वस्तु की ओर ही प्रवृत्त करती है।[1]

इन्द्रिय-प्राप्ति की दृष्टि से प्राणी पाच भागो मे विभक्त होते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। किन्तु इन्द्रिय ज्ञान-उपयोग की दृष्टि से सब प्राणी एकेन्द्रिय ही होते हैं। एक साथ एक ही इन्द्रिय का व्यापार हो सकता है। एक इन्द्रिय का व्यापार भी स्व-विपय के किसी विशेप अश पर ही हो सकता है, सर्वांशत नहीं।[2]

उपयोग

उपयोग दो प्रकार का होता है—सविज्ञान और अनुभव।

वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) को 'सविज्ञान' और सुख-दु ख के सवेदन को 'अनुभव' कहा जाता है।[3]

१ कई जीव ज्ञान-युक्त होते हैं, वेदना-युक्त नही, जैसे—मुक्त आत्माए।

२ कई जीव ज्ञान (स्पष्ट ज्ञान)-युक्त नही होते, वेदना-युक्त होते हैं, जैसे—एकेन्द्रिय जीव।

---

१ स्याद्वादमजरी १७, पृ० १७३।

२ तत्त्वार्थसूत्र, २।१६ भाष्यानुसारिणी टीका, पृ० १६६।

यदा शब्दापयोगवृत्तिरात्मा भवति तदा न शेपकरण-व्यापार स्वल्पाप्य यत्र कान्तद्विप्टाभ्यस्तविपयकलापात्। अर्थान्तरोपयोगे हि प्राच्यमुपयोगबलमाम्रियते क्रमणा, शङ्खशब्दोप्ययुक्तस्य शृङ्गशब्द-विज्ञानमस्तमिततन्निर्भास भवति, अत क्रमेण उपयोग एकस्मिन्नपि इन्द्रियविपये, किमुत बहुविधविशेपभाजीन्द्रियान्तरे, तस्मादेकेन्द्रियेण सर्वात्मनोपयुक्त सर्व प्राण्युपयोग प्रति एकेन्द्रियो भवति।

३ तत्त्वार्थ सूत्र २।१६, भाष्यानुसारिणी टीका, पृ० १६८—

उपयोगस्तु द्विविधा चेतना सविज्ञानलक्षणा अनुभवलक्षणा च। तत्र घटाद्युपलब्धि सविज्ञानलक्षणा, सुख-दु खादि सवेदनानुभवलक्षणा, एतदुभयमुपयोगग्रहणाद् गृह्यते।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ—ये सभी वृत्तिया मोह से बनती हैं। वीतराग-आत्मा मे ये वृत्तिया नही होती। ये आत्मा के सहज-गुण नही किन्तु मोह के योग से होने वाले विकार हैं।

ओघ-सज्ञा

अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य उपयोग, जैसे—लताए वृक्ष पर चढती हैं, यह वृक्षारोहण का ज्ञान 'ओघ-सज्ञा' है।[1]

लोक-सज्ञा

लौकिक कल्पनाए अथवा व्यक्त चेतना या विशेष उपयोग।

आचाराग निर्युक्ति मे चौदह प्रकार की सज्ञाओ का उल्लेख मिलता है—

१ आहार-सज्ञा	६ मोह-सज्ञा	११ लोभ-सज्ञा
२ भय-सज्ञा	७ विचिकित्सा-सज्ञा	१२ शोक-सज्ञा
३ परिग्रह-सज्ञा	८ क्रोध-सज्ञा	१३ लोक-सज्ञा
४ मैथुन-सज्ञा	९ मान-सज्ञा	१४ धर्म-सज्ञा[2]
५ सुख-दु ख-सज्ञा	१० माया-सज्ञा	

ये सज्ञाए एकेन्द्रिय जीवो से लेकर समनस्क पचेन्द्रिय तक के सभी जीवो मे होती हैं।

सवेदन दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय-सवेदन और आवेग। इन्द्रिय-सवेदन दो प्रकार का होता है—

१ सात-सवेदन ·· सुखानुभूति

२ असात-सवेदन दु.खानुभूति[3]

आवेग दो प्रकार का होता है—कपाय और नो-कपाय।[4]

कपाय

इसका अर्थ है—आत्मा को रगने वाली वृत्तिया—क्रोध, मान, माया,

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र १।१४, भाष्यानुसारिणी टीका, पृ० ७९—
ओघ-ज्ञानम्—ओघ सामान्यम् अप्रविभक्तरूपम् यत्र न स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि तानि मनोनिमित्तमाश्रयन्ते, केवल मत्यावरणीयक्षयोपशम एव तस्य ज्ञानस्योत्पत्तौ निमित्तम्, यथा वल्ल्यादीना निम्वादौ अभिसपणज्ञान न स्पर्शननिमित्त, न मनोनिमित्तमिति तस्मात् तत्र मत्यज्ञानावरणक्षयोपशम एव केवल निमित्तीक्रियते ओघज्ञानस्य।

२ आचारागनिर्युक्ति गाथा, ३५।

३ प्रज्ञापना, पद ३६।

४. वही, पद २३।

तीन एपणाए—(१) मैं जीवित रहू, (२) धन वढ़े, (३) परिवार वढे और तीन प्रधान मनोवृत्तिया—(१) सुख की इच्छा, (२) किसी वस्तु को पसद करना या उससे घृणा करना, (३) विजयाकाक्षा अथवा नया काम करने की भावना। ये सभी चारित्र-मोह द्वारा सृष्ट होते हैं। चारित्र-मोह परिस्थितियो द्वारा उत्तेजित हो अथवा परिस्थितियो से उत्तेजित हुए बिना ही प्राणियों में भावना या अन्त क्षोभ पैदा करता है, जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि। मोह के सिवाय शेप कर्म आत्म-शक्तियों को आवृत करते हैं, विकृत नही।

आहार-सज्ञा

खाने की अभिलापा वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। यह मूल कारण है। इसको उत्तेजित करने वाले तीन गौण कारण और हैं—

१ रिक्त-कोष्ठता।
२ आहार के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।
३ आहार-सम्बन्धी चिन्तन।

भय-सज्ञा

भय की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है।
भय की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

१ हीन-सत्वता।
२ भय के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।
३ भय-सम्वन्धी चिन्तन।

मैथुन-सज्ञा

मैथुन की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है।
मैथुन की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

१ मास और रक्त का उपचय।
२ मैथुन-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।
३ मैथुन-सम्वन्धी चिन्तन।

परिग्रह-सज्ञा

परिग्रह की वृत्ति मोह-कम के उदय से वनती है।
परिग्रह की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

१ अविमुक्तता।
२ परिग्रह-सम्वन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।
३ परिग्रह-सम्वन्धी चिन्तन।

उम्र के बच्चों के निमित्त बनाये गए प्रश्नों का सही उत्तर दे सकता है तो उसकी बौद्धिक उम्र छह वर्ष की मानी जाएगी। इसके प्रतिकूल सात वर्ष की उम्र वाला बच्चा नौ वर्ष के बच्चो के लिए बनाये गए प्रश्नो का उत्तर दे सके तो उसकी बौद्धिक उम्र अवश्य ही नौ वर्ष की आकी जाएगी।

मानसिक योग्यता के तत्त्व

मानसिक योग्यता या क्रियात्मक मन के चार तत्त्व हैं—

१ बुद्धि[1]—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे होनेवाला मानसिक ज्ञान।

२ उत्साह—कार्यक्षमता की योग्यता मे बाधा डालनेवाले कर्म पुद्गल के विलय से उत्पन्न सामर्थ्य।

३ उद्योग—क्रियाशीलता।

४ भावना—पर-प्रभावित दशा।

बुद्धि का कार्य है विचार करना, सोचना, समझना, कल्पना करना, स्मृति, पहचान, नये विचारो का उत्पादन, अनुमान करना आदि-आदि।

उत्साह का कार्य है—आवेश, स्फूर्ति या सामर्थ्य उत्पन्न करना।

उद्योग का कार्य है—सामर्थ्य का कार्यरूप मे परिणमन।

भावना का कार्य है—तन्मयता उत्पन्न करना।

चेतना की विभिन्न प्रवृत्तिया

चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी सर्वमान्य दो प्रवृत्तिया है—इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक और अनालोचनात्मक होता है इसलिए उसकी प्रवृत्तिया बहुमुखी नही होती। मनस् का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है इसलिए उसकी अनेक अवस्थाए बनती हैं—

सकल्प—बाह्य पदार्थों मे ममकार।

विकल्प—हर्ष-विषाद का परिणाम—मैं सुखी हू, मैं दु खी हू आदि।

निदान—सुख के लिए उत्कट अभिलाषा या प्रार्थना।

स्मृति—दृष्ट, श्रुत और अनुभूत विषयों की याद।

---

१ इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धि - र्ज्ञान त्वागमपूर्वकम्।
सदनुष्ठानवच्चैतद् - असमोहोऽभिधीयते ॥
रत्नोपलम्भतज्ज्ञान, तत् प्राप्त्यादि यथाक्रमम्।
इहोदाहरण साधु, ज्ञेय बुध्यादिसिद्धये ॥

रत्नोपलम्भ—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे उत्पन्न होने वाली बुद्धि, जैसे—यह रत्न है।
रत्न-ज्ञान—आगम वर्णित रत्न के लक्षणो का ज्ञान।
रत्न-प्राप्ति—सम्यक् रूप मे उसे ग्रहण करना।

१ ग्रहण-शक्ति
२ विमर्श-शक्ति
३ निर्णय-शक्ति
४ धारणा-शक्ति[1]
५ स्मृति-शक्ति
६ विश्लेषण-शक्ति
७ कल्पना-शक्ति।[2]

मन का शारीरिक ज्ञान-तन्तु के केन्द्रों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ज्ञान-तन्तु प्रौढ़ नही बनते, तब तक बौद्धिक विकास पूरा नही होता। जैसे शक्ति-प्रयोग के लिए शारीरिक विकास अपेक्षित होता है, वैसे ही बौद्धिक विकास के लिए ज्ञान-तन्तुओ की प्रौढता अपेक्षित होती है। बौद्धिक विकास सोलह वर्ष तक पूरा हो जाता है। बाद मे साधारणतया बौद्धिक विकास नही होता, केवल जानकारी बढती है।

बुद्धि-शक्ति सबकी समान नही होती। उसमे विचित्र न्यूनाधिक्य होता है। विचित्रता का कारण अपना-अपना आवरण-विलय होता है। सब विचित्रताए बतायी नही जा सकतीं। उसके वर्गीकृत रूप बारह हैं, जो प्रत्येक बुद्धि-शक्ति के साथ सम्बन्ध रखते हैं—

१ बहु-ग्रहण
२ अल्प-ग्रहण
३ बहुविध-ग्रहण
४ अल्पविध-ग्रहण
५ क्षिप्र-ग्रहण
६ चिर-ग्रहण
७ निश्चित-ग्रहण
८ अनिश्चित-ग्रहण
९ सदिग्ध-ग्रहण
१० असदिग्ध-ग्रहण
११ ध्रुव-ग्रहण
१२ अध्रुव-ग्रहण

इसी प्रकार विमर्श, निर्णय आदि के भी ये रूप बनते हैं। अवस्था के साथ बुद्धि का सम्बन्ध नही है। वृद्ध, युवा और बालक—ये भेद अवस्थाकृत हैं, बुद्धिकृत नही। जैसा कि आचार्य जिनसेन ने लिखा है[3]—

वर्षीयासो यवीयास, इति भेदो वयस्कृत।
न बोधवृद्धिर्वार्धक्ये, न यून्यपचयोऽपि य॥

तुलना—फ्रेंच मनोवैज्ञानिक आल्फ्रेड बीने की बुद्धि माप की प्रणाली के अनुसार सात वष का बच्चा जो बीस से एक तक गिनने मे असमथ है, छह वर्ष की

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १।१५।
२ वही, १।१३।
३ महापुराण, १८।११८।

स्वप्न अर्ध-निद्रित दशा मे आता है।[1] यह नीद का परिणाम नही किन्तु इसे नीद के साहचर्य की आवश्यकता होती है। जागृत दशा मे जैसे वस्तु अनुसारी ज्ञान और कल्पना दोनो होते हैं, वैसे ही स्वप्न-दशा मे भी अतीत की स्मृति, भविष्य की सत्-कल्पना और असत्-कल्पना—ये सब होते हैं। स्वप्न-विज्ञान मानसिक ही होता है।

भावना
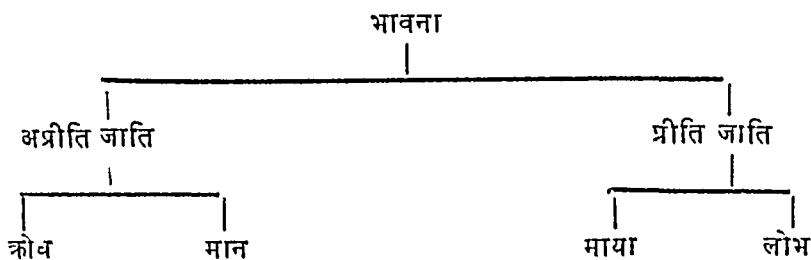
भावना की दो जातिया हैं—अप्रीति और प्रीति।

अप्रीति के दो भेद हैं—क्रोध और मान।

प्रीति के दो भेद हैं—माया और लोभ।

अप्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है। प्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से माया और लोभ राग है।

व्यवहार की दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है। दूसरे को हानि पहुचाने के लिए माया का प्रयोग होता है, वह भी द्वेष है। लोभ मूर्च्छात्मक है, इसलिए वह राग है।

ऋजुसूत्र की दृष्टि से क्रोध अप्रीतिरूप है, इसलिए द्वेष है। मान, माया और लोभ कदाचित् राग और कदाचित् द्वेष होते हैं। मान अहकारोपयोगात्मक होता है, अपने बहुमान की भावना होती है, तब वह प्रीति की कोटि मे जाकर राग बन जाता है और पर-गुण-द्वेपोपयोगात्मक होता है तब अप्रीति की कोटि मे जा वही द्वेप बन जाता है। दूसरे को हानि पहुचाने के लिए माया और लोभ प्रयुक्त होते हैं, तब वे अप्रीति-रूप बन द्वेष की कोटि मे चले जाते है। अपने धन, शरीर आदि की सुरक्षा या पोपण के लिए प्रयुक्त होते है, तब वे मूर्च्छात्मक होने के कारण

---

1 भगवती, १६-६

सुत्तेण भते! सुविण पासति, जागरे सुविण पासति, सुत्त-जागरे सुविण पासति?

गोयमा! नो सुत्ते सुविण पासई, नो जागरे सुविण पासई, सुत्त-जागरे सुविण पासई।

जाति-स्मृति—पूर्व-जन्म की याद।

प्रत्यभिज्ञा—पहचान।

कल्पना—तर्क, अनुमान, भावना, कपाय, स्वप्न।

श्रद्धान—मानसिक रुचि।

लेश्या—मानसिक परिणाम।

ध्यान—मानसिक एकाग्रता, आदि-आदि।

इनमे स्मृति, जाति-स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान—ये विशुद्ध ज्ञान की दशाए हैं। शेप दशाए कर्म के उदय या विलय से उत्पन्न होती हैं। सकल्प, विकल्प, निदान, कपाय और स्वप्न—ये मोह-प्रभावित चेतना के चिन्तन हैं। भावना, श्रद्धान, लेश्या और ध्यान—ये मोह-प्रभावित चेतना मे उत्पन्न होते हैं तब असत् और मोह-शून्य चेतना मे उत्पन्न होते हैं तब सत् बन जाते हैं।

स्वप्न-विज्ञान

फ्रॉयड के अनुसार स्वप्न मन मे की हुई इच्छाओ के परिणाम हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार स्वप्न मोह-कर्म और पूर्व-सस्कार के उद्बोध के परिणाम हैं। वे यथार्थ और अयथार्थ दोनो प्रकार के होते हैं।[1] वे समाधि और असमाधि—इन दोनो के निमित्त बनते हैं।[2] किन्तु वे मोह प्रभावित चैतन्य-दशा मे ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नही।[3]

स्वप्न-ज्ञान का विषय पहले दृष्ट, श्रुत, अनुभूत वस्तु ही होती है।

---

१ (क) भगवती, १६/६

सवुडे भते! सुविण पासइ, असवुडे सुविण पासइ, सवुडासवुडे सुविण पासइ?

गोयमा! सवुडे वि सुविण पासइ, असवुडे वि सुविण पासइ, सवुडा-सवुडे वि सुविण पासइ। सवुडे सुविणं पासति अहातच्च पासति। असवुडे सुविण पासति तहा वा त होज्जा, अन्नहा वा त होज्ज। सवुडा-सवुडे सुविणं पासति एव चेव।

(ख) दशाश्रुतस्कध, ५

सुमिण दसणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्च सुमिण पासित्तए।

२ भगवती, १६-६

कतिविहे ण भते! सुविणदसणे पण्णत्ते?

गोयमा! पचविहे सुविणदसणे पण्णत्ते—तजहा—अहातच्चे पयाणे, चिता सुविणे, तव्विवरीए, अवत्तदसणे।

३ भगवती, १६।६, जयाचार्यकृत जोड़।

लेश्या

हमारे कार्य विचारो के अनुरूप और विचार चारित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गलो के प्रभाव और अप्रभाव के अनुरूप बनते हैं। कर्म-पुद्गल हमारे कार्यों और विचारो को भीतर से प्रभावित करते हैं, तब बाहरी पुद्गल उनके सहयोगी बनते हैं। ये विविध रग वाले होते है। कृष्ण, नील और कापोत—इन तीन रगो वाले पुद्गल विचारो की अशुद्धि के निमित्त बनते हैं। तेजस्, पद्म और श्वेत—ये तीन पुद्गल विचारो की शुद्धि मे सहयोग देते हैं। पहले वर्ग के रग विचारो की अशुद्धि के कारण बनते हैं, यह प्रधान बात नहीं है किन्तु चारित्र-मोह-प्रभावित विचारो के सहयोगी जो बनते हैं, वे कृष्ण, नील और कापोत रग के पुद्गल ही होते हैं—प्रधान बात यह है। यही बात दूसरे वर्ग के रगो के लिए है।

ध्यान

मन या वृत्तियो के केन्द्रीकरण की भी दो स्थितिया होती है—विभावोन्मुख और स्वभावोन्मुख।

(क) प्रिय वस्तु का वियोग होने पर फिर उसके सयोग के लिए—

(ख) अप्रिय वस्तु का सयोग होने पर उसके वियोग के लिए—जो एकाग्रता होती है, वह व्यक्ति को आर्त्त—दु खी बनाती है।

(ग) विषय-वासना की सामग्री के सरक्षण के लिए—

(घ) हिंसा के लिए—

(ङ) असत्य के लिए—

(च) चौर्य के लिए—

—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को क्रूर बनाती है—इसलिए मन का यह केन्द्रीकरण विभावोन्मुख है।

(क) सत्यासत्य विवेक के लिए—

(ख) दोष-मुक्ति के लिए—

(ग) कर्म-मुक्ति के लिए—

—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को आत्मनिष्ठ बनाती है—इसलिए वह स्वभावोन्मुख है।

राग बन जाते हैं।

शाब्दिक दृष्टि से दो ही वृत्तियां हैं—लोभ या राग और क्रोध या द्वेष।

मान और माया जब स्वहित-उपयोगात्मक होते हैं, तब मूर्च्छात्मक होने से लोभ और लोभ होने से राग बन जाते हैं। वे परोपघात-उपयोगात्मक होते हैं, तब घृणात्मक होने से क्रोध और क्रोध होने से द्वेष बन जाते हैं।[1]

यह वैभाविक या मोह-प्रभावित भावना का रूप है। मोहशून्य या स्वाभाविक भावना के सोलह प्रकार हैं—

१ अनित्य-चिन्तन
२ अशरण-चिन्तन
३. भव-चिन्तन
४ एकत्व-चिन्तन
५ अन्यत्व-चिन्तन
६ अशौच-चिन्तन
७ आस्रव-चिन्तन
८ सवर-चिन्तन
९ निर्जरा-चिन्तन
१० धर्म-चिन्तन
११ लोक-व्यवस्था-चिन्तन
१२ बोधि-दुर्लभता-चिन्तन
१३ मैत्री-चिन्तन
१४ प्रमोद-चिन्तन
१५ कारुण्य-चिन्तन
१६ माध्यस्थ्य-चिन्तन।[2]

श्रद्धान

श्रद्धा को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल चेतना को प्रभावित करते हैं, तब तात्त्विक धारणाएं मिथ्या बन जाती हैं। असत्य का आग्रह या आग्रह के बिना भी असत्य की धारणाएं जो बनती हैं वे सहज ही नही होती। केवल वातावरण से वे नहीं बनती। उनका मूल कारण श्रद्धा-मोहक पुद्गल है। जिसकी चेतना इन पुद्गलो से प्रभावित नही होती, उनमे असत्य का आग्रह नही होता। यह स्थिति नैसर्गिक और शिक्षा-लभ्य—दोनो प्रकार की होती है।

---

१ आवश्यक, मलयगिरीया वृत्ति पत्र ४९९, ५००।

२ शान्तसुधारस ११७।

५

प्रमाण-मीमांसा

१

जैन-न्याय

न्याय और न्यायशास्त्र

मीमासा की व्यवस्थित पद्धति अथवा प्रमाण की मीमासा का नाम न्याय—तर्क-विद्या है।

न्याय का शाब्दिक अर्थ है—'प्राप्ति'[1] और पारिभाषिक अर्थ है—'युक्ति के द्वारा पदार्थ—प्रमेय—वस्तु की परीक्षा करना।'[2] एक वस्तु के बारे मे अनेक विरोधी विचार सामने आते हैं, तब उनके बलाबल का निर्णय करने के लिए जो विचार किया जाता है, उसका नाम परीक्षा है।[3]

'क' के बारे मे इन्द्र का विचार सही है और चन्द्र का विचार गलत है, यह निर्णय देनेवाले के पास एक पुष्ट आधार होना चाहिए, अन्यथा उसके निर्णय का कोई मूल्य नही हो सकता। 'इन्द्र' के विचार को सही मानने का आधार यह हो सकता है कि उसकी युक्ति (प्रमाण) मे साध्य-साधन की स्थिति अनुकूल हो, दोनो (साध्य-साधन) मे विरोध न हो। 'इन्द्र' की युक्ति के अनुसार 'क' एक अक्षर (साध्य) है क्योकि उसके दो टुकडे नही हो सकते।

'चन्द्र' के मतानुसार 'ए' भी अक्षर है, क्योकि वह वर्णमाला का एक अग

---

१ न्याय शब्द के अर्थ—

(क) नियमयुक्त व्यवहार—न्यायाम्नय आदि प्रयोग इसी अर्थ मे होते हैं।

(ख) प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ दिखाया जानेवाला सादृश्य, जैसे—देहली-दीपक-न्याय।

(ग) अर्थ की प्राप्ति या सिद्धि।

न्यायशास्त्र मे 'न्याय' शब्द का तृतीय अर्थ ग्राह्य है।

२ भिक्षुन्यायकर्णिका, १।१।

३ न्यायदीपिका, पृ० ८

विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचार परीक्षा।

जैसे—द्रव्य गुण-पर्यायवान् होता है । जीव मे ज्ञान, गुण और सुख-दु ख आदि पर्याय मिलते है, इसलिए वह द्रव्य है ।

२ मातृकानुयोग—सत् का विचार—

जैसे—द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होने के कारण सत् होता है । जीव-स्वरूप की दृष्टि मे ध्रुव होते हुए भी पर्याय की दृष्टि से उत्पाद-व्यय-धर्म वाला है इसलिए वह सत् है ।

३ एकार्थिकानुयोग—एक अर्थवाले शब्दो का विचार—

जैसे—जीव, प्राणी, भूत, सत्व आदि-आदि जीव के पर्यायवाची नाम हैं ।

४ करणानुयोग—साधन का विचार, साधकतम पदार्थ की मीमासा—

जैसे—जीव, काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ पाकर कार्य मे प्रवृत्त होता है ।

५ अर्पितानर्पितानुयोग—मुख्य और गौण का विचार, भेदाभेद-विवक्षा—

जैसे—जीव अभेद-दृष्टि से जीव मात्र है और भेद-दृष्टि की अपेक्षा वह दो प्रकार का है—बद्ध और मुक्त । बद्ध के दो भेद हैं—स्थावर और त्रस ।

६ भाविताभावितानुयोग—अन्य से प्रभावित और अप्रभावित विचार—

जैसे—जीव की अजीव द्रव्य या पुद्गल द्रव्य-प्रभावित अशुद्ध दशाए, पुद्गल-मुक्त स्थितिया—शुद्ध दशाए ।

७ बाह्याबाह्यानुयोग—सादृश्य और वैसादृश्य का विचार—

जैसे—सचेतन जीव अचेतन आकाश से बाह्य (विसदृश) है और आकाश की भाति जीव अमूर्त है, इसलिए वह आकाश से अबाह्य (सदृश) है ।

८ शाश्वताशाश्वतानुयोग—नित्यानित्य विचार—

जैसे—द्रव्य की दृष्टि से जीव अनादि-निधन है, पर्याय की दृष्टि से वह नए-नए पर्यायो मे जाता है ।

९ तथाज्ञानअनुयोग—सम्यग्दृष्टि जीव का विचार ।

१० अतथाज्ञानअनुयोग—असम्यग्दृष्टि जीव का विचार ।[1]

एक विषय पर अनेक विचारको की अनेक मान्यताए, अनेक निगमन—निष्कर्ष होते हैं । जैसे—आत्मा के बारे मे—

अक्रियावादी-नास्तिक—आत्मा नही है ।

क्रियावादी—आस्तिक दर्शनो मे—

१. जैन—आत्मा चेतनावान्, देह-परिमाण, परिणामी—नित्यानित्य, शुभ-अशुभ कर्म-कर्त्ता, फल-भोक्ता और अनन्त है ।

---

१ ठाण, १०।४६

है। 'चन्द्र' का मत गलत है, क्योकि इसमे साध्य-साधन की सगति नही है। 'ए' वर्ण-माला का अग है, फिर भी अक्षर नही है। वह 'अ + इ' के सयोग से बनता है, इसलिए सयोगज वर्ण है।

न्याय-पद्धति की शिक्षा देनेवाला शास्त्र 'न्यायशास्त्र' कहलाता है। इसके मुख्य अग चार हैं[1]—

१ तत्त्व की मीमासा करनेवाला—प्रमाता (आत्मा)
२ मीमासा का मानदण्ड—प्रमाण (यथार्थ-ज्ञान)
३. जिसकी मीमासा की जाए—प्रमेय (पदार्थ)
४ मीमासा का फल—प्रमिति (हेय-उपादेय-मध्यस्थ-बुद्धि)

न्यायशास्त्र की उपयोगिता

प्राणि मात्र मे अनन्त चैतन्य होता है। यह सत्तागत समानता है। विकास की अपेक्षा उसमे तारतम्य भी अनन्त होता है। सबसे अधिक विकासशील प्राणी मनुष्य है। वह उपयुक्त सामग्री मिलने पर चैतन्य-विकास की चरमसीमा-केवलज्ञान तक पहुच सकता है। इससे पहली दशाओ मे भी उसे बुद्धि-परिष्कार के अनेक अवसर मिलते हैं।

मनुष्य-जाति मे स्पष्ट अर्थ-बोधक भाषा और लिपि-सकेत—ये दो ऐसी विशेषताए हैं, जिनके द्वारा उसके विचारो का स्थिरीकरण और विनिमय होता है।

स्थिरीकरण का परिणाम है साहित्य और विनिमय का परिणाम है आलोचना।

जैसे-जैसे मानवीय ज्ञान-विज्ञान की परम्परा आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे साहित्य अनेक दिशागामी बनता चला जाता है।

जैन वाङ्मय मे साहित्य की शाखाए चार हैं—

१ चरणकरणानुयोग—आचार-मीमासा, उपयोगितावाद या कर्तव्यवाद। यह आध्यात्मिक पद्धति है।

२ धर्मकथानुयोग—आत्म-उद्बोधनशिक्षा, रूपक दृष्टान्त और उपदेश।

३ गणितानुयोग—गणितशिक्षा।

४ द्रव्यानुयोग—अस्तित्ववाद या वास्तविकतावाद।

तर्क-मीमासा और वस्तु-स्वरूप-शास्त्र आदि का समावेश इसमे होता है। यह दार्शनिक पद्धति है। यह दस प्रकार का है—

१ द्रव्यानुयोग—द्रव्य का विचार—

---

१ भिक्षुन्यायकर्णिका, १।२।

ऋषभनाथ से जुडता है। भारतीय साहित्य मे भगवान् ऋषभनाथ के अस्तित्व-साधक प्रमाण प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं।[1] जैन-साहित्य मे जो तत्त्ववाद हमे आज मिलता है, वह अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की उपदेश-गाथाओ से सम्बद्ध है। फिर भी हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन सूत्र भगवान् ऋषभनाथ और भगवान् महावीर के तत्त्ववाद की मौलिक एकता का समर्थन करते हैं।[2] जैन दर्शन का नामकरण भी इसी का पोषक है। इसका किसी व्यक्ति के नाम से सम्बन्ध नही। अविच्छिन्न परम्परा के रूप मे यह चलता आ रहा है।

'निर्ग्रन्थ प्रवचन', 'आर्हत दर्शन', 'जैन दर्शन'—इस प्रकार नाम क्रम वदलने पर भी सभी नाम गुणात्मक रहे, किसी व्यक्ति-विशेष से नही जुडे। निर्ग्रन्थ, अर्हत् और जिन—ये नाम सभी तीर्थंकरो के हैं, किसी एक तीर्थंकर के नही। इसलिए परम्परा की दृष्टि से जैन तत्त्ववाद प्रागैतिहासिक और तद्विषयक उपलब्ध साहित्य की अपेक्षा वह भगवान् महावीर का उपदेश है। इस दृष्टि से उपलब्ध जैन न्याय के उद्गम का समय विक्रम पूर्व पाचवी शताब्दी है। वादरायण ने ब्रह्मसूत्र (२।२।३३) मे स्याद्वाद मे विरोध दिखाने का प्रयत्न किया है। वादरायण का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी है। इससे भी जैन न्याय-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। जैन आगम-सूत्रो मे स्थान-स्थान पर न्याय के प्राणभूत अगो का उल्लेख मिलता है। उनके आधार पर जैन-विचार-पद्धति की रूपरेखा और मौलिकता सहज समझी जा सकती है।

जैन न्याय की मौलिकता

'जैन न्याय मौलिक है' इसे समझने के लिए हमे 'जैन आगमो मे तर्क का क्या

---

१ (क) अहो मुच वृषभ यज्ञियान विराजन्त प्रथममध्वराणाम्। अपा न पातमश्विना हुवेधिय इन्द्रियेण इन्द्रिय दत्तमोज।

—अथर्व० का० १६।४२।४

अर्थात्—सम्पूर्ण पापो से मुक्त तथा अहिंसक वृत्तियो के प्रथम राजा आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव का मैं आह्वान करता हू। वे मुझे बुद्धि एव इन्द्रियो के साथ वल प्रदान करें।

(ख) भागवत स्कन्ध ५, अ० ३।६।

(ग) इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवा परमागुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धचरितमीरित पुस समस्त दुश्चरितानि हरणम्।

—भागवत स्कन्ध ५।२८

(घ) धम्म०—उसभ पवर वीर (४२२)

(ङ) जैन वाङ्मय—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यक, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, कल्पसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित।

२ नन्दी, सूत्र १२६

इच्चेइय दुवालसग गणिपिडग न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भूविं च, भवइ य, भविस्सइ य, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे।

२ बौद्ध—क्षणिक चेतनाप्रवाह के अतिरिक्त आत्मा और कुछ नहीं है।

३ नैयायिक-वैशेषिक—आत्मा कूटस्थ-नित्य, अपरिणामी, अनेक और व्यापक है।

४ सांख्य—आत्मा अकर्ता, निष्क्रिय, भोक्ता, बहु और व्यापक है।

यहां वास्तविक निष्कर्ष की परीक्षा के लिए बुद्धि में परिष्कार चाहिए। इस बौद्धिक परिष्कार का साधन न्यायशास्त्र है। यह बुद्धि को अर्थसिद्धि के योग्य बनाता है। फलितार्थ में बुद्धि का अर्थसिद्धि के योग्य बनाना, यही न्यायशास्त्र की उपयोगिता है।

अर्थ-सिद्धि के तीन रूप

उद्देश्य से कार्य का आरम्भ होता है और सिद्धि से अन्त। उद्देश्य और सिद्धि एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। उद्देश्य की सिद्धि के लिए क्रिया चलती है और उसकी सिद्धि होने पर क्रिया रुक जाती है। प्रत्येक सिद्धि (निवृत्तिक्रिया) के साथ निर्माण, प्राप्ति या निर्णय—इन तीनों में से एक अर्थ अवश्य जुड़ा रहता है, इसलिए अर्थसिद्धि के तीन रूप बनते हैं[1]।

१ असत् का प्रादुर्भाव (निर्माण)—मिट्टी से घड़े का निर्माण। मिट्टी के ढेर में पहले जो घड़ा नहीं था, वह बाद में बना, यह असत् का प्रादुर्भाव है। अर्थ की सिद्धि है—एक 'घड़ा' नामक वस्तु की उत्पत्ति।

२ सत् वस्तु की प्राप्ति—प्यास लग रही है। पानी पीने की इच्छा है। पानी मिल जाना, यह सत वस्तु की प्राप्ति है।

३ भावज्ञप्ति—वस्तु के स्वरूप का निर्णय। यह सत् पदार्थ की निश्चित जानकारी या बौद्धिक प्राप्ति है।

इनमें (१) असत् की उत्पत्ति और (२) सत् की प्राप्ति से न्यायशास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। न्यायशास्त्र का क्षेत्र सत् के स्वरूप की निश्चिति है।[2] परम्परकारण के रूप में इष्ट-वस्तु की प्राप्ति भी प्रमाण का फल माना जा सकता है।[3]

जैन न्याय का उद्गम और विकास

जैन तत्त्ववाद प्रागैतिहासिक है। इसका सम्बन्ध युग के आदि-पुरुष भगवान्

---

१ भिक्षुन्यायकर्णिका, १।३।

२ वही, १।३।

३ प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५

सिद्धिरसत प्रादुर्भावोऽभिलषितप्राप्तिर्भावज्ञप्तिश्च । तत्र ज्ञापकप्रकरणाद् असत प्रादुर्भावलक्षणा सिद्धिर्नेह गृह्यते।

को 'अपरीक्ष्य दृष्ट' कहा गया है।[1] "सत्-असत् की परीक्षा किये विना अपने दर्शन की श्लाघा और दूसरे दर्शन की गर्हा कर स्वय को विद्वान् समझनेवाले ससार से मुक्ति नही पाते।"[2] इसलिए जैन परीक्षा-पद्धति का यह प्रधान पाठ रहा है कि "स्व-पक्ष-सिद्धि और पर-पक्ष की असिद्धि करते समय आत्म-समाधि वाले मुनि को 'वहुगुण प्रकल्प' के सिद्धान्त को नही भूलना चाहिए। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन अथवा मध्यस्थ वचन—ये वहु गुण का सर्जन करने वाले हैं। वादकाल मे अथवा साधारण वार्तालाप मे मुनि ऐसे हेतु आदि का प्रयोग करे, जिससे विरोध न वढे .हिसा न वढे।"[3]

वादकाल मे हिंसा से बचाव करते हुए भी मुनि तत्त्व-परीक्षा के लिए प्रस्तुत रहते, तब उन्हे प्रमाण-मीमासा की अपेक्षा होती, यह स्वय गम्य होता है।

जैन-साहित्य दो भागो मे विभक्त है—आगम और ग्रन्थ।

आगम के दो विभाग हैं—अग और अग-अतिरिक्त।

अग स्वत प्रमाण है। अग-अतिरिक्त साहित्य वही प्रमाण होता है जो अग-साहित्य का विसवादी नही होता।

केवली, अवधिज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर और नव-पूर्वधर (दसवें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु सहित) ये आगम कहलाते हैं।[4] उपचार से इनकी रचना को भी 'आगम' कहा जाता है।[5]

अन्य स्थविरो और आचार्यों की रचनाओ की सज्ञा 'ग्रन्थ' है। इनकी प्रामाणिकता का आधार आगम की अविसवादकता है।

अग-साहित्य की रचना भगवान् महावीर की उपस्थिति मे हुई। भगवान् के निर्वाण के वाद इनका लघु-करण और कई आगमो का सकलन और सग्रहण हुआ। इनका अन्तिम स्थिर रूप विक्रम की पाचवी शताब्दी से है।

आगम-साहित्य के आधार पर प्रमाण-शास्त्र की रूपरेखा इस प्रकार वनती है—

१ प्रमेय—सत्।

---

१ सूयगडो, ७।१६।

२ वही, १।१।२।२३
सय-सय पससता, गरहता पर वयं।
जे उ तत्थ विउस्सति, ससारे ते विउस्सिया॥

३ वही, १।३।३।१६।

४ (क) भगवती, ८।८ वृत्ति—
(ख) भगवती जोड, ढाल १४६।

५ प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ४।२ उपचारादाप्तवचन च।

स्थान है'—इस पर दृष्टि डालनी होगी।

कथा तीन प्रकार की होती है—

१ अर्थ-कथा

२ धर्म-कथा

३ काम-कथा

धर्म-कथा के चार भेद हैं। उनमे दूसरा भेद है—विक्षेपणी। इसका तात्पर्य है—धर्म-कथा करनेवाला मुनि—

१ अपने सिद्धान्त की स्थापना कर पर-सिद्धान्त का निराकरण करे।

२ पर-सिद्धान्त का निराकरण कर अपने सिद्धान्त की स्थापना करे।

३ पर-सिद्धान्त के सम्यग्वाद को वताकर उसके मिथ्यावाद को वताए।

४ पर-सिद्धान्त के मिथ्यावाद को वताकर उसके सम्यग्वाद को वताए।

तीन प्रकार की वक्तव्यता—

१ स्व-सिद्धान्त-वक्तव्यता।

२ पर-सिद्धान्त-वक्तव्यता।

३ उन दोनो की वक्तव्यता।

स्व-सिद्धान्त की स्थापना और पर-सिद्धान्त का निराकरण वादविद्या मे कुशल व्यक्ति ही कर सकता है।

भगवान् महावीर के पास समृद्धवादी सम्पदा थी। चार सौ मुनि वादी थे।[1]

नौ निपुण पुरुषो मे वादी को निपुण (सूक्ष्मज्ञानी) माना गया है।[2]

भगवान् महावीर ने आहरण (दृष्टान्त) और हेतु के प्रयोग मे कुशल साधु को ही धर्म-कथा का अधिकारी वताया है।[3]

इसके अतिरिक्त चार प्रकार के आहरण और उसके चार दोष, चार प्रकार के हेतु, छह प्रकार के विवाद, दस प्रकार के दोष, दस प्रकार के विशेष, आदेश (उपचार) आदि-आदि कथाङ्गो का प्रचुर मात्रा मे निरूपण मिलता है।

तर्क-पद्धति के विकीर्ण वीज जो मिलते हैं, उनका व्यवस्थित रूप क्या था, यह समझना सुलभ नहीं किन्तु इस पर से इतना निश्चित कहा जा सकता है कि जैन परम्परा के आगम-युग मे भी परीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कई तीर्थिक जीव-हिंसात्मक प्रवृत्तियो से 'सिद्धि' की प्राप्ति वताते हैं, उनके इस अभिमत

---

१ समवाओ, प्र० २०।

२ ठाण, ९।२८

३ आयारो, १।६।५, चूर्णि पृ० २३७ नागार्जुनीय पाठ
आहरणहेउकुसले पभू धम्मस्स आघवित्तए।

२ प्रमाण—यथार्थ ज्ञान या व्यवसाय।

(भगवती के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)[1]

(शेष अनुयोग द्वारवत्)

(स्थानांग सूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)

अथवा—(द्वितीय प्रकार)
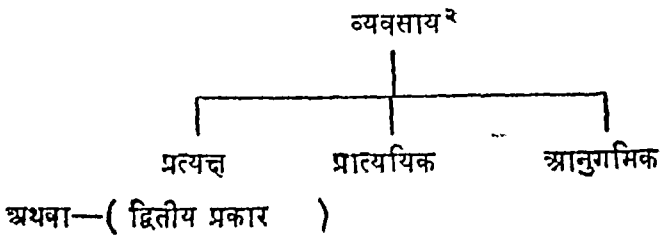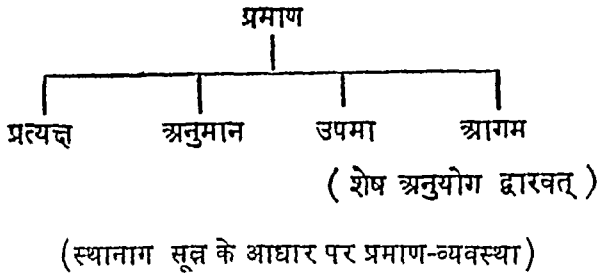
ज्ञान दो प्रकार का होता है—१ प्रत्यक्ष, २ परोक्ष।

प्रत्यक्ष के दो भेद—१ केवल-ज्ञान, २ नो-केवल-ज्ञान।

केवल-ज्ञान के दो भेद—१ भवस्थ-केवल-ज्ञान, २ सिद्ध-केवल-ज्ञान।

भवस्थ-केवल-ज्ञान के दो भेद—१ सयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।
२ अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।

सयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान के भेद—
१ प्रथम समय सयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान।
२ अप्रथम समय सयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।
अथवा—१ चरम समय सयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान।
२ अचरम समय सयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान।

अयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान के दो भेद—१ प्रथम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।

---

१ भगवती, ५।३।

२ ठाण, ३।३।१८५ वृत्ति।

३ वही, २।८६-१०२

सत् के तीन रूप हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। उत्पाद और व्यय की समष्टि—पर्याय।

ध्रौव्य—गुण।

गुण और पर्याय की समष्टि—द्रव्य।
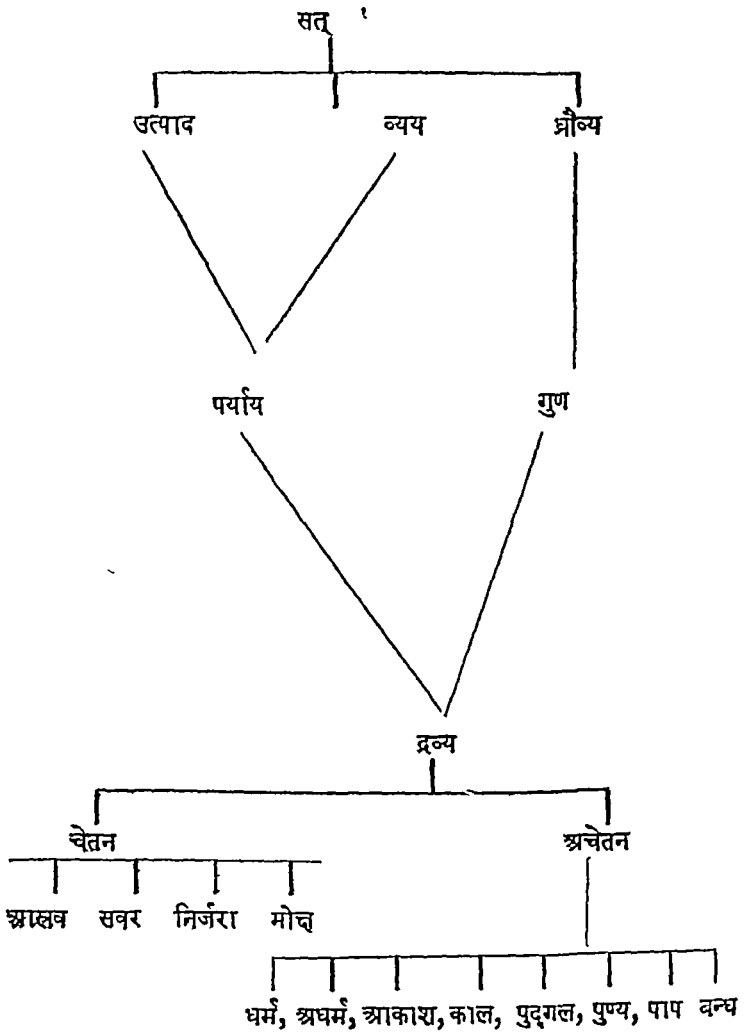
1 भगवती, ८।६ सद्दव्व वा।
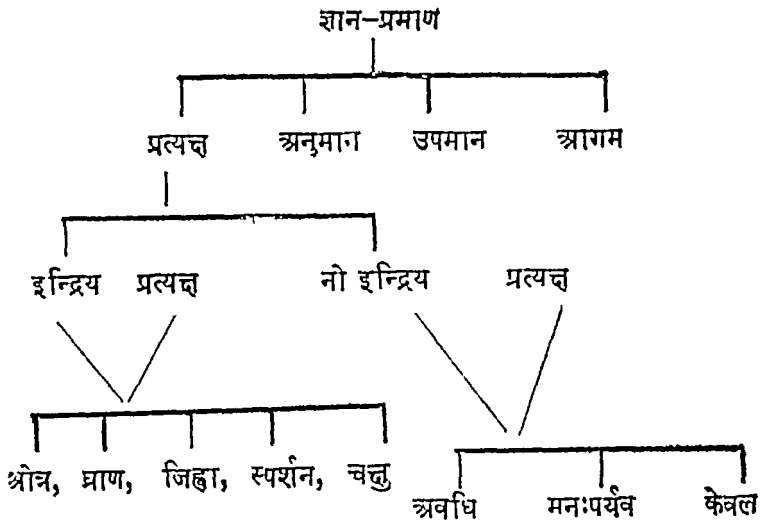
(नन्दी सूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)
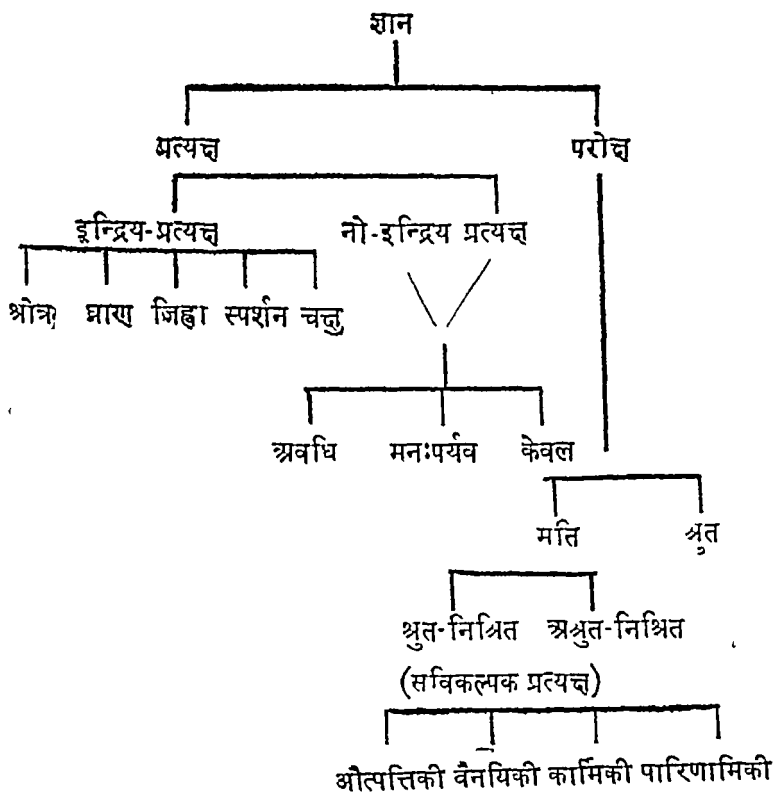
	२ अप्रथम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।
अथवा—	१ चरम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।
	२ अचरम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।
सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद	१ अनन्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान
	२ परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान
अनन्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद	१ एकान्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान
	२ अनेकान्तर-सिद्ध-केवल-ज्ञान
परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद	१ एक परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान
	२ अनेक परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान
नो-केवल-ज्ञान के दो भेद	१ अवधि-ज्ञान
	२ मन पर्यवज्ञान
अवधिज्ञान के दो भेद	१ भव-प्रात्ययिक
	२ क्षायोपशमिक
मन पर्यव के दो भेद	१ ऋजुमति, २ विपुलमति
परोक्षज्ञान के दो भेद	१ आभिनिबोधिक ज्ञान
	२ श्रुतज्ञान
आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद	१ श्रुत-निश्रित, २ अश्रुत निश्रित
श्रुत-निश्रित के दो भेद	१ अर्थावग्रह, २ व्यजनावग्रह
अश्रुत-निश्रित के दो भेद	१ अर्थावग्रह, २ व्यजनावग्रह

अथवा—तृतीय प्रकार[1]

(अनुयोग[2] द्वार के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)

---
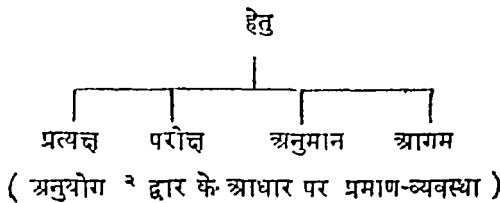
१ ठाण, ४।५०४।
२ अनुयोगद्वार, १४४।

३ विधि-साधक निषेध हेतु।
४ निषेध-साधक निषेध हेतु।
द्वितीय प्रकार—

चार प्रकार के हेतु[1]—

(क) यापक—समय-यापक हेतु। विशेषण-बहुल, जिसे प्रतिवादी शीघ्र न समझ सके।
(ख) स्थापक—प्रसिद्ध-व्याप्तिक साध्य को शीघ्र स्थापित करनेवाला हेतु।
(ग) व्यसक—प्रतिवादी को छल मे डालनेवाला हेतु।
(घ) लूषक व्यसक से प्राप्त आपत्ति को दूर करनेवाला हेतु।

आहरण

चार प्रकार के आहरण[2]—

(क) अपाय—हेयधर्म का ज्ञापक दृष्टान्त।
(ख) उपाय—ग्राह्य वस्तु के उपाय बतानेवाला दृष्टान्त।
(ग) स्थापना कर्म—स्वाभिमत की स्थापना के लिए प्रयुक्त किया जानेवाला दृष्टान्त।
(घ) प्रत्युत्पन्न-विनाशी—उत्पन्न दूषण का परिहार करने के लिए प्रयुक्त किया जानेवाला दृष्टान्त।

आहरण के दोष

चार प्रकार के आहरण-दोष[3]—

(क) अधर्मयुक्त—अधर्मबुद्धि उत्पन्न करनेवाला दृष्टान्त।
(ख) प्रतिलोम—अपसिद्धान्त का प्रतिवादक दृष्टान्त।
अथवा—'शठे शाठ्य समाचरेत्'—ऐसी प्रतिकूलता की शिक्षा देनेवाला दृष्टान्त।
(ग) आत्मोपनीत—परमत मे दोष दिखाने के लिए दृष्टान्त रखना जिससे स्वमत दूषित बन जाए।
(घ) दुरुपनीत—दोषपूर्ण निगमन वाला दृष्टान्त।

---

१ ठाण, ४।५०४
२ वही, ४।५००
३ वही, ४।५०२

अनुमान का परिवार—
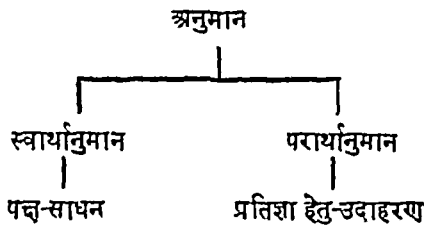
३ प्रमिति—प्रमाण फल—
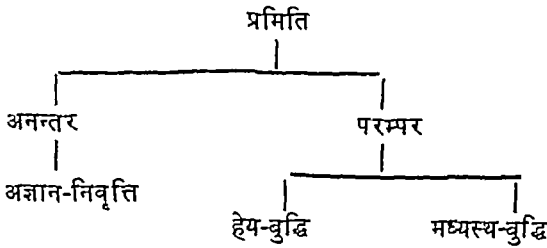
४ प्रमाता—ज्ञाता—आत्मा।

५ विचार-पद्धति—अनेकान्त-दृष्टि—

प्रमेय का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय आदि विरोधी धर्म-युगलो का एक ही वस्तु मे अपेक्षाभेद से स्वीकार।

६ वाक्य-प्रयोग—स्याद्वाद और सद्वाद—

(क) स्याद्वाद—अखण्ड वस्तु का अपेक्षा-दृष्टि से एक धर्म को मुख्य और शेप सब धर्मों को उसके अन्तर्हित कर प्रतिपादन करनेवाला वाक्य 'प्रमाण वाक्य' है। इसके तीन रूप हैं—स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति और स्यात्-अवक्तव्य।

(ख) सद्वाद—वस्तु के एक धर्म का प्रतिपादन करनेवाला वाक्य 'नय-वाक्य' है। इसके सात भेद हैं—१ नैगम, २ सग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ शब्द, ६ समभिरूढ, ७ एवम्भूत।

हेतु

चार प्रकार के हेतु

१ विधि-साधक विधि हेतु।

२ निषेध-साधक विधि हेतु।

४. प्रतिलोमन—सर्व-सामर्थ्य-दशा मे विवादाध्यक्ष अथवा प्रतिवादी को प्रतिकूल वनाकर वाद करना।

५ ससेवन—अध्यक्ष को प्रसन्न रख वाद करना।

६ मिश्रीकरण या भेदन—निर्णयदाताओ मे अपने समर्थको को मिश्रित करके अथवा उन्हे (निर्णयदाताओ को) प्रतिवादी का विरोधी वनाकर वाद करना।

प्रमाण-व्यवस्था का आगमिक आधार

१ प्रमेय—

प्रमेय अनन्त-धर्मात्मक होता है। इसका आधार यह है कि वस्तु मे अनन्त-पर्यव होते हैं।

२ प्रमाण—

प्रमाण की परिभाषा है—व्यवसायी ज्ञान का यथार्थ-ज्ञान। इनमे पहली का आधार स्थानाग का 'व्यवसाय' शब्द है। दूसरी का आधार ज्ञान और प्रमाण का पृथक्-पृथक् निर्देशन है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनो प्रकार का होता है, इसलिए ज्ञान सामान्य के निरूपण मे ज्ञान पाच वतलाए हैं।[1]

प्रमाण यथार्थ ज्ञान ही होता है। इसलिए यथार्थ ज्ञान के निरूपण मे वे दो वन जाते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

३ अनुमान का परिवार—

अनुयोगद्वार के अनुसार श्रुतज्ञान परार्थ और शेप सब ज्ञान स्वार्थ हैं। इस दृष्टि से सभी प्रमाण जो ज्ञानात्मक हैं वे स्वार्थ हैं और जो वचनात्मक हैं वे परार्थ हैं। इसी के आधार पर आचार्य सिद्धसेन[2], वादिदेव सूरि प्रत्यक्ष को परार्थ मानते हैं।[3]

अनुमान, आगम आदि की स्वार्थ-परार्थ रूप द्विविधता का यही आधार है।

४ प्रमिति—

प्रमाण का साक्षात् फल है—अज्ञान-निवृत्ति और व्यवहित फल है—हेयवुद्धि

---

१ भगवती, ८।२।

२ न्यायावतार, ११ वृत्ति

प्रत्यक्षेणानुमानेन, प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्व द्वयोरपि॥
अनुमानप्रतीत प्रत्यायन्नेव वचनमिति—अग्निरत्न धूमात्।
प्रत्यक्षप्रतीत पुनर्दर्शयन्नेतावद् वक्ति—पश्य राजा गच्छति।

३ प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ३।२६, २७।

वाद के दोष[1]

१ तज्जात-दोष—वादकाल मे आचरण आदि का दोप वताना अथवा प्रतिवादी से क्षुब्ध होकर मौन हो जाना।

२ मतिभग-दोष—तत्त्व की विस्मृति हो जाना।

३ प्रशास्तृ-दोष—सभानायक या सभ्य की ओर से होनेवाला प्रमाद।

४ परिहरण-दोप—अपने दर्शन की मर्यादा या लोक-रूढि के अनुसार अनासेव्य का आसेवन करना अथवा आसेव्य का आसेवन नही करना अथवा वादी द्वारा उपन्यस्त हेतु का सम्यक् प्रतिकार न करना।

५ स्वलक्षण-दोप—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव।

६ कारण-दोप—कारण ज्ञात न होने पर पदार्थ को अहेतुक मान लेना।

७ हेतु-दोप—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक।

८ सक्रामण-दोप—प्रस्तुत प्रमेय मे अप्रस्तुत प्रमेय का समावेश करना अथवा परमत जिस तत्त्व को स्वीकार नही करता उसे उसका मान्य तत्त्व वतलाना।

९ निग्रह-दोप—छल आदि से निगृहीत हो जाना।

१० वस्तु-दोप (पक्ष-दोप)
- १ प्रत्यक्ष-निराकृत—शब्द अश्रावण है।
- २ अनुमान-निराकृत—शब्द नित्य है।
- ३ प्रतीति-निराकृत—शशी अचन्द्र है।
- ४ स्व-वचन-निराकृत—मैं कहता हू वह मिथ्या है।
- ५ लोकरूढ़ि-निराकृत—मनुष्य की खोपडी पवित्र है।

विवाद[2]

१ अपसरण—अवसर-लाभ के लिए येन केन-प्रकारेण समय विताना।

२ उत्सुकीकरण—अवसर मिलने पर उत्सुक हो जय के लिए वाद करना।

३ अनुलोमन—विवादाध्यक्ष को 'साम' आदि नीति के द्वारा अनुकल वनाकर अथवा कुछ समय के लिए प्रतिवादी का पक्ष स्वीकार कर उसे अनुकूल वनाकर वाद करना।

---

१ ठाण, १०।६४

२ वही, ६।१११

२

प्रमाण-मीमांसा

प्रमाण का लक्षण

यथार्य ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। ज्ञान यथार्थ और अयथार्य दोनो प्रकार का होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है और सशय-विपर्यय आदि ज्ञान अयथार्थ। प्रमाण सिर्फ यथार्थ-ज्ञान होता है। वस्तु का सशय आदि से रहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह प्रमाण है।

ज्ञान की करणता

प्रमाण का सामान्य लक्षण है—'प्रमाया करण प्रमाणम्'—प्रमा का करण ही प्रमाण है। 'तद्वति तत्प्रकारानुभव प्रमा'—जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही जानना 'प्रमा' है। करण का अर्थ है साधकतम। एक अर्थ की सिद्धि मे अनेक सहयोगी होते हैं किन्तु वे सव 'करण' नही कहलाते। फल की सिद्धि मे जिसका व्यापार अव्यवहित (प्रकृत उपकारक) होता है वह 'करण' कहलाता है। कलम वनाने मे हाथ और चाकू दोनो चलते हैं किन्तु करण चाकू ही होगा। कलम काटने का निकटतम सम्वन्ध चाकू से है, हाथ से उसके वाद। इसलिए हाथ साधक और चाक साधकतम कहलाएगा।

प्रमाण के सामान्य लक्षण मे किसी को आपत्ति नही है। विवाद का विपय 'करण' वनता है। बौद्ध सारूप्य और योग्यता को 'करण' मानते हैं।[1] नैयायिक

---

१ (क) न्यायविदु, १।१६।२०

(ख) वौद्ध (सौत्रान्तिक) दर्शन के अनुसार ज्ञानगत अर्थाकार (अर्थ-ग्रहण) ही प्रामाण्य है, उसे सारूप्य भी कहा जाता है।

स्वसवित्ति फल चात्र तद् रूपादर्थनिश्चय।
विपयाकार एवास्य, प्रमाण तेन मीयते॥
(प्रमाण समुच्चय, पृ० २४)

प्रमाण तु सारूप्य, योग्यता वा।
(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १३-४४)

स्वभाव, नियति आदि सब दृष्टियो का समन्वय होता है, इसलिए यह सत्य का सीधा मार्ग है।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'आप्तमीमासा' मे वीतराग को आप्त सिद्ध कर उनकी अनेकान्त वाणी से 'सत्' का यथार्थ-ज्ञान होने का विजय-घोष किया। उन्होंने अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य—इन चार भगो के द्वारा सदेकान्तवादी साख्य, असदेकान्तवादी माध्यमिक, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक और अवाच्यैकान्तवादी बौद्ध के दुराग्रहवाद का बडी सफलता से निराकरण किया। भेद-एकान्त, अभेद-एकान्त आदि अनेक एकान्त पक्षो मे दोष दिखाकर अनेकान्त की व्यापक सत्ता का पथ प्रशस्त कर दिया।

स्याद्वाद—सप्तभगी और नय की विशद योजना मे इन दोनो आचार्यों की लेखनी का चमत्कार आज भी सर्व-सम्मत है।

प्रमाण-व्यवस्था

आचार्य सिद्धसेन के 'न्यायावतार' मे प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान और उसके अवयवो की चर्चा प्रमाण-शास्त्र की स्वतन्त्र रचना का द्वार खोल देती है। फिर भी उसकी आत्मा शैशवकालीन-सी लगती है। इसे यौवनश्री तक ले जाने का श्रेय दिगम्बर आचार्य अकलक को है। उनका समय विक्रम की आठवी-नवी शताब्दी है। उनके 'लघीयस्त्रय', 'न्यायविनिश्चय' और 'प्रमाण-सग्रह' मे मिलने वाली प्रमाण-व्यवस्था पूर्ण विकसित है। उत्तरवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो धाराओ मे उसे स्थान मिला है। इसके बाद समय-समय पर अनेक आचार्यों द्वारा लाक्षणिक ग्रन्थ लिखे गए। दसवी शताब्दी की रचना माणिक्यनदी का 'परीक्षा-मुखमण्डन', बारहवी शताब्दी की रचना वादिदेवसूरि का 'प्रमाण नय तत्त्वालोक' और आचार्य हेमचन्द्र की 'प्रमाण-मीमासा', पन्द्रहवी शताब्दी की रचना धर्मभूषण की 'न्यायदीपिका', अठारहवी शताब्दी की रचना यशोविजयजी की 'जैन तर्कभाषा' बहुत प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त बहुत सारे लाक्षणिक ग्रन्थ अभी तक अप्रसिद्ध भी पडे हैं। इन लाक्षणिक ग्रन्थो के अतिरिक्त दार्शनिक चर्चा और प्रमाण के लक्षण की स्थापना और उत्थापना मे जिनका योग है, वे भी प्रचुर मात्रा मे हैं।

ज्ञान से होता है। ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त सब ज्ञान परप्रकाशित हैं, प्रमेय हैं। अचेतन ज्ञानवादी साख्य प्रकृति-पर्यायात्मक ज्ञान को अचेतन मानते हैं। उनकी दृष्टि मे ज्ञान प्रकृति की पर्याय—विकार है, इसलिए वह अचेतन है।

उक्त परिभाषा मे आया हुआ 'स्व-आभासि' शब्द इनके निराकरण की ओर सकेत करता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान 'स्व-अवभासि' है। ज्ञान का स्वरूप ज्ञान है, यह जानने के लिए अर्थ-प्राकट्य (अर्थ-बोध) की अपेक्षा नही है।

१ ज्ञान प्रमेय ही नही, ईश्वर के ज्ञान की भाति प्रमाण भी है।

२ ज्ञान अचेतन नही—जड प्रकृति का विकार नही, आत्मा का गुण है।[1]

ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ज्ञान को ही परमार्थ-सत् मानते है, बाह्य पदार्थ को नही।[2] इसका निराकरण करने के लिए 'पर आभासि' विशेषण जोडा गया।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की भाति बाह्य वस्तुओ की भी पारमार्थिक सत्ता है।[3]

विपर्यय आदि प्रमाण नही है, यह बतलाने के लिए 'बाधविवर्जित' विशेषण है।

समूचा लक्षण तत्काल प्रचलित लक्षणो से जैन लक्षण का पृथक्करण करने के लिए है।

आचार्य अकलक ने प्रमाण के लक्षण मे 'अनधिगतार्थग्राही' विशेषण लगाकर एक नई परम्परा शुरू कर दी।[4] इस पर बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का प्रभाव पडा, ऐसा प्रतीत होता है। न्याय-वैशेषिक और मीमासक 'धारावाहिक ज्ञान' (अधिगत ज्ञान—गृहीतग्राही ज्ञान) को प्रमाण मानने के पक्ष मे थे और बौद्ध विपक्ष मे। आचार्य अकलक ने बौद्ध दर्शन का साथ दिया। आचार्य अकलक का प्रतिबिम्ब आचार्य माणिक्य नन्दी पर पडा। उन्होंने यह माना कि 'स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्'—स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। इसमे आचार्य अकलक के मत का 'अपूर्व' शब्द के द्वारा समर्थन किया।

वादिदेव सूरि ने 'स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणम्' इस सूत्र मे माणिक्य नन्दी के 'अपूर्व' शब्द पर ध्यान नही दिया।

इस काल मे दो धाराए चल पडी। दिगम्बर आचार्यों ने गृहीत-ग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण नही माना। श्वेताम्बर आचार्य इसको प्रमाण मानते थे। दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द ने इस प्रश्न को खडा करना उचित ही नही समझा।

---

१ स्याद्वादमजरी, श्लोक १५

२ देखिए—वसुबन्धुकृत, विशतिका

३ स्याद्वादमजरी, १६।

४ लघीयस्त्रयी, ६०।

सन्निकर्ष और ज्ञान इन दोनो को करण मानते हैं। इस दशा मे जैन सिर्फ ज्ञान को ही करण मानते हैं।[1] सन्निकर्ष, योग्यता आदि अर्थ-बोध की सहायक सामग्री है। उसका निकट सम्बन्धी ज्ञान ही है और वही ज्ञान और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

प्रमाण का फल होता है—अज्ञान-निवृत्ति, इष्ट-वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का त्याग। यह सब प्रमाण को ज्ञान-स्वरूप माने बिना हो नही सकता। इसलिए अर्थ के सम्यक् अनुभव मे 'करण' बनने का श्रेय ज्ञान को ही मिल सकता है।

प्रमाण की परिभाषा का क्रमिक विकास

प्रामाणिक क्षेत्र मे प्रमाण की अनेक धाराए बही, तब जैन आचार्यों को भी प्रमाण की स्वमन्तव्य-पोषक एक परिभाषा निश्चित करनी पडी। जैन विचार के अनुसार प्रमाण की आत्मा 'निर्णायक ज्ञान' है। जैसा कि आचार्य विद्यानन्द ने लिखा है—

'तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञान मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात्, व्यर्थमन्यद् विशेषणम्॥'[2]

पदार्थ का निश्चय करनेवाला ज्ञान 'प्रमाण' है। यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है और सब विशेषण व्यर्थ हैं किन्तु फिर भी परिभाषा के पीछे जो कई विशेषण लगे उसके मुख्य तीन कारण हैं—

१ दूसरो के प्रमाण-लक्षण से अपने लक्षण का पृथक्करण।
२ दूसरो के लाक्षणिक दृष्टिकोण का निराकरण।
३ बाधा का निरसन।

आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण का लक्षण बतलाया है—'प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम्'[3] —स्व और पर को प्रकाशित करनेवाला अबाधित ज्ञान प्रमाण है। परोक्ष ज्ञानवादी मीमासक ज्ञान को स्वप्रकाशित नही मानते। उनके मत से 'ज्ञान है'—इसका पता अर्थ-प्राकट्यात्मक अर्थापत्ति से लगता है। दूसरे शब्दो मे, उनकी दृष्टि मे ज्ञान अर्थज्ञानानुमेय है। अर्थ को हम जानते हैं—यह अर्थज्ञान (अर्थ-प्राकट्य) है। हम अर्थ को जानते हैं इससे पता चलता है कि अर्थ को जानने-वाला ज्ञान है। 'अथ की जानकारी के द्वारा ज्ञान की जानकारी होती है'—यह परोक्ष ज्ञानवाद है।[4] ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवादी नैयायिक-वैशेषिक ज्ञान को ज्ञानान्तर-वेद्य मानते हैं। उनके मतानुसार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष एकात्म-समवायी दूसरे

---

१ न्यायभाष्य १।१।३
२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।१०।७७
३ न्यायावतार, १।
४ मीमासाश्लोकवार्तिक, १८४-१८७।

हो वह सत्य ज्ञान और तथ्य के साथ सगति न हो वह असत्य ज्ञान।

अवाधितत्त्व, अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन या अपूर्वअर्थप्रापण, अविसवादित्व या सवादीप्रवृत्ति, प्रवृत्तिसामर्थ्य या क्रियात्मक उपयोगिता—ये सत्य की कसौटिया हैं, जो भिन्न-भिन्न दार्शनिको द्वारा स्वीकृत और निराकृत होती रही है।

आचार्य विद्यानन्द अबाधितत्त्ववाधक प्रमाण के अभाव या कथनो के पारस्परिक सामजस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं। सन्मति-टीकाकार आचार्य अभयदेव इसका निराकरण करते है।[1] आचार्य अकलक वौद्ध और मीमासक अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन (अज्ञात अर्थ के ज्ञापन) को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं।[2] वादिदेव सूरि और आचार्य हेमचन्द्र इसका निराकरण करते हैं।[3]

सवादीप्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य—इन दोनो का व्यवहार सर्व-सम्मत है। किन्तु ये प्रामाण्य के मुख्य नियामक नही वन सकते। सवादक ज्ञान प्रमेयाव्यभिचारी ज्ञान की भाति व्यापक नही है। प्रत्येक निर्णय मे तथ्य के साथ ज्ञान की सगति अपेक्षित होती है, वैसे सवादक ज्ञान प्रत्येक निर्णय मे अपेक्षित नही होता। वह क्वचित् ही सत्य को प्रकाश मे लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थ-सिद्धि का दूसरा रूप है। ज्ञान तव तक सत्य नही होता, जव तक वह फलदायक परिणामो द्वारा प्रामाणिक नही वन जाता। यह भी सार्वदिक सत्य नही है। इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान की सगति होती है। क्वचित् यह 'सत्य की कसौटी' वनता है, इसलिए यह अमान्य भी नही है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत होती है। ज्ञानोत्पादक सामग्री मे मिलनेवाले गुण और दोप क्रमश प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निमित्त बनते हैं। निर्विशेषण सामग्री से यदि ये दोनो उत्पन्न होते तो इन्हे स्वत माना जाता किन्तु ऐसा होता नही। ये दोनो सविशेपण सामग्री से पैदा होते हैं, जैसे गुणवत्-सामग्री से प्रामाण्य और दोषवत्-सामग्री से अप्रामाण्य। अर्थ का परिच्छेद प्रमाण और अप्रमाण दोनो मे होता है। किन्तु अप्रमाण (सशय-विपर्यय) मे अर्थ-परिच्छेद यथार्थ नही होता और प्रमाण मे वह यथार्थ होता है। अयथार्थ-परिच्छेद की भाति यथार्थ-परिच्छेद भी सहेतुक होता है। दोप मिट जाए, मात्र इससे यथार्थता नही आती। वह तब आती है, जव गुण उसके कारण वने। जो कारण

---

१ सन्मतिप्रकरण, पृ० ६१४।

२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १७५।

३ प्रमाणमीमासा

उन्होंने बडी उपेक्षा के साथ बताया कि—

'गृहीतमगृहीत वा, स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु, विजहाति प्रमाणताम् ॥'[1]

स्व और पर का निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है, चाहे वह गृहीतग्राही हो, चाहे अगृहीतग्राही।

आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षण-सूत्र का परिष्कार ही नही किया किन्तु एक ऐसी बात सुझाई, जो उनकी सूक्ष्म-दृष्टि की परिचायक है। उन्होंने कहा—'ज्ञान स्व-प्रकाशी होता अवश्य है, फिर भी वह प्रमाण का लक्षण नही बनता।[2] कारण कि प्रमाण की भाति अप्रमाण—सशय विपर्यय ज्ञान भी स्वसविदित होता है। पूर्वाचार्यों ने 'स्वनिर्णय को लक्षण मे रखा है, वह परीक्षा के लिए है, इसलिए वहा कोई दोप नहीं आता"—यह लिखकर उन्होंने अपने पूर्वजों के प्रति अत्यन्त आदर सूचित किया है।

आचार्य हेमचन्द्र की परिभापा—'सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम्'—अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है। यह जैन-प्रमाण-लक्षण का अन्तिम परिष्कृत रूप है।

आचार्य तुलसी ने 'यथार्थज्ञान प्रमाणम्'—यथार्थ (सम्यक्) ज्ञान प्रमाण है,[3] इसमे अर्थ पद को भी नही रखा। ज्ञान के यथार्थ और अयथार्थ—ये दो रूप वाह्य पदार्थों के प्रति उसका व्यापार होता है, तव बनते है। इसलिए अर्थ के निर्णय का बोध 'यथार्थ' पद अपने आप करा देता है।[4] यदि वाह्य अर्थ के प्रति ज्ञान का व्यापार नही होता तो लक्षण मे यथार्थ-पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता ही नही होती।

प्रामाण्य का नियामक तत्त्व

प्रमाण सत्य होता है, इसमे कोई द्वैत नही, फिर भी सत्य की कसौटी सबकी एक नही है। ज्ञान की सत्यता या प्रामाण्य के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार वह याथार्थ्य है। याथार्थ्य का अर्थ है—'ज्ञान की तथ्य के साथ सगति'।[5] ज्ञान अपने प्रति सत्य ही होता है। प्रमेय के साथ उसकी सगति निश्चित नही होती, इसलिए उसके दो रूप बनते है—तथ्य के साथ सगति

---

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।१०।७८

२ प्रमाणमीमासा, १।३।

३ भिक्षुन्यायकर्णिका, १।१०।

४ प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, १।१९

सर्वं ज्ञान स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम्।
बहिरर्थापेक्षया तु किंचित् प्रमाण, किंचित् प्रमाणाभासम्।

५ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १७५।

(ग्राह्यवस्तु) की अपेक्षा से है। ज्ञान के स्वरूप-ग्रहण की अपेक्षा उसका प्रामाण्य-निश्चय अपने आप होता है।

अयथार्थ ज्ञान या समारोप

एक रस्सी के बारे मे चार व्यक्तियो के ज्ञान के चार रूप हैं

पहला—यह रस्सी है—यथार्थ-ज्ञान।

दूसरा—यह साप है—विपर्यय।

तीसरा—यह रस्सी है या साप है ?—सशय।

चौथा—रस्सी को देखकर भी अन्यमनस्कता के कारण ग्रहण नही करता—अनध्यवसाय।

पहले व्यक्ति का ज्ञान सही है। यही प्रमाण होता है, जो पहले बताया जा चुका है। शेष तीनो व्यक्तियो के ज्ञान मे वस्तु का सम्यक् निर्णय नही होता, इसलिए वे अयथार्थ हैं।

विपर्यय[1]

विपर्यय निश्चयात्मक होता है किन्तु निश्चय पदार्थ के असली स्वरूप के विपरीत होता है। जितनी निरपेक्ष एकान्त-दृष्टिया होती हैं, वे सब विपर्यय की कोटि मे आती हैं। पदार्थ अपनी गुणात्मक सत्ता की दृष्टि से नित्य है और अवस्था-भेद की दृष्टि से अनित्य। इसलिए उसका समष्टि रूप बनता है—पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी। यह सम्यक् ज्ञान है। इसके विपरीत पदार्थ नित्य ही है अथवा पदार्थ अनित्य ही है—यह विपर्यय ज्ञान है।

अनेकान्त दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पदार्थ कथचित् नित्य ही है, कथचित् अनित्य ही है।' यह निरपेक्ष नही किन्तु कथचित् यानी गुणात्मक सत्ता की अपेक्षा नित्य ही है और परिणमन की अपेक्षा अनित्य ही है।

पदार्थ नष्ट नही होता, यह प्रमाणसिद्ध है। उसका रूपान्तर होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। इस दशा मे पदार्थ को एकान्तत नित्य या अनित्य मानना सम्यग् निर्णय नही हो सकता।

विपरीत ज्ञान के सम्बन्ध मे विभिन्न दर्शनो मे विभिन्न धारणाए है—

साख्य, योग और मीमासक (प्रभाकर) इसे विवेकाख्याति या अख्याति[2],

---

१ भिक्षुन्यायकर्णिका, १।१२

२ रस्सी मे सांप का ज्ञान होता है, वह वास्तव मे ज्ञान-द्वय का मिलित रूप है—रस्सी का प्रत्यक्ष और साप की स्मृति। द्रष्टा इन्द्रिय आदि के दोष से प्रत्यक्ष और स्मृति के विवेक—भेद को भूल जाता है, यही 'अख्याति या विवेकाख्याति' है।

बनेगा वह 'पर' कहलाएगा। ये दोनों विशेष स्थिति-सापेक्ष हैं, इसलिए इनकी उत्पत्ति 'पर' से होती है।

प्रामाण्य-निश्चय के दो रूप—स्वत और परत

जानने के साथ-साथ 'यह जानना ठीक है' ऐसा निश्चय होता है, वह स्वत निश्चय है।

जानने के साथ-साथ 'यह जानना ठीक है' ऐसा निश्चय नहीं होता तब दूसरी कारण सामग्री से—संवादक प्रत्यय से उसका निश्चय किया जाता है, यह परत निश्चय है। जैन प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वत भी मानते हैं और परत भी।

स्वत प्रामाण्य-निश्चय

विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वत प्रामाणिकता होती है। इसमें प्रथम ज्ञान की सचाई जानने के लिए विशेष कारणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र के घर कई बार गया हुआ है। उससे भली-भांति परिचित है। वह मित्र-गृह को देखते ही निस्सन्देह उसमें प्रविष्ट हो जाता है। 'यह मेरे मित्र का घर है'—ऐसा ज्ञान होने के समय ही उस ज्ञानगत सचाई का निश्चय नहीं होता तो वह उस घर में प्रविष्ट नहीं होता।

परत प्रामाण्य-निश्चय

विषय की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परत होता है। ज्ञान की कारण सामग्री से उसकी सचाई का पता नहीं लगता तब विशेष कारणों की सहायता से उसकी प्रामाणिकता जानी जाती है, यही परत प्रामाण्य है। पहले सुने हुए चिह्नों के आधार पर अपने मित्र के घर के पास पहुंच जाता है, फिर भी उसे यह सन्देह हो सकता है कि यह घर मेरे मित्र का है या किसी दूसरे का? उस समय किसी जानकार व्यक्ति से पूछने पर प्रथम ज्ञान की सचाई मालूम हो जाती है। यहां ज्ञान की सचाई का दूसरे की सहायता से पता लगा, इसलिए यह परत प्रामाण्य है। विशेष कारण-सामग्री के दो प्रकार हैं—संवादक प्रमाण तथा बाधक प्रमाण का अभाव।

नही जाना। इस ज्ञान की आलोचना मे ही परिसमाप्ति हो जाती है, कोई निर्णय नही निकलता। इसमे वस्तु-स्वरूप का अन्यथा ग्रहण नही होता, इसलिए यह विपर्यय से भिन्न है और यह विशेष का स्पर्श नही करता, इसलिए सशय से भी भिन्न है। सशय मे व्यक्ति का भी उल्लेख होता हे। यह जाति सामान्य विषयक है। इसमे पक्षी और स्पर्श किए व्यक्ति का नामोल्लेख नही होता।

अनध्यवसाय वास्तव मे अयथार्थ नही है, अपूर्ण है। वस्तु जैसी है उसे विपरीत नही किन्तु उसी रूप मे जानने मे अक्षम है। इसलिए इसे अयथार्थ ज्ञान की कोटि मे रखा है। अनध्यवसाय को अयथार्थ उसी दशा मे कहा जा सकता है, जबकि यह 'आलोचन मात्र' तक ही रह जाता है। अगर यह आगे बढे तो अवग्रह के अन्तर्गत हो जाता है।[1]

अयथार्थ ज्ञान के हेतु

एक ही प्रमाता का ज्ञान कभी प्रमाण बन जाता है और कभी अप्रमाण। यह क्यो ? जैन दृष्टि मे इसका समाधान यह है कि यह सामग्री के दोष से होता है।

प्रमाता का ज्ञान निरावरण होने पर ऐसी स्थिति नही बनती। उसका ज्ञान अप्रमाण नही होता। यह स्थिति उसके सावरणज्ञान की दशा मे बनती है।[2]

ज्ञान की सामग्री द्विविध होती है—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक सामग्री है, प्रमाता के ज्ञानावरण का विलय। आवरण के तारतम्य के अनुपात मे जानने की न्यूनाधिक शक्ति होती है। ज्ञान के दो क्रम है—आत्म-प्रत्यक्ष और आत्म-परोक्ष। आत्म-प्रत्यक्ष जितनी योग्यता विकसित होने पर जानने के लिए बाह्य सामग्री की अपेक्षा नही होती। आत्म-परोक्ष की ज्ञान की दशा मे बाह्य सामग्री का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इन्द्रिय और मन के द्वारा होनेवाला ज्ञान बाह्य सामग्री सापेक्ष होता है। पौद्गलिक इन्द्रिया, पौद्गलिक मन, आलोक, उचित सामीप्य या दूरत्व, दिग्, देश, काल आदि बाह्य सामग्री के अग है।

अयथार्थ ज्ञान के निमित्त प्रमाता और बाह्य सामग्री दोनो है। आवरण-विलय मन्द होता है और बाह्य सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब अयथार्थ ज्ञान होता है। आवरण विलय की मन्दता मे बाह्य सामग्री की स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है। उससे ज्ञान की स्थिति मे परिवर्तन आता है। तात्पर्य यह है कि अयथार्थ ज्ञान का निमित्त ज्ञान-मोह है और ज्ञानमोह का निमित्त दोषपूर्ण सामग्री है। परोक्ष ज्ञान-दशा मे चेतना का विकास होने पर भी अदृश्य सामग्री के अभाव मे यथार्थ बोध नही होता।

---

१ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३१७, वृत्ति
अनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्रग्राहित्वेन अवग्रहे अन्तर्भवति।

२ न्यायालोक, पत्र १७७
कर्मवशवर्तित्वेन आत्मनस्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात्।

वेदान्त अनिर्वचनीय ख्याति[1], बौद्ध (योगाचार) 'आत्म-ख्याति'[2], कुमारिल (भट्ट) नैयायिक-वैशेषिक 'विपरीत ख्याति'[3], (या अन्यथा ख्याति) और चार्वाक अख्याति (निरावलम्बन) कहते हैं।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह 'सत्-असत् ख्याति' है। रस्सी मे प्रतीत होने वाला साप स्वरूपत सत् और रस्सी के रूप मे असत् है। ज्ञान के साधनो की विकल दशा मे सत् का असत् के रूप मे ग्रहण होता है, यह 'सदसत्ख्याति' है।

सशय

ग्राह्य वस्तु की दूरी, अधेरा, प्रमाद, व्यामोह आदि-आदि जो विपर्यय के कारण बनते हैं, वे ही सशय के कारण हैं। हेतु दोनो के समान हैं, फिर भी उनके स्वरूप मे बडा अन्तर है। विपर्यय मे जहा सत् मे असत् का निर्णय होता है, वहा सशय मे सत् या असत् किसी का भी निर्णय नही होता। सशय ज्ञान की एक दोलायमान अवस्था है। वह 'यह' या 'वह' के घेरे को तोड नही सकता। उसके सारे विकल्प अनिर्णायक होते हैं। एक सफेद चार पैर और सीग वाले प्राणी को दूर से देखते ही मन विकल्प से भर जाता है—क्या यह गाय है अथवा गवय—रोझ ?

निर्णायक विकल्प सशय नही होता, यह हमे याद रखना होगा। पदार्थ के बारे मे अभी-अभी हम दो विकल्प कर आए हैं—'पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी'। यह सशय नही है। सशय या अनिर्णायक विकल्प वह होता है जहा पदार्थ के एक धर्म के बारे मे दो विकल्प होते हैं। अनेक-धर्मात्मक वस्तु के अनेक धर्मों पर होने वाले अनेक विकल्प इसलिए निर्णायक होते हैं कि उनकी कल्पना आधार-शून्य नही होती। स्याद्वाद के प्रामाणिक विकल्पो—भगो को सशयवाद कहनेवालो को यह स्मरण रखना चाहिए।

अनध्यवसाय

अनध्यवसाय आलोचन मात्र होता है। किसी पक्षी को देखा और एक आलोचन शुरू हो गया—इस पक्षी का क्या नाम है ? चलते-चलते किसी पदार्थ का स्पर्श हुआ। यह जान लिया कि स्पर्श हुआ है किन्तु किस वस्तु का हुआ है, यह

---

१ रस्सी मे जिस सप का ज्ञान होता है, वह सत् भी नही है, असत् भी नही है, सत्-असत् भी नही है, इसलिए 'अनिर्वचनीय'—सदसत्-विलक्षण है। वेदान्ती किसी भी ज्ञान का निर्विषय नही मानते, इसलिए इनकी धारणा है कि ब्रह्मज्ञान मे एक ऐसा पदार्थ उत्पन्न होता है, जिसके बारे मे कुछ नही कहा जा सकता।

२ ज्ञान-रूप आन्तरिक पदार्थ की बाह्य रूप मे प्रतीति होती है, यानी मानसिक विज्ञान ही बाहर सर्पाकार म परिणत हो जाता है, यह 'आत्मख्याति' है।

३ द्रष्टा इन्द्रिय आदि के दोषवश रस्सी मे पूर्वानुभूत साप के गुणो का आरोपण करता है, इसलिए उसे रस्सी सर्पाकार दीखने लगती है। इस प्रकार रस्सी का साप के रूप म जो ग्रहण होता है, वह 'विपरीत ख्याति' है।

कई विपयो मे विपरीत श्रद्धा रखता है वह मिथ्यात्व-आस्रव है। वह मोह कर्म के उदय से पैदा होता है, इसलिए वह अज्ञान नही। अज्ञानी जितना सम्यग् जानता हे, वह ज्ञानावरण के विलय से उत्पन्न होता है। वह अधिकारी की अपेक्षा से अज्ञान कहलाता है, इसलिए अज्ञान और विपरीत श्रद्धा दोनो भिन्न हैं।"[1]

जैसे मिथ्यात्व सम्यक् श्रद्धा का विपर्यय है, वैसे अज्ञान ज्ञान का विपर्यय नही है। ज्ञान और अज्ञान मे स्वरूप-भेद नही किन्तु अधिकारी भेद है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान।[2]

अज्ञान मे नञ् समास कुत्सार्थक है। ज्ञान कुत्सित नही, किन्तु ज्ञान का पात्र जो मिथ्यात्वी है, उसके ससर्ग से वह कुत्सित कहलाता है।[3]

सम्यग्दृष्टि का समारोप ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का समारोप या असमारोप अज्ञान। इसका यह अर्थ नही होता कि सम्यग्दृष्टि का समारोप भी प्रमाण होता है और मिथ्यादृष्टि का असमारोप भी अप्रमाण।[4] समारोप दोनो का अप्रमाण होगा। असमारोप दोनो का प्रमाण। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के निमित्त क्रमश दृष्टि-मोह का उदय और विलय है। समारोप का निमित्त है ज्ञानावरण या ज्ञान-मोह।[5] समारोप का निमित्त दृष्टि-मोह माना जाता है, वह उचित प्रतीत नही होता। "जहा विपय, साधन आदि का दोप हो वहा वह दोप आत्मा की मोहावस्था ही के कारण अपना कार्य करता है।[6] इस लिए जैन-दृष्टि यही मानती है कि अन्य दोप आत्म-दोष के सहायक होकर हीमिथ्या प्रत्यय के जनक हैं पर उसका मुख्य जनक आत्म-दोप (मोह) ही हे।[7]

---

१ भगवती जोड, ८।२

२ (क) नन्दी, सूत्र

(ख) भगवती जोड ८।२।५५

भाजन लारै जाण रे, ज्ञान अज्ञान कहीजिए।
समदृष्टि रै ज्ञान रे, अज्ञान अज्ञानी तणो॥

३ लोकप्रकाश (द्रव्यलोक), श्लोक ६६

कुत्सित ज्ञानमज्ञान, कुत्सार्थस्य नञोऽन्वयात्।
कुत्सितत्व तु मिथ्यात्वयोगात् तत् त्रिविध पुन॥

४ ज्ञानविन्दु ४०।४१

५ इन्द्रियवादी री चौपाई १०।३२, ३६, ३७।

६ न्यायावतारवार्तिक वृत्ति, पृ० १७०

७ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २५६

मिथ्यात्व त्रिपु वोधेपु, दृष्टि मोहोदयाद् भवेत्॥
यथा सरजसालावूफलस्य कटुकत्वत।
क्षिप्तस्य पयसो दृष्ट, कटुभावस्तथाविध॥
तथात्मनोपि मिथ्यात्वपरिणामे सतीष्यते।
मत्यादिसविदाक् ताक्, मिथ्यात्व कस्यचित् सदा॥

अर्थ-बोध ज्ञान की योग्यता से नही होता, किन्तु उसके व्यापार से होता है। सिद्धान्त की भाषा मे लब्धिप्रमाण नही होता। प्रमाण होता है उपयोग। लब्धि (ज्ञानावरण विलयजन्य आत्म-योग्यता) शुद्ध ही होती है। उसका उपयोग शुद्ध या अशुद्ध (यथार्थ या अयथार्थ) दोनो प्रकार का होता है। दोषपूर्ण ज्ञानसामग्री ज्ञानावरण के उदय का निमित्त बनती है। ज्ञानावरण के उदय से प्रमाता मूढ़ बन जाता है। यही कारण है कि वह ज्ञानकाल मे प्रवृत्त होने पर भी ज्ञेय की यथार्थता को नही जान पाता।

सशय और विपर्यय के काल मे प्रमाता जो जानता है वह ज्ञानावरण का परिणाम नही किन्तु वह यथार्थ नही जान पाता, वह अज्ञान ज्ञानावरण का परिणाम है। समारोपज्ञान मे अज्ञान (यथार्थ-ज्ञान के अभाव) की मुख्यता होती है, इसलिए मुख्यवृत्ति से उसे ज्ञानावरण के उदय का परिणाम कहा जाता है। वस्तुवृत्त्या जितना ज्ञान का व्यापार है, वह ज्ञानावरण के विलय का परिणाम है और उसमे जितना यथार्थज्ञान का अभाव है, यह ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है।[1]

अयथार्थ ज्ञान के दो पहलू

अयथार्थ ज्ञान के दो पक्ष होते हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। आध्यात्मिक विपर्यय को मिथ्यात्व और आध्यात्मिक सशय को मिश्र मोह कहा जाता है। इनका उद्भव आत्मा की मोह दशा से होता है। इससे श्रद्धा विकृत होती है।

व्यावहारिक सशय और विपयय का नाम है 'समारोप'। यह ज्ञानावरण के उदय से होता है। इससे ज्ञान यथाथ नही होता।

पहला पक्ष दृष्टि-मोह है और दूसरा पक्ष ज्ञान-मोह। इनका भेद समझाते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"तत्त्व श्रद्धा मे विपर्यय होने पर मिथ्यात्व होता है। अन्यत्र विपर्यय होता है, तब ज्ञान सत्य होता है किन्तु वह मिथ्यात्व नही बनता।"[2]

दृष्टि-मोह मिथ्यादृष्टि के ही होता है। ज्ञान-मोह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि—दोनो के होता है। दृष्टि-मोह मिथ्यात्व है, किन्तु अज्ञान नही। मिथ्यात्व मोह-जनित होता है[3] और अज्ञान (मिथ्यादृष्टि का ज्ञान) ज्ञानावरण-विलय (क्षयोपशम) जनित।[4] श्रद्धा का विपर्यय मिथ्यात्व से होता ह, अज्ञान से नही।

मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्तर बताते हुए जयाचार्य ने लिखा है—"अज्ञानी

१ भगवती जोड, ३।६।६८ गाथा ५१-५४
२ इन्द्रियवादी री चोपई, ७-९
३ प्रज्ञापना, पद २३
४ अनुयोगद्वार, १२६

भूमिका के अधिकारी की भांति सम्यग्-मिथ्या-दृष्टि नही कहलाता। मिथ्यादृष्टि के साथ सम्यग्-दर्शन का उल्लेख नही होता, यह उसके दृष्टि-विपर्यय की प्रधानता का परिणाम है किन्तु इसका यह अर्थ नही कि उसमे सम्यग्-दर्शन का अश नही होता। सम्यग्-दर्शन का अश होने पर भी वह सम्यग्दृष्टि इसलिए नही कहलाता कि उसके दृष्टि-मोह का अपेक्षित विलय नही होता।

वस्तुवृत्त्या तत्त्वो की सप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप नही है। सम्यक्त्व दृष्टि मोह-रहित आत्म-परिणाम है और मिथ्यात्व दृष्टि मोह-सवलित आत्म-परिणाम।[1] तत्त्वो का सम्यग् और असम्यग् श्रद्धान उनके फल हैं।[2]

प्रमाता दृष्टि-मोह से वद्ध नही होता, तव उसका तत्त्व-श्रद्धान यथार्थ होता है और उससे वद्धदशा मे वह यथार्थ नही होता। आत्मा के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणाम तात्त्विक सम्प्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति के द्वारा स्थूलवृत्त्या अनुमेय हैं।

आचार्य विद्यानन्द के अनुसार अज्ञानत्रिक मे दृष्टि-मोह के उदय से मिथ्यात्व होता है किन्तु इसका अर्थ यह नही कि तीन वोध (मति, श्रुत और विभग) मिथ्यात्व स्वरूप ही होते हैं।[3]

उक्त विवेचन के फलित ये हैं—

१ तात्त्विक-विपर्यय दृष्टि-मोह के उदय का परिणाम है।

२ व्यावहारिक-विपर्यय ज्ञानावरण के उदय का परिणाम ह।

प्रमाण-सख्या

प्रमाण की सख्या सव दर्शनो मे एक-सी नही है।

नास्तिक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं।

वैशेषिक दो—प्रत्यक्ष और अनुमान।

साख्य तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

नैयायिक चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान।

मीमासा (प्रभाकर) पाच—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति।

---

१ भगवती ८।२ वृत्ति
मिथ्यात्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयक्षयोपशमसमुत्थे आत्मपरिणामे।

२ धर्मप्रकरण, अधिकरण २।
तत्त्वाधश्रद्धान सम्यक्त्वस्य कार्यम्, सम्यक्त्व तु मिथ्यात्वक्षयोपशमादिजन्य शुभ आत्म-परिणामविशेष।

३ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २५६।

समारोप का निमित्त ज्ञान-मोह हो सकता है किन्तु दृष्टि-मोह नही। उसका सम्बन्ध सिर्फ तात्त्विक विप्रतिपत्ति से है।

तीन अज्ञान—मति, श्रुत और विभग तथा तीन ज्ञान—मति, श्रुत और अवधि ये विपर्यय नही हैं। इन दोनो त्रिको की ज्ञानावरण-विलयजन्य योग्यता मे द्विरूपता नही है।[1] अन्तर केवल इतना आता है कि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित होता है, इसलिए उसे अज्ञान सज्ञा दी जाती है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित नही होता इसलिए उनकी सज्ञा ज्ञान रहती है। ज्ञान जो अज्ञान कहलाता है, वह मिथ्यात्व के साहचर्य का परिणाम है। किन्तु मिथ्यात्वी का ज्ञानमात्र विपरीत होता है अथवा उसका अज्ञान और मिथ्यात्व एक है, ऐसी बात नही है।

तत्त्वार्थसूत्र (१—३२, ३३) और उसके भाष्य तथा विशेषावश्यक भाष्य मे अज्ञान का हेतु सत्-असत् का अविशेष बतलाया है।[2] इससे भी यह फलित नहीं होता कि मिथ्या-दृष्टि का ज्ञान मात्र विपरीत है या उसका ज्ञान विपरीत ही होता है, इसलिए उसकी सज्ञा अज्ञान है। सत्-असत् के अविशेष का सम्बन्ध उसकी यदृच्छोपलब्ध या तात्त्विक प्रतिपत्ति से है। मिथ्या-दृष्टि की तत्त्व-श्रद्धा या तत्त्व-उपलब्धि यादृच्छिक या अनालोचित होती है, वहा उसके मिथ्यात्व या उन्माद होता है किन्तु उसके इन्द्रिय और मानस का विषय-बोध मिथ्यात्व या उन्माद नही होता। वह मिथ्यात्व से अप्रभावित होता है—केवल ज्ञानावरण के विलय से होता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि मे सत्-असत् का विवेक होता ही नही, यह एकान्त भी कर्म-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। दृष्टि मोह के उदय से उसकी तात्त्विक प्रतिपत्ति मे उन्माद आता है, उससे उसकी दृष्टि या श्रद्धा मिथ्या बनती है, किन्तु उसमे दृष्टि-मोह का विलय भी होता है। ऐसा कोई भी प्राणी नही होता, जिसमे दृष्टि-मोह का न्यूनाधिक विलय (क्षयोपशम) न मिले।[3]

मिश्रदृष्टि तत्त्व के प्रति सशयितदशा है और मिथ्यादृष्टि विपरीत सज्ञान। सशयितदशा मे अतत्त्व का अभिनिवेश नही होता और विपरीत सज्ञान मे वह होता है, इसलिए पहली भूमिका का अधिकारी अशत सम्यग्-दर्शनी होते हुए भी तीसरी

---

१ अनुयोगद्वार, १२६
खओवसमिआ आभिणीबोहियणाणलद्धी जाव खओवसमिआ मणपज्जवणाणलद्धी। खओवसमिआ मइ अण्णाणलद्धी, खओवसमिआ सुय अण्णाणलद्धी खओवसमिआ विभग अण्णाणलद्धी।

२ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ११५
सदसद् विसेसणाओ, भवहेउ जदिच्छिओवलभाओ।
णाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाण॥

३ भगवती, २४।२१

आधार वनता है।

१ पदार्थ को जो सहाय-निरपेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण है और २ जो सहाय-सापेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह परोक्ष-प्रमाण है। स्वनिर्णय मे प्रत्यक्ष ही होता है। उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो भेद पदार्थ-निर्णय के दो रूप—साक्षात् और अ-साक्षात् की अपेक्षा से होते हैं।

'प्रत्यक्ष और परोक्ष' प्रमाण की कल्पना जैन न्याय की विशेष सूझ है। इन दो दिशाओ मे सव प्रमाण समा जाते है। उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के भेद किए जाते हैं किन्तु भेद उतने ही होने चाहिए जितने अपना स्वरूप असकीर्ण रख सकें। फिर भी जिनमे यथार्थता है, उन्हे प्रमाणभेद मानने मे समन्वयवादी जैनो को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। प्रत्यक्ष और परोक्ष का उदर इतना विशाल है कि उसमे प्रमाणभेद समाने मे किंचित् भी कठिनाई नही होती।
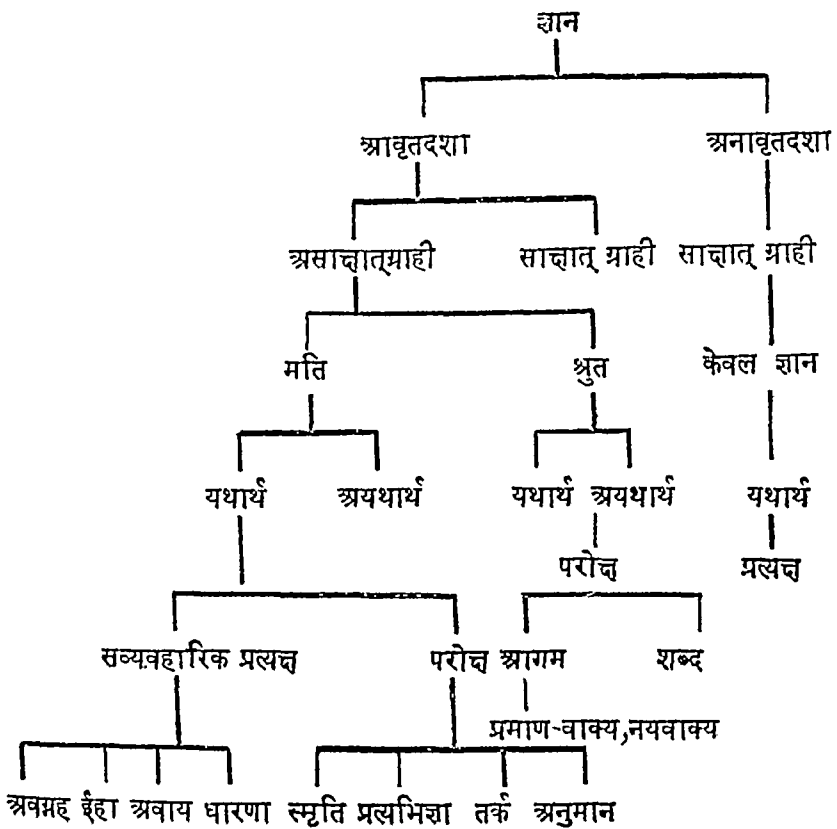
मीमांसा (भट्ट, वदान्त) छह्—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।

पौराणिक—इनके अतिरिक्त सम्भव, ऐतिह्य और प्रातिभ।

जैन दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रमाण-भेद का निमित्त

आत्मा का स्वरूप केवलज्ञान है। केवलज्ञान—पूर्णज्ञान अथवा एक ज्ञान। वादलो मे ढके हुए सूर्य के प्रकाश मे जैसे तारतम्य होता है, वैसे ही कर्म-मलावरण से ढकी हुई आत्मा में ज्ञान का तारतम्य होता है। कर्ममल के आवरण और वनावरण के आधार पर ज्ञान के अनेक रूप वनते हैं। प्रश्न यह है कि किस ज्ञान को प्रमाण मानें ? इसके उत्तर मे जैन-दृष्टि यह है कि जितने प्रकार के ज्ञान (इन्द्रियज्ञान, मानसज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान) हैं, वे सब प्रमाण वन सकते हैं। शर्त केवल यही है कि वे यथाथ से अवच्छिन्न होने चाहिए—ज्ञानसामान्य मे खीची हुई यथार्थता की भेद-रेखा का अतिक्रमण नही होना चाहिए। फलत जितने यथार्थ ज्ञान उतने ही प्रमाण। यह एक लम्वा-चौडा निर्णय हुआ। वात सही है, फिर भी सबके लिए कठिन है, इसलिए इसे समेटकर दो भागो मे वाट दिया। वाटने मे एक कठिनाई थी। ज्ञान का स्वरूप एक है, फिर उसे कैसे वाटा जाए ? इसका समाधान यह मिला कि विकास-मात्रा (अनावृत दशा) के आधार पर उसे वाटा जाए। ज्ञान के पाच स्थूल भेद हुए—

१	मतिज्ञान—इन्द्रिय ज्ञान, मानस ज्ञान	ऐन्द्रियिक
२	श्रुतज्ञान—शब्दज्ञान	
३	अवधिज्ञान—मूर्त पदार्थ का ज्ञान	अतीन्द्रिय
४	मन पयवज्ञान—मानसिक भावना का ज्ञान	
५	केवलज्ञान—समस्त द्रव्य-पर्याय का ज्ञान, पूर्णज्ञान	

अव प्रश्न रहा, प्रमाण का विभाग कैसे किया जाय ? ज्ञान केवल आत्मा का विकास है। प्रमाण पदार्थ के प्रति ज्ञान का सही व्यापार है। ज्ञान आत्मनिष्ठ है। प्रमाण का सम्वन्ध अन्तर्जगत् और वहिर्जगत् दोनो से है। वहिर्जगत् की यथार्थ घटनाओ को अन्तर्जगत् तक पहुचाए, यही प्रमाण का जीवन है। वहिर्जगत् के प्रति ज्ञान का व्यापार एक-सा नही होता। ज्ञान का विकास प्रवल होता है, तव वह बाह्य साधन की सहायता लिए विना ही विषय को जान लेता है। विकास कम होता है, तव वाह्य साधन का सहारा लेना पडता है। वस यही प्रमाण-भेद का

३

प्रत्यक्ष-प्रमाण

प्रत्यक्ष

'नहि दृष्टे अनुपपन्न नाम'—प्रत्यक्ष-सिद्ध के लिए युक्ति की कोई आवश्यकता नही होती। स्वरूप की अपेक्षा ज्ञान मे कोई अन्तर नही है। यथार्थता के क्षेत्र मे प्रत्यक्ष और परोक्ष का स्थान न्यूनाधिक नही है। अपने-अपने विषय मे दोनो तुल्यवल हैं। सामर्थ्य की दृष्टि से दोनो मे वडा अन्तर है। प्रत्यक्ष ज्ञप्तिकाल मे स्वतन्त्र होता है और परोक्ष साधन-परतन्त्र। फलत प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यवहित (साक्षात्) सम्वन्ध होता है और परोक्ष का व्यवहित (दूसरे के माध्यम से)।

प्रत्यक्ष-परिवार

प्रत्यक्ष की दो प्रधान शाखाए हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष। पहली परामार्थाश्रयी है, इसलिए यह वास्तविक प्रत्यक्ष है और दूसरी व्यवहाराश्रयी है, इसलिए यह औपचारिक प्रत्यक्ष है।

आत्म-प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—केवलज्ञान—पूर्ण या सकल-प्रत्यक्ष, और नो-केवलज्ञान—अपूर्ण या विकल-प्रत्यक्ष।

नो-केवलज्ञान के दो भेद हैं—अवधि और मन पर्यव।

इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं—

१ अवग्रह
२ ईहा
३ अवाय
४. धारणा

प्रमाण-विभाग

प्रमाण के मुख्य भेद दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—व्यवहार-प्रत्यक्ष और परमार्थ-प्रत्यक्ष। व्यवहार-प्रत्यक्ष के चार विभाग हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। परमार्थ-प्रत्यक्ष के तीन विभाग हैं—केवल, अवधि और मन पर्यव। परोक्ष के पाच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।

पहलुओ का निश्चय होता है। निश्चय की तीन सीमाए हैं—

१ दृश्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय—अर्थमात्र-ग्रहण।

२ आलोचनात्मक निश्चय—स्वरूप-विमर्श।

३ अपायात्मक निश्चय—स्वरूप-निर्णय।

इनकी पृष्ठभूमि मे दो बातें अपेक्षित हैं—

१ इन्द्रियो और पदार्थ का उचित स्थान मे योग (सन्निकर्ष या सामीप्य)।

२ दर्शन—निर्विकल्प-बोध, सामान्य मात्र (सत्तामात्र) का ग्रहण।

पूरा क्रम यो बनता है—

१ इन्द्रिय और अर्थ का उचित योग—शब्द और श्रोत्र का सन्निकर्ष।

२ निर्विकल्प बोध द्वारा सत्ता मात्र का ज्ञान। जैसे—'है'।

३ ग्राह्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय। जैसे—'यह वस्तु है'।

४ आलोचनात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द होना चाहिए'।

५ अपायात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द ही है'। यहा निश्चय की पूर्णता होती है।

६ निश्चय की धारणा। जैसे—'तद्रूप शब्द ही होता है'। यहा व्यवहार प्रत्यक्ष समाप्त हो जाता है।

अवग्रह

अवग्रह का अर्थ है—पहला ज्ञान। इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध होते ही 'सत्ता है' का बोध जाग उठता है। प्रमाता इसे जान नही पाता। इसमे विशेष धर्म का बोध नही होता, इसलिए प्रमाण नही कहा जा सकता। फिर भी वह उत्तर-भावी-अवग्रह प्रमाण का परिणामी कारण है। इसके बाद स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र का व्यजन-अवग्रह होता है। 'व्यजन' के तीन अर्थ हैं—

१ शब्द आदि पुद्गल द्रव्य।

२ उपकरण इन्द्रिय—विषय-ग्राहक इन्द्रिय।

३ विषय और उपकरण इन्द्रिय का सयोग।

व्यजन-अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है।[1] प्रमाता अब भी नही जानता। इसके बाद होता है—अर्थ का अवग्रह।

अर्थ शब्द के दो अर्थ होते है—द्रव्य (सामान्य) और पर्याय (विशेष)। अवग्रह आदि पर्याय के द्वारा द्रव्य को ग्रहण करते हैं, पूर्ण द्रव्य को नही जान सकते। इन्द्रिया अपने-अपने विषयभूत वस्तु-पर्यायो को जानती है और मन भी

---

१ स्थानागवृत्ति पत्र ४७
व्यजनावग्रहकालेऽपि ज्ञानमस्त्येव, सूक्ष्माव्यक्तत्वात्तु नोपलभ्यते सुप्ताव्यक्तविज्ञानवत्।

है। जैन-दृष्टि मे आत्मा ज्ञान का अधिकरण नही, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है। इसीलिए कहा जाता है—चेतन आत्मा का जो निरावरण-स्वरूप है, वही केवल-ज्ञान है। वास्तव मे 'केवल' व्यतिरिक्त कोई ज्ञान नही है। वाकी के सव ज्ञान इसी की आवरण-दशा के तारतम्य से वनते है। जयाचार्य ने ज्ञान के भेद-अभेद की मीमासा करते हुए समझाया है—"माना कि एक चादी की चौकी धूल से ढकी हुई है। उसके किनारो पर से धूल हटने लगी। एक कोना दीखा, हमने एक चीज मान ली। दूसरा दीखा तव दो, इसी प्रकार तीसरे और चौथे कोने के दीखने पर चार चीजें मान ली। वीच मे से धूल नही हटी, इसलिए उन चारो की एकता का हमे पता नहीं लगा। ज्यो ही वीच की धूल हटी, चौकी सामने आयी। हमने देखा कि वे चारो चीजें उसी एक मे समा गई हैं। ठीक वैसे ही केवलज्ञान ढका रहता है तव तक उसके अल्प-विकसित छोरो को भिन्न-भिन्न ज्ञान माना जाता है। आवरण-विलय (घातिकर्म चतुष्टय का क्षय) होने पर जव केवलज्ञान प्रकट होता है, तव ज्ञान के छोटे-छोटे सव भेद उसमे विलीन हो जाते है। फिर आत्मा मे सव द्रव्य और द्रव्यगत सव परिवर्तनो को साक्षात् करनेवाला एक ही ज्ञान रहता है, वह है केवलज्ञान। त्रिकालवर्ती प्रमेय इसके विषय वनते है, इसलिए यह पूर्ण-प्रत्यक्ष कहलाता है। इसकी आवृत दशा मे अवधि और मन पर्यव अपूर्ण (विकल) प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

व्यवहार-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय और मन का ज्ञान अल्प-विकसित होता है, इसलिए पदार्थ के ज्ञान मे उनका एक निश्चित क्रम रहता है। हमे उनके द्वारा पहले-पहल वस्तु मात्र—सामान्य रूप या एकता का वोध होता है। उसके वाद क्रमश वस्तु की विशेष अवस्थाए या अनेकता जानी जाती हैं। एकता का वोध सुलभ और अल्पसमय-लभ्य होता है। उस दशा मे अनेकता का वोध यत्नसाध्य और दीर्घकाललभ्य होता है। उदाहरणस्वरूप—गाव है, वन है, सभा है, पुस्तकालय है, घडा है, कपडा है—यह वोध हजार घर हैं, सौ वृक्ष हैं, चार सौ आदमी हैं, दस हजार पुस्तकें हैं, अमुक-परिमाण मृत् कण हैं, अमुक परिमाण तन्तु हैं—से पहले और सहज-सरल होता है। 'आम एक वृक्ष है'—इससे पहले वृक्षत्व का वोध होना आवश्यक है। आम पहले वृक्ष है और वाद मे आम।

विशेष का वोध सामान्यपूर्वक होता है। सामान्य व्यापक होता है और विशेष व्याप्य। धर्मी अनेक धर्मो का, अवयवी अनेक अवयवो का, समष्टि अनेक व्यक्तियो का पिण्ड होता है।

एकता का रूप स्थूल और स्पष्ट होता है, इसलिए हमारा स्थूल ज्ञान पहले उसी को पकडता है। अनेकता का रूप सूक्ष्म और अस्पष्ट होता है, इसलिए उसे जानने के लिए विशेष मनोयोग लगाना पडता है। फिर क्रमश पदार्थ के विविध

पहलुओ का निश्चय होता है। निश्चय की तीन सीमाए हैं—

१ दृश्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय—अर्थमात्र-ग्रहण।

२ आलोचनात्मक निश्चय—स्वरूप-विमर्श।

३ अपायात्मक निश्चय—स्वरूप-निर्णय।

इनकी पृष्ठभूमि मे दो वातें अपेक्षित हैं—

१. इन्द्रियो और पदार्थ का उचित स्थान मे योग (सन्निकर्ष या सामीप्य)।

२ दर्शन—निर्विकल्प-वोध, सामान्य मात्र (सत्तामात्र) का ग्रहण।

पूरा क्रम यो वनता है—

१ इन्द्रिय और अर्थ का उचित योग—शब्द और श्रोत्र का सन्निकर्ष।

२ निर्विकल्प वोध द्वारा सत्ता मात्र का ज्ञान। जैसे—'है'।

३ ग्राह्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय। जैसे—'यह वस्तु है'।

४ आलोचनात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द होना चाहिए'।

५ अपायात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द ही है'। यहा निश्चय की पूर्णता होती है।

६ निश्चय की धारणा। जैसे—'तद्रूप शब्द ही होता है'। यहा व्यवहार प्रत्यक्ष समाप्त हो जाता है।

अवग्रह

अवग्रह का अर्थ है—पहला ज्ञान। इन्द्रिय और वस्तु का सम्वन्ध होते ही 'सत्ता है' का वोध जाग उठता है। प्रमाता इसे जान नही पाता। इसमे विशेष धर्म का वोध नही होता, इसलिए प्रमाण नही कहा जा सकता। फिर भी वह उत्तर-भावी-अवग्रह प्रमाण का परिणामी कारण है। इसके वाद स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र का व्यजन-अवग्रह होता है। 'व्यजन' के तीन अर्थ हैं—

१ शब्द आदि पुद्गल द्रव्य।

२ उपकरण इन्द्रिय—विषय-ग्राहक इन्द्रिय।

३ विषय और उपकरण इन्द्रिय का सयोग।

व्यजन-अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है।[1] प्रमाता अव भी नही जानता। इसके वाद होता है—अर्थ का अवग्रह।

अर्थ शब्द के दो अर्थ होते हैं—द्रव्य (सामान्य) और पर्याय (विशेष)। अवग्रह आदि पर्याय के द्वारा द्रव्य को ग्रहण करते हैं, पूर्ण द्रव्य को नही जान सकते। इन्द्रिया अपने-अपने विषयभूत वस्तु-पर्यायो को जानती हैं और मन भी

---

१ स्थानांगवृत्ति पत्र ४७

व्यजनावग्रहकालेऽपि ज्ञानमस्त्येव, सूक्ष्माव्यक्तत्वात् नोपलभ्यते सुप्ताव्यक्तविज्ञानवत्।

है। जैन-दृष्टि मे आत्मा ज्ञान का अधिकरण नही, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है। इसीलिए कहा जाता है—चेतन आत्मा का जो निरावरण-स्वरूप है, वही केवल-ज्ञान है। वास्तव मे 'केवल' व्यतिरिक्त कोई ज्ञान नही है। बाकी के सब ज्ञान इसी की आवरण-दशा के तारतम्य से बनते हैं। जयाचार्य ने ज्ञान के भेद-अभेद की मीमासा करते हुए समझाया है—"माना कि एक चादी की चौकी धूल से ढकी हुई है। उसके किनारो पर से धूल हटने लगी। एक कोना दीखा, हमने एक चीज़ मान ली। दूसरा दीखा तब दो, इसी प्रकार तीसरे और चौथे कोने के दीखने पर चार चीज़ें मान ली। बीच मे से धूल नही हटी, इसलिए उन चारो की एकता का हमे पता नही लगा। ज्यों ही बीच की धूल हटी, चौकी सामने आयी। हमने देखा कि वे चारो चीज़ें उसी एक मे समा गई हैं। ठीक वैसे ही केवलज्ञान ढका रहता है तब तक उसके अल्प-विकसित छोरो को भिन्न-भिन्न ज्ञान माना जाता है। आवरण-विलय (घातिकर्म चतुष्टय का क्षय) होने पर जब केवलज्ञान प्रकट होता है, तब ज्ञान के छोटे-छोटे सब भेद उसमे विलीन हो जाते हैं। फिर आत्मा मे सब द्रव्य और द्रव्यगत सब परिवर्तनो को साक्षात् करनेवाला एक ही ज्ञान रहता है, वह है केवलज्ञान। त्रिकालवर्ती प्रमेय इसके विषय बनते हैं, इसलिए यह पूर्ण-प्रत्यक्ष कहलाता है। इसकी आवृत दशा मे अवधि और मन पर्यव अपूर्ण (विकल) प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

व्यवहार-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय और मन का ज्ञान अल्प-विकसित होता है, इसलिए पदार्थ के ज्ञान मे उनका एक निश्चित क्रम रहता है। हमे उनके द्वारा पहले-पहल वस्तु मात्र—सामान्य रूप या एकता का बोध होता है। उसके बाद क्रमश वस्तु की विशेष अवस्थाए या अनेकता जानी जाती हैं। एकता का बोध सुलभ और अल्पसमय-लभ्य होता है। उस दशा मे अनेकता का बोध यत्नसाध्य और दीर्घकाललभ्य होता है। उदाहरणस्वरूप—गाव है, वन है, सभा है, पुस्तकालय है, घडा है, कपडा है—यह बोध हज़ार घर हैं, सौ वृक्ष हैं, चार सौ आदमी हैं, दस हज़ार पुस्तकें हैं, अमुक-परिमाण मृत् कण हैं, अमुक परिमाण तन्तु हैं—से पहले और सहज-सरल होता है। 'आम एक वृक्ष है'—इससे पहले वृक्षत्व का बोध होना आवश्यक है। आम पहले वृक्ष है और बाद मे आम।

विशेष का बोध सामान्यपूर्वक होता है। सामान्य व्यापक होता है और विशेष व्याप्य। धर्मी अनेक धर्मो का, अवयवी अनेक अवयवो का, समष्टि अनेक व्यक्तियो का पिण्ड होता है।

एकता का रूप स्थूल और स्पष्ट होता है, इसलिए हमारा स्थूल ज्ञान पहले उसी को पकडता है। अनेकता का रूप सूक्ष्म और अस्पष्ट होता है, इसलिए उसे जानने के लिए विशेष मनोयोग लगाना पडता है। फिर क्रमश पदार्थ के विविध

इसकी विमर्श-पद्धति अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक होती है। ज्ञात वस्तु के प्रतिकूल तथ्यो का निरसन और अनुकूल तथ्यो का सकलन कर यह उसके स्वरूप-निर्णय की परम्परा को आगे वढाता है।

ईहा से पहले सशय होता है पर वे दोनो एक नही हैं। सशय कोरा विकल्प खडा कर देता है, किन्तु समाधान नही करता। ईहा सशय के द्वारा खडे किये हुए विकल्पो को पृथक् करती है। सशय समाधायक नही होता, इसीलिए उसे ज्ञान-क्रम मे नही रखा जाता। अवग्रह मे अर्थ के सामान्य रूप का ग्रहण होता है और ईहा मे उसके विशेष धर्मों (स्वरूप, नाम, जाति आदि) का पर्यालोचन शुरू हो जाता है।

अवाय

ईहा के द्वारा ज्ञात सत्-अर्थ का निर्णय होता है, जैसे—'यह शब्द ही है, स्पर्श नही है'—उसका नाम 'अवाय' है। यह ईहा के पर्यालोचन का समर्थन ही नही करता, किन्तु उसका विशेष अवधानपूर्वक निर्णय भी कर डालता है।

धारणा

अवाय द्वारा किया गया निर्णय कुछ समय के लिए टिकता है और मन के विषयान्तरित होते ही वह चला जाता है। पीछे अपना सस्कार छोड जाता है। वह स्मृति का हेतु होता है।

धारणाकाल मे जो सतत उपयोग चलता है, उसे अविच्युति कहा जाता है। उपयोगान्तर होने पर धारणा वासना के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। यही वासना कारण-विशेष से उद्बुद्ध होकर स्मृति का कारण वनती है। वासना स्वय ज्ञान नही है किन्तु अविच्युति का कार्य और स्मृति का कारण होने से दो ज्ञानो को जोडनेवाली कडी के रूप मे ज्ञान मानी जाती है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष की परम्परा यहा पूरी हो जाती है। इसके वाद स्मृति आदि की परोक्ष परम्परा शुरू होती है।

अवग्रह के दो भेद है—व्यावहारिक और नैश्चयिक।

नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान करानेवाला होता है। इसकी चर्चा ऊपर की गई है। व्यावहारिक अवग्रह विशेषित-सामान्य को ग्रहण करने-वाला होता है। नैश्चयिक अवग्रह के बाद होनेवाले ईहा, अवाय से जिसके विशेष धर्मों की मीमासा हो चुकती है, उसी वस्तु के नये-नये धर्मों की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का काम है। अवाय के द्वारा एक तथ्य का निश्चय होने पर फिर तत्सम्वन्धी दूसरे तथ्य की जिज्ञासा होती है, तव पहले का अवाय व्यावहारिक-अर्थावग्रह बन जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए फिर ईहा और अवाय होते हैं। यह काम तव तक चलता है, जव तक जिज्ञासाए पूरी नही होती।

एक साथ नियत अंश का ही विचार करता है।

अर्थावग्रह व्यंजना से कुछ व्यक्त होता है, जैसे—'यह कुछ है' यह सामान्य अर्थ का ज्ञान है। सामान्य का निर्देश हो सकता है (कहा जा सकता है) जैसे—वन, सेना, नगर आदि-आदि। अर्थावग्रह का विषय अनिर्देश्य-सामान्य होता है—किसी भी शब्द के द्वारा कहा नही जा सके, वैसा होता है। तात्पर्य यह है कि अर्थावग्रह के द्वारा अर्थ के अनिर्देश्य सामान्यरूप का ज्ञान होता है। दर्शन के द्वारा 'सत्ता है' का बोध होता है। अर्थावग्रह के द्वारा 'वस्तु है' का ज्ञान होता है। सत्ता से यह ज्ञान सिर्फ इतना-सा आगे बढ़ता है। इसमें अर्थ के स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य आदि की कल्पना के अन्तर्गत शाब्दिक प्रतीति नही होती।[1] अर्थावग्रह से ज्ञात अर्थ का स्वरूप क्या है, नाम क्या है, वह किस जाति का है, उसकी क्रिया क्या है, गुण क्या है, कौन-सा द्रव्य है, यह नही जाने जाते। इन्हे जाने बिना (स्वरूप आदि की कल्पना के बिना) अर्थ-सामान्य का निर्देश भी नही किया जा सकता। उक्त स्वरूप के आधार पर इसकी यह परिभाषा बनती है—"अनिर्देश्य सामान्य अर्थ को जाननेवाला ज्ञान अर्थावग्रह होता है।"

प्रश्न हो सकता है कि अनध्यवसाय और अर्थावग्रह—दोनो सामान्यग्राही हैं तब एक को अप्रमाण और दूसरे को प्रमाण क्यो माना जाए? उत्तर स्पष्ट है। अनध्यवसाय अर्थावग्रह का ही आभास है। अर्थावग्रह के दो रूप बनते हैं—निर्णयोन्मुख और अनिर्णयोन्मुख। अर्थावग्रह निर्णयोन्मुख होता है, तब प्रमाण होता है और जब वह निर्णयोन्मुख नही होता, अनिर्णय मे ही रुक जाता है, तब वह अनध्यवसाय कहलाता है। इसीलिए अनध्यवसाय का अवग्रह मे समावेश होता है।[2]

ईहा

अवग्रह के बाद संशय ज्ञान होता है। 'यह क्या है—शब्द है अथवा स्पर्श?' इसके अनन्तर ही जो सत्-अर्थ का साधक वितर्क उठता है—'यह श्रोत्र का विषय है, इसलिए 'शब्द होना चाहिए', इस प्रकार अवग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने के लिए विमर्श करनेवाले ज्ञान-क्रम का नाम 'ईहा' है।

---

१ १ स्वरूप—रसना के द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह 'रस' होता है।
  २ नाम—रूप, रस आदि वाचक शब्द।
  ३ जाति—रूपत्व, रसत्व आदि जाति।
  ४ क्रिया—सुखकर, हितकर आदि क्रिया।
  ५ गुण—कोमल, कठोर आदि गुण।
  ६ द्रव्य—पृथ्वी, पानी आदि द्रव्य।

२ विशेषावश्यकभाष्य, वृत्ति, पृ० ३१७
  अनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्रग्राहित्वेन अवग्रहे अन्तर्भवति।

डालता है।

अपरिचित वस्तु के ज्ञान मे इस क्रम का सहज अनुभव होता है। इसमे कोई सन्देह नही, हम एक-एक तथ्य का सकलन करते-करते अन्तिम तथ्य तक पहुचते हैं। परिचित वस्तु को जानते समय हमे इस क्रम का स्पष्ट भान नही होता। इसका कारण है—'ज्ञान का आशु उत्पाद'—शीघ्र उत्पत्ति। वहा भी यह क्रम नही टूटता। क्षणभर मे बिजली-घर से सुदूर तक बिजली पहुच जाती है। वह एक साथ नही जाती। गति मे क्रम होता है, किन्तु गति का वेग अति तीव्र होता है, इसलिए वह सहज बुद्धिगम्य नही होता।

सशय, ईहा और अवाय का क्रम गौतमोक्त सोलह पदार्थगत सशय[1], तर्क[2] और निर्णय के साथ तुलनीय है।[3]

ईहा और तर्क का भेद

परोक्ष प्रमाणगत तर्क से ईहा भिन्न है। तर्क से व्याप्ति (अन्वय-व्यतिरेक का त्रैकालिक नियम) का निर्णय होता है और ईहा से केवल वर्तमान अर्थ का अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक विमर्श होता है।[4]

न्याय के अनुसार अविज्ञात वस्तु को जानने की इच्छा होती है। जिज्ञासा के बाद सशय उत्पन्न होता है। सशयावस्था मे जिस पक्ष की ओर कारण की उत्पत्ति देखने मे आती है, उसी की सम्भावना मानी जाती है और वही सम्भावना तर्क है। 'सशयावस्था मे तर्क का प्रयोजन होता है'—यह लक्षण ईहा के साथ सगति कराने वाला है।

प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

साधारणतया पाच इन्द्रिया समकक्ष मानी जाती हैं किन्तु योग्यता की दृष्टि से चक्षु का स्थान कुछ विशेष है। शेष चार इन्द्रिया अपना विषय ग्रहण करने मे पटु हैं। इस दशा मे चक्षु पटुतर है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ग्राह्य वस्तु से सपृक्त होने पर उसे जानते हैं, इसलिए वे पटु हैं। चक्षु ग्राह्य वस्तु को उचित सामीप्य से ही जान लेता है, इसलिए यह पटुतर है। पटु इन्द्रिया प्राप्यकारी हैं, इसलिए उनका व्यजनावग्रह होता है। चक्षु प्राप्यकारी नही, इसलिए उसका व्यजनावग्रह नही होता।

---

१ न्यायसूत्र, १।१।२३।

२ वही, १।१।४०।

३ वही, १।१।४१।

४ जैन तर्कभाषा

त्रिकालगोचरस्तर्क, ईहा तु वार्तमानिकार्थविषया।

नैश्चयिक अवग्रह की परम्परा—'यह शब्द ही है'—यहा समाप्त हो जाती है। इसके बाद व्यावहारिक-अवग्रह की धारा चलती है। जैसे—

१ व्यावहारिक-अवग्रह—यह शब्द है।
(सशय—पशु का है या मनुष्य का ?

२ ईहा—स्पष्ट भाषात्मक है, इसलिए मनुष्य का होना चाहिए।

३ अवाय—(विशेष परीक्षा के पश्चात्) मनुष्य का ही है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के उक्त आकार मे— 'यह शब्द है', यह अपायात्मक निश्चय है। इसका फलित यह होता है कि नैश्चयिक अवग्रह का अपाय रूप व्यावहारिक अवग्रह का आदि-रूप बनता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक जिज्ञासाए हो सकती है। जैसे—

अवस्था-भेद से—यह शब्द बालक का है या बूढे का ?
लिंग-भेद से—स्त्री का है या पुरुष का ? आदि-आदि।

व्यवहार-प्रत्यक्ष का क्रमविभाग

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम। अर्थ-ग्रहण के बाद ही विचार हो सकता है, विचार के बाद ही निश्चय और निश्चय के बाद ही धारणा। इसलिए ईहा अवग्रहपूर्वक होती है, अवाय ईहापूर्वक और धारणा अवायपूर्वक।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के ये विभाग निर्हेतुक नही हैं। यद्यपि ये एक-वस्तु-विषयक ज्ञान की धारा के अविरल रूप हैं, फिर भी उनकी अपनी विशेष स्थितिया हैं, जो उन्हे एक-दूसरे से पृथक् करती हैं।

१ 'यह कुछ है'—इतना-सा ज्ञान होते ही प्रमाता दूसरी बात मे ध्यान देने लगा, बस वह फिर आगे नही बढता। इसी प्रकार 'यह अमुक होना चाहिए'—यह अमुक ही है'—यह भी एक-एक हो सकते हैं। यह एक स्थिति है जिसे 'असामस्त्येन उत्पत्ति' कहा जाता है।

२ दूसरी स्थिति है—'क्रमभावित्व'—धारा-निरोध। इनकी धारा अन्त तक चले, यह कोई नियम नही किन्तु जब चलती है तब क्रम का उल्लघन नही होता। 'यह कुछ है' इसके बिना 'यह अमुक होना चाहिए'—यह ज्ञान नही होता। 'यह अमुक होना चाहिए'—इसके बिना 'यह अमुक ही है' यह नही जाना जाता। 'यह अमुक ही है'—इसके बिना धारणा नही होती।

३ तीसरी स्थिति है—'क्रमिक प्रकाश'। ये एक ही वस्तु के नये-नये पहलुओ पर प्रकाश डालते है। इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि अपने-अपने विषय मे इन सबकी निर्णायकता है, इसलिए ये सब प्रमाण हैं। अवाय स्वतन्त्र निर्णय नही करता। ईहा के द्वारा ज्ञात अश की अपेक्षा से ही उस पर विशेष प्रकाश

अवग्रह आदि का कालमान

व्यजनावग्रह—असख्य समय।

अर्थावग्रह—एक समय।

ईहा—अन्तर्-मुहूर्त।

अवाय—अन्तर्-मुहूर्त।

धारणा—सख्येय काल और असख्येय काल।

मति के दो भेद हैं—श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित।[1] श्रुत-निश्रित मति के २८ भेद हैं, जो व्यवहार-प्रत्यक्ष कहलाते हैं।[2] औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय अश्रुत-निश्रित है।[3] नन्दी मे श्रुत-निश्रित मति के २८ भेदो का विवरण है। अश्रुत-निश्रित के चार भेदो का इनमे समावेश होता है या नही इसकी कोई चर्चा नही। मति के २८ भेद वाली परम्परा सर्वमान्य है किन्तु २८ भेदो की स्वरूप-रचना मे दो परम्पराए मिलती हैं। एक परम्परा अवग्रह-अभेदवादियो की है। इसमे व्यजनावग्रह की अर्थावग्रह से भिन्न गणना नही होती, इसलिए श्रुत-निश्रित मति के २४ भेद और अश्रुत-निश्रित के चार—इस प्रकार मति के २८ भेद वनते हैं।[4]

दूसरी परम्परा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की है। इसके अनुसार अवग्रह आदि चतुष्टय अश्रुत-निश्रित और श्रुत-निश्रित मति के सामान्य धर्म है, इसलिए भेद-गणना मे अश्रुत-निश्रित मति श्रुत-निश्रित मे समाहित हो जाती है।[5] फलस्वरूप व्यवहार प्रत्यक्ष के २८ भेद और मति के २८ भेद एक-रूप बन जाते हैं। इसका आधार स्थानाग है। वहा व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह की श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित—इन दोनो भेदो मे गणना की है। अश्रुत-निश्रित बुद्धि-चतुष्टय मानस ज्ञान होता है। उसका व्यजनावग्रह नही होता, इससे फलित होता है कि बुद्धि-चतुष्टय के अतिरिक्त भी अवग्रह आदि चतुष्क अश्रुत-निश्रित होता है।

---

१ नदी, सूत्र ३७।

२ वही, सूत्र ३९-४८।

३ वही, सूत्र ३८।

४ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा, ३०१, ३०२

केई त्तु वजणोग्गहवज्जेच्छोढूण मेयम्मि॥
अस्सुय निस्सियमेव अट्ठावीस विह ति भासति।
जमवग्गहो दुभेओऽवग्गह सामण्णओ गहिओ॥

५ वही, गाथा ३०३।

व्यजनावग्रह सम्पर्कपूर्वक होनेवाला अव्यक्त ज्ञान है। अर्थावग्रह उसी का चरम अश है। पटु इन्द्रिया एक साथ विषय को पकड नही सकती। व्यजनावग्रह के द्वारा अव्यक्त ज्ञान होते-होते जब वह पुष्ट हो जाता है, तब उसको अर्थ का अवग्रह होता है। चक्षु अपना विषय तत्काल पकड लेता है, इसलिए उसे पूर्वभावी अव्यक्त ज्ञान की अपेक्षा नही होती।

मन की भी यही बात है। वह चक्षु की भाति व्यवहित पदार्थ को जान लेता है, इसलिए उसे भी व्यजनावग्रह की अपेक्षा नहीं होती।

बौद्ध श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक चक्षु और मन को अप्राप्यकारी नही मानते। उक्त दोनो दृष्टियो से जैन-दृष्टि भिन्न है।

श्रोत्र व्यवहित शब्द को नहीं जानता। जो शब्द श्रोत्र से सपृक्त होता है, वही उसका विषय बनता है। इसलिए श्रोत्र अप्राप्यकारी नही हो सकता। चक्षु और मन व्यवहित पदार्थ को जानते हैं, इसलिए वे प्राप्यकारी नही हो सकते। इनका ग्राह्य वस्तु के साथ सम्पर्क नही होता।

विज्ञान के अनुसार—

चक्षु मे दृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिविम्ब पडता है। उससे चक्षु को अपने विषय का ज्ञान होता है। नैयायिको की प्राप्यकारिता का आधार है चक्षु की सूक्ष्म-रश्मियो का पदार्थ से सपृक्त होना। विज्ञान इसे स्वीकार नही करता। वह आख को एक वढिया कैमरा मानता है। उसमे दूरस्थ वस्तु का चित्र अकित हो जाता है। जैन दृष्टि की अप्राप्यकारिता मे इससे कोई वाधा नही आती। कारण कि विज्ञान के अनुसार चक्षु का पदार्थ के साथ सम्पर्क नहीं होता। काच स्वच्छ होता है, इसलिए उसके सामने जो वस्तु आती है, उसकी छाया काच मे प्रतिविम्वित हो जाती है। ठीक यही प्रक्रिया आख के सामने कोई वस्तु आने पर होती है। काच मे पडनेवाला वस्तु का प्रतिविम्व और वस्तु एक नही होते, इसलिए काच उस वस्तु से सपृक्त नही कहलाता। ठीक यही वात आख के लिए है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के २८ भेद—

	अवग्रह		ईहा	अवाय	धारणा
स्पर्शन	व्यजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	व्यजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
घ्राण	व्यजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
चक्षु	×	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
श्रोत्र	व्यजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
मन	×	अर्थावग्रह	इहा	अवाय	धारणा

४

परोक्ष-प्रमाण

परोक्ष

१ इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह 'आत्म-परोक्ष' है।

आत्मा—इन्द्रिय ज्ञान—पौद्‌गलिक-इन्द्रिय—पदार्थ।

२ धूम आदि की सहायता से अग्नि आदि का जो ज्ञान होता है, वह 'इन्द्रिय-परोक्ष' है।

आत्मा—इन्द्रिय—धूम—अग्नि।

पहली परिभाषा नैश्चयिक है। इसके अनुसार सव्यवहार-प्रत्यक्ष को वस्तुत परोक्ष माना जाता है।

मति और श्रुत—ये दोनो ज्ञान आत्म-निर्भर नही हैं, इसलिए ये परोक्ष कहलाते हैं। मति साक्षात्-रूप मे पौद्‌गलिक-इन्द्रिय और मन के और परम्परा के रूप मे अर्थ और आलोक के अधीन होती है। श्रुत साक्षात्-रूप मे मन के और परम्परा के रूप मे शब्द-सकेत तथा इन्द्रिय (मति-ज्ञानाश) के अधीन होता है। मति मे इन्द्रिय और मन की अपेक्षा समकक्ष है, श्रुत मे मन का स्थान पहला है।

मति के दो साधन हैं—इन्द्रिय और मन। मन द्विविध-धर्मा है—अवग्रह आदि धर्मवान् और स्मृत्यादि धर्मवान्। इस स्थिति मे मति दो भागो मे वट जाती है—व्यवहार-प्रत्यक्ष मति और परोक्ष मति। इन्द्रियात्मक और अवग्रहादि धर्मक मनरूप मति व्यवहार-प्रत्यक्ष है, जिसका स्वरूप प्रत्यक्ष-विभाग मे बतलाया जा चुका है।

स्मृत्यादि धर्मक मन रूप परोक्ष-मति के चार विभाग होते हैं—

नदी के अनुसार अवग्रहादि चतुष्क केवल श्रुत-निश्रित है। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार वह श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित दोनो है। स्थानाग के अनुसार वह दोनो तो है ही, विशेष बात यह है कि बुद्धि-चतुष्टय मे होनेवाला अवग्रहादि चतुष्क ही अश्रुत-निश्रित नही किन्तु उसके अतिरिक्त भी अवग्रहादि चतुष्क अश्रुत-निश्रित होता है।

अकुशल व्यक्ति सम्भव-सत्य से सत्य ढूढता है। न्यायाधीश अनुमानित-सत्य से सत्य का पता लगाते हैं। दार्शनिक का न्याय इन दोनो से भिन्न है। वह ध्रुव-सत्य—व्याप्ति के द्वारा सत्य की शोध करता है। ध्रुव-सत्य नियमो की निश्चित जानकारी तर्क है। उसके द्वारा निश्चित नियमो के अनुसार अनुमान होता है।

तर्क का प्रयोजकत्व

'स्वभावे तार्किका भग्ना'—स्वभाव के क्षेत्र मे तर्क का कोई प्रयोजन नही होता। इसीलिए जैन-दर्शन मे दो प्रकार के पदार्थ माने जाते हैं—हेतुगम्य (तर्क-गम्य) और अहेतुगम्य (तर्क-अगम्य)।

पहली वात—तर्क का अपना क्षेत्र कार्य-कारणवाद या अविनाभाव या व्याप्ति है। व्याप्ति का निश्चय तर्क के विना और किसी से नही होता। इसका निश्चय अनुमान से किया जाए तो उसकी (व्याप्ति के निश्चय के लिए प्रयुक्त अनुमान की) व्याप्ति के निश्चय के लिए फिर एक दूसरे अनुमान की आवश्यकता होगी। कारण यह है कि अनुमान व्याप्ति का स्मरण होने पर ही होता है। साधन और साध्य के सम्बन्ध का निश्चय होने पर ही साध्य का ज्ञान होता है।

पहले अनुमान की व्याप्ति 'ठीक है या नही' इस निश्चय के लिए दूसरा अनुमान आये तो दूसरे अनुमान की वही गति होगी और उसकी व्याप्ति का निर्णय करने के लिए फिर तीसरा अनुमान आयेगा। इस प्रकार अनुमान-परम्परा का अन्त नही होगा। यह अनवस्था का रास्ता है। इससे कोई निर्णय नही मिलता।

दूसरी वात—व्याप्ति अपने निश्चय के लिए अनुमान का सहारा ले और अनुमान व्याप्ति का—यह अन्योन्याश्रय दोप है। अपने-अपने निश्चय मे परस्पर एक-दूसरे के आश्रित होने का अर्थ है—अनिश्चय। जिसका यह घोडा है, मैं उसका सेवक हू और जिसका मैं सेवक हू उसका यह घोडा है—इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ भी समझ मे नही आया। इसलिए व्याप्ति का निश्चय करने के लिए तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है।

अनुमान

अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित नियम के आधार पर यह उत्पन्न होता है। पर्वत सिद्ध होता है और अग्नि भी। अनुमान इन्हे नही साधता। वह 'इस पर्वत मे अग्नि है' (अग्निमानय पर्वत) इसे साधता है। इस सिद्धि का आधार व्याप्ति है।

अनुमान का परिवार

तर्कशास्त्र के वीज का विकास अनुमानरूपी कल्पतरु के रूप मे होता है।

तर्क

नैयायिक तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक या सहायक मानते हैं।[1] बौद्ध इसे अप्रमाण मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार यह परोक्ष प्रमाण का एक भेद है। यह प्रत्यक्ष मे नही समाता। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है किन्तु वह उनके सम्बन्ध मे कोई नियम नही बनाता।

यह अग्नि है, यह धुआ है—यह प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु—

१ धूम होने पर अग्नि अवश्य होती है। २ धूम अग्नि मे ही होता है।	अन्वय-व्याप्ति
३ अग्नि के अभाव मे धूम नही होता।	व्यतिरेक-व्याप्ति

—यह प्रत्यक्ष का काम नही, तर्क का है।

हम प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की सहायता से अनेक प्रामाणिक नियमो की सृष्टि करते हैं। वे ही नियम हमे अनुमान करने का साहस बघाते हैं। तर्क को प्रमाण माने विना अनुमान की प्रामाणिकता अपने आप मिट जाती है। तर्क और अनुमान की नीव एक है। भेद सिर्फ ऊपरी है। तर्क एक व्यापक नियम है और अनुमान उसका एकदेशीय प्रयोग। तर्क का काम है, धुए के साथ अग्नि का निश्चित सम्बन्ध बनाना। अनुमान का काम है, उस नियम के सहारे अमुक स्थान मे अग्नि का ज्ञान कराना। तर्क से धुए के साथ अग्नि की व्याप्ति जानी जाती है। किन्तु इस पर्वत मे 'अग्नि है'—यह नही जाना जाता। 'इस पर्वत मे अग्नि है'—यह अनुमान का साध्य है। तर्क का साध्य केवल अग्नि (धर्म) होता है। अनुमान का साध्य होता है—'अग्निमान् पर्वत' (धर्मी)। दूसरे शब्दो मे तर्क के साध्य का आधार अनुमान का साध्य बनता है।

न्याय की तीन परिधिया हैं—

१ सम्भव-सत्य।
२ अनुमानित-सत्य।
३ ध्रुव-सत्य।

---

१ तर्कभाषा

तथा हि पर्वतोय साग्नि उतानग्नि', इति सदेहानन्तर यदि कश्चिन् मन्यते—अग्निरिति तम्प्रति प्रति यद्ययमनग्निरभविष्यत्तर्हि धूमवन्नाभविष्यत् इत्यवह्निमत्त्वेनाधूमवत्त्वप्रसज्जन क्रियते। स चानिष्ट प्रसग तर्क उच्यते। एव प्रवृत्त तर्क अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात् अनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति।

इसकी व्याप्ति इस प्रकार बनती है—'जहा-जहा चैतन्य है, वहा-वहा आत्मा है'। किन्तु इसके लिए दृष्टान्त कोई नही बन सकता, क्योकि यह व्याप्ति अपने विषय को अपने आप मे समेट लेती है। उसका समानधर्मा कोई शेष नही रहता।

वहिर्व्याप्ति मे साधर्म्य मिलता है। पक्षीकृत विषय के सिवाय भी साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिलती है। 'पर्वत अग्निमान् है'—यह पक्ष है। धूम है, इसलिए वह अग्निमान् है—यह साधन है। इसकी व्याप्ति इस प्रकार बनती है—'जहा-जहा धूम है, वहा-वहा अग्नि है।' इसका दृष्टान्त बन सकता है, जैसे—रसोईघर या अन्य अग्निमान् प्रदेश।

हेतु भाव और अभाव

अभाव चार होते है[1]—

१ प्राक्।

२ प्रध्वस।

३ इतरेतर।

४ अत्यन्त।

भाव जैसे वस्तु स्वरूप का साधक है, वैसे अभाव भी। भाव के विना वस्तु की सत्ता नही वनती तो अभाव के विना भी उसकी सत्ता स्वतन्त्र नही वनती।

'है' यह जैसे वस्तु का स्वभाव है वैसे ही 'स्व लक्षण है—असकीर्ण है'—यह भी उसका स्वभाव है।

अगर हम वस्तु को केवल भावात्मक माने तो उसमे परिवर्तन नही हो सकता। वह होता है। एक क्षण से दूसरे क्षण मे, एक देश से दूसरे देश मे, एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे वस्तु जाती है। यह कालकृत, देशकृत और अवस्थाकृत परिवर्तन वस्तु से सर्वथा भिन्न नही होता। दूसरे क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु मे पहले क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु का सम्बन्ध जुड ही नही सकता, अगर अभाव उसका स्वभाव न हो। परिवर्तन का अर्थ ही यही है—भाव और अभाव की एकाश्रयता। 'सर्वथा मिट जाय, सर्वथा नया वन जाय' यह परिवर्तन नही होता। परिवर्तन यह होता है—'जो मिटे भी, बने भी और फिर भी धारा न टूटे'।

उपादान कारण मे इसकी स्पष्ट भावना है। कारण ही कार्य बनता है। कारण का भाव मिटता है, कार्य का अभाव मिटता है तब एक वस्तु बनती है। बनते-बनते उसमे कारण का अभाव और कार्य का भाव आ जाता है। यह कार्यकारण-सापेक्ष भावाभाव एक वस्तुगत होते हैं। वैसे ही स्वगुण-परगुणापेक्ष भावाभाव भी एक वस्तुगत होते हैं। अगर यह न माना जाय तो वस्तु निर्विकार, अनन्त, सर्वात्मक और

---

१ भिक्षुन्यायकर्णिका, ३।२९-३३।

कई नैयायिक आचार्य पचवाक्यात्मक प्रयोग को ही न्याय मानते हैं।[1] निगमन फल-प्राप्ति है। वह समस्त प्रमाणो के व्यापार से होती है।[2] प्रतिज्ञा में शब्द, हेतु मे अनुमान, दृष्टान्त मे प्रत्यक्ष, उपनय मे उपमान—इस प्रकार सभी प्रमाण आ जाते हैं। इन सबके योग से फलितार्थ निकलता है—ऐसा न्यायवार्तिककार का मत है। व्यवहार-दृष्टि से जैन-दृष्टि भी इससे सहमत है। यद्यपि पचावयव मे प्रमाण का समावेश करना आवश्यक नही लगता, फिर भी तर्कशास्त्र का मुख्य विषय साधन के द्वारा साध्य की सिद्धि है, इसमे द्वैत नही हो सकता।

अनुमान अपने लिए स्वार्थ होता है, वैसे दूसरो के लिए परार्थ भी होता है। 'स्वार्थ' ज्ञानात्मक होता है और 'परार्थ' वचनात्मक। 'स्वार्थ' की दो शाखाए होती हैं—पक्ष और हेतु। 'परार्थ' की जहा श्रोता तीव्र बुद्धि होता है वहा सिर्फ ये दो शाखाए हैं और जहा मद बुद्धि होता है वहा पाच शाखाए होती हैं—

१ पक्ष।
२ हेतु।
३ दृष्टान्त।
४ उपनय।
५ निगमन।

स्वार्थ और परार्थ

अनुमान वास्तव मे 'स्वार्थ' ही होता है। अनुमाता श्रोता को वचनात्मक हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान कराता है, तब वह वचन श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। वचन-प्रतिपादक के अनुमान का कार्य और श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। प्रतिपादक के अनुमान की अपेक्षा कार्य को कारण मानकर (कारण मे कार्य का उपचार कर) और श्रोता के अनुमान की अपेक्षा कारण को कार्य मानकर (कार्य मे कारण का उपचार कर) वचन को अनुमान कहा जाता है।

व्याप्ति

व्याप्ति के दो भेद हैं—अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति। पक्षीकृत विषय मे ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, यह अन्तर्व्याप्ति होती है। आत्मा है—यह पक्ष है। 'चैतन्यगुण मिलता है, इसलिए वह है'—यह साधन है।

---

१ वात्स्यायन भाष्य
सपञ्चावयवोपेतवाक्यात्मकोन्याय।

२ न्यायवार्तिक
समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्याय।

लिए यह नियम नही। अचेतन चेतन और चेतन अचेतन तीन काल मे भी नही होते। इसका नाम है—अत्यन्त अभाव।[1] यह अनादि-अनन्त है। इसके बिना चेतन और अचेतन—इन दो अत्यन्त भिन्न पदार्थों की तादात्म्यनिवृत्ति सिद्ध नही होती।

साध्य धर्म और धर्मी

साध्य और साधन का सम्बन्ध मात्र जानने मे साध्य धर्म ही होता है। कारण कि धुए के साथ अग्नि होने का नियम है, वैसे अग्निमान् पर्वत होने का नियम नही बनता। अग्नि पर्वत के सिवाय अन्यत्र भी मिलती है। साधन के प्रयोगकाल मे साध्य धर्मी होता है। धर्मी तीन प्रकार का होता है—

१ बुद्धि-सिद्ध।
२ प्रमाण-सिद्ध।
३ उभय-सिद्ध।

१ प्रमाण से जिसका अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध न हो किन्तु अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के लिए जो शाब्दिक रूप मे मान लिया गया हो, वह 'बुद्धि-सिद्ध धर्मी' होता है, जैसे—'सर्वज्ञ है'। अस्तित्व सिद्धि से पहले सर्वज्ञ किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नही है। उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए पहले-पहल जब धर्मी बनाया जाता है, तब उसका अस्तित्व बुद्धि से ही माना जाता है। प्रमाण द्वारा उसका अस्तित्व बाद मे सिद्ध किया जाएगा। सक्षेप मे जिस साध्य का अस्तित्व या नास्तित्व साधना हो, वह धर्मी बुद्धि-सिद्ध या विकल्प-सिद्ध होता है।

२ जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से सिद्ध हो, वह धर्मी 'प्रमाण-सिद्ध' होता है। 'इस बादल मे पानी है'—बादल हमारे प्रत्यक्ष है। उसमे पानी धर्म को सिद्ध करने के लिए हमे बादल, जो धर्मी है, को कल्पना से मानने की कोई आवश्यकता नही होती।

३ 'मनुष्य मरणशील है'—यहा म्रियमाण मनुष्य प्रत्यक्ष-सिद्ध है और मृत तथा मरिष्यमाण मनुष्य बुद्धि-सिद्ध। 'मनुष्य मरणशील है'—इसमे कोई एक खास धर्मी नही, सभी मनुष्य धर्मी हैं। प्रमाण-सिद्ध धर्मी व्यक्त्यात्मक होता है, उस स्थिति मे उभय-सिद्ध धर्मी जात्यात्मक। उभय-सिद्ध धर्मी मे सत्ता-असत्ता के सिवाय शेष सब धर्म साध्य हो सकते हैं।

अनुमान को नास्तिक के सिवाय शेष सभी दर्शन प्रमाण मानते हैं। नास्तिक व्याप्ति की निर्णायकता स्वीकार नही करते। उसके बिना अनुमान हो नही सकता। व्याप्ति को सदिग्ध मानने का अर्थ तर्क से परे हटना होना चाहिए।

---

१ भिक्षुन्यायकर्णिका, ३।३३

एकात्मक वन जाएगी। किन्तु ऐसा होता नही। वस्तु मे विकार होता है। पहला रूप मिटता है, दूसरा बनता है। मिटनेवाला रूप वननेवाले रूप का प्राक्-अभाव होता है, दूसरे शब्दो मे उपादन-कारण कार्य का प्राक्-अभाव होता है। वीज मिटा, अकुर वना। वीज के मिटने की दशा मे ही अकुर का प्रादुर्भाव होगा। प्राक्-अभव अनादि-सान्त है। जव तक वीज का अकुर नही वनता, तव तक वीज मे अकुर का प्राक्-अभाव रहता है। अकुर वनते ही प्राक्-अभाव मिट जाता है। जो लोग प्रत्येक अनादि वस्तु को नाश-रहित (अनन्त) मानते हैं, यह अयुक्त है, यह इससे समझा जा सकता है।

प्राक्-अभाव जैसे निर्विकारता का विरोधी है, वैसे ही प्रध्वसाभाव वस्तु की अनन्तता का विरोधी है। प्रध्वस-अभाव न हो तो वस्तु वनने के बाद मिटने का नाम ही न ले, वह अनन्त हो जाए। पर ऐसा होता कहा है ? दूसरी पर्याय वनती है, पहली मिट जाती है। वृक्ष कार्य है। वह टूटता है, तव उसकी लकडी वनती है। दूसरे कार्य मे पहले कार्य का प्रध्वस-रूप अभाव होता है। लकडी मे वृक्ष का अभाव है या यो कहिए लकडी वृक्ष का प्रध्वसाभाव है। लकडी की आविर्भाव दशा मे वृक्ष की तिरोभाव-दशा हुई है। प्रध्वसाभाव सादि-अनन्त है। जिस वृक्ष की लकडी वनी, उससे वह वृक्ष कभी नही वनता। इससे यह भी समझिए कि प्रत्येक सादि पदाथ सान्त नही होता।

ऊपर की पक्तियो का सार यह है—वर्तमान दशा पूर्वदशा का कार्य वनती है और उत्तरदशा का कारण। पूवदशा उसका प्राक्-अभाव होता है और उत्तरदशा प्रध्वस-अभाव।

एक वात और स्पष्ट कर लेनी चाहिए कि द्रव्य सादि-सान्त नही होते। सादि-सान्त होती हैं द्रव्य की पर्याए (अवस्थाए) अवस्थाए। अनादि-अनन्त नहीं होती किन्तु पूर्व-अवस्था कारण रूप मे अनादि है। उससे वननेवाली वस्तु पहले कभी नही वनी। उत्तर अवस्था मिटने के वाद फिर वैसी कभी नही वनेगी, इसलिए वह अनन्त है। यह सारी एक ही द्रव्य की पूर्व-उत्तरवर्ती दशाओ की चर्चा है। अव हमे अनेक सजातीय द्रव्यो की चर्चा करनी है। खम्भा पौद्गलिक है और घडा भी पौद्गलिक है किन्तु खम्भा घडा नही है और घडा खम्भा नही है। दोनो एक जाति के हैं, फिर भी दोनो दो हैं। यह 'इतर इतर-अभाव' आपस मे एक-दूसरे का अभाव है।[1] खम्भे मे घडे का और घडे मे खम्भे का अभाव है। यह न हो तो हम वस्तु का लक्षण कैसे वनायें ? किसको खम्भा कहे और किसको घडा ? फिर सव एकमेक वन जाएगे। यह अभाव सादि-सान्त है। खम्भे के पुद्गल स्कन्ध घडे के रूप मे और घडे के पुद्गल-स्कन्ध खम्भे के रूप मे वदल सकते हैं किन्तु सर्वथा विजातीय द्रव्य के

१ भिक्षुन्यायकर्णिका, ३।३२

३ अविरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

साध्य—वर्षा होगी।

हेतु—क्योकि विशिष्ट प्रकार के बादल मडरा रहे है।

बादलो की विशिष्ट-प्रकारता वर्षा का कारण है और उसका विरोधी नही है।

४ अविरुद्ध-पूर्वचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त के बाद तिष्य नक्षत्र का उदय होगा।

हेतु—क्योकि पुनर्वसु का उदय हो चुका है।

'पुनर्वसु का उदय' यह हेतु 'तिष्योदय' साध्य का पूर्वचर है और उसका विरोधी नही है।

५ अविरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले पूर्व-फाल्गुनी का उदय हुआ था।

हेतु—क्योकि उत्तर-फाल्गुनी का उदय हो चुका है।

उत्तर-फाल्गुनी का उदय पूर्व-फाल्गुनी के उदय का निश्चित उत्तरवर्ती है।

६ अविरुद्ध-सहचर-उपलब्धि—

साध्य—इस आम मे रूप विशेष है।

हेतु—क्योकि रस विशेष आस्वाद्यमान है।

यहा रस (हेतु) रूप (साध्य) का नित्य सहचारी है।

निषेध-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से विरुद्ध होने के कारण जो हेतु उसके अभाव को सिद्ध करता है, वह विरुद्धोपलब्धि कहलाता है।

विरुद्धोपलब्धि के सात प्रकार हैं—

१ स्वभाव-विरुद्ध-उपलब्धि—

साध्य—सर्वथा एकान्त नही है।

हेतु—क्योकि अनेकान्त उपलब्ध हो रहा है।

अनेकान्त—एकान्त स्वभाव के विरुद्ध है।

२ विरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि—

साध्य—इस पुरुष का तत्त्व मे निश्चय नही है।

हेतु—क्योकि सन्देह है।

'सन्देह है' यह 'निश्चय नही है' इसका व्याप्य है। इसलिए सन्देह-दशा मे निश्चय का अभाव होगा। ये दोनो विरोधी हैं।

३ विरुद्ध-कार्य-उपलब्धि—

साध्य—इस पुरुष का क्रोध शान्त नही हुआ है।

हेतु—क्योकि मुख-विकार हो रहा है।
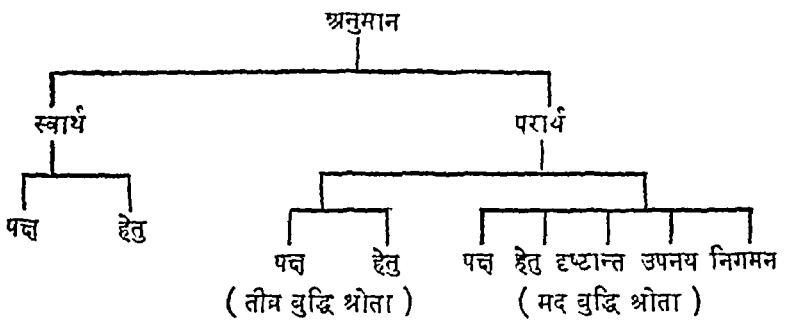
हेतु के प्रकार

हेतु के दो प्रकार होते हैं—उपलब्धि और अनुपलब्धि। ये दोनो विधि और निषेध के साधक हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अनुपलब्धि को विधि-साधक हेतु के रूप मे स्थान नही दिया है।

'परीक्षामुख' मे विधि-साधक छह उपलब्धियो एव तीन अनुपलब्धियो का तथा निषेध-साधक छह उपलब्धियो एव सात अनुपलब्धियो का निरूपण है। इसका विकास प्रमाणनयतत्त्वालोक मे हुआ है। वहा विधि-साधक छह उपलब्धियो एव पाच अनुपलब्धियो का तथा निषेध-साधक सात-सात उपलब्धियो एव अनुपलब्धियो का उल्लेख है। प्रस्तुत वर्गीकरण 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' के अनुसार है।

विधि-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से अविरुद्ध रूप मे उपलब्ध होने के कारण जो हेतु साध्य की सत्ता को सिद्ध करता है, वह अविरुद्धोपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्धि-उपलब्धि के छह प्रकार हैं—

१ अविरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि—

साध्य—शब्द परिणामी है।

हेतु—क्योकि वह प्रयत्न-जन्य है। यहा प्रयत्न-जन्यत्व व्याप्य है। वह परिणामित्व से अविरुद्ध है। इसलिए प्रयत्न-जन्यत्व से शब्द का परिणामित्व सिद्ध होता है।

२ अविरुद्ध-कार्य उपलब्धि—

साध्य—इस पर्वत पर अग्नि है।

हेतु—क्योकि धुआ है।

धुआ अग्नि का कार्य है, वह अग्नि से अविरुद्ध है। इसलिए धूम कार्य से पर्वत पर ही अग्नि की सिद्धि होती है।

वृक्ष व्यापक है, पनस व्याप्य। यह व्यापक की अनुपलब्धि मे व्याप्य का प्रतिषेध है।

३ अविरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि—

साध्य—यहा अप्रतिहत शक्तिवाले बीज नही हैं।

हेतु—क्योकि अकुर नही दीख रहे हैं।

यह अविरोधी कार्य की अनुपलब्धि के कारण का प्रतिषेध है।

४ अविरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

साध्य—इस व्यक्ति मे प्रशमभाव नही है।

हेतु—क्योकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नही हुआ है।

प्रशमभाव—सम्यग् दर्शन का कार्य है। यह कारण के अभाव मे कार्य का प्रतिषेध है।

५ अविरुद्ध पूर्वचर-अनुपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त के पश्चात् स्वाति का उदय नही होगा।

हेतु—क्योकि अभी चित्रा का उदय नही है।

यह चित्रा के पूर्ववर्ती उदय के अभाव द्वारा स्वाति के उत्तरवर्ती उदय का प्रतिषेध है।

६ अविरुद्ध-उत्तरचर-अनुपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले पूर्वभाद्रपदा का उदय नही हुआ था।

हेतु—क्योकि उत्तरभाद्रपदा का उदय नही है।

यह उत्तरभाद्रपदा के पूर्ववर्ती उदय के अभाव के द्वारा पूर्वभाद्रपदा के पूर्ववर्ती उदय का प्रतिषेध है।

७ अविरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि—

साध्य—इसे सम्यग् ज्ञान प्राप्त नही है।

हेतु—क्योकि सम्यग् दर्शन नही है।

सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन दोनो नियत सहचारी हैं। इसलिए यह एक के अभाव मे दूसरे का प्रतिषेध है।

विधि-साधक अनुपलब्धि-हेतु

साध्य के विरुद्ध रूप की उपलब्धि न होने के कारण जो हेतु उसकी सत्ता को सिद्ध करता है, वह विरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

विरुद्धानुपलब्धि हेतु के पाच प्रकार है—

१ विरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि—

साध्य—इसके शरीर मे रोग है।

हेतु—क्योकि स्वस्थ प्रवृत्तिया नही मिल रही हैं। स्वस्थ प्रवृत्तियो का भाव रोग-विरोधी कार्य है। उसकी यहा अनुपलब्धि है।

साध्य—यह महर्षि असत्य नही बोलता।

हेतु—क्योंकि इसका ज्ञान राग-द्वेप की कलुपता से रहित है।

यहा असत्य-वचन का विरोधी सत्य-वचन है और उसका कारण राग-द्वेप-रहित ज्ञान-सम्पन्न होना है।

५ अविरुद्ध-पूर्वचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त के पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय नही होगा।

हेतु—क्योंकि अभी रोहिणी का उदय है।

यहा प्रतिपेध्य पुष्य नक्षत्र के उदय से विरुद्ध पूर्वचर रोहिणी नक्षत्र के उदय की उपलब्धि है। रोहिणी के पश्चात् मृगशीर्प, आर्द्रा और पुनर्वसु का उदय होता है। फिर पुष्य का उदय होता है।

६ विरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले मृगशिरा का उदय नहीं हुआ था।

हेतु—क्योंकि अभी पूर्व-फाल्गुनी का उदय है।

यहा मृगशीर्प प्रतिपेध्य है। पूर्वा-फाल्गुनी का उदय उसका विरोधी है। मृगशिरा के पश्चात् क्रमश आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेपा, मघा और पूर्व फाल्गुनी का उदय होता है।

७ विरुद्ध-सहचर-उपलब्धि—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान नही है।

हेतु—क्योंकि सम्यग् दर्शन है।

मिथ्या ज्ञान और सम्यग् दर्शन एक साथ नही रह सकत।

निपेध-साधक अनुपलब्धि-हेतु

प्रतिपेध्य से अविरुद्ध होने के कारण जो हेतु उसका प्रतिपेध्य सिद्ध करता है, वह अविरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्धानुपलब्धि के सात प्रकार हैं—

१ अविरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि—

साध्य—यहा घट नही है।

हेतु—क्योंकि उसका दृश्य स्वभाव उपलब्ध नही हो रहा है।

चक्षु का विपय होना घट का स्वभाव है। यहा इस अविरुद्ध स्वभाव से ही प्रतिपेध्य का प्रतिपेध है।

२. अविरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि—

साध्य—यहा पनस नही है।

हेतु—क्योंकि वृक्ष नही है।

मुख-विकार क्रोध की विरोधी वस्तु का कार्य है—

४ विरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

हेतु
भाव (विधि या उपलब्धि)
अभाव (निषेध या अनुपलब्धि)
विधिसाधक(अविरुद्ध)
प्रतिषेधसाधक (विरुद्ध)
प्रतिषेधसाधक (अविरुद्ध)
विधिसाधक (विरुद्ध)
स्वभाव, सहचर, व्याप्य, पूर्वचर, उत्तरचर, कार्य, कारण,
१ २ ३ ४ ५ ६ ७
स्वभाव व्यापक कार्य कारण पूर्वचर उत्तरचर सहचर
८ ९ १० ११ १२ १३ १४
स्वभाव व्यापक कार्य कारण पूर्वचर उत्तरचर सहचर
१५ १६ १७ १८ १९ २० २१
कार्य कारण व्यापक स्वभाव सहचर
२२ २३ २४ २५ २६

२ विरुद्ध-कारण-अनुपलब्धि—

साध्य—यह मनुष्य कष्ट मे फसा हुआ है।

हेतु—क्योकि इसे इष्ट का सयोग नही मिल रहा है। कष्ट के भाव का विरोधी कारण इष्ट-सयोग है, वह यहा अनुपलब्ध है।

३ विरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि—

साध्य—वस्तु समूह अनेकान्तात्मक है।

हेतु—क्योकि एकान्त-स्वभाव की अनुपलब्धि है।

४ विरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि

साध्य—यहा छाया है।

हेतु—क्योकि उष्णता नही है।

५ विरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान प्राप्त है।

हेतु—क्योकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नही है।[1]

---

१ प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ३।९५–१०७।

गम, यो तीन प्रकार का आगम होता है। उपदेश के विना अपने आप अर्थ-ज्ञान होता है, वह आत्मागम है। वह तीर्थंकर या स्वयम्बुद्ध आदि के होता है। उनकी उपदेश-वाणी से शिष्य के सूत्र की अपेक्षा आत्मागम और अर्थ की अपेक्षा अनतरागम होता है। तीसरी कक्षा मे प्रशिष्य के सूत्र की अपेक्षा अनतरागम और अर्थ की अपेक्षा परम्परागम होता है। चौथी कक्षा मे सूत्र और अर्थ दोनो परम्परागम होते हैं।[1]

ज्ञाता, ज्ञेय और वचन—इन तीनो की सहिता आगम का समग्र रूप है।

ज्ञाता ज्ञान करानेवाला और करनेवाला दोनो होते है। ज्ञेय पहले ने जान रखा है, दूसरे को जानना है। वचन पहले के ज्ञान का प्रकाश है और दूसरे के ज्ञान का साधन। ज्ञेय अनन्तशक्तियो, गुणो, अवस्थाओ का अखण्ड-पिण्ड होता है। उसका स्वरूप अनेकान्तात्मक होता है। ज्ञेय आगम की रीढ होता है, फिर भी उसके आधार पर आगम के विभाग नही होते। ज्ञाता की दृष्टि से इसका एक भेद होता है—अर्थागम। वचन की दृष्टि से इसके तीन विभाग वनते हैं—

१ स्याद्वाद—प्रमाण-वाक्य।

२ सद्वाद—नय-वाक्य।

३ दुर्नय—मिथ्या श्रुत।

दूसरे शब्दो मे—

१ अनेकान्त वचन।

२ सत्-एकान्त वचन।

३ असत्-एकान्त वचन।

वाक्-प्रयोग

वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य से भाषा वनती है। भाषा अनक्षर भी होती है पर वह स्पष्ट नही होती। स्पष्ट भाषा अक्षरात्मक ही होती है। अक्षर तीन प्रकार के हैं[2]—

१ सज्ञाक्षर—अक्षर की लिपि।

२ व्यजनाक्षर—अक्षर का उच्चारण।

३ लब्ध्यक्षर—अक्षर का ज्ञान।

---

१ अनुयोगद्वार, सूत्र १४४।

२ (क) नदी, सूत्र ३९।

(ख) जैनतर्कभाषा पृ० ९ सज्ञाक्षर वहुविधलिपिभेदम्, व्यजनाक्षर भाष्यमाणमकारादि, एते चोपचाराच्छ्रुते। लब्ध्यक्षर तु इन्द्रियमनोनिमित्त श्रुतोपयोग तदावरणक्षयोपशमो वा।

५

आगम-प्रमाण

आगम

आगम श्रुतज्ञान या शब्द-ज्ञान है। उपचार से आप्तवचन या द्रव्यश्रुत को भी आगम कहा जाता है किन्तु वास्तव मे आगम वह ज्ञान है जो श्रोता या पाठक को आप्त की मौखिक या लिखित वाणी से होता है।

वैशेषिक शब्द-प्रमाण को अनुमान का ही रूप मानते हैं। जैन दर्शन को यह बात मान्य नही है। पूर्व-अभ्यास की स्थिति मे शब्द-ज्ञान व्याप्ति-निरपेक्ष होता है। एक व्यक्ति खोटे-खरे सिक्के को जाननेवाला है। वह उसे देखते ही पहचान लेता है। उसे ऊहापोह की आवश्यकता नही होती। यही बात शब्द-ज्ञान के लिए है। शब्द सुनते ही सुननेवाला समझ जाता है। वह अनुमान नही होता। शब्द सुनने पर उसका अर्थ बोध न हो, उसके लिए व्याप्ति का सहारा लेना पडे तो वह अवश्य अनुमान होगा, शब्द नहीं। प्रत्यक्ष के लिए भी यही बात है। प्रत्येक वस्तु के लिए 'यह अमुक होना चाहिए' ऐसा विकल्प बने, तब वह ज्ञान प्रत्यक्ष नही होगा, अनुमान होगा। आगम व्याप्ति-निरपेक्ष होने के कारण अनुमान के अन्तर्गत नही आता।[1]

जैन-दृष्टि के अनुसार आगम स्वत प्रमाण, पौरुषेय और आप्तप्रणीत होता है।[2] वचन-रचना को सूत्रागम, ज्ञान को अर्थागम और समन्वित रूप मे दोनो को उभयागम कहा जाता है।[3] प्रकारान्तर से आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परा-

---

१ जैनतर्कभाषा, पृ० २६

न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भाव, कटाकूटकार्षापण-निरूपणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणैवास्य अर्थबोधकत्वात्।

२ अयोगव्यवच्छेदिका, १७।

३ अनुयोगद्वार, सूत्र १४४।

शब्द तीन प्रकार के होते है— रूढ, यौगिक और मिश्र। जिनकी व्युत्पत्ति नही होती, वे शब्द 'रूढ' होते हैं।[1] गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदि के योग से बननेवाले शब्द 'यौगिक' कहलाते हैं।[2] जिनमे दो शब्दो का योग होने पर भी परावृत्ति नही हो सकती, वे 'मिश्र' हैं।[3]

नाम और क्रिया के एकाश्रयी योग को वाक्य कहते है। शब्द या वचन ध्वनि-रूप पौद्गलिक परिणाम होता है। वह ज्ञापक या बतानेवाला होता है। वह चेतन के वाक्प्रयत्न से पैदा होता है और अवयव-सयोग से भी सार्थक भी होता है और निरर्थक भी। अचेतन के सघात और भेद से पैदा होता है, वह निरर्थक ही होता है, अर्थ-प्रेरित नही होता।[4]

शब्द की अर्थ-बोधकता

शब्द अर्थ का बोधक बनता है। इसके दो हेतु हैं—स्वाभाविक और समय या सकेत।[5] नैयायिक स्वाभाविक शक्ति को स्वीकार नही करते। वे केवल सकेत को ही अर्थज्ञान का हेतु मानते हैं।[6] इस पर जैन-दृष्टि यह है कि यदि शब्द मे अर्थ-बोधक शक्ति सहज नही होती तो उसमे सकेत भी नही किया जा सकता। सकेत रूढि है, वह व्यापक नही। 'अमुक वस्तु के लिए अमुक शब्द'—यह मान्यता है। देश-काल के भेद से यह अनेक भेद वाली होती है। एक देश मे एक शब्द का अर्थ कुछ ही होता है और दूसरे देश मे कुछ ही। हमे इस सकेत या मान्यता के आधार पर दृष्टि डालनी चाहिए। सकेत का आधार है शब्द की सहज अर्थ-प्रकाशन शक्ति। शब्द अर्थ को बता सकता है। किसको बताए, यह बात सकेत पर निर्भर है। सकेत ज्ञातकालीन और अज्ञातकालीन दोनो प्रकार के होते है। अर्थ की अनेकता के कारण शब्द के अनेक रूप बनते हैं, जैसे—जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, क्रियावाचक आदि-आदि।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है। वाच्य से वाचक न सर्वथा

---

१ अभिधान चिन्तामणि १।१।

२ वही, १।२।

३ वही, १।१६।

४ ठाण, २।२२०।
दोहि ठाणेहि सद्दुप्पाए सिया, तजहा साहन्नताण पोग्गलाण सद्दुप्पाए सिया, भिज्जताण चेव पोग्गलाण सद्दुप्पाए सिया।

५ प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ४
स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धन शब्द।

६ न्यायसूत्र, २।१।५५
सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य।
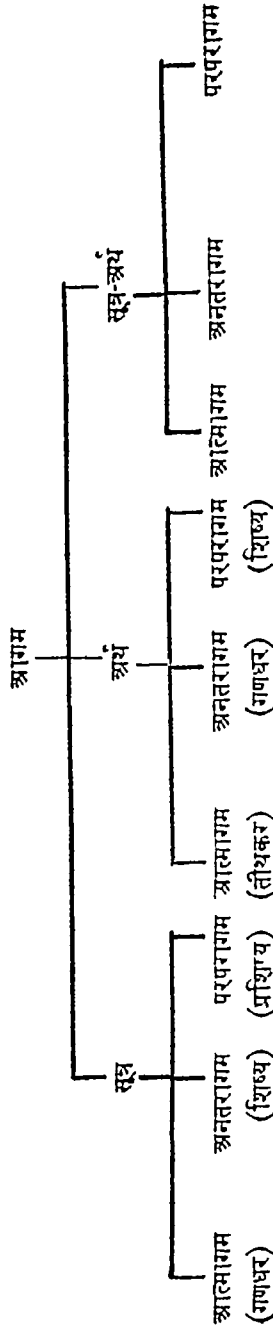
(पृष्ठ ६०२, ६०३ से सम्बद्ध)

भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सर्वथा भेद होता तो शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान नही होता। वाच्य को अपनी सत्ता के ज्ञापन के लिए वाचक चाहिए और वाचक को अपनी सार्थकता के लिए वाच्य चाहिए। शब्द की वाचकपर्याय वाच्य के निमित्त से बनती है और अर्थ की वाच्यपर्याय शब्द के निमित्त से बनती है, इसलिए दोनो मे कथचित् तादात्म्य है। सर्वथा अभेद इसलिए नही कि वाच्य की क्रिया वाचक की क्रिया से भिन्न है। वाचक बोध कराने की पर्याय मे होता है और वाच्य ज्ञेय पर्याय मे।

वाच्य-वाचकभाव की प्रतीति तर्क के द्वारा होती है।[1] एक आदमी ने अपने सेवक से कहा—'रोटी लाओ'। सेवक रोटी लाया। एक तीसरा व्यक्ति जो रोटी को नही जानता, वह दोनो की प्रवृत्ति देखकर जान जाता है कि यह वस्तु 'रोटी' शब्द के द्वारा वाच्य है। इसकी व्याप्ति यो बनती है—'वस्तु के प्रति जो शब्दानुसारी प्रवृत्ति होती है, वह वाच्य-वाचक भाववाली होती है। "जहा वाच्य-वाचक भाव नही होता, वहा शब्द के अनुसार अर्थ के प्रति प्रवृत्ति नही होती।"

शब्द का याथार्थ्य और अयाथार्थ्य

शब्द पौद्गलिक होता है। वह अपने आप मे यथार्थ या अयथार्थ कुछ भी नही होता। वक्ता के द्वारा उसका यथार्थ या अयथार्थ प्रयोग होता है। यथार्थ प्रयोग के स्याद्वाद और नय—ये दो प्रकार हैं। दुर्नय इसलिए आगमाभास होता है कि वह यथार्थ प्रयोग नही होता।

वचन की सत्यता के दो पहलू हैं—प्रयोगकालीन और अर्थग्रहणकालीन। एक वक्ता पर निर्भर है, दूसरा श्रोता पर। वक्ता यथार्थ-प्रयोग करता है, वह सत्य है। श्रोता यथार्थ-ग्रहण करता है, वह सत्य है। ये दोनो सत्य अपेक्षा से जुडे हुए हैं।

सत्य-वचन की दस अपेक्षाए

सत्य-वचन के लिए दस अपेक्षाए हैं[2]—

१ जनपद, देश या राष्ट्र की अपेक्षा सत्य।

२ सम्मत या रूढि-सत्य।

३ स्थापना की अपेक्षा सत्य।

४ नाम की अपेक्षा सत्य।

---

१ जैनतर्कभाषा पृ० १५
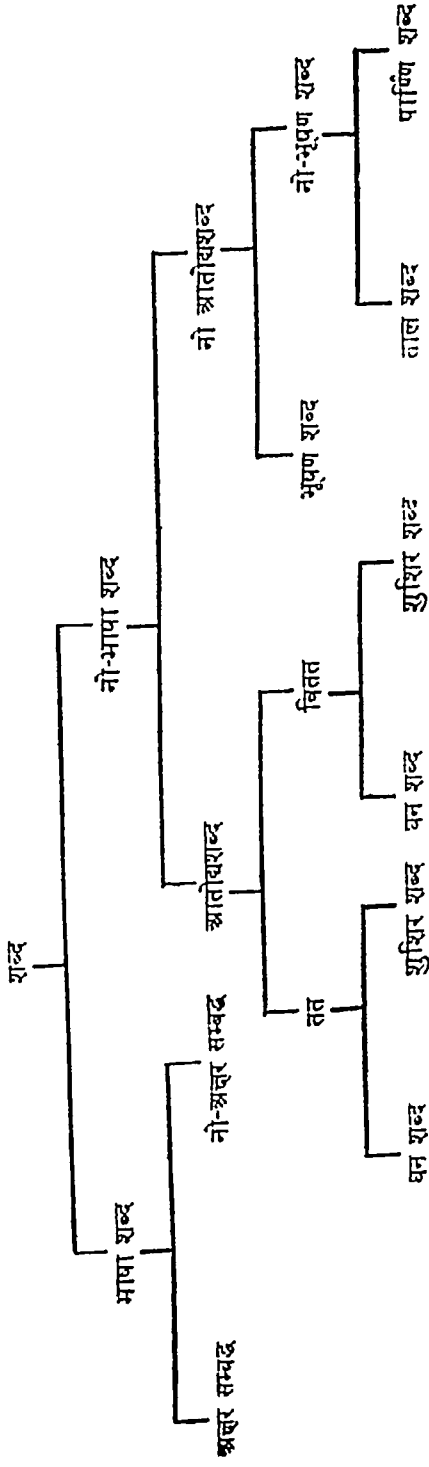
२ ठाण, १०।८९

शब्द के अवान्तर भेद (पृष्ठ ६०५ से सबद्ध)

सामीप्य की अपेक्षा लम्बा हो सकता है। लम्बाई और ठिगनापन एक साथ नहीं होते, भिन्न-भिन्न सहकारियों द्वारा भिन्न-भिन्न काल में अभिव्यक्त होते हैं। सामीप्य की अपेक्षा लम्बाई सत्य है और दूरी की अपेक्षा ठिगनापन।

७ व्यवहारसत्य—औपचारिक सत्य—पर्वत जल रहा है।

८ भावसत्य—व्यक्त पर्याय की अपेक्षा से सत्य—दूध सफेद है।

९ योगसत्य—सम्बन्ध सत्य।

१० औपम्य-सत्य।

प्रत्येक वस्तु को अच्छी-बुरी, उपयोगी-अनुपयोगी, हितकर-अहितकर जो कहा जाता है वह देश, काल, स्थिति की अपेक्षा से सत्य है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—"सत्यवादी के लिए विभज्यवाद का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है।" वे स्वय इसी मार्ग पर चले। आत्मा, लोक आदि प्रश्नो पर मौन नही रहे। उन्होंने इन प्रश्नो को महात्मा बुद्ध की भाति अव्याकृत नही कहा और न सजय वेलट्ठीपुत्त की भाति बीच मे लटकाए रखा। उन्होने सत्य के अनेक रूपो का अनेक दृष्टियों से वर्णन किया। लोक मे जितने द्रव्य है उतने ही ये और रहेगे। उनमे न अणु मात्र कम होता है और न अधिक। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश केवल अवस्था-परिवर्तन है। जो स्थिति आत्मा की है, वही एक परमाणु या पौद्गलिक-स्कध या शरीर की है। आत्मा एकान्त नित्य नही है, शरीर एकान्त अनित्य नही है। प्रत्येक पदार्थ का परिवर्तन होता रहता है। पहला रूप जन्म या उत्पाद और दूसरा रूप मृत्यु या विनाश है। विच्छेदनय की दृष्टि से पदार्थ सान्त है। अविच्छेदनय की दृष्टि से चेतन और अचेतन सभी वस्तुए सदा अपने रूप मे रहती है अत अनन्त हैं।[1] प्रवाह की अपेक्षा पदार्थ अनादि है, स्थिति (एक अवस्था) की अपेक्षा सादि।[2] लोक व्यक्ति-सख्या की दृष्टि से एक है, इसलिए सान्त है। लोक की लम्बाई-चौडाई असख्य-योजन कोडाकोडी है, इस क्षेत्र-दृष्टि से सान्त है। काल और भाव की दृष्टि से वह अनन्त है।[3]

इस प्रकार एक वस्तु की अनेक स्थिति-जन्य अनेकरूपता स्वीकार कर भगवान् महावीर ने विरुद्ध प्रतीत होनेवाले मतवाद एक सूत्र मे पिरो दिये, तात्त्विक चर्चा के निर्णय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। भगवान् से पूछा गया—"भगवन्! जीव परभव को जाते समय स-इन्द्रिय जाता है या अन्-इन्द्रिय?"

भगवान्—"स-इन्द्रिय भी जाता है और अन्-इन्द्रिय भी।"

गौतम—"कैसे, भगवन्?"

---

१ भगवती, ७।३

२ उत्तराध्ययनाणि, ३६।८०

३ भगवती, ६।१

५ रूप की अपेक्षा सत्य।

६ प्रतीत्य-सत्य—दूसरी वस्तु की अपेक्षा सत्य।

जैसे—कनिष्ठा की अपेक्षा अनामिका वडी और मध्यमा की अपेक्षा छोटी है। एक ही वस्तु छोटी और वडी दोनो हो, यह विरुद्ध बात है, ऐसा आरोप आता है किन्तु यह ठीक नही। एक ही वस्तु का छोटापन और मोटापन दोनो तात्त्विक हैं और परस्पर विरुद्ध भी नही हैं। इसलिए नही हैं कि दोनो के निमित्त दो हैं। यदि अनामिका को एक ही कनिष्ठा या मध्यमा की अपेक्षा छोटी-वडी कहा जाय तव विरोध आता है किन्तु 'छोटी की अपेक्षा वडी और वडी की अपेक्षा छोटी' इसमे कोई विरोध नही आता। एक निमित्त से परस्पर-विरोधी दो कार्य नही हो सकते किन्तु दो निमित्त से वैसे दो कार्य होने मे कोई आपत्ति नही। छोटापन और मोटापन तात्त्विक नही है, ऋजुता और वक्रता की भाति दूसरे निमित्त की अपेक्षा रखे विना प्रतीति नही होती। इसलिए उनकी प्रतीति दूसरे की अपेक्षा से होती है, इसलिए वे काल्पनिक है, ऐसी शका होती है पर समझने पर वात ऐसी नही है। वस्तु मे दो प्रकार के धर्म होते है[1]—

१ परप्रतीति-सापेक्ष—सहकारी द्वारा व्यक्त।

२ परप्रतीति-निरपेक्ष—स्वत व्यक्त।

अस्तित्व आदि गुण स्वत व्यक्त होते है। छोटा, वडा आदि धम सहकारी द्वारा व्यक्त होते हैं। गुलाव मे सुरभि अपने आप व्यक्त है। पृथ्वी मे गन्ध पानी के सयोग से व्यक्त होती है।

छोटा, वडा—ये धर्म काल्पनिक हो तो एक वस्तु मे दूसरी वस्तु के समावेश की (वडी वस्तु मे छोटी के समाने की) वात अनहोनी होती। इसलिए हमे मानना चाहिए कि सहकारी व्यग्य धर्म काल्पनिक नही है।[2] वस्तु मे अनन्त परिणतियो की क्षमता होती है। जैसा-जैसा सहकारी का सन्निधान होता है वैसा ही उसका रूप वन जाता है। "कोई व्यक्ति निकट से लम्वा और वही दूर से ठिगना दीखता है, पर वह लम्वा और ठिगना एक साथ नही हो सकता। अत लम्वा और ठिगना केवल मनस् के विचार मात्र हैं।" वकले का यह मत उचित नही है। लम्वा और ठिगन ये केवल मनस् के विचार मात्र होते तो दूरी और सामीप्य सापेक्ष नही होते। उक्त दोनो धर्म सापेक्ष हैं—एक व्यक्ति जैसे लम्वे व्यक्ति की अपेक्षा ठिगना और ठिगने की अपेक्षा लम्वा हो सकता है, वैसे ही एक ही व्यक्ति दूरी की अपेक्षा ठिगना और

---

१ प्रमयकमलमातण्ड, ६।५

द्विविधोहि वस्तुधम परापेक्ष परानपेक्षश्च, स्थौल्यादिवद् वर्णादिवच्च।

२ भापा-रहस्य, ३०

ते हुति परावक्खा, वजयमुहदसिणोत्ति णय तुच्छा।

दिट्ठमिण वेचित्त, सरावकप्पूरगधाणे॥

भगवान् महावीर भी शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के विरुद्ध थे। इस विषय मे दोनो की भूमिका एक थी, फिर भी भगवान् महावीर ने कहा—"दु ख आत्मकृत है।" कारण कि वे इन दोनो वादो से दूर भागनेवाले नही थे। उनकी अनेकान्तदृष्टि मे एकान्त शाश्वत या उच्छेद जैसी कोई वस्तु थी ही नही। दु ख के करण और भोग मे जैसे आत्मा की एकता है वैसे ही करणकाल मे और भोगकाल मे उसकी अनेकता है। आत्मा की जो अवस्था करणकाल मे होती है, वही भोगकाल मे नही होती, यह उच्छेद है। करण और भोग दोनो एक आधार मे होते हैं, यह शाश्वत है। शाश्वत और उच्छेद के भिन्न-भिन्न रूप कर जो विकल्प पद्धति से निरूपण किया जाता है, वही विभज्यवाद है।

इस विकल्प-पद्धति के समर्थक अनेक सवाद उपलब्ध होते है—

सोमिल—"भगवन्! क्या आप एक हैं या दो?

अक्षय, अव्यय, अवस्थित हैं या परिवर्तनशील?

भगवान्—"सोमिल! मैं एक भी हू और दो भी।"

सोमिल—"यह कैसे, भगवन्?"

भगवान्—"द्रव्य की दृष्टि से एक हू, सोमिल! ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से दो। आत्मप्रदेश की दृष्टि से मैं अक्षय, अव्यय, अवस्थित भी हू और भूत-भावी काल मे विविध विषयो पर होनेवाले परिणाम की दृष्टि से परिवर्तनशील भी हू।"[1]

यह शकित भाषा नही है। तत्त्व-निरूपण मे उन्होने निश्चित भाषा का प्रयोग किया और शिष्यो को भी ऐसा ही उपदेश दिया। छद्मस्थ मनुष्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, शरीर-रहित जीव आदि को सर्वभाव से नही जान सकते।[2]

अतीत, वर्तमान, या भविष्य की जिस स्थिति की निश्चित जानकारी न हो, तब 'ऐसे ही है' इस प्रकार निश्चित भाषा नही बोलनी चाहिए और यदि असदिग्ध जानकारी हो तो 'एवमेव' कहना चाहिए।[3] भावी कार्य के बारे मे निश्चयपूर्वक नही बोलना चाहिए। न मालूम जो काम करने का सकल्प है, वह अधूरा रह जाए। इसलिए भावी कार्य के लिए 'अमुक कार्य करने का विचार है' या 'यह होना सम्भव है'—यह भाषा होनी चाहिए। यह कार्य से सम्बन्धित सत्य-भाषा की मीमासा है, तत्त्व-निरूपण से इसका सम्बन्ध नही है। तत्त्व-प्रतिपादन के अवसर पर

---

१ भगवती, १८।५०

२ वही, ८।२

३ दसवेआलिय, ७।८,६

भगवान्—"ज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय और पौद्गलिक इन्द्रिय की अपेक्षा अन् इन्द्रिय।"

पौद्गलिक इन्द्रिया स्थूल शरीर से और ज्ञान इन्द्रिया आत्मा से सम्वद्ध होती हैं। स्थूल शरीर छूटने पर पौद्गलिक इन्द्रिया नही रहती, उनकी अपेक्षा परभव-गामी जीव अन्-इन्द्रिय जाता है। ज्ञान शक्ति आत्मा मे वनी रहती है, इस दृष्टि से वह स-इन्द्रिय जाता है।[1]

गौतम—"भगवन! दु ख आत्मकृत है, परकृत है या उभयकृत ?"

भगवान्—"दु ख आत्मकृत है, परकृत नही है, उभयकृत नही है।"[2]

महात्मा वुद्ध शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनो को सत्य नही मानते थे। उनसे पूछा गया—

"भगवन्! क्या दु ख स्वयकृत है ?"

"काश्यप! ऐसा नही है।"

"क्या दु ख परकृत है ?"

"नही।"

"क्या दु ख स्वकृत और परकृत है ?"

"नही।"

"क्या दु ख अ-स्वकृत अ-परकृत है ?"

"नही।"

"तब क्या है? आप तो सभी प्रश्नो का उत्तर नकार मे देते हैं, ऐसा क्यो ?"

"दु ख स्वकृत है, ऐसा कहने का अर्थ होता है कि जो करता है, वही भोगता है, यह शाश्वतवाद है। दु ख परकृत है ऐसा कहने का अर्थ होता है कि दु ख करने-वाला कोई दूसरा है और उसे भोगनेवाला कोई दूसरा, यह उच्छेदवाद है।"

उन्होंने इन दोनो को छोडकर मध्यम मार्ग—प्रतीत्य-समुत्पाद का उपदेश दिया। उनकी दृष्टि मे "उत्तर पूर्व से सर्वथा असम्वद्ध हो, अपूर्व हो यह वात भी नही, किन्तु पूर्व के अस्तित्व के कारण ही उत्तर होता है। पूर्व की सारी शक्ति उत्तर मे आ जाती है। पूर्व का कुल सस्कार उत्तर को मिल जाता है। अतएव पूर्व अव उत्तर रूप मे अस्तित्व मे है। उत्तर पूर्व से सर्वथा भिन्न भी नही, अभिन्न अव्याकृत है, क्योकि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है।[3] महात्मा वुद्ध को ये दोनो वाद मान्य नहीं थे, अतएव ऐसे प्रश्नो का उन्होंने अव्याकृत कहकर उत्तर दिया।

---

१ भगवती, १।७।६१

२ वही, १७।३

३ सयुक्तनिकाय

"कई व्यक्ति यह नही जानते—'मैं कौन हू ? कहा से आया हू ? कहा जाऊगा ? जो अपने आप या पर व्याकरण से यह जानता है, वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।'[1]

इस दृष्टि को लेकर भगवान् महावीर ने तत्त्व-चिन्तन की पृष्ठभूमि पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा—"जो जीव को नही जानता, अजीव को नही जानता, जीव-अजीव दोनो को नही जानता, वह सयम को कैसे जान सकेगा ?"[2] "जिसे जीव-अजीव, त्रस-स्थावर का ज्ञान नहीं, उसके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान हैं और जिसे इनका ज्ञान है, उसके प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है।"[3] यही कारण है कि भगवान् महावीर की परम्परा मे तत्त्व-चिन्तन की अनेक धाराए अविच्छिन्न प्रवाह के रूप मे बही।

आत्मा, कर्म, गति, आगति, भाव, अपर्याप्ति, पर्याप्ति आदि के बारे मे ऐसा मौलिक चिन्तन है, जो जैन दर्शन की स्वतन्त्रता का स्वयम्भू प्रमाण है।

जैन दर्शन मे प्रतिपादन की पद्धति मे अव्याकृत का स्थान है—वस्तु मात्र कथचित् अवक्तव्य है। तत्त्व-चिन्तन मे कोई वस्तु अव्याकृत नही। उपनिषद् के ऋषि परमब्रह्म को मुख्यतया 'नेति-नेति' द्वारा बताते है।[4] वेदान्त मे वह अनिर्वचनीय है। 'नेति-नेति से अभाव की शका न आए, इसलिए ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। तात्पर्य मे वह अनिर्वचनीय ही है क्योकि वह वाणी का विषय नही बनता।[5]

बौद्ध दर्शन मे लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? सान्त है या अनन्त ? जीव और शरीर भिन्न या अभिन्न ? मृत्यु के बाद तथागत होते है या नही होते ?[6] इन प्रश्नो को अव्याकृत कहा है। बौद्ध दर्शन का यह निषेधक दृष्टिकोण शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, दोनो का अस्वीकार है। इसमे जैन-दृष्टि का मतद्वैध नही है किन्तु वह इससे आगे बढती है। भगवान् महावीर ने शाश्वत और उच्छेद—दोनो का समन्वय कर विधायक दृष्टिकोण सामने रखा। वही अनेकान्त-दर्शन और स्याद्वाद है।

---

१ आयारो, १।५

२ दसवेआलिय, ४।१३

३. भगवती, ७।२

४ बृहदारण्यक उपनिषद्, २।३।११, ४।२।११

५ तैत्तरीय उपनिषद्, २।४ यतो वाचा निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।

६ मज्झिमनिकाय (चूलमालुक्य सुत्त ६)

अपेक्षापूर्वक निश्चय भाषा बोलने मे कोई आपत्ति नहीं है।[1]

महात्मा बुद्ध ने कहा—

१ मेरी आत्मा है।

२ मेरी आत्मा नही है।

३ मैं आत्मा को आत्मा समझता हू।

४ मैं अनात्मा को अनात्मा समझता हू।

५ यह जो मेरी आत्मा है, वह पुण्य और पाप कर्म के विपाक की भोगी है।

६ यह मेरी आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविपरिणामिधर्मा है—जैसी है वैसी सदैव रहेगी।[2]

इन छह दृष्टियो मे फसकर अज्ञानी जीव जरा-मरण से मुक्त नही होता, इसलिए साधक को इनमे फसना उचित नही। उनके विचारानुसार—"मैं भूतकाल मे क्या था? मैं भविष्यत् काल मे क्या होऊगा? मैं क्या हू? यह सत्त्व कहा से आया? यह कहा जाएगा?—इस प्रकार का चिन्तन 'अयोनिमो मनसिकार'—विचार का अयोग्य ढग है। इससे नये आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव वृद्धिगत होते हैं।"

भगवान् महावीर का सिद्धान्त ठीक इसके विपरीत था। उन्होंने कहा—

१ आत्मा नही है।

२ आत्मा नित्य नही है।

३ आत्मा कर्म की कर्त्ता नही है।

४ आत्मा कर्म-फल की भोक्ता नही है।

५ निर्वाण नही है।

६ निर्वाण का उपाय नही है।

ये छह मिथ्यात्व की प्ररूपणा के स्थान हैं।

१ आत्मा है।

२ आत्मा नित्य है।

३ आत्मा कर्म की कर्त्ता है।

४ आत्मा कर्म-फल की भोक्ता है।

५ निर्वाण है।

६ निर्वाण के उपाय हैं।

ये छह सम्यक्त्व की प्ररूपणा के स्थान हैं।[3]

---

१ आचारागवृत्ति, पत्र २७०

२ मज्झिमनिकाय, (सब्बासव सुत्त)

३ सन्मतिप्रकरण, ३।५४

ये दोनो इतने घुले-मिले है कि किसी एक को छोडकर दूसरे को जाना नही जा सकता।

एक वस्तु के भाव से दूसरी का अभाव और एक के अभाव से दूसरी का भाव निश्चित चिह्न के मिलने या न मिलने पर निर्भर है।

स्वस्तिक चिह्न वाली पुस्तक के लिए जैसे स्वस्तिक उपलब्धि-हेतु बनता है, वैसे ही अचिह्नित पुस्तक के लिए चिह्नाभाव अनुपलब्धि-हेतु बनता है, इसलिए यह अनुमान की परिधि से बाहर नहीं जाता।

सम्भव

अविनाभावी अर्थ—जिसके बिना दूसरा न हो सके, वैसे अर्थ की सत्ता ग्रहण करने के द्वारा दूसरे अर्थ की सत्ता बतलाना 'सम्भव' है।[1] इसमे निश्चित अविनाभाव है—पौर्वापर्य, साहचर्य या व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इसलिए यह भी अनुमानपरिवार का ही एक सदस्य है।

ऐतिह्य

प्रवाद-परम्परा का आदि-स्थान न मिले, वह ऐतिह्य है। जो प्रवाद-परम्परा अयथार्थ होती है, वह अप्रमाण है और जिस प्रवाद-परम्परा का आदि-स्रोत आप्त पुरुष की वाणी मिले, वह आगम से अतिरिक्त नही है।[2]

प्रातिभ

प्रातिभ के बारे मे जैनाचार्यों मे दो विचार-परम्पराए मिलती है। वादिदेव सूरि आदि जो न्याय-प्रधान रहे, उन्होने इसका प्रत्यक्ष और अनुमान मे समावेश किया और हरिभद्र सूरि, उपाध्याय यशोविजयजी आदि जो न्याय के साथ-साथ योग के क्षेत्र मे भी चले, उन्होने इसे प्रत्यक्ष और श्रुत के बीच का माना।

पहली परम्परा के अनुसार इन्द्रिय, हेतु और शब्द-व्यापार निरपेक्ष जो स्पष्ट आत्म-प्रतिभान होता है, वह मानस-प्रत्यक्ष मे चला जाता है।

प्रसाद और उद्वेग के निश्चित लिङ्ग से जो प्रिय-अप्रिय फल-प्राप्ति का प्रतिभान होता है, वह अनुमान की श्रेणी मे है।

---

१ सम्भव—अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणात् अन्यस्य सत्ताग्रहणं सम्भवः। स च द्विविधः—१ सम्भावनारूपः—यथा—अमुको मनुष्यो वंशेऽस्ति अतो धनिकोऽपि स्यात्। २ निर्णयरूपः, यथा—धनुरस्य पार्श्वे यदि जनमस्ति तत् पपाशता प्रारभ्य [illegible]।

२ ऐतिह्य—अनिर्दिष्टवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम्।
चरक (विमानस्थान ८।३०) में आगम को भी ऐतिह्य कहा है—तत् प्रत्यक्षमनुमानमै-तिह्यमौपम्यमिति।
ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादि। (चरक विमानस्थान ८।४१)

उपमान

सादृश्य प्रत्यभिज्ञा जैन न्याय का उपमान है।[1]

अर्थापत्ति

अनुमान मे जैसे साध्य-साधन का निश्चित अविनाभाव होता है, वैसे ही अर्थापत्ति मे भी होता है। पुष्ट देवदत्त दिन मे नही खाता—इसका अर्थ यह आया कि वह रात को अवश्य खाता है।[2] इसके साध्य देवदत्त के रात्रि-भोजन के साथ 'पुष्टत्व' साधन का निश्चित अविनाभाव है। इसलिए यह अनुमान से भिन्न नही है, कोरा कथन-भेद है।

अभाव

अभाव प्रमाण दो विरोधियो मे से एक के भाव से दूसरे का अभाव और एक के अभाव से दूसरे का भाव सिद्ध करनेवाला है। केवल भूतल देखने से घट का ज्ञान नही होता। भूतल मे घट, पट आदि अनेक वस्तुओ का अभाव हो सकता है, इसलिए घट-रिक्त भूतल मे घट के अभाव का प्रतियोगी जो घट है, उसका स्मरण करने पर ही अभाव के द्वारा भूतल मे घटाभाव जाना जा सकता है।[3]

जैन-दृष्टि से—१ 'वह अघट भूतल है'—इसका समावेश स्मरण में, २ 'यह वही अघट भूतल है'—इसका प्रत्यभिज्ञा मे, ३ 'जो अग्निमान् नही होता, वह धूमवान् नही होता'—इसका तर्क मे, ४ 'इस भूतल मे घट नहीं है, क्योकि यहा घट का जो स्वभाव मिलना चाहिए, वह नही मिल रहा है'— इसका अनुमान मे, तथा ५ 'सोहन घर पर नही है'—इसका आगम मे समावेश हो जाता है।[4]

सामान्य अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है। कोई भी वस्तु केवल सद्रूप या केवल असद्रूप नही है। वस्तु-मात्र सत्-असत्-रूप (उभयात्मक) है। प्रत्यक्ष के द्वारा जैसे सद्भाव का ज्ञान होता है, वैसे असद्भाव का भी।[5] कारण स्पष्ट है।

१-२ प्रमेयकमलमार्तंड, पृ० ३४५

एकत्वसादृश्यप्रतीत्यो सकलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानताऽनतिक्रमात्।

अर्थादापत्ति अर्थापत्ति, आपत्ति —प्राप्ति प्रसग यथा अभिधीयमानेऽर्थे चान्योर्थं प्रसज्यते सोऽर्थापत्ति, यथा—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, इत्यभिधानाद् रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते।

३ मीमासाश्लोकवार्तिक, पृ० ४७३

प्रमाणपचक यत्र, वस्तुरूपेण जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं, तत्राऽभाव-प्रमाणता ॥

४ प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, २।१।

५ न्यायावतार, पृ० २१।

चार भेद परोक्ष मे।[1] अश्रुत-निश्रित मति के चार भेद—औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय का समावेश किसी प्रमाण के अन्तर्गत किया हुआ नही मिलता।

जिनभद्रगणि ने वुद्धि चतुष्टय मे भी अवग्रह आदि की योजना की है[2]। परन्तु उसका सम्वन्ध मतिज्ञान के २८ भेद विपयक चर्चा से है।[3] अश्रुत-निश्रित मति को किस प्रमाण मे समाविष्ट करना चाहिए, यह वहा मुख्य चर्चनीय नही है।

औत्पत्तिकी आदि वुद्धि-चतुष्टय मे अवग्रह आदि होते हैं, फिर भी यह व्यवहार प्रत्यक्ष से पूर्ण समता नही रखता। उसमे पदार्थ का इन्द्रिय से साक्षात् होता है, इसमे नही। वह शास्त्रोपदेशजनित सस्कार होता है और यह आत्मा की सहज स्फुरणा। इसलिए यह केवल और श्रुत के वीच का ही होना चाहिए तथा इसका प्रातिभ के साथ पूर्ण सामजस्य दीखता है। इसे केवल और श्रुत के वीच का ज्ञान इसलिए मानना चाहिए कि इससे न तो समस्त द्रव्य-पर्यायो का ज्ञान होता है और न यह इन्द्रिय, लिङ्ग आदि की सहायता तथा शास्त्राभ्यास आदि के निमित्त से उत्पन्न होता है। पहली परम्परा के प्रातिभज्ञान के लक्षण इससे भिन्न नही है। मानस-प्रत्यक्ष इसी का नामान्तर हो सकता है और जो निश्चित लिङ्ग के द्वारा होने वाला प्रातिभ कहा गया है, वह वास्तव मे अनुमान है। जो उसे प्रातिभ मानते हैं, उनकी अपेक्षा उसे प्रातिभ कहकर उसे अनुमान के अन्तर्गत किया गया है।

प्रमाता और प्रमाण का भेदाभेद

प्रमाता आत्मा है, वस्तु है। प्रमाण निर्णायक ज्ञान है, आत्मा का गुण है। प्रमेय आत्मा भी है और आत्म-अतिरिक्त पदार्थ भी। प्रमिति प्रमाण का फल है।

गुणी से गुण न अत्यन्त भिन्न होता है और न अत्यन्त अभिन्न किन्तु दोनो भिन्नाभिन्न होते हैं। प्रमाण प्रमाता मे ही होता है, इस दृष्टि से इनमे कथचिद् अभेद है। कर्ता और करण के रूप मे ये भिन्न हैं—प्रमाता कर्ता है और प्रमाण करण। अभेद-कक्षा मे ज्ञाता और ज्ञान का साधन—ये दोनो आत्मा या जीव कहलाते हैं। भेद-कक्षा मे आत्मा ज्ञाता कहलाता है और ज्ञान जानने का साधन।[4] ज्ञान आत्मा ही है, आत्मा ज्ञान भी है और ज्ञान-व्यतिरिक्त भी—इस दृष्टि से भी

---

१ प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ३।२

२ विशेपावश्यकभाष्य, गाथा ३०० ०६।

३ वही, गाथा ३०५ वृत्ति ।

४ (क) आयारो, ५।५

जे विण्णाया से आया जेण वियाणइ से आया।

(ख) भगवती, ६।१० वृत्ति—

दूसरी परम्परा—प्रातिभ-ज्ञान न केवलज्ञान है, न श्रुतज्ञान और न ज्ञानान्तर।[1] इसकी दशा ठीक अरुणोदय सध्या जैसी है। अरुणोदय न दिन है, न रात और न दिन-रात से अतिरिक्त है। यह आकस्मिक प्रत्यक्ष है और यह उत्कृष्ट क्षयोपशम (निरावरण दशा) या योग-शक्ति से उत्पन्न होता है।

प्रातिभ-ज्ञान विवेक-जनित ज्ञान का पूर्व-रूप है। सूर्योदय से कुछ पूर्व प्रकट होने वाली सूर्य की प्रभा से मनुष्य सब वस्तुओं को देख सकता है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान के द्वारा योगी सब बातो को जान लेता है।[2]

समन्वय

वस्तुत जैन ज्ञान-मीमासा के अनुसार प्रातिभ-ज्ञान अश्रुत-निश्रित-मतिज्ञान का एक प्रकार है, जिसका नाम है—'औत्पत्तिकी बुद्धि'। नन्दी मे उसके निम्न लक्षण बतलाए हैं—'पहले अदृष्ट, अश्रुत, अज्ञात अर्थ का तत्काल बुद्धि के उत्पाद-काल मे अपने आप सम्यग् निर्णय हो जाता है और उसका परिच्छेद्य अर्थ के साथ अबाधित योग होता है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है।'[3]

मतिज्ञान के दो भेद होते हैं—श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित।[4] श्रुतनिश्रित के अवग्रह आदि चार भेद व्यावहारिक प्रत्यक्ष मे चले जाते हैं।[5] और स्मृति आदि

---

१ अध्यात्म उपनिषद् २।२

योगजादृष्टिजनित स तु प्रातिभसज्ञित ।
सन्ध्येव दिनरात्रिभ्या, केवलश्रुतयो पृथक् ॥

२ (क) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ५२६

इन्द्रियादिबाह्यसामग्रीनिरपेक्ष हि मनोमात्रसामग्रीप्रभव अथतया भावप्रकाश ज्ञान प्रतिभेति प्रसिद्धम्—श्वो मे भ्राता आगन्ता, इत्यादिवत् ।

(ख) न्यायमजरी विवरण, पृ० १०६,१०७ जयत

अपि चानागत ज्ञानमस्मदादेरपि क्वचित् ।
प्रमाण प्रातिभ श्वो मे भ्रातागन्तेति दृश्यते ॥
नानथज न सदिग्ध न बादविधुरीकृतम् ।
न दुष्टकारणञ्चेति, प्रमाणमिदमिष्यताम् ॥

३ नन्दी, सूत्र ३८

पुव्वमदिट्ठ-मसुय मवेइय-तक्खणविसुद्धगहिअत्था ।
अव्वाहय-फलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया नाम ॥

४ वही, सूत्र ३७ ।

५ प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, २।५

६

निक्षेप

शब्द-प्रयोग की प्रक्रिया

ससारी जीवो का समूचा व्यवहार पदार्थाश्रित है । पदार्थ अनेक हैं। उन सबका व्यवहार एक साथ नही होता। वे अपनी पर्याय मे पृथक्-पृथक् होते हैं। उनकी पहचान भी पृथक्-पृथक् होनी चाहिए। यह एक बात है। दूसरी बात है—मनुष्य का व्यवहार सहयोगी है। मनुष्य करता और कराता है, देता और लेता है, सीखता और सिखाता है। पदार्थ के बिना क्रिया नही होती, लेन-देन नही होता, सीखना-सिखाना भी नही होता। इस व्यवहार का साधन चाहिए। उसके विना 'क्या करे, क्या दे, किसे जाने'—इनका कोई समाधान नही मिलता। इन समस्याओ को सुलझाने के लिए सकेत-पद्धति का विकास हुआ और शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष माने जाने लगे।

स्वरूप की दृष्टि से पदार्थ और शब्द मे कोई अपनापन नही। दोनो अपनी-अपनी स्थिति मे स्वतन्त्र हैं। किन्तु उक्त समस्याओ के समाधान के लिए दोनो एकता की शृङ्खला मे जुडे हुए हैं। इनका आपस मे वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। यह भिन्नाभिन्न है। अग्नि शब्द के उच्चारण से दाह नही होता, इससे हम जान सकते हैं कि 'अग्नि पदार्थ' और शब्द' एक नही हैं। ये दोनो सर्वथा एक नहीं हैं, ऐसा भी नही। अग्नि शब्द से अग्नि पदार्थ का ही ज्ञान होता है। इससे हम जान सकते हैं कि इन दोनो मे अभेद भी है। भेद स्वभाव-कृत है और अभेद सकेत-कृत। सकेत इन दोनो के भाग्य को एक सूत्र मे जोड देता है। इससे अर्थ मे 'शब्द-ज्ञेयता' नामक पर्याय और शब्द मे 'अर्थ-ज्ञापकता' नामक पर्याय की अभिव्यक्ति होती है।

सकेत-काल मे जिस वस्तु के बोध के लिए जो शब्द गढा जाता है वह वही रहे, तब कोई समस्या नही आती। किन्तु ऐसा होता नही। वह आगे चलकर अपना क्षेत्र विशाल बना लेता है। उससे फिर उलझन पैदा होती है और वह शब्द

प्रमाता और प्रमाण मे भेद है।[1]

प्रमाता और प्रमेय का भेदाभेद

प्रमाता चेतन ही होता है, प्रमेय चेतन और अचेतन दोनो होते हैं। इस दृष्टि से प्रमाता प्रमेय से भिन्न है। ज्ञेय-काल मे जो आत्मा प्रमेय बनती है, वही ज्ञान-काल मे प्रमाता बन जाती है, इस दृष्टि से ये अभिन्न भी हैं।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

प्रमाण साधन है और फल साध्य—इस दृष्टि से दोनो भिन्न हैं। प्रमाण और फल इन दोनो का अधिकरण एक ही प्रमाता होता है। प्रमाण-रूप मे परिणत आत्मा ही फल-रूप मे परिणत होती है—इस दृष्टि मे ये अभिन्न भी हैं।[2]

---

१ भगवती, १२।१ णाणे पुण णियम आया।

२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ४३
स्वस्मिन्नेव प्रमोत्पत्ति, स्वप्रमातृत्वमात्मन
ऽमेयत्वमपि स्वस्य, प्रमितिश्चेयमागता।

दो प्रकार की होती है—सद्भाव (तदाकार) स्थापना और असद्भाव (अतदाकार) स्थापना। एक व्यक्ति अपने गुरु के चित्र को गुरु मानता है, यह सद्भाव-स्थापना है। एक व्यक्ति ने शख मे अपने गुरु का आरोप कर दिया, यह असद्भाव-स्थापना है। नाम और स्थापना दोनो वास्तविक अर्थ-शून्य होते हैं।

द्रव्य-निक्षेप

अतीत-अवस्था, भविष्यत्-अवस्था और अनुयोग-दशा—ये तीनो विवक्षित क्रिया मे परिणत नही होते, इसलिए इन्हे द्रव्य-निक्षेप कहा जाता है। भाव-शून्यता—वर्तमान-पर्याय की शून्यता के उपरान्त भी जो वर्तमान पर्याय से पहचाना जाता है, यही इसमे द्रव्यता का आरोप है।

भाव-निक्षेप

वाचक द्वारा सकेतित क्रिया मे प्रवृत्त व्यक्ति को भाव-निक्षेप कहा जाता है।[1] इनमे (द्रव्य और भाव निक्षेप मे) शब्द-व्यवहार के निमित्त ज्ञान और क्रिया—ये दोनो बनते हैं। इसलिए इनके दो-दो भेद होते है—

(१,२) जाननेवाला द्रव्य और भाव।

(३,४) करनेवाला द्रव्य और भाव।

ज्ञान की दो दशाए होती है—(१) उपयोग—दत्तचित्तता।

(२) अनुपयोग—दत्तचित्तता का अभाव।

अध्यापक शब्द का अर्थ जाननेवाला उसके अर्थ मे उपयुक्त (दत्तचित) नही होता। इसलिए वह आगम या जाननेवाले की अपेक्षा द्रव्य-निक्षेप है।

अध्यापक शब्द का अर्थ जानता था, उसका शरीर 'ज्ञ-शरीर' कहलाता है और उसे आगे जानेगा, उसका शरीर 'भव्य-शरीर'। ये भूत और भावी पर्याय के कारण है, इसलिए द्रव्य हैं।

वस्तु की उपकारक सामग्री मे वस्तुवाची शब्द का व्यवहार किया जाता है, वह 'तद्-व्यतिरिक्त' कहलाता है। जैसे—अध्यापक के शरीर को अध्यापक कहना अथवा अध्यापक की अध्यापन के समय होनेवाली हस्त-सकेत आदि क्रिया को अध्यापक कहना। 'ज्ञ-शरीर' मे अध्यापक शब्द का अर्थ जाननेवाले व्यक्ति का शरीर अपेक्षित है और तद्-व्यतिरिक्त में अध्यापक का शरीर।

१ ज्ञाता अनुपयुक्त आगम से द्रव्य-निक्षेप।

२ ज्ञाता का मृतक शरीर नो-आगम से मृत-ज्ञ-शरीर—द्रव्य-निक्षेप।

---

१ जैनसिद्धान्त दीपिका, ६।६

पदार्थ मात्र चतुष्पर्यायात्मक होता है। कोई भी वस्तु केवल नाममय, केवल आकारमय, केवल द्रव्यता-श्लिष्ट और केवल भावात्मक नही होती।
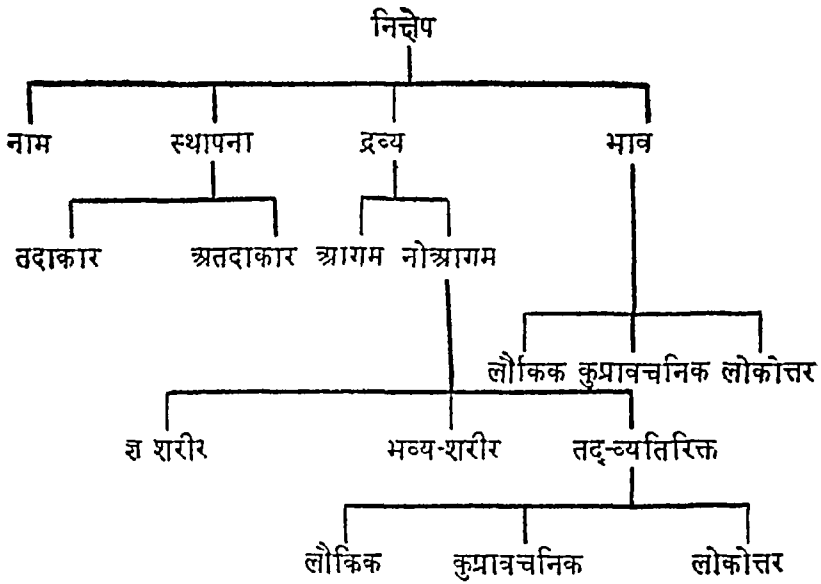
नय और निक्षेप

नय और निक्षेप का विषय-विषयी सम्बन्ध है। वाच्य और वाचक का सम्बन्ध तथा उसकी क्रिया नय से जानी जाती है। नामादि तीन निक्षेप द्रव्य-नय के विषय हैं, भाव पर्याय-नय का। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य-अन्वय होता है। नाम, स्थापना और द्रव्य का सम्बन्ध तीन काल से होता है, इसलिए ये द्रव्यार्थिक के विषय बनते हैं। भाव मे अन्वय नही होता है। उसका सम्बन्ध केवल वर्तमान-पर्याय से होता है, इसलिए वह पर्यायार्थिक का विषय बनता है।

निक्षेप का आधार

निक्षेप का आधार प्रधान-अप्रधान, कल्पित और अकल्पित दृष्टि-विन्दु है। भाव अकल्पित दृष्टि है, इसलिए वह प्रधान होता है। शेष तीन निक्षेप कल्पित होते हैं, इसलिए वे अप्रधान होते हैं।

नाम मे पहचान और स्थापना मे आकार की भावना होती है, गुण की वृत्ति नही होती। द्रव्य मूल-वस्तु की पूर्वोत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य वस्तु होती है। इसमे भी मौलिकता नही होती। इसलिए ये तीनो मौलिक नही होते।

३ भावी पर्याय का उपादान नो-आगम से भावी-ज्ञ-शरीर—द्रव्य-निक्षेप।

४ पदार्थ से सम्बन्धित वस्तु मे परार्थ का व्यवहार नो-आगम से तद्-व्यतिरिक्त—द्रव्य-निक्षेप। जैसे—वस्त्र के कर्ता व वस्त्र-निर्माण की सामग्री को वस्त्र कहना।

आगम-द्रव्य-निक्षेप मे उपयोगरूप आगम-ज्ञान नही होता, लब्धि-रूप (शक्ति-रूप) होता है। नो-आगम द्रव्यो मे दोनो प्रकार का आगम-ज्ञान नही होता, सिर्फ आगम-ज्ञान का कारणभूत शरीर होता है। नो-आगम तद्व्यतिरिक्त मे आगम का सर्वथा अभाव होता है। यह क्रिया की अपेक्षा द्रव्य है। इसके तीन रूप बनते हैं—लौकिक, कुप्रावचनिक, लोकोत्तर।

१ लोकमान्यतानुसार 'दूब' मगल है।

२ कुप्रावचनिक मान्यतानुसार 'विनायक' मगल है।

३ लोकोत्तर मान्यतानुसार 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म' मगल है।

ज्ञाता उपयुक्त (अध्यापक शब्द के अर्थ मे उपयुक्त)—आगम से भाव-निक्षेप।

ज्ञाता क्रिया-प्रवृत्त (अध्यापन-क्रिया मे प्रवृत्त)—नो-आगम से भाव-निक्षेप।

यहा 'नो' शब्द मिश्रवाची है, क्रिया के एक देश मे ज्ञान है। इसके भी तीन रूप बनते हैं—

१ लौकिक

२ कुप्रावचनिक

३ लोकोत्तर

नो-आगम-तद्-व्यतिरिक्त द्रव्य के लौकिक आदि तीन भेद और नो-आगम भाव के तीन रूप बनते हैं। इनमे यह अन्तर है कि द्रव्य मे नो शब्द सर्वथा आगम का निषेध बताता है और भाव एक देश मे।[1] द्रव्य-तद्व्यतिरिक्त का क्षेत्र सिर्फ क्रिया है और इसका क्षेत्र ज्ञान और क्रिया दोनो हैं। अध्यापन करानेवाला हाथ हिलाता है, पुस्तक के पन्ने उलटता है, इस क्रियात्मक देश मे ज्ञान नहीं है और वह जो पढाता है, उसमे ज्ञान है, इसलिए भाव मे 'नो शब्द' देशनिषेधवाची है।

निक्षेप के सभी प्रकारो की सब द्रव्यो मे सगति होती है, ऐसा नियम नही है। इसलिए जिनकी उचित सगति होती हो, उन्हीं की करनी चाहिए।

---

१ आगम सव्वनिसेहे, नो सद्दो अहव देसपडिसेहे।—'नो शब्द' के दो अर्थ होते हैं—सर्व-निषेध और देश-निषेध। यहां नो शब्द दोनो प्रकार के निषेध के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

७

लक्षण

लक्षण

समग्र वस्तुनो रूप, प्रमाणेन प्रमीयते।
असङ्कीर्णं स्वरूप हि, लक्षणेनावधार्यते ॥

अर्थ-सिद्धि के दो साधन हैं—लक्षण और प्रमाण।[1] प्रमाण के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय होता है। लक्षण निश्चित स्वरूप वाली वस्तुओ को श्रेणीबद्ध करता है। प्रमाण हमारा ज्ञानगत धर्म है, लक्षण वस्तुगत धर्म। यह जगत् अनेक-विध पदार्थों से सकुल है। हमे उनमे से किसी एक की अपेक्षा होती है, तब उसे औरो से पृथक् करने के लिए विशेष-धर्म बताना पडता है, वह लक्षण है।[2] लक्षण मे लक्ष्य-वस्तु के स्वभाव-धर्म, अवयव अथवा अवस्था का उल्लेख होना चाहिए। इसके द्वारा हम ठीक लक्ष्य को पकडते हैं, इसलिए इसे व्यवच्छेदक (व्यावर्तक) धर्म कहते हैं। व्यवच्छेदक धर्म वह होता है जो वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता (असकीर्ण व्यवस्था) बतलाए। स्वतन्त्र पदार्थ वह होता है, जिसमे एक विशेष गुण (दूसरे पदार्थों मे न मिलनेवाला गुण) मिले।

स्वभावधर्म-लक्षण

चैतन्य जीव का स्वभाव-धर्म है। वह जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करता है, इसलिए वह जीव का गुण है और वह हमे जीव को अजीव से पृथक् समझने मे सहायता देता है, इसलिए वह जीव का लक्षण बन जाता है।

---

१ भिक्षुन्यायकर्णिका, १।४।
२ वही, १।५।

पशु जाति के सब सदस्यो मे नही मिलता। 'घोडा एक पशु है किन्तु उसके सीग नही होते' इसलिए यह 'अव्याप्त-दोप' है।

२ 'वायु चलनेवाली होती है'—इसमे वायु का लक्षण गति है। यह वायु मे पूर्ण रूप से मिलता है किन्तु वायु के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओ मे भी मिलता है। "घोडा वायु नही, फिर भी वह चलता है" इसलिए यह 'अतिव्याप्त-दोप' है।

३ पुद्‌गल (भूत) चैतन्यवान् होता है—यह जड पदार्थ का 'असम्भव लक्षण' है। जड और चेतन का अत्यन्ताभाव होता है—किसी भी समय जड चेतन और चेतन जड नही वन मकता।

वर्णन और लक्षण मे भेद

वस्तु मे दो प्रकार के धर्म होते हैं—स्वभाव-धर्म और स्वभाव-सिद्ध-धर्म। प्राणी ज्ञान वाला होता है—यह प्राणी नामक वस्तु का स्वभाव-धर्म है। प्राणी वह होता है, जो खाता है, पीता है, चलता है—ये उसके स्वभाव-सिद्ध-धर्म है। 'ज्ञान' प्राणी को अप्राणी वर्ग से पृथक् करता है, इसलिए वह प्राणी का लक्षण है। खाना, पीना, चलना—ये प्राणी को अप्राणी वर्ग से पृथक् नही करते। इजिन भी खाता है, पीता है, चलता है, इसलिए ये प्राणी के लक्षण नही वनते, सिर्फ उसका वर्णन करते है।

अवयव-लक्षण

सास्ना (गलकम्बल) गाय का अवयव विशेष है। वह गाय के ही होता है। दूसरे पशुओं के नहीं होता, इसलिए वह गाय का लक्षण बन जाता है। जो आदमी गाय को नहीं जानता उसे हम 'सास्ना चिह्न' समझाकर गाय का ज्ञान करा सकते हैं।

अवस्था-लक्षण

दस आदमी जा रहे है। उनमें से एक आदमी को बुलाना है। जिसे बुलाना है, उसके हाथ में डण्डा है। आवाज हुई—"डण्डेवाले आदमी! आओ।" दस में से एक आ जाता है। इसका कारण उसकी एक विशेष अवस्था है।

अवस्था-लक्षण स्थायी नहीं होता। डण्डा हर समय उसके पास नहीं रहता। इसलिए इसे कादाचित्क लक्षण कहा जाता है। इसका दूसरा नाम अनात्मभूत लक्षण भी है। कुछ समय के लिए भले ही, किन्तु यह वस्तु का व्यवच्छेद करता है, इसलिए इसे लक्षण मानने में कोई आपत्ति नहीं आती।

पहले दो प्रकार के लक्षण स्थायी (वस्तुगत) होते हैं, इसलिए उन्हें 'आत्मभूत' कहा जाता है।

लक्षण के दो रूप

विषय के ग्रहण की अपेक्षा से लक्षण के दो रूप बनते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। ताप के द्वारा अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'ताप' अग्नि का प्रत्यक्ष लक्षण है। धूम के द्वारा अग्नि का परोक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'धूम' अग्नि का परोक्ष लक्षण है।

लक्षण के तीन दोष—लक्षणाभास[1]

किसी वस्तु का लक्षण बनाते समय हमें तीन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। जैसे, लक्षण—

१ श्रेणी के सब पदार्थों में होना चाहिए।

२ श्रेणी के बाहर नहीं होना चाहिए।

३ श्रेणी के लिए असम्भव नहीं होना चाहिए।

लक्षणाभास के उदाहरण

१ 'पशु सींग वाला होता है'—यहां पशु का लक्षण सींग है। यह लक्षण

---

१ भिक्षुन्यायकर्णिका, १।६।

सत्य माना है।[1] प्रो० आइन्स्टीन के अनुसार सत्य के दो रूप किए बिना हम उसे छू ही नही सकते।[2]

निश्चय-दृष्टि अभेद-प्रधान होती है, व्यवहार दृष्टि भेद-प्रधान। निश्चय-दृष्टि के अनुसार जीव शिव है और शिव जीव है। जीव और शिव मे कोई भेद नही। व्यवहार-दृष्टि कर्म-बद्ध आत्मा को जीव कहती है और कर्म-मुक्त आत्मा को शिव।[3]

कारण-कार्य

प्रत्येक पदार्थ मे पल-पल परिणमन होता है। परिणमन से पौर्वापर्य आता है। पहलेवाला कारण और पीछेवाला कार्य कहलाता है। यह कारण-कार्य-भाव एक ही पदार्थ की द्विरूपता है।[4] परिणमन के बाहरी निमित्त भी कारण बनते है। किन्तु उनका कार्य के साथ पहले-पीछे कोई सम्बन्ध नही होता, सिर्फ कार्य-निष्पत्ति काल मे ही उनकी अपेक्षा रहती है।

परिणमन के दो पहलू हैं—उत्पाद और नाश। कार्य का उत्पाद होता है और कारण का नाश। कारण ही अपना रूप त्यागकर कार्य को रूप देता है, इसीलिए कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति का नियम है। सत् से सत् पैदा होता है। सत् असत् नही बनता और असत् सत् नही बनता। जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न होगा, वह उसी से होगा, किसी दूसरे से नही। और कारण भी जिसे उत्पन्न करता है उसी को करेगा, किसी दूसरे को नही। एक कारण से एक ही कार्य उत्पन्न होगा। कारण और कार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिए कार्य से कारण का और कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है।

एक कार्य के अनेक कारण और एक कारण से अनेक कार्य बनें यानी बहु-कारणवाद या बहु-कार्यवाद माना जाए तो कारण से कार्य का और कार्य से कारण का अनुमान नही हो सकता।

---

१ छान्दोग्य उपनिषद्, ६।८।७, शाकरभाष्य, पृ० ६६१।

२ Mysterious universe, p 138
We can only know the relative truth but absolute truth is know only to the universal observer

३ जीव शिव शिवोजीवो, नान्तर शिवजीवयो।
कर्मबद्धो भवेज्जीव, कर्म-मुक्त सदा शिव॥

४ व्यक्ताऽव्यक्तात्मरूप यत्, पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेपि तद् द्रव्य-मुपादानमिति स्मृतम्॥

८

कार्यकारणवाद

कार्यकारणवाद

असत् का प्रादुर्भाव—यह भी अर्थ-सिद्धि का एक रूप है। न्यायशास्त्र असत् के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया नही बताता किन्तु असत् से सत् बनता है या नही—इसकी मीमासा करता है। इसी का नाम कार्यकारणवाद है।

वस्तु का जैसे स्थूल रूप होता है, वैसे ही सूक्ष्म रूप भी होता है। स्थूल रूप को समझने के लिए हम स्थूल सत्य या व्यवहार-दृष्टि को काम मे लेते हैं। मिश्री की डली को हम सफेद कहते हैं। यह चीनी से बनती है, यह भी कहते हैं। अब निश्चय की बात देखिए। निश्चय-दृष्टि के अनुसार उसमे सब रग हैं। विश्लेषण करते-करते हम यहा तक आ जाते हैं कि वह परमाणुओ से बनी है। ये दोनो दृष्टिया मिल सत्य को पूर्ण बनाती हैं। जैन दर्शन की भाषा मे ये 'निश्चय और व्यवहार नय' कहलाती हैं।[1] बौद्ध दर्शन मे इन्हे लोक-सवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य कहा जाता है।[2] शकराचार्य ने ब्रह्म को परमार्थ-सत्य और प्रपच को व्यवहार

---

१ भिक्षुन्यायकर्णिका, ५।७

२ (क) माध्यमिककारिका, २४।८

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसवृतिसत्य च, सत्य च परमार्थत॥

(ख) वही, ६।२३,२४

सम्यग्मृषादर्शनलब्धभाव, रूपद्वय बिभ्रति सर्वभावा।
सम्यग्दृशो यो विषय स तत्त्व मृषादृशां सवृतिसत्यमुक्तम्॥
मृषादृशोऽपि द्विविधास्त इष्टा, दीप्तेन्द्रिया इन्द्रियदोषवन्त।
दुष्टेन्द्रियाणां किल बोध इष्ट सुस्थेन्द्रियज्ञानमपेक्ष्य मिथ्या॥

तत्त्वचिन्तन मे 'विवर्त्त' गम्भीर मूल्य उपस्थित नही करता। रस्सी म साप का प्रतिभास होता है, उसका कारण रस्सी नही, द्रष्टा की दोषपूर्ण सामग्री है। एक काल मे एक व्यक्ति को दोषपूर्ण सामग्री के कारण मिथ्या प्रतीति हो सकती है किन्तु सर्वदा सब व्यक्तियो को मिथ्या प्रतीति नही होती।

न्याय-वैशेषिक कार्य-कारण का एकान्त भेद स्वीकार करते है। साख्य द्वैतपरक अभेद[1], वेदान्त अद्वैतपरक अभेद[2], बौद्ध कार्य-कारण का भिन्न काल स्वीकार करते है।[3]

जैन-दृष्टि के अनुसार कार्य-कारण रूप मे सत् और कार्य रूप मे असत् होता है। इसे सत्-असत् कार्यवाद या परिणामि-नित्यत्ववाद कहा जाता है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार कार्य और कारण एक है—अभिन्न हैं। काल और अवस्था के भेद से पूर्व और उत्तर रूप मे परिवर्तित एक ही वस्तु को निश्चय-दृष्टि भिन्न नही मानती। व्यवहार-दृष्टि मे कार्य और कारण भिन्न हैं—दो है। द्रव्य-दृष्टि से जैन-सत्-कार्यवादी है और पर्याय दृष्टि से असत्-कार्यवादी। द्रव्य-दृष्टि की अपेक्षा "भाव का नाश और अभाव का उत्पाद नही होता।"[4] पर्याय-दृष्टि की अपेक्षा—"सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है।"[5]

कारण-कार्य जानने की पद्धति

कारण-कार्य का सम्बन्ध जानने की पद्धति को अन्वय-व्यतिरेक पद्धति कहा जाता है। जिसके होने पर ही जो होता है, वह अन्वय है और जिसके बिना जो नही होता, वह व्यतिरेक है। ये दोनो जहा मिलें, वहा कार्य-कारण-भाव जाना जाता है।

परिणमन के हेतु

जो परिवर्तन काल और स्वभाव से ही होता है, वह स्वाभाविक या अहेतुक कहलाता है। 'प्रत्येक कार्य कारण का आभारी होता है'—यह तर्क-नियम सामान्यत सही है किन्तु स्वभाव इसका अपवाद है। इसीलिए उत्पाद के दो रूप बनते हैं—

---

१ सांख्यकौमुदी, ९ कायस्य कारणात्मकत्वात्। नहि कारणाद् भिन्न कार्यम्।

२ ब्रह्मसूत्र, २।२।१७ (शाकरभाष्य)
"नहि कार्यकारणयोर्भेद आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तिभिरभ्युपगम्यते।
कारणस्यैव सस्थानमात्र कार्यमित्यभ्युपगमात्।

३ प्रमाणवार्तिक, २-१४९

४ पचास्तिकाय, १५ भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो।

५ पचास्तिकाय, ६०
एव सदो विणासो, असदो जीवस्स होइ उप्पादो।

विविध विचार

कार्य-कारणवाद के वारे मे भारतीय दर्शन की अनक धाराए हैं—

१ न्याय-वैशेपिक कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनका कार्य-कारणवाद 'आरम्भवाद या असत्-कार्यवाद' कहलाता है।

२ साख्य कार्य और कारण दोनो को सत् मानते हैं, इसलिए उनकी विचार-धारा 'परिणामवाद या सत् कार्यवाद' कहलाती ह।

३ वेदान्ती कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनके विचार को 'विवर्त्तवाद या सत्-कारणवाद' कहा जाता है।

४ वौद्ध असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं, इसे 'प्रतीत्य-समुत्पाद' कहा जाता है।

वौद्ध असत् कारण से सत् कार्य मानते हैं, उस स्थिति मे वेदान्ती सत् कारण से असत् कार्य मानते ह। उनके मतानुसार वास्तव मे कारण और कार्य एक-रूप हो, तव दोनो सत् होते हैं।[1] कार्य और कारण को पृथक् माना जाए, तव कारण सत् और आभासित कार्य असत् होता है। इसी का नाम 'विवर्तवाद' है।

१ कार्य और कारण सर्वथा भिन्न नही होते । कारण काय का ही पूर्व-रूप है और काय कारण का उत्तर-रूप। असत् कार्यवाद के अनुसार कार्य-कारण एक ही सत्य के दो पहलू न होकर दोनो स्वतन्त्र वन जाते हैं। इसलिए यह युक्ति-सगत नही।

२ सत्-कार्यवाद भी एकागी है। कार्य और कारण मे अभेद है सही किन्तु वे सर्वथा एक नही हैं। पूर्व और उत्तर स्थिति मे पूण सामजस्य नही होता।

३ असत् कारण से कार्य उत्पन्न हो तो कार्य-कारण की व्यवस्था नही वनती। काय किसी शून्य मे उत्पन्न नही होता। सवथा अभूतपूर्व और सर्वथा नया भी उत्पन्न नही होता। कारण सर्वथा मिट जाए, उस दशा मे कार्य का कोई रूप वनता ही नही।

४ विवर्त्त परिणाम से भिन्न कल्पना उपस्थित करता है। वर्तमान अवस्था त्यागकर रूपान्तरित होना परिणाम है। दूध दही के रूप मे परिणत होता है, यह परिणाम है। विवर्त्त अपना रूप त्यागे विना मिथ्या प्रतीति का कारण वनता है। रस्सी अपने रूप का त्याग किये विना ही मिथ्या प्रतीति का कारण वनती है।[2]

---

१ शाकरभाष्य, २।१।१८

सतोर्हि द्वयो सम्बन्ध स्यान्नसदसतोरसतो र्वा।

२ वेदान्तसार

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित ।

अतत्त्वतो ऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरित ॥

तैजस् परमाणु तिमिर के रूप मे परिणत हो जाते हैं—यह रूपान्तर है, पर स्वभाव की मर्यादा का अतिक्रमण नही। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन अपनी सीमा के अन्तर्गत ही होता है, उससे आगे नही। तैजस् परमाणु असख्य या अनन्त रूप पा सकते हैं किन्तु चैतन्य नही पा सकते। कारण, वह उनकी मर्यादा या वस्तु-स्वरूप से अत्यन्त या त्रैकालिक भिन्न-गुण है। यही बात अर्थान्तर के लिए समझिए।

दो सरीखी वस्तुए अलग-अलग थी, तब तक वे दो थी। दोनो मिलती है, तब एक बन जाती हैं।[1] यह भी अपनी मर्यादा मे ही होता है। केवल चैतन्यमय या केवल अचैतन्यमय पदार्थ है नहा, ऐसा स्पष्ट बोध हो रहा है। यह जगत् चेतन और जड—इन दो पदार्थों से परिपूर्ण है। चेतन जड और जड चेतन बन सके तो कोई व्यवस्था नही बनती। इसलिए पदार्थ का जो विशेप स्वरूप है वह कभी नष्ट नही होता। यही कारण और कार्य के अविच्छिन्न एकत्व की धारा है।

मार्क्स के धर्म-परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के सिद्धान्त मे कार्य-कारण का निश्चित नियम नही है। वह पदार्थ का परिवर्तन मात्र स्वीकार नही करता। उसका सर्वथा नाश और सर्वथा उत्पाद भी स्वीकार करता है। जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा—इसे वह समाज के विकास मे भारी रुकावट मानता है। सच तो यह है कि 'जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा'—वाली धारणा का हमे लगभग सब जगह सामना करना पडता है और व्यक्तियो और समाज के विकास मे भारी रुकावट पडती है।"[2]

किन्तु यह आशका कार्य-कारण के एकागी रूप को ग्रहण करने का परिणाम है। जो था, है और वैसा ही रहेगा—यह तत्त्व के अस्तित्व या कारण की व्याख्या है। कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या मे पदार्थ परिणाम-स्वभाव है। पूर्ववर्ती और परवर्ती मे सम्बन्ध हुए बिना कार्य-कारण की स्थिति ही नही बनती। परवर्ती पूर्ववर्ती का ऋणी होता है, पूर्ववर्ती परवर्ती मे अपना सस्कार छोड जाता है।[3] यह शब्दान्तर से 'परिणामी नित्यत्व' का ही स्वीकार है।

---

१ द्रव्यानुयोग तर्कणा, ९।१७।२२
२ मार्क्सवाद, पृ० ७५।
३ पानी जब गर्म होने लगता है तो हमको पहले पानी के रूप मे ही प्रतीत होता है। परन्तु जब ताप-वृद्धि की मात्रा सीमा-विशेप तक पहुच जाती है तो पानी का स्थान भाप ले लेती है। इसी प्रकार के क्रमिक परिवर्तन को मात्रा भेद से लिंग-भेद कहते हैं। दूसरी अवस्था पहली अवस्था की प्रतियोगी—उससे विपरीत होती है परन्तु परिवर्तन-क्रम वही नही रुक सकता, वह और आगे बढता है और मात्रा-भेद से लिंग-भेद होकर तीसरी अवस्था का उदय होता है, जो दूसरी की प्रतियोगी होती है। इस प्रकार पहली की प्रतियोगी की प्रतियोगी होती है। इसको यो कहते हैं कि पूर्वावस्था, तत प्रतिषेध प्रतिषेध का प्रतिषेध—इस क्रम से अवस्था-परिणाम का प्रवाह निरन्तर जारी है। जो अवस्था प्रतिषिद्ध होती है, वह सर्वथा नष्ट नहीं होती, अपने प्रतिषेधक मे अपने सस्कार छोड जाती है। इस प्रकार प्रत्येक परवर्ती मे प्रत्येक पूर्ववर्ती विद्यमान है। धर्म-परिवर्तन की इस प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया कहते हैं।

१ स्व-प्रत्यय-निष्पन्न, वैस्रसिक या स्वापेक्ष परिवर्तन।

२ पर-प्रत्यय-निष्पन्न, प्रायोगिक या परापेक्ष-परिवर्तन।

गौतम भगवन्! क्या अस्तित्व अस्तित्वरूप मे परिणत होता है? नास्तित्व नास्तित्वरूप मे परिणत होता है?

भगवान्—हा, गौतम! होता है।

गौतम—भगवन्! क्या स्वभाव से अस्तित्व अस्तित्व-रूप मे परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से अस्तित्व अस्तित्व रूप मे परिणत होता है? क्या स्वभाव से नास्तित्व नास्तित्व-रूप मे परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से नास्तित्व नास्तित्व रूप मे परिणत होता है?

भगवान्—गौतम! स्वभाव से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप मे, नास्तित्व नास्तित्वरूप मे परिणत होता है और प्रयोग से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप मे और नास्तित्व नास्तित्वरूप मे परिणत होता है।[1]

वैभाविक परिवर्तन प्राय पर-निमित्त से ही होता है। मृद्-द्रव्य का पिंडरूप अस्तित्व कुम्हार के द्वारा घटरूप अस्तित्व मे परिणत होता है। मिट्टी का नास्तित्व तन्तु-समुदय जुलाहे के द्वारा मिट्टी के नास्तित्व कपडे के रूप मे परिणत होता है। ये दोनो परिवर्तन प्रायोगिक हैं। मेघ के पूर्व-रूप पदार्थ स्वय मेघ के रूप मे परिवर्तित होते हैं, यह स्वाभाविक या अकर्तृक परिवर्तन है।

पर-प्रत्यय से होनेवाले परिवर्तन मे कर्त्ता या प्रयोक्ता की अपेक्षा रहती है, इसलिए वह प्रायोगिक कहलाता है। पदार्थ मे जो अगुरु-लघु (सूक्ष्म-परिवर्तन) होता है, वह परनिमित्त से नही होता। प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण और पर्यायो का पिंड होता है। उसके गुण और शक्तिया इसलिए नही बिखरती कि वे प्रतिक्षण अपना परिणमन कर समुदित रहने की क्षमता को बनाए रखती हैं। यदि उनमे स्वाभाविक परिवर्तन की क्षमता न हो तो वे अनन्तकाल तक अपना अस्तित्व बनाए नही रख सकती। सासारिक आत्मा और पुद्गल—इन दो द्रव्यो मे रूपान्तर दशाए पैदा होती है। शेप चार द्रव्यो (धर्म, अधम, आकाश और काल) मे निरपेक्षवृत्या स्वभाव परिवर्तन ही होता है। मुक्त आत्मा मे भी यही होता है। ऐसा कहना चाहिए कि स्व-निमित्त परिवर्तन सब मे होता है। नाश की भी यही प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त उसके दो रूप—रूपान्तर और अर्थान्तर जो बनते हैं, उनसे यह मिलता है कि रूपान्तर होने पर भी परिवर्तन की मर्यादा नही टूटती।[2]

---

१ भगवती, १।३

२ द्रव्यानुयोगतर्कणा, ६।२५,२६।

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो, रूपान्तरविगोचर।
अर्थान्तरगतिश्चैव, द्वितीय परिकीर्तित।
तत्रा घतमसस्तेजो, रूपान्तरस्य सक्रम।
अणोरण्वतरप्राप्तो, ह्यर्थान्तरगमश्च स॥

परिशिष्ट

२ : साहित्य

(क) जैन सस्कृत साहित्य

१ व्याकरण

	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	काल
१	लेखाचार्य	ऐन्द्र व्याकरण	ई० पू० ५९०
२	पूज्यपाद	जैनेन्द्र व्याकरण	वि० ६ठी शती
३	शाकटायन	शब्दानुशासन	वि० ९वी शती
४	हेमचन्द्र (कलिकाल सर्वज्ञ)	सिद्धहेम शब्दानुशासन	वि० १२वी शती
५	मुष्टि व्याकरण	मलयगिरि सूरि	वि० १२३०
६	मुनि चोथमल	भिक्षु शब्दानुशासन	वि० २०वी शती

२ छन्दशास्त्र

१	जयकीर्ति	छन्दोनुशासन	वि० १०५०
२	राजशेखर	छन्दशेखर	वि० ११७९
३	हेमचन्द्र	छन्दोनुशासन	वि० १२१०
४	अमरचन्द्र सूरि	छन्दोरत्नावली	१३वी शती
५	वाग्भट	छन्दोनुशासन	वि० १३५०

३ अलकारशास्त्र

१	वाग्भट	वाग्भटालकार	वि० ११९०
२	हेमचन्द्र	काव्यानुशासन	वि० ११९८
३	अमरचन्द्र सूरि	काव्यकल्पलता	वि० १२८०
४	नरेन्द्रप्रभ सूरि	अलकारमहोदधि	वि० १२८०
५	वाग्भट	काव्यानुशासन	वि० १३५०

१९. आचार्य वज्र
२० आचार्य रक्षित
२१ आचार्य आनन्दिल
२२ आचार्य नागहस्ती
२३ आचार्य रेवतिनक्षत्र
२४ आचार्य ब्रह्मदीपक सिंह
२५ आचार्य स्कन्दिलाचार्य
२६ आचार्य हिमवत
२७ आचार्य नागार्जुन
२८. आचार्य गोविन्द
२९ आचार्य भूतदिन्न
३० आचार्य लौहित्य
३१ आचार्य दूष्यगणि
३२ आचार्य देवर्द्धिगणि

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	काल
(ख) जैन न्याय साहित्य		
१ आचार्य कुन्दकुन्द	प्रवचनसार	वि० २री शती
२ गृद्धपिच्छाचार्य	तत्त्वार्थसूत्र	वि० ३री शती
३ उमास्वाति	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	
४ समन्तभद्र	आप्तमीमासा	वि० ४-५वी शती
	युक्त्यनुशासन	
	वृहत्स्वयभूस्तोत्र	
	जीवसिद्धि	
५ सिद्धसेन	सन्मतितर्क	वि० ५वी शती
६ अकलक देव	लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	वि० ७वी शती
	न्यायविनिश्चय	
	प्रमाणसग्रह	
	सिद्धिविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	
	तत्त्वार्थवार्तिक	
	अष्टशती (आप्तमीमासा की वृत्ति)	
७ हरिभद्र	अनेकान्तजयपताका	वि० ८वी शती
	अनेकान्तवादप्रवेश	
	षड्दर्शनसमुच्चय	
	शास्त्रवार्तासमुच्चय	
	न्यायप्रवेशटीका	
८ कुमारनन्दि	वादन्याय	वि० ८वी शती
अनन्तवीर्य (वृद्ध)	सिद्धिविनिश्चयटीका	वि० ९वी शती
९ विद्यानन्द	अष्टसहस्री	वि० ९वी शती
	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	
	विद्यानन्द महोदय	
	युक्त्यनुशासनटीका	
	आप्तपरीक्षा	
	प्रमाणपरीक्षा	

ग्रन्थकार	गन्थ	काल
४ गणितशास्त्र		
१ महावीराचार्य	गणितसार सग्रह	वि० ९००
२ अनतपाल	पाटी गणित	वि० १२५०
३ ठक्कर फेरू	गणितसार	वि० १३७०
५ नीतिशास्त्र		
१ सोमदेव सूरि	नीतिवाक्यामृत	वि० १०५०
२ तिलकप्रभ सूरि	नीतिशास्त्र	वि० १३वी शती
३ धनद	नीति धनद	वि० १४९०
६ काव्य (गद्य, पद्य, चम्पू)		
१ रविषेण	पद्मपुराण	वि० ८वी शती
२ जिनसेन	हरिवशपुराण	वि० ९वी शती
३ सिद्धर्षि	उपमितिभवप्रपचकथा	वि० ६वी शती
४ धनपाल	तिलकमजरी	वि० १०३०
५ पद्मदेव सूरि	पार्श्वनाथ चरित	वि० ११वी शती
६ सोमदेव	यशस्तिलक चम्पू	वि० ११वी शती
७ धनजय	द्विसधान काव्य	वि० ११वी शती
८ वाग्भट	नेमि निर्वाण	वि० १२वी शती
९ मल्लिषेण सूरि	महापुराण	वि० १२वी शती
१० हेमचन्द्र	त्रिशष्टिशलाकापुरुपचरित्र	वि० १२-१३वी शती
११ हेमचन्द्र	द्वयाश्रय काव्य	वि० १२-१३वी शती
१२ अमरचन्द्र सूरि	पद्मानन्द महाकाव्य	वि० १३वी शती
१३ माणिक्यचन्द्र सूरि	शान्तिनाथ चरित्र	वि० १३वी शती
१४ मेरुतुग सूरि	प्रवन्धचिन्तामणि	वि० १३६१
१५ मुनि भद्रसूरि	शान्तिनाथ चरित्र	वि० १४१०
१६ रत्नप्रभ सूरि	कुवलयमाला	वि० १४वी शती
१७ समयसुन्दर	कथाकोश	१७०२
१८ मत्रविजयगणि	सप्तसन्धान काव्य	१७६०
१९ पुण्यकुशल	भरतवाहुवलि महाकाव्य	

	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	काल
३०	चारूकीर्ति पडिताचार्य	प्रमेयरत्नालकार	
३१	नेमिचन्द्र	प्रवचनपरीक्षा	
३२	मणिकण्ठ	न्यायरत्न	
३३	शुभप्रकाश	न्यायमकरन्दविवेचन	
३४	अभयचन्द्र सूरि	लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति	
३५	रत्नप्रभ सूरि	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	वि० १३वी शती
३६	मल्लिषेण	स्याद्वादमजरी	वि० १४वी शती
३७	यशोविजय	अष्टसहस्री विवरण	वि० १८वी शती
		अनेकान्तव्यवस्था	
		ज्ञानविन्दु	
		जैन तर्कभाषा	
		शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका	
		न्यायखण्डखाद्य	
		अनेकान्तप्रवेश	
		न्यायालोक	
		गुरुतत्त्वविनिश्चय	

	ग्रन्थाकार	ग्रन्थ	काल
		पत्रपरीक्षा	
		सत्यशासनपरीक्षा	
१०	अनन्तकीर्ति	जीवसिद्धिटीका	वि० १०वी शती
		बृहत्सवज्ञसिद्धि	
		लघुसवज्ञसिद्धि	
११	वसुनन्दि	आप्तमीमासावृत्ति	वि० ११-१२वी शती
१२	सिद्धर्षि	न्यायावतारवृत्ति	वि० १०वी शती
१३	माणिक्यनन्दि	परीक्षामुख	वि० ११वी शती
१४	वादिराज सूरि	न्यायविनिश्चयविवरण	वि० ११वी शती
		प्रमाणनिर्णय	
१५	वादीभसिंह	स्याद्वादसिद्धि	वि० ११वी शती
		नवपदार्थ-निश्चय	
१६	अभयदेव सूरि	सन्मतिटीका	वि० ११वीं शती
१७	प्रभाचन्द्र	प्रमेयकमलमार्तण्ड	वि० ११-१२वी शती
		न्यायकुमुदचन्द्र	
१८	अनन्तवीय	प्रमेयरत्नमाला	वि० १२वी शती
१९	शान्ति सूरि	न्यायावतारवार्तिक (सवृत्ति)	वि० ११वी शती
२०	वादिदेव सूरि	प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार	वि० १२वी शती
		स्याद्वादरत्नाकर	
२१	हेमचन्द्र	प्रमाणमीमामा	वि० १२वी शती
		अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	
२२	भावसेन त्रैविद्य	विश्वतत्त्वप्रकाश	वि० १२-१३वी शती
	लघु सामन्तभद्र	अष्टसहस्री टिप्पण	वि० १३वी शती
२३	आशाधर	प्रमेयरत्नाकर	वि० १३वी शती
२४	शान्तिषेण	प्रमेयरत्नसार	वि० १३वी शती
२५	नरेन्द्रसेन	प्रमाणप्रमेयकलिका	
२६	विमलदास	सप्तभगीतरगिणी	
२७	धर्मभूषण	न्यायदीपिका	वि० १५वी शती
२८	अजितसेन	न्यायमणिदीपिका	
२९	शान्तिवर्णी	प्रमेयकण्ठिका	

७ प्रचला—खड़े या बैठे हुए जो नीद आये।

८ प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते जो नीद आए।

९ स्त्यानर्धि—(स्त्यान-गृद्धि) सकल्प किये हुए कार्य को नीद मे कर डाले, वैसी प्रगाढतम नीद।

वेदनीय—अनुभूति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

१ सात वेदनीय—सुखानुभूति का निमित्त—

(क) मनोज्ञ शब्द, (ख) मनोज्ञ रूप, (ग) मनोज्ञ गन्ध, (घ) मनोज्ञ रस, (ङ) मनोज्ञ स्पर्श, (च) सुखित मन, (छ) सुखित वाणी, (ज) सुखित काय।

२ असात वेदनीय—दु खानुभूति का निमित्त—

(क) अमनोज्ञ शब्द, (ख) अमनोज्ञ रूप, (ग) अमनोज्ञ गन्ध, (घ) अमनोज्ञ रस, (ङ) अमनोज्ञ स्पर्श, (च) दु खित मन, (छ) दु खित वाणी, (ज) दु खित काय।

मोहनीय—आत्मा को मूढ बनाने वाले कर्म-पुद्गल।

(क) दर्शन मोहनीय—सम्यक्-दृष्टि को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

१ सम्यक्त्व-वेदनीय—औपशमिक और क्षायिक सम्यक्-दृष्टि के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।

२ मिथ्यात्व-वेदनीय—सम्यक्-दृष्टि (क्षायोपशमिक) के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।

३ मिश्र-वेदनीय—तत्त्व-श्रद्धा की दोलायमान दशा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

(ख) चारित्र मोहनीय—चरित्र-विकार उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

कषाय-वेदनीय—राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

नो-कषाय-वेदनीय—कषाय को उत्तेजित करने वाले कर्म-पुद्गल—

हास्य—सकारण या अकारण (बाहरी कारण के बिना भी) हसी उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

रति—सकारण या अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति राग उत्पन्न करने वाले या सयम मे रुचि उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

अरति—सकारण या अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति द्वेष उत्पन्न करने वाले या सयम मे अरुचि उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

शोक—सकारण या अकारण शोक उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

भय—सकारण या अकारण भय उत्पन्न करने वाले कर्म-पुदगल।

जुगुप्सा—सकारण या अकारण घृणा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

स्त्री-वेद—पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म-

३ : कर्म

ज्ञानावरण—ज्ञान का आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

१ आभिनिबोधिक ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

२ श्रुत-ज्ञानावरण—शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान का आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

३ अवधि-ज्ञानावरण—मूर्त द्रव्य-पुद्गल को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

४ मनःपर्याय-ज्ञानावरण—दूसरों के मन की पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान का आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

५ केवल ज्ञानावरण—सब द्रव्य और पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

दर्शनावरण—सामान्य बोध को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

१ चक्षु-दर्शनावरण—चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

२ अचक्षु-दर्शनावरण—चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रिय और मन से होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

३ अवधि-दर्शनावरण—मूर्त द्रव्यों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

४ केवल दर्शनावरण—सब-द्रव्य-पर्यायों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

५ निद्रा—सामान्य नींद (सोया हुआ व्यक्ति सुख से जाग जाए, वह नींद)।

६ निद्रानिद्रा—घोर नींद (सोया हुआ व्यक्ति कठिनाई से जागे, वह नींद)।

पुद्गल ।

(ख) वैक्रिय-शरीर-नाम—विविध क्रिया कर सकने वाले कामरूपी शरी॰ की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल ।

(ग) आहारक-शरीर-नाम—आहारक-लब्धिजन्य शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल ।

(घ) तैजस-शरीर-नाम—तेज, पाक तथा तेजस् और शीत लेश्या का निर्गमन कर सकने वाले शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल ।

(ङ) कार्मण-शरीर-नाम—कर्म समूह या कर्म विकारमय शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल ।

४ शरीर-अगोपाग-नाम—शरीर के अवयवो और प्रत्यवयवो की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल ।

(क) औदारिक-शरीर अगोपाग-नाम—औदारिक शरीर के अवयवो और प्रत्यवयवो की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल ।

(ख) वैक्रिय-शरीर-अगोपाग-नाम—वैक्रिय शरीर के अवयवो और प्रत्यवयवो की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल ।

(ग) आहारक-शरीर अगोपाग-नाम—आहारक शरीर के अवयवो और प्रत्यवयवो की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल ।

(घ) तैजस और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इनके अवयव नही होते ।

५ शरीर-वन्धन-नाम—पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान मे ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गलो के पारस्परिक सम्वन्ध का हेतुभूत कर्म ।

(क) औदारिक-शरीर बन्धन-नाम—इस शरीर के पूर्व-पश्चाद् गृहीत पुद्गलो का आपस मे सम्बन्ध जोडने वाला कर्म ।

(ख) वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत ।

(ग) आहारक-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत ।

(घ) तैजस-शरीर-वन्धन-नाम—ऊपरवत ।

(ङ) कार्मण-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत ।

कर्म-ग्रन्थ मे शरीर-वन्धन नाम-कर्म के पन्द्रह भेद किये गए हैं

१ औदारिक औदारिक वन्धन नाम ।

२ औदारिक तैजस बन्धन नाम ।

३ औदारिक कार्मण वन्धन नाम ।

४ वैक्रिय वन्धन नाम ।

५ वैक्रिय तैजस वन्धन नाम ।

६ वैक्रिय कार्मण वन्धन नाम ।

पुद्गल।

पुरुष-वेद—स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

नपुसक-वेद—स्त्री-पुरुष दोनो के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

आयु—जीवन के निमित्त कर्म-पुद्गल।

१ नरकायु—नरक-गति मे टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

२ तिर्यञ्चायु—तिर्यञ्च-गति मे टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

३ मनुष्यायु—मनुष्य-गति मे टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

४ देवायु—देव-गति मे टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

नाम—जीवन की विविध सामग्री की उपलब्धि के हेतुभूत कर्म-पुद्गल—

१ गति-नाम—जन्म-सम्बन्धी विविधता की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल—

(क) निरय-गति-नाम—नारक जीवन दु खमय दशा की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) तिर्यञ्च-गति-नाम—पशु, पक्षी आदि के जीवन (दु ख-बहुल दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) मनुष्य-गति-नाम—मनुष्य-जीवन (सुख-दु ख मिश्रित दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) देव-गति-नाम—देव-जीवन (सुखमय दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

२ जाति-नाम—इन्द्रिय-रचना के निमित्त कर्म-पुद्गल—

(क) एकेन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन (त्वग्) इन्द्रिय की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) द्वीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन और जिह्वा—इन दो इन्द्रियो की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) त्रीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा और नाक—इन तीनो इन्द्रियो की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) चतुरिन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक और चक्षु—इन चार इन्द्रियो की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) पञ्चेन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक, चक्षु और कान—इन पाच इन्द्रियो की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

३ शरीर-नाम—शरीर-प्राप्ति के निमित्त कर्म पुद्गल—

(क) औदारिक-शरीर-नाम—स्थूल शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-

नाराच सहनन' मे हड्डियो की आटी और वेष्टन होता है, कील नही होती। यह दृढतर है।

(ग) नाराच-सहनन-नाम—इस सहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'नाराच-सहनन' मे केवल हड्डियो की आटी होती है, वेष्टन और कील नही होती।

(घ) अर्धनाराच-सहनन-नाम—इस सहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'अर्ध-नाराच सहनन' मे हड्डी का एक छोर मर्कट-वन्ध से बधा हुआ और दूसरा छोर कील से भिदा हुआ होता है।

(ङ) कीलिका-सहनन-नाम—इस सहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कीलिका सहनन' मे हड्डिया केवल कील से जुडी हुई होती हैं।

(च) सेवार्त-सहनन-नाम—इस सहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'सेवार्त सहनन' मे केवल हड्डिया ही आपस मे जुडी हुई होती है।

८. सस्थान-नाम—इसके उदय का शरीर की आकृति-रचना पर प्रभाव होता है, इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

समचतुरस्र-सस्थान—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। पालथी मारकर बैठे हुए व्यक्ति के चारो कोण सम होते हैं। वह 'समचतुरस्र सस्थान' है।

न्यग्रोध-परिमडल-सस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण और नीचे के अवयव प्रमाणहीन होते हैं, वह 'न्यग्रोध-परिमडल-सस्थान' है।

सादि-सस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव प्रमाणहीन और नीचे के अवयव पूर्ण होते हैं, वह 'सादि-सस्थान' है।

वामन-सस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'वामन-सस्थान'—बौना।

कुब्ज-सस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कुब्ज सस्थान'—कुबडा।

हुड सस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। सब अवयव बेडौल या प्रमाणशून्य होते हैं, वह हुड-सस्थान है।

९. वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रग पर प्रभाव पडता है।

(क) कृष्ण-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रग काला हो जाता है।

(ख) नील-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रग नीला हो जाता है।

(ग) लोहित-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रग लाल हो जाता है।

(घ) हारिद्र-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रग पीला हो जाता है।

७ आहारक आहारक वन्धन नाम।

८ आहारक तैजस वन्धन नाम।

९ आहारक कार्मण वन्धन नाम।

१० औदारिक तैजस कार्मण वन्धन नाम।

११ वैक्रिय तैजस कार्मण वन्धन नाम।

१२ आहारक तैजस कार्मण वन्धन नाम।

१३ तैजस तैजस वन्धन नाम।

१४ तैजस कार्मण वन्धन नाम।

१५ कार्मण कार्मण वन्धन नाम।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर परस्पर-विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलो का आपस मे सम्बन्ध नही होता।

६ शरीर-सघातन-नाम—शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या सघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-सघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या सघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-सघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या सघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-सघात-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या सघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस-शरीर-सघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या सघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-सघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या सघातन के निमित्त कर्म-पुद्गल।

७ सहनन-नाम—इसके उदय का 'हड्डियो की व्यवस्था' पर प्रभाव होता है, इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

(क) वज्रऋषभ-नाराच-सहनन-नाम—इस सहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। वज्र-कील, ऋषभ—वेष्टन पट्ट, नाराच—मर्कट-वन्ध—दोनो ओर आपस मे एक-दूसरे को वाधे हुए हो, वैसी आकृति, आटी लगाए हुए हो, वैसी आकृति, वन्दर का वच्चा जैसे अपनी मा की छाती से चिपका हुआ हो, वैसी आकृति, जिसमे सन्धि की दोनो हड्डिया आपस मे आटी लगाए हुए हो, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो, चौथी हड्डी की कील उन तीनो को भेद कर रही हुई हो—ऐसे सुदृढतम अस्थि-वन्धन का नाम 'वज्रऋषभ-नाराच-सहनन' है

(ख) ऋषभनाराच-सहनन-नाम—इस सहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल, 'ऋषभ-

(घ) देव-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित देव-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म ।

१७ उच्छ्वास-नाम—इसके उदय से जीव श्वास-उच्छ्वास लेता है।

१८ आतप-नाम—इसके उदय से शरीर मे से उष्ण प्रकाश निकलता है।

१९ उद्योत-नाम—इसके उदय से शरीर मे से शीत प्रकाश निकलता है।

२० विहायोगति-नाम—इसके उदय का जीव की चाल पर प्रभाव पडता है।

(क) प्रशस्त विहायोगति-नाम—इसके उदय से जीव की चाल श्रेष्ठ होती है।

(ख) अप्रशस्त विहायोगति-नाम—इसके उदय से जीव की चाल खराब होती है।

२१ त्रस-नाम—इसके उदय से जीव चर (इच्छापूर्वक गति करने वाले) होते है।

२२ स्थावर-नाम—इसके उदय से जीव स्थिर (इच्छापूर्वक गति न करने वाले) होते हैं।

२३ सूक्ष्म-नाम—इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) शरीर मिलता है।

२४ वादर-नाम—इस कर्म के उदय से जीव को स्थूल शरीर मिलता है।

२५ पर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तिया पूर्ण करते है।

२६ अपर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तिया पूर्ण नही करते हैं।

२७ साधारण-शरीर-नाम—इसके उदय से अनन्त जीवो को एक शरीर मिलता है।

२८ प्रत्येक-शरीर-नाम—इसके उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतन्त्र शरीर मिलता है।

२९ स्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव स्थिर होते है।

३० अस्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव अस्थिर होते हैं।

३१ शुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।

३२ अशुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं।

३३ सुभग नाम—इसके उदय से किसी प्रकार का उपकार किए विना और सम्बन्ध के विना भी जीव दूसरो को प्रिय लगता है।

३४ दुर्भग-नाम—इसके उदय से उपकारक और सम्बन्धी भी अप्रिय लगते हैं।

३५ सुस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर प्रीतिकारक होता है।

३६ दु स्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारक होता है।

(ङ) श्वेत-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रग सफेद हो जाता है।
१० गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के गध पर प्रभाव पडता है।
(क) सुरभि-गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर सुगन्धवासित होता है।
(ख) दुरभि-गन्ध-नाम—इन कर्म के उदय से शरीर दुर्गन्धवासित होता है।
११ रस-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रस पर प्रभाव पडता है।
(क) तिक्त-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस तिक्त होता है।
(ख) कटु-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस कडवा होता है।
(ग) कषाय-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस कसैला होता है।
(घ) आम्ल-रस-नाम—इस कम के उदय से शरीर का रस खट्टा होता है।
(ङ) मधुर-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस मीठा होता है।
१२ स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के स्पर्श पर प्रभाव पडता है।
(क) कर्कश-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर कठोर होता है।
(ख) मृदु-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर कोमल होता है।
(ग) गुरु-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर भारी होता है।
(घ) लघु-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर हल्का होता है।
(ङ) स्निग्ध-स्पर्श-नाम—इस कम के उदय से शरीर चिकना होता है।
(च) रूक्ष-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर रूखा होता है।
(छ) शीत-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर ठडा होता है।
(ज) उष्ण-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर गरम होता है।
१३ अगुरुलघु-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर न सम्हल सके वैसा भारी भी नही होता और हवा मे उड जाए वैसा हल्का भी नही होता।
१४ उपघात-नाम—इस कर्म के उदय से विकृत बने हुए अपने ही अवयवो से जीव क्लेश पाता है। (अथवा) इसके उदय से जीव आत्महत्या करता है।
१५ पराघात-नाम—इसके उदय से जीव प्रतिपक्षी और प्रतिवादी द्वारा अपराजेय होता है।
१६ आनुपूर्वी नाम—विश्रेणि स्थित जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(क) नरक-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित नरक-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(ख) तिर्यञ्च-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित तिर्यञ्च-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(ग) मनुष्य-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित मनुष्य-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

कर्म की उत्तर-प्रकृतिया और उनकी स्थिति

कर्म की प्रकृतिया	जघन्य-स्थिति	उत्कृष्ट-स्थिति
५ ज्ञानावरणीय	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटाकोटि सागर
१० निद्रापचक	एक सागर के $\frac{3}{7}$ वें भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	३० कोटाकोटि सागर
१४ दर्शन-चतुष्क	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटाकोटि सागर
१५ सात-वेदनीय (ईर्यापथिक, सम्पराय)	२ समय	२ समय
१६ असात-वेदनीय	एक सागर के $\frac{3}{7}$ वे भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	३० कोटाकोटि सागर
१७ सम्यक्त्व-वेदनीय	अन्तर्मुहूर्त्त	कुछ अधिक ६६ सागर से
१८ मिथ्यात्व-वेदनीय	एक सागर मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	७० कोटाकोटि सागर
१९ सम्यक्त्व-मिथ्यात्व वेदनीय	अन्तर्-मुहूर्त्त	अन्तर्-मुहूर्त्त
३१ कपाय-द्वादशक (अनन्तानुवन्ध, अप्रत्याख्यान, क्रोध, मान, माया, लोभ)	एक सागर के $\frac{4}{7}$ वे भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	४० कोटाकोटि सागर
३२ क्रोध—सज्वलन	२ मास	४० कोटाकोटि सागर

३७ आदेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन मान्य होता है।

३८ अनादेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी मान्य नही होता।

३९ यशकीर्ति-नाम—यश और कीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

४० अयशकीर्ति-नाम—अयश और अकीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

४१ निर्माण-नाम—अवयवों के व्यवस्थित निर्माण के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

४२ तीर्थंकर-नाम—तीर्थंकर पद की प्राप्ति का निमित्त भूत कर्म।

गोत्र

१ उच्च गोत्र—इनके उदय से सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति-उच्च-गोत्र—मातृपक्षीय सम्मान।

(ख) कुल-उच्च-गोत्र—पितृपक्षीय सम्मान।

(ग) वल-उच्च-गोत्र—वलपक्षीय सम्मान।

(घ) रूप-उच्च-गोत्र—रूपपक्षीय सम्मान।

(ङ) तप-उच्च-गोत्र—तपपक्षीय सम्मान।

(च) श्रुत-उच्च-गोत्र—ज्ञानपक्षीय सम्मान।

(छ) लाभ-उच्च-गोत्र—प्राप्तिपक्षीय सम्मान।

(ज) ऐश्वर्य-उच्च-गोत्र—ऐश्वर्यपक्षीय सम्मान।

२ नीच गोत्र—इसके उदय से असम्मान और अप्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति-नीच-गोत्र—मातृपक्षीय असम्मान।

(ख) कुल-नीच-गोत्र—पितृपक्षीय असम्मान।

(ग) वल-नीच-गोत्र—वलपक्षीय असम्मान।

(घ) रूप-नीच-गोत्र—रूपपक्षीय असम्मान।

(ङ) तप-नीच-गोत्र—तपपक्षीय असम्मान।

(च) श्रुत-नीच-गोत्र—ज्ञानपक्षीय असम्मान।

(छ) लाभ-नीच-गोत्र—प्राप्तिपक्षीय असम्मान।

(ज) ऐश्वर्य-नीच-गोत्र—ऐश्वर्यपक्षीय असम्मान।

अन्तराय—इसके उदय का क्रियात्मक शक्ति पर प्रभाव होता है।

(क) दान-अन्तराय—इसके उदय से सामग्री की पूर्णता होने पर भी दान नही दिया जा सकता।

(ख) लाभ-अन्तराय—इसके उदय से लाभ नही होता।

(ग) भोग-अन्तराय—इसके उदय से भोग नही होता।

(घ) उपभोग-अन्तराय—इसके उदय से उपभोग नही होता।

(ङ) वीय-अन्तराय—इसके उदय से सामर्थ्य का प्रयोग नही किया जा सकता।

५८ मनुष्य गतिनाम, मनुष्यानुपूर्वी नाम	एक सागर के $\frac{1}{7}$ भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१५ कोटाकोटि सागर
६० देव-गतिनाम, देवानुपूर्वीनाम	हजार सागर के $\frac{1}{7}$ भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१० कोटाकोटि सागर
७२ एकेन्द्रिय जातिनाम, पचेन्द्रिय जातिनाम, औदारिक चतुष्क (शरीर, अगोपाग, वधन, सघातन) तैजस, कार्मण दोनो कालिक (शरीर, वन्धन, सघातन)	एक सागर के $\frac{2}{7}$ भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	२० कोटाकोटि सागर
७५ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जातिनाम	एक सागर के $\frac{9}{35}$ भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१८ कोटाकोटि सागर
८० आहारक चतुष्क, तीर्थकर नाम	अन्त कोटाकोटि सागर	अन्त कोटाकोटि सागर
८२ वज्रऋषभनाराच-सहनन नाम समचतुरस्र-सस्थान नाम	हास्यवत्	
८४ ऋषभनाराच-सहनन नाम न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान नाम	एक सागर के $\frac{3}{35}$ वे भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१२ कोटाकोटि सागर
८६ नाराच सहनन नाम सादिसस्थान नाम	एक सागर के $\frac{7}{35}$ भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१८ कोटाकोटि सागर

३३ मान—सज्वलन	१ मास	४० कोटाकोटि सागर
३४ माया—सज्वलन	अर्द्ध-मास	४० कोटाकोटि सागर
३५ लोभ—सज्वलन	अन्तर्-मुहूर्त्त	४० कोटाकोटि सागर
३६ स्त्री-वेद	एक सागर के $\frac{15}{7}$ भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१५ कोटाकोटि सागर
३७ पुरुप-वेद	८ वर्ष	१० कोटाकोटि सागर
४२ नपुसक वेद, अरति, भय, शोक, दुगुछा	एक सागर के $\frac{2}{7}$ भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	२० कोटाकोटि सागर
४४ हास्य, रति	एक सागर के $\frac{1}{7}$ भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१० कोटाकोटि सागर
४६ नैरयिकायुप देवायुप	१०,००० वर्ष अन्तर्-मुहूर्त्त अधिक	३३ सागर क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक
४८ निर्यञ्चायुप, मनुष्यायुप	अन्तर्-मुहूर्त्त	३ पल्य और क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक
५४ नैरयिकगतिनाम, नरकानुपूर्वीनाम, वैक्रयिक चतुष्क (शरीर, अगोपाग, वधन, सघातन)	हजार सागर के $\frac{2}{7}$ वें भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	२० कोटाकोटि सागर
५६ तिर्यञ्चगतिनाम तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम	यथा नपुमक वेद	

११०	कर्कश-स्पर्शनाम, गुरु-स्पर्शनाम, शीत-स्पर्शनाम, रूक्ष-स्पर्शनाम	नपुसक-वेदवत्	नपुसक-वेदवत्
११८	मृदु-स्पर्शनाम, लघु-स्पर्शनाम स्निग्ध-स्पर्शनाम, उष्ण-स्पर्शनाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१२१	पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, आतप नाम उद्योत नाम, अगुरु-लघु नाम, निर्माण नाम, उपघात नाम	नपुसक-वेदवत्	नपुसक-वेदवत्
१२८	सूक्ष्म-नाम, अपर्याप्ति-नाम, साधारण-नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	तीन विकलेन्द्रियवत्
१३५	त्रसनाम, वादर-नाम, प्रत्येक-नाम पर्याप्त-नाम, स्थावर-नाम, अस्थिर-नाम, अशुभ-नाम, दुभग-नाम, दु स्वर-नाम अनादेय-नाम, अयश कीर्ति-नाम	नपुसक-वेदवत्	नपुसक-वेदवत्
१४०	स्थिर-नाम, सुभ-नाम, शुभग-नाम, सुस्वर-नाम, आदेय-नाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१४२	यश, कीर्ति-नाम, उच्चगोत्र	अष्ट-मुहूर्त्त	१० कोटाकोटि सागर
१४३	नीच-गोत्र	नपुसक-वेदवत्	नपुसक-वेदवत्
१४८	अन्तराय पचक	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटाकोटि सागर

८८ अर्द्धनाराच् सहनन नाम वामन सस्थान नाम	एक सागर के $\frac{8}{28}$ भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१६ कोटाकोटि सागर
९० कीलक सहनन नाम कुब्ज सस्थान नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	तीन विकलेन्द्रियवत्
९२ सेवार्त्त सहनन नाम हुडक सस्थान नाम	नपुसक-वेदवत्	नपुसक-वेदवत्
९४ श्वेतवर्ण नाम, मधुर-रस-नाम	हास्यवत्	
९६ पीत-वर्ण-नाम, आम्ल-रस-नाम	एक सागर के $\frac{5}{28}$ वें भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१२$\frac{1}{2}$ कोटाकोटि सागर
९८ रक्त-वर्ण-नाम, कषाय-रस-नाम	एक सागर के $\frac{6}{28}$ वें भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१५ कोटाकोटि सागर
१०० नील वर्ण, कटुक रस	एक सागर के $\frac{7}{28}$ वें भाग मे पल्य का असख्यातवा भाग कम	१७$\frac{1}{2}$ कोटाकोटि सागर
१०२ कृष्ण-वर्ण, तिक्त रस	नपुसक-वेदवत्	नपुसक-वेदवत्
१०४ सुरभि गन्ध, प्रशस्त विहायोगति	हास्यवत्	हास्यवत्
१०६ दुरभि गन्ध, अप्रशस्त विहायोगति	नपुसक-वेदवत्	नपुसक-वेदवत्

४ : नामानुक्रम

गणधरवाद
गीता
गीता रहस्य
चरक
छान्दोग्य उपनिषद्
जडवाद
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
जावालोपनिषद्
जैन गुर्जर कविओ
जैन तर्कभाषा
जैन दर्शन का इतिहास
जैन सिद्धान्त दीपिका
ज्ञाताधर्मकथा
ज्ञानबिन्दु
ज्ञानसार
ठाण
तत्त्वानुशासन
तत्त्वार्थ भाष्य टीका
तत्त्वार्थ राजवार्तिक
तत्त्वार्थ वृत्ति
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक
तत्त्वार्थ सार
तत्त्वार्थ सूत्र
तन्दुल वैयालिय
तर्कभाषा
तर्कमीमासा
तर्कसग्रह
तैत्तिरीय उपनिषद्
दक्षिण भारत मे जैन धर्म
दर्शन और चिन्तन
दर्शन का इतिहास
दर्शन दिग्दर्शन
दर्शनशास्त्र का इतिहास
दशवैकालिक (जिनदास चूर्णि)
दशवैकालिक भूमिका
दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति
दशाश्रुतस्कन्ध
दसवेआलिय
द्रव्यसग्रह
द्रव्यानुयोग तर्कणा
द्वात्रिंशिका
धम्मपद
धर्मप्रकरण
धर्मवादाष्टक
धवला टीका
ध्यानशतक
नन्दी
नन्दी वृत्ति
नयरहस्य
नव पदार्थ चौपई
नियमसार
निरुक्त
निशीथ चूर्णि
निश्चयद्वात्रिंशिका
नीतिवाक्यामृत
न्यायकारिका
न्यायकारिकावली
न्यायकुमुदचन्द्र
न्यायखडनखाद्य
न्यायदीपिका
न्यायबिन्दु
न्यायभाष्य
न्यायमजरी
न्यायवार्तिक
न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिकारिका
न्यायसूत्र
न्यायावतार
न्यायावतार टीका

५ : प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

अगुत्तरनिकाय
अग्निमालविका
अतीत का अनावरण
अथववेद
अथर्ववेदकारिका
अध्यात्मोपनिषद्
अनुयोगद्वार
अनेकान्त व्यवस्था
अन्तकृत
अन्ययोगव्यवच्छेदिका
अभिधम्मकोप
अभिधान चिन्तामणि
अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका
अवर ओरियन्टल हेरीटेज
अष्ट-सहस्री
अष्टागहृदय
आगम अष्टोत्तरी
आचाराग चूर्णि
आचाराग निर्युक्ति
आचाराग वृत्ति
आदिपुराण
आप्तमीमासा
आयारचूला
आयारो
आवश्यक कथा
आवश्यक चूर्णि
आवश्यक निर्युक्ति
आवश्यक मलयगिरि वृत्ति
आवश्यक सूत्र
इडियन थोर एण्ड इट्स डेवलपमेट
इडियन फिलॉसफी
इन्द्रियवादी री चौपई
ईशा उपनिषद्
उत्तरज्झयणाणि
उत्तरपुराण
उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति
उत्पादादिसिद्धी
ऋग्वेद
औपपातिक
कठोपनिपद्
कर्णाटक कवि चरित्र
कर्मग्रन्थ
कर्मविवरण (स्वोपज्ञ वृत्ति)
कल्पसूत्र
केन उपनिपद्
कौपीतकी उपनिपद्

मैं कौन हू ?
यशस्तिलक
युक्त्यनुशासन
योगदर्शन
योगदृष्टि समुच्चय
योगविन्दु
योगविंशिका
योगशास्त्र
योगसूत्र
रत्नकरण श्रावकाचार
रिस्पोन्स इन दी लिविंग एण्ड नोन-लिविंग
लघीयस्त्रयी
लोकतत्त्वनिर्णय
लोकप्रकाश
वरागचरित्र
वाक्यप्रदीप
वात्स्यायनभाष्य
वादद्वात्रिंशिका
विज्ञान और कम्युनिज्म
विज्ञान की रूपरेखा
विशेपावश्यक भाष्य
विशेपावश्यक वृत्ति
विश्ववाणी
विश्वपुराण
वीतरागस्तव
वीतरागस्तोत्र
वेदान्तसार
वेदान्तसूत्र (शाकर भाष्य)
वैशेपिक दर्शन
वैशेपिक सूत्र
व्यवहार भाष्य
व्यास भाष्य
शकर दिग्विजय
शतपथ ब्राह्मण
शाकरभाष्य
शान्त सुधारस
शान्तिपर्व
शारीरिक भाष्य
शास्त्रवार्ता समुच्चय
शुक्र रहस्य
श्वेताश्वतर उपनिपद्
पट्खडागम
पट्दर्शन समुच्चय
पट्प्राभृत
सयुक्त निकाय
समयसार
समवाओ
समाचारी शतक
समाजवाद
सम्मति
सम्मति टीका
सर्वार्थसिद्धि
साख्यकौमुदी
साख्य सूत्र
साहित्य सदेश
सुत्तनिपात
सूत्रकृताग वृत्ति
सूयगडो
स्थानाग वृत्ति
स्याद्वादमजरी
स्वयभूस्तोत्र
स्वरूप सम्बोधन
स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा
हारिभद्रीय अष्टक
हिन्दी विश्वभारती

न्यायावतार वार्तिक वृत्ति
न्यायालोक
न्यायोपदेश
पचसग्रह
पचास्तिकाय
पचास्तिकाय टीका
पद्मपुराण
पन्नवणा
परमात्मप्रकाश
परमात्मप्रकाश टीका
परिशिष्ट पर्व
परीक्षा मुखमडन
पाइय भापाओ अने साहित्य
पाइयसद्दमहण्णवो
पातञ्जल योग
पातञ्जल योगभाष्य
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म
पिडनिर्युक्ति वृत्ति
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन
प्रज्ञापना
प्रज्ञापनावृत्ति
प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका
प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार
प्रमाण प्रवेश
प्रमाण मीमासा
प्रमाणवार्तिक
प्रमाण समुच्चय
प्रवचनसार
प्रवचनसार वृत्ति
प्रवचनसारोद्धार
प्रशमरति प्रकरण
प्रश्न व्याकरण
प्राकृत व्याकरण
प्रमेयकमलमार्तण्ड
बृहत्कल्प निर्युक्ति
बृहत्कल्प भाष्य
बृहदारण्यक उपनिपद्
बुद्धचरित्र
बुद्ध वचन
ब्रह्मसूत्र (शकर भाष्य)
भगवती
भगवती जोड
भगवती वृत्ति
भागवत
भापा परिच्छेद
भापा रहस्य
भापाविज्ञान विशेपाक
भारतीय दर्शन
भारतीय प्राचीन लिपिमाला
भारतीय मूर्तिकला
भारतीय सस्कृति और अहिसा
भिक्षुन्यायकर्णिका
मज्झिमनिकाय
मनुस्मृति
महादेवस्तोत्र
महापुराण
महाभारत
महावश
महावीर कथा
माध्यमिककारिका
मानव की कहानी
मार्क्सवाद
मार्क्सवाद क्या है ?
मीमासा श्लोकवार्तिक
मीस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डक उपनिपद्
मेरी जीवनगाथा